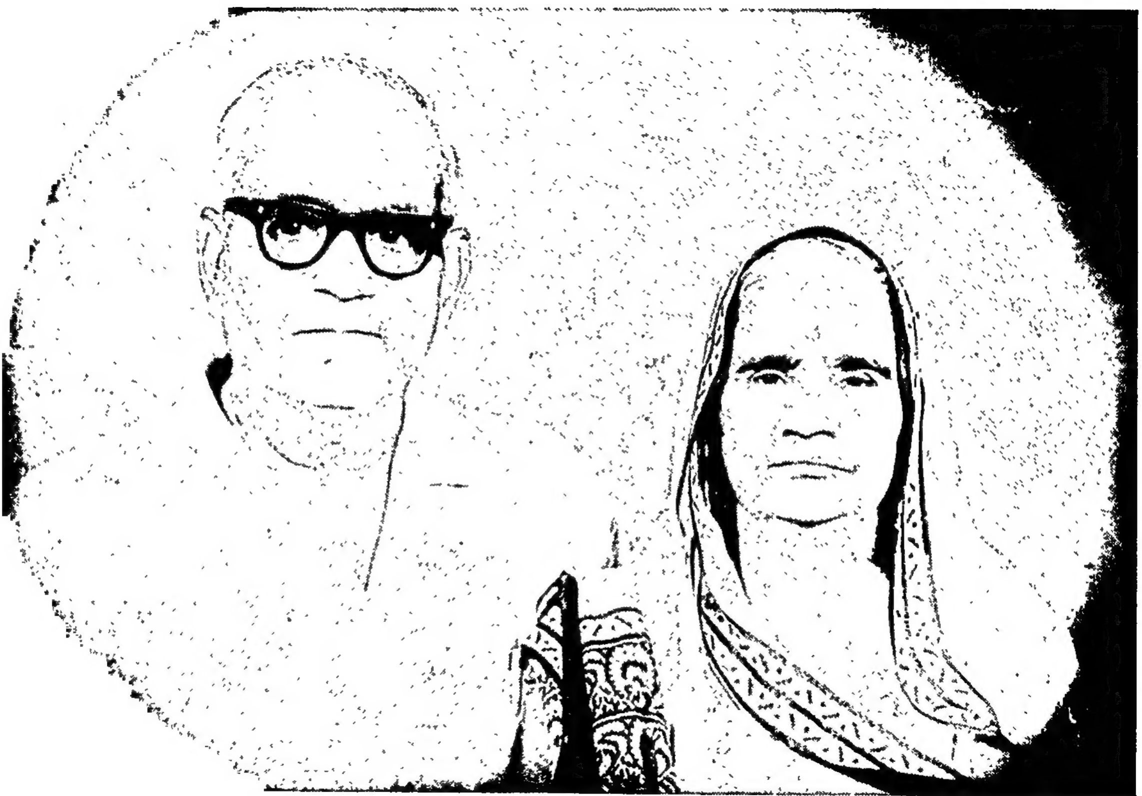


डॉ० कन्हैयालाल सहल एवं श्रीमती कमला सहल

डॉ० कन्हैयालाल सहल
के
कर्तृत्व की
मूर्तिमती प्रेरणा
एवं
उनकी जीवन-संगिनी
श्रद्धेया कमलाजी
को
सा
द
र

–होतीलाल भारद्वाज

अनुक्रम

व्यक्तित्व–खण्ड

काव्य-समीक्षा-खण्ड

ललित निबंध एवं भाषा-शास्त्र खण्ड

समीक्षा–खण्ड

लोक–संस्कृति–खण्ड

कृति–परिचय–खण्ड

परिशिष्ट



भूमिका

□

—डॉ० रामधारीसिंह दिनकर

□

डॉ० कन्हैयालाल सहल देश के दुर्लभ रत्नों में से हैं और हिन्दी में तो उनका व्यक्तित्व लगभग बेजोड़ है। जिन लोगों ने उनसे शिक्षा पायी है, वे उन्हें अत्यन्त उच्च कोटि का शिक्षक मानते हैं। जिन लोगों ने उनके मार्गदर्शन में शोध-कार्य किया

है, वे उन्हें विद्यारण्य का सुयोग्य मार्ग-दर्शक मानते हैं। जिन लोगों ने उनकी कविताएँ पढ़ी हैं, वे उन्हें आनन्ददायी कवि मानते हैं और जिन्होंने सहलजी की आलोचनाएँ पढ़ी हैं, वे उन्हें सफल आलोचक मानते हैं। मैं मित्रवर सहलजी के इन सभी रूपों से परिचित हूं, किन्तु उन पर मेरी सबसे अधिक श्रद्धा इसलिए है कि उन्होंने राजस्थानी भाषा के शब्दों, कहावतों, लोकगीतों और लोक-कथाओं पर जम कर काम किया है। उनके डाक्टरेट का विषय भी राजस्थानी कहावतें थीं। किन्तु उस ग्रंथ के अतिरिक्त सहलजी ने राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान, राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद, राजस्थानी वीर गाथाएँ, राजस्थानी लोककथाएँ, नटो तो कहो मत, लोक-कथाओं के मूल अभिप्राय आदि कोई १५ पुस्तकें और लिखीं। इसके सिवा कोई १६ वर्ष से वे पिलानी से 'मरु-भारती' नामक त्रैमासिक पत्रिका निकाल रहे हैं जिसका प्रत्येक अंक राजस्थानी लोक-कथाओं, ऐतिहासिक शोधों और शब्द-चर्चाओं से भरा रहता है। राजस्थान की लोक-संस्कृति का जैसा उद्धार अकेले सहलजी ने किया है, देश के किसी अन्य जनपद की सस्कृति का वैसा उद्धार अभी तक हो पाया है या नहीं, यह बात विश्वासपूर्वक नहीं कही जा सकती। डॉ० कन्हैयालाल सहल का कार्य राजा भगीरथ के गंगोद्धार के समान अनुपम और महार्घ है और राजस्थान के इतिहास में वे अपने इसी कार्य के लिए याद किये जायेंगे।

मैं जब सहलजी के व्यक्तित्व का ध्यान करता हूं, मेरे मन में एक ऐसी प्रतिमा खड़ी हो जाती है जो एक साथ कोमल भी है और कठोर भी, जिसमें भावुकता भी है और व्यावहारिकता भी, जो कारयित्री और भावयित्री, दोनों प्रतिभाओं से पूर्ण है तथा जो आकाश की सुरभि लेती हुई भी, ठोस रूप से पृथ्वी पर खड़ी है। टाइप आव् द वाइज व्हू सोर बट नेवर रोम। टु द किंड्रेड प्वायंट्स आव् हेवन एण्ड होम। सहलजी को देखते ही मन पर यह प्रभाव पड़ता है कि यह आदमी और कुछ होने के पहले ईमानदार होगा, कर्तव्यनिष्ठ और कार्य-तत्पर होगा।

जीनियस को लोग अक्सर बोहेमियन समझ लेते हैं, आलसी और गैर-जिम्मेवार समझ लेते हैं। मगर ऐसी बात नहीं है। एक प्रतिशत प्रतिभा और ६६ प्रतिशत पसीना, इन्हीं के जोड़ को जीनियस कहते हैं। जिसमें धीरज नहीं है, अध्यवसाय नहीं है, लगन और सहनशीलता नहीं है, वह प्रतिभा पाकर भी कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। मैं जब कन्हैयालालजी के विशाल कार्य को देखता हूं, मुझे उस कठोर अनुशासन का अनुमान होता है, जिसमें सहलजी जीते आये

होंगे, उस प्रभूत प्रस्वेद का ख्याल आता है, जिसे सहलजी ने बहाया होगा, उस तपस्या का ध्यान आता है, जो उनकी चिर-संगिनी रही होगी। डॉ० कन्हैयालाल सहल के अभिनन्दन के लिए जो ग्रंथ-आयोजन है, उसे मैं उचित और योग्य मानता हूं तथा इस अवसर पर सहलजी को अपना हार्दिक अभिनन्दन भेंट करता हूं।

सहलजी हम लोगों की प्राचीन परम्परा के विद्वान् हैं, किन्तु अपने ढग पर उन्होंने नवीनता का भी वरण किया है। इलियट और रिचर्ड्स के वे प्रेमी हैं। उनकी एक काव्य-पुस्तक का नाम ही 'प्रयोग' है। किन्तु उनकी दृष्टि में नवीनता का अर्थ प्राचीनता का सर्वथा त्याग नहीं है। राजा राममोहनराय से लेकर महात्मा गांधी तक भारत के सभी महापुरुषों ने एक ही बात पर जोर दिया है कि हमें अपनी परम्परा के सर्वोत्तम गुणों का समन्वय पाश्चात्य जगत् के सर्वोत्तम गुणों के साथ करना है, प्राचीनता और नवीनता दोनों के दोषों से बच कर उनके गुणों को ग्रहण करना है। इस शिक्षा का सार यह है कि नये भारत के एक हाथ में धर्म का कमल और दूसरे में विज्ञान की मशाल होनी चाहिए।

डॉ० कन्हैयालाल सहल की आत्मा में मैंने धर्म की ज्योति देखी है, अध्यात्म की बेचैनी देखी है और यह पाया है कि वे विज्ञान और अध्यात्म के बीच समन्वय बिठाना चाहते हैं। इस दृष्टि से वे उस नवीन भारत के प्रतिनिधि हैं, जिसका स्वप्न विवेकानन्द और महात्मा गांधी ने देखा था। मैं आशा करता हूँ कि सहलजी के व्यक्तित्व की यह आध्यात्मिक सुरभि उनके किसी शिष्य में भी व्याप्त हुई होगी।

व्यक्ति के निर्माण में उसके परिवेश का बड़ा हाथ होता है। सहलजी के व्यक्तित्व के निर्माण में भी पिलानी के परिवेश का बड़ा हाथ है। पिलानी में भाँति-भाँति के विद्वान् रहते हैं, वहाँ समृद्ध पुस्तकालय उपलब्ध है और वहां का वातावरण भी विद्या का वातावरण है। कोई आश्चर्य नहीं कि वहां डॉ० कन्हैयालाल सहल तैयार हो गये।

कोरे ज्ञान को हम बहुत झुक कर प्रणाम नहीं करते। बहुत कर प्रणाम उसे हम तब करते हैं, जब वह कर्म में ढल जाता है। वह मनुष्य धन्य है, जो अपने ज्ञान को कर्म का जामा पहना सकता है। इसी प्रकार वह व्यक्ति संतों का भी संत है, जो अपनी वैयक्तिक मुक्ति से संतोष नहीं करता, जो सबके मुक्त हो जाने के बाद

स्वयं मुक्त होना चाहता है। सहलजी ने इस भाव को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है।

मैं न यहां से तब तक जाऊंगा
जब तक इन दुखिया जीवों को
मुक्ति नरक से नहीं मिलेगी।

मेरी भगवान् से प्रार्थना है कि वे सहलजी को पूर्णायु करें।



प्रस्तावना



—डॉ० नगेन्द्र

अनवरत साहित्य-साधक, कर्मठ समाजसेवी, आदर्श शिक्षक, निष्ठावान् सम्पादक, सहृदय मित्र आदि विभिन्न रूपों में बन्धुवर कन्हैयालाल सहल राजस्थान के अत्यंत लोकप्रिय व्यक्ति हैं। इन विशेषताओं के कारण वे अपने परिवार, छात्र-वृन्द, सहकर्मियों और साहित्यानुरागियों में समान भाव से प्रशंसा और आदर पाते रहे हैं। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से मेरा परिचय भी बहुत पुराना है—प्रायः तीन दशक पूर्व 'साहित्य-सन्देश' में मेरे और उनके लेख प्रकाशित होते रहते थे। श्रद्धेय बाबू गुलाबराय का उन पर विशेष स्नेह था। इस अवधि में उन्होंने मेधावी अध्यापक, अधीत समीक्षक, प्रतिभावान् अनुसंधाता और सहृदय कवि के रूप में अपनी बहुमुखी कार्य-क्षमता का उत्तम विकास किया है। वे आरम्भ से ही विद्या-व्यसनी रहे हैं, फलस्वरूप हिन्दी-संस्कृत-साहित्य के गंभीर अनुशीलन के साथ ही उन्होंने भारतीय संस्कृति—विशेषतः कहावतों, लोकगीतों, लोकवार्ताओं आदि में प्रतिबिम्बित राजस्थान-क्षेत्र की संस्कृति का रुचिपूर्वक अध्ययन-अनुसंधान किया है। उनका अंग्रेजी साहित्य का ज्ञान भी पुष्ट है, इसलिए उनकी समीक्षात्मक कृतियों में भारतीय काव्यशास्त्र के साथ पाश्चात्य साहित्यालोचन का सम्यक् उपयोग लक्षित होता है।

डॉ० सहल का व्यक्तित्व कोरा गरिमामंडित नहीं है—सहज-संतुलित जीवन-दर्शन और निश्छल व्यवहार ने उन्हें क्षुद्र पूर्वाग्रहों और प्रलोभनों से दूर रखा है।

बिड़ला आर्ट्‌स कॉलेज के उप-प्राचार्य और हिन्दी-संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष पद पर वे प्रायः पच्चीस वर्ष तक अधिष्ठित रहे। तदनन्तर दो वर्ष तक कॉलेज के प्राचार्य-पद के दायित्व का निर्वाह करने के अनन्तर सम्प्रति वे बिड़ला शिक्षा-न्यास के सचिव के रूप में कार्य-संलग्न हैं। कुछ वर्ष तक वे पिलानी नगरपालिका के मनोनीत अध्यक्ष भी रहे। इन विभिन्न पदों पर कार्य करते हुए उन्होंने जिस आन्तरिक सामंजस्य, कार्य-निष्ठा और प्रशासन-कौशल का परिचय दिया है, उसकी प्रशंसा उनके सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों से प्रायः सुनी जा सकती है। यह उल्लेखनीय है कि शिक्षा, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्रों में उनका योगदान केवल उन्हीं तक सीमित नहीं है, उनके अनुज तथा पुत्र भी इन्हीं दिशाओं में सक्रिय हैं। इसका श्रेय भी किसी सीमा तक डॉ० सहल को ही प्राप्त है।

सहलजी के कृतित्व के तीन रूप अत्यन्त मुखर हैं—अनुसंधाता, निबंधकार और आलोचक। यद्यपि उनके कवि-रूप की ओर हिन्दी-जगत् का अपेक्षाकृत कम ध्यान गया है, फिर भी उनकी प्रवृत्ति इस ओर अनवरत रही है। 'प्रयोग' (१९५६) से लेकर अद्यतन प्रकाशित 'समय की सीढ़ियाँ' तक की कविताएँ इस बात का प्रमाण हैं कि निबंध, आलोचना और अनुसंधान की सन्निधि में कविता का प्रणयन भी वे अत्यन्त सहज भाव और आत्मप्रेरणा से करते रहे हैं। वे कविता को परम्परागत रस-दृष्टि और भावुकता तक परिमित कर देने के पक्ष में नहीं हैं, इसीलिए उनकी कविताओं में सांस्कृतिक मूल्यों के साथ ही वर्तमान जीवन की विसंगतियों का चित्रण भी मिलता है। परिवेश के प्रति उनकी जागरूकता अनेक कविताओं में व्यक्त हुई है जो कहीं तो मानववादी स्वर से ओतप्रोत है और अन्यत्र यथार्थप्रेरित व्यंग्य से परि-पुष्ट है। यद्यपि शिल्प की दृष्टि से उनकी किसी-किसी कविता में किंचित् विशृंखलता और अनपेक्षित विस्तार भी लक्षित होता है, तथापि भावों के उर्मिल प्रवाह और मौलिक अभिव्यक्ति की आकांक्षा के फलस्वरूप सामान्यतः उनकी कविताएँ पठनीय, सरस और प्रेरक बन पड़ी हैं। उनकी काव्य-भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है, किन्तु पदावली की व्यावहारिकता की उपेक्षा उन्होंने नहीं की है। छन्द-वैविध्य के सन्दर्भ में उन्होंने मुक्त छन्द का भी प्रयोग किया है। यदि बिम्ब-योजना की अनुरूपता और विविधता को कवि-कौशल का मापदण्ड स्वीकार किया जाय, तो इस दृष्टि से भी उन्हें सफल प्रयोगशील कवि कहा जा सकता है।

डॉ० सहल के कृतित्व का दूसरा उल्लेखनीय पक्ष उनका आलोचक-रूप है जिसके साहचर्य में उनका निबंधकार भी विकसित होता रहा है। उन्होंने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना को समान भाव से अपनाया है। 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' और 'कामायनी-दर्शन' जैसी स्वतंत्र समीक्षात्मक कृतियों के अतिरिक्त

उनके निन्वध-संग्रहों—'आलोचना के पथ पर', 'समीक्षायण', 'विवेचन', विमर्श और व्युत्पत्ति', 'मूल्यांकन', 'अनुसंधान और आलोचना' का अपना महत्त्व है। 'साकेत' और 'कामायनी' सम्बन्धी समीक्षा-ग्रंथों में व्याख्यात्मक समीक्षा की विशेषताओं का उत्तम निदर्शन मिलता है। अध्ययन की गंभीरता, तुलनात्मक दृष्टि, विवेचन की मौलिकता और शैली-सौष्ठव का इन कृतियों में सहज अन्तः प्रसार है। कृति की सम्यक् व्याख्या उत्तम आलोचना की पहली शर्त है, आलोचना की अन्य प्रणालियाँ इसके उपरान्त ही उभर पाती हैं। अतः मैथिलीशरण और प्रसाद की काव्य-गरिमा को उद्घाटित करने वाले ग्रंथों में डॉ० सहल की इन दोनों रचनाओं की प्रेरक भूमिका स्वीकार की जानी चाहिए।

डॉ० सहल वृत्ति से अध्यापक हैं, फलस्वरूप उनकी आलोचना-शैली में क्रमबद्धता और तत्त्वग्राहिता अनायास देखी जा सकती हैं। भावयित्री और कारयित्री प्रतिभा की समान व्याप्ति के कारण उनकी समीक्षा-पद्धति में भावुकता और चिंतन की स्वच्छता का सहज समन्वय मिलता है। उनके आलोचनात्मक निवंध ज्ञान-शुष्क नहीं हैं, अनुसंधान की मर्यादा, विवेचन की तटस्थता तथा प्रतिपादन की सरसता उनकी विशेषताएँ हैं। इस संदर्भ में उनका विषय-निर्वाचन भी विविधतापूर्ण है। काव्य, नाटक, साहित्यशास्त्र, भाषाविज्ञान आदि क्षेत्रों की मुख्य समस्याओं, प्रवृत्तियों और कृतियों का सर्वेक्षण एवं विवेचन उन्होंने मनोयोगपूर्वक किया है। इनमें से काव्यशास्त्र और भाषा-विज्ञान में उनकी समान गति विशेषरूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि एक तो इन दोनों पर समान अधिकार सबके वश की बात नहीं है और दूसरे व्यावहारिक आलोचना के मूल में भी इन दोनों की अनिवार्य सत्ता रहती है। सत्य तो यह है कि काव्य और गद्यविधाओं के संबंध में उनकी आलोचनात्मक सामग्री की विशदता का श्रेय इसी विशेषता को दिया जाना चाहिए।

काव्यशास्त्र की भारतीय परम्परा के साथ ही सहल जी पाश्चात्य समीक्षा-दर्शन से भी भली-भाँति परिचित हैं। उनके लेखों में काव्यशास्त्रीय विषयों पर लिखित निवंधों की संख्या ही अधिक है। भारतीय काव्य-सिद्धान्तों में उन्होंने रस-विवेचन में सर्वाधिक रुचि व्यक्त की है और मनोविज्ञान के संदर्भ में रस-सिद्धान्त के कतिपय पक्षों पर पुनर्विचार किया है। साधारणीकरण, रस-विघ्न, करुण रस की सुखात्मकता आदि के सम्बन्ध में उनकी जिज्ञासाएँ और उनका तर्कपुष्ट समाधान इसका प्रमाण है। अरस्तू, लौंगिनुस आदि पाश्चात्य आचार्यों के काव्य-सिद्धान्तों के अनुशीलन में भी उनकी रुचि रही है। काव्यशास्त्रीय चिन्तन में उनकी सहज प्रवृत्ति को लक्षित कर यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि यदि उन्होंने राजस्थानी साहित्य और संस्कृति के विश्लेषण, विवेचन तथा मूल्यांकन को अपने जीवन का ध्येय न बनाया होता और

काव्यशास्त्रीय विवेचन को ही प्राथमिकता दी होती, तो इस क्षेत्र में उनका योगदान हिन्दी के किसी भी समालोचक के समकक्ष होता।

सहलजी की अनुसंधान-वृत्ति उनके शोध-प्रबन्ध 'राजस्थानी कहावतें: एक अध्ययन' में भिन्न आयामों में व्यक्त हुई है। यहाँ वे लोक-साहित्य के अध्येता और भाषावैज्ञानिक के रूप में प्रकट होते हैं। 'मूल्यांकन' तथा 'विमर्श और व्युत्पत्ति' में उन्होंने शब्दों के व्युत्पत्तिपरक अध्ययन में भी रुचि व्यक्त की है, स्वभावतः इस संदर्भ में उन्होंने राजस्थानी के विभिन्न क्षेत्रीय रूपों के अध्ययन को प्रधानता दी है। इसमें संदेह नहीं कि लोक-साहित्य और क्षेत्रीय बोलियों के अध्ययन की दिशा में उनका योगदान अनेक परवर्ती अनुसंधाताओं के लिए प्रेरक सिद्ध हुआ है।

साहित्येतर विषयों पर ललित निबंधों की रचना भी सहलजी की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। 'दृष्टिकोण' में उन्होंने व्यावहारिक मनोविज्ञान को लेकर अनेक सफल निबंधों की रचना की है। ऐतिहासिक प्रसंगों पर आधारित निबन्ध रचना भी उनका प्रिय विषय है—इस दिशा में उनकी विशिष्ट अभिरुचि उनके बहुचर्चित ग्रंथ 'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद' से भी प्रमाणित होती है। ललित निबन्धों में उन्होंने प्राध्यापक डॉ० सहल के स्थान पर भावुक कवि का बाना धारण कर लिया है—भाषा और प्रतिपादन-शैली का यह लोच सहजप्राप्त है, ऊपर से ओढ़ा हुआ नहीं। 'मरु-भारती' के सम्पादक के रूप में भी उन्होंने अपने शैली-वैशिष्ट्य और संयोजन-क्षमता के द्वारा विशेष ख्याति अर्जित की है। इसके माध्यम से उन्होंने स्वयं तो राजस्थानी साहित्य की मनोयोगपूर्वक सेवा की ही है, अन्य अनेक विद्वानों को भी इस ओर प्रवृत्त करने तथा अनुसंधान की नयी दिशाओं की ओर संकेत करने का गौरव भी उन्हें प्राप्त है।

अन्त में, यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि डॉ० सहल के साहित्यिक कर्तृत्व को केवल राजस्थानी साहित्य और राजस्थान प्रदेश तक सीमित करके देखना समीचीन नहीं है। यह ठीक है कि अपने शोध-प्रबन्ध और कुछ अन्य कृतियों एवं लेखों के द्वारा उन्होंने इन दिशाओं में प्रत्यक्ष योग दिया है; किन्तु यह उनके कृतित्व का केवल एक पक्ष है, और इसे भी क्षेत्रीय पूर्वाग्रह के रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि लोकसाहित्य अथवा भाषाविज्ञान के क्षेत्र के अनुसंधान एकदेशीय होने पर भी किसी सीमा तक सार्वभौमता की ओर अग्रसर रहते हैं। सहलजी के कृतित्व का बृहदंश निश्चय ही सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् के लिए अवदान है। प्रस्तुत अभिनन्दन-ग्रंथ में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को इसी अर्थ में ग्रहण करना उचित होगा।

• • •



आमुख

डॉ० कन्हैयालाल सहल—-हिन्दी तथा राजस्थानी का एक विशिष्ट नाम, जिसने अपनी साहित्य-साधना के बल पर राजस्थान की सीमाएँ लांघ अखिल-भारतीय स्तर पर कीर्ति अर्जित की है। पंडित कन्हैयालाल सहल——एक व्यक्तित्व का नाम जिसकी संरचना समरसता, प्रशान्तता, सहजता, सरलता, स्नेहशीलता, निरभिमानिता आदि तंतुओं से हुई है। और भी आगे जाकर देखते हैं तो पाते हैं कि डॉ० कन्हैयालाल सहल एक संस्था का नाम है, जिसमें एक भाव-प्रवण, उदार तथा निर्विकार व्यक्ति, एक जनवत्सल प्रवंधक, एक श्रद्धास्पद शिक्षक, एक भावुक कवि तथा ललित निवंध-कार, एक सफल सम्पादक, एक सरल व्याख्याकार, एक सुधी-समीक्षक, एक जिज्ञासु अन्वेषक, एक सही मार्ग-दर्शक-जैसे अनेक अन्तर्भाग एक साथ सक्रिय हैं।

यही डॉ० कन्हैयालाल सहल २३ नवम्बर, १९७१ को अपनी जीवन-साधना के ६० वर्ष पूरे कर रहे हैं। साहित्याकाश पर उनका उदय २०वीं शती के चौथे दशक में हुआ और तभी से वे विभिन्न रूपों में हिन्दी एवं राजस्थानी साहित्य की अनवरत सेवा कर रहे हैं। राजस्थान में ही नहीं, समस्त हिन्दी जगत् में उनके साहित्यिक योगदान के महत्त्व को स्वीकृति तो मिली है लेकिन उसे समग्र रूप से मूल्यांकित करने की चेष्टा नहीं की गयी। कभी-कभी उनके विषय में कुछ परिचयात्मक लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपे भी। इसी क्रम में खण्डवा के प्रो० श्रीकांत जोशी का लेख 'अमर ज्योति' (साप्ताहिक) में छपा जिसमें उन्होंने डॉ० सहल के अभिनन्दन की बात उठायी।

मैंने डॉ० सहल को तब जाना था जब मैं एम० ए० (हिन्दी) की परीक्षा दे रहा था। मेरा परीक्षा-केन्द्र पिलानी ही था। उनके प्रति मेरी उत्सुकता तब और बढ़ी जब इसी दौरान डॉ० सहल के भतीजे स्व० सुरेश सहल के साथ मेरा सम्पर्क बढ़ा। जिन गुणों का संघात मुझे डॉ० सहल के व्यक्तित्व में दिखायी दिया, उन्हीं के कारण वे न केवल मेरी श्रद्धा के पात्र बने बल्कि मैंने मन ही मन उन्हें अपना 'साहित्यिक इष्ट' स्वीकार कर लिया। उस समय डॉ० सहल मुझे अच्छी तरह जानते भी नहीं थे, पर मैं निरन्तर उनके विषय में जानकारी लेता रहा, उनकी कृतियाँ पढ़ता रहा तथा उनके प्रति मेरी श्रद्धा समस्त संचारियों के साथ निष्पन्न होती रही।

मुझे प्रो० श्रीकांत जोशी की बात ठिकाने की लगी, लेकिन डॉ० कन्हैयालाल सहल जैसे बहुमुखी प्रतिभावान साहित्यकार के लिए अभिनंदन-ग्रन्थ की योजना संगत नहीं रहती। वस्तुतः अभिनंदन-ग्रन्थ तो एक औपचारिकता का निर्वाह करते हैं, किसी रचनाकार के कृतित्व को आगे नहीं लाते। इसलिए मैंने एक ऐसे ग्रन्थ की योजना बनायी जो डॉ० सहल की साहित्यिक-उपलब्धियों को रेखांकित कर सके और यहीं से 'डॉ० कन्हैयालाल सहल : व्यक्तित्व और कृतित्व' ग्रन्थ की योजना का सूत्रपात हुआ। मैंने जब डॉ० सहल को इस योजना की सूचना दी तो उनका उत्तर आया 'यह कार्य प्रकारान्तर से प्रचार और प्रसार का कार्य ही होगा'। मुझे उनसे ऐसे ही उत्तर की आशा थी क्योंकि उनकी समस्त साहित्य-साधना निस्पृह भाव से चली है। उन्होंने अपने जीवन में न तो कभी गलत तरीके से आगे आने की चेष्टा की है और न कभी ओछी बातों को लेकर ही जिए हैं।

डॉ० कन्हैयालाल सहल वैष्णव-आस्तिक हैं। उन्होंने अपने जीवन में कोई महत्वाकांक्षा नहीं की, कभी किसी से कुछ चाहा नहीं। उन्होंने सदा केवल कर्तव्य-पालन किया है, निष्ठा से जन-सेवा की है, साहित्य की साधना की है तथा इसके साथ ही ईश्वर के प्रति अपने विश्वास को अडिग रखा है। इस सबका परिणाम यह हुआ कि उन्हें अपने जीवन में सभी कुछ मिला है—अर्थ, यश, मान, पद, परिवार-सुख आदि। वे कभी इन चीजों के पीछे भागे नहीं, वे तो सतोषपूर्वक अपनी साधना में लीन रहे, इसलिए ये सभी चीजें उनके पीछे भागती आई हैं। उन्हें किसी प्रकार के अभाव ने नहीं सताया, कभी कोई परेशानी उनके समक्ष आई भी तो उन्होंने अपनी सम्पूर्ण शक्तियां उस परेशानी को दूर करने के प्रयत्न में तथा अपनी भावना ईश्वर-भक्ति में निःशेष भाव से दे डालीं। परिणाम यही हुआ कि शारीरिक, पारिवारिक, सामाजिक आदि किसी प्रकार के क्लेश से वे कभी आक्रान्त नहीं हो सके।

अपनी इस सारी सफलता का बहुत बड़ा श्रेय वे अपनी धर्मपत्नी श्रीमती कमला सहल को देते हैं क्योंकि अपनी जीवन-साधना में उन्हें अनवरत सहयोग तथा अटूट विश्वास अपनी धर्मपत्नी से मिला है। यह ग्रन्थ उनकी साधना की भागीदार श्रीमती कमला सहल को ही समर्पित है।

मैंने अपनी योजना हिन्दी के विद्वानों के समक्ष रखी तो समस्त हिन्दी जगत् ने इस योजना का स्वागत किया और अपना सहयोग देने का वचन दिया तो मुझे लगा कि निस्पृह भाव से की गयी सेवाओं का मूल्य लोग पहचानते हैं। कितनी उदारता से सुहृद्-विद्वानों ने मुझे अपना सहयोग प्रदान किया है, यह इस ग्रन्थ से स्पष्ट है।

डॉ० कन्हैयालाल सहल का व्यक्तित्व जितना निरभिमानी, शालीन तथा सौम्य है, उनका साहित्यकर्मी रूप उतना ही महत्त्वपूर्ण और विराट् है। २०वीं शती के चौथे दशक में हिन्दी जगत् को डॉ० कन्हैयालाल सहल का परिचय एक सुलझे हुए आलोचक के रूप में मिला। अध्यापक होने के कारण उनका आलोचक और उनका अध्यापक, परस्पर इतने अन्तर्भुक्त हो गये हैं कि उनकी आलोचना में उनके शिक्षक के दर्शन हो जाते हैं। वे अपने जीवन में अत्यंत सहज हैं, कहीं कोई बनावटीपन नहीं, कोई कटु भाव नहीं, कोई दुराग्रह नहीं, सर्वत्र एक सुलझापन, सीधापन और सरलता। उनके व्यक्ति के ये सारे गुण उनकी समीक्षा में भी विद्यमान हैं। वे अपने विषय को अच्छी तरह समझते हैं और उसे गहराई तक उरेह कर पाठक के समक्ष स्पष्ट शब्दों में रख देते हैं। विषय का स्पष्ट तथा सहज प्रतिपादन उनकी समीक्षा का आधार-स्तम्भ है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि वे हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी के प्रकाण्ड पंडित हैं तथा मराठी, गुजराती, बंगला आदि भाषाओं के अच्छे जानकार हैं। इसी ज्ञान-गरिमा के कारण उनके विवेचन के क्षेत्र व्यापक और विविध हैं—भारतीय-काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के संदर्भ में टी० एस० एलियट के वस्तु-निष्ठ प्रतिरूपता सिद्धान्त के विश्लेषण से लेकर भारतीय नाट्यशास्त्र तथा अरस्तू, कीथ, मार्क्स आदि के विवेचन तक; कबीर, सूर, तुलसी के काव्य की समीक्षा से प्रसाद के नियतिवाद पर विचार तक; हिन्दी-साहित्य के विविध वादों की चर्चा से नये से नये कृतित्व की स्वीकृति तक; आधुनिक वैज्ञानिक जीवन तथा वेदान्त से गीता में मानसिक स्वास्थ्य के चिन्तन तक; 'प्रयोग' के कवि से 'दृष्टिकोण' के ललित निबंधकार तक; सैद्धान्तिक आलोचना से व्याख्यात्मक समीक्षा तक; राजस्थानी कहावतों के वैज्ञानिक विश्लेषण से लोक-कथाओं में मूल अभिप्रायों की खोज तक; कहावतों के संकलन से लोक-गाथाओं, ऐतिहासिक प्रवादों तथा सांस्कृतिक उपाख्यानों के सम्पादन

तक; शब्दों की व्युत्पत्तियों की खोज से 'मरु भारती' के माध्यम से दुर्लभ सामग्री के प्रस्तुतीकरण तक; आदि आदि।

इससे स्पष्ट है कि डॉ० सहल-प्रणीत साहित्य अत्यन्त विशाल है लेकिन उसकी गरिमा परिमाणात्मक विपुलता में उतनी नहीं, जितनी गुणात्मक महत्ता में है। डॉ० सहल की समीक्षात्मक उपलब्धियों को संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं:—

—हिन्दी में अपने ढंग की व्याख्यात्मक समीक्षा या समीक्षात्मक व्याख्या का सूत्रपात करने का श्रेय डॉ० सहल को है। 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' तथा 'कामायनी-दर्शन' (डॉ० विजयेन्द्र स्नातक की सहकारिता में) कृतियां इसका प्रमाण हैं।

—डॉ० सहल ने सर्वप्रथम प्रसाद-साहित्य के संदर्भ में नियतिवाद का भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टियों से प्रचुरता एवं विशदता से विवेचन किया है।

—हिन्दी साहित्य में उदात्त-भावना (Sublimity) पर सर्व प्रथम लेख डॉ० सहल ने लिखा जिससे विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ।

—करुण रस की सुखात्मकता एवं ट्रेजडी पर अनेक लेख लिखकर उन्होंने अपना नूतन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

—रस-सिद्धान्त पर डॉ० सहल ने अपने दृष्टिकोण से विचार किया है। इस क्षेत्र में उनकी 'भावकत्व बनाम कल्पना' तथा 'रस अभिव्यक्त या अनुभूत' नवीन उद्भावनाएँ अपना विशेष महत्त्व रखती हैं।

—डॉ० सहल ने टी० एस० एलियट के 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता' सिद्धान्त की विवेचना भारतीय रस-सिद्धान्त, ध्वनि-सिद्धान्त आदि के संदर्भ में मौलिक ढंग से की है।

—हिन्दी में वक्रोक्ति पर संभवतः सर्वप्रथम लेख डॉ० सहल ने बंगला से अनुवाद करके विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया।

—वियोग में वृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं : जैसे तथ्यों का उद्घाटन करते हुए गुप्तजी के वियोग-वर्णन के वैशिष्ट्य का विवेचन सबसे पहले डॉ० सहल ने ही किया है।

ये तो कुछ संकेत मात्र हैं, लेकिन डॉ० सहल का शायद ही कोई ऐसा निबन्ध हो जिसमें उन्होंने अपना नूतन दृष्टिकोण प्रस्तुत न किया हो। 'प्रयोग' 'क्षणों के धागे' तथा 'समय की सीढ़ियां' संकलनों में वे भावप्रवण प्रयोगशील कवि के रूप में सामने आते हैं तो 'बुड्ढे बच्चे' तथा 'वह क्षण भी धन्य है' जैसे ललित निबंधों में उनका एक अलग ही अन्दाज है।

डॉ० सहल एक चिंतक साहित्यकार हैं। चिंतक साहित्येतर भी सोचता है, जीवन की गुत्थियों पर विचार करता है। इस दृष्टि से डॉ० सहल के 'अर्जुन का विषाद-योग', 'गीता में मानसिक स्वास्थ्य', 'नूतन आलोक में वेदान्त' तथा 'गीता के प्रथम अध्याय का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण' लेख अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। डॉ० सहल ने बताया कि वे गीता के सभी अध्यायों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना चाहते हैं। निश्चय ही उनका यह कार्य अत्यन्त उपादेय होगा।

हिन्दी-साहित्य के साथ ही उनका साहित्यकर्मी रूप राजस्थान की लोक-संस्कृति की सेवा में निरंतर रत रहा है। 'राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन' उनका शोध-प्रबंध है। उन्होंने मुझे बताया कि शोध के लिए उनका कोई निर्देशक नहीं था तथा लोग यह सोचते थे कि इस विषय पर क्या शोध हो सकती है ? लेकिन डॉ० सहल ने इसी विषय पर शोध कार्य किया। उनके इस प्रबन्ध को उत्तर-प्रदेश सरकार ने पुरस्कृत भी किया। अपने ढंग का यह पहला प्रयास था। इस प्रयास की महत्ता तो इसी बात से प्रमाणित हो जाती है कि इस प्रबन्ध से प्रेरणा लेकर इसके बाद अन्य भाषाओं में भी एतद्विषयक शोध-प्रबन्ध लिखे गये। इसके साथ ही उन्होंने राजस्थानी कहावतों का एक संकलन भी तैयार किया जिसे बंगाल हिन्दी मण्डल ने पुरस्कृत किया था।

डॉ० सहल ने राजस्थान की लोक-कथाओं की प्ररूढ़ियों (Motifs) का सर्वप्रथम विवेचन किया। उन्होंने एक-एक प्ररूढ़ि को लेकर लेख लिखने की परम्परा का सूत्रपात किया, जो पश्चिम में भी प्रचलित नहीं थी। अपने मौलिक विवेचन के कारण श्री राहुल सांकृत्यायन, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, श्री पुष्कर चन्दरवाकर जैसे लोक-संस्कृति के मनीषियों ने डॉ० सहल की प्रशंसा की है।

राजस्थान के ऐतिहासिक व सांस्कृतिक प्रवादों व उपाख्यानों (Anecdotes) का संकलन व विवेचन डॉ० सहल ने ही पहली बार किया, जिसके लिए डॉ० सुनीति-कुमार चाटुर्ज्या से उन्हें प्रशंसन मिला है। डॉ० सहल ने 'मरुभारती' त्रैमासिक के सम्पादन के माध्यम से राजस्थानी के नये-नये लेखक तैयार किए हैं, दुर्लभ सामग्री

को शोधार्थियों के लिए सुलभ बनाया है तथा 'व्युत्पत्ति' 'शब्द-चर्चा' जैसे स्तम्भों से नये तथ्य दिए हैं जिन्हें अन्य पत्रिकाओं ने भी अपनाया है। 'निहालदे-सुलतान' जैसी विशाल लोक-गाथा का राजस्थानी पाठ संकलित करने तथा उसको सरल हिन्दी में पाठकों के लिए प्रस्तुत करने का श्रेय डॉ० सहल को ही है।

डॉ० सहल की सभी उपलब्धियों का रेखांकन इस ग्रन्थ में हुआ है, मैंने तो संकेत मात्र दिए हैं। डॉ० ओमानन्द सारस्वत ने डॉ० सहल को 'शब्द-योगी' कहा है। निश्चय ही डॉ० सहल ने जीवन में शब्दों की साधना की है (केवल वैयाकरण के रूप में ही नहीं) और मां सरस्वती के भण्डार को भरा है और अभी वे अपनी इसी योग-साधना में लीन हैं।

इस शब्द-योगी की शब्द-साधना को उद्‌घाटित करने वाला यह ग्रंथ ६ खण्डों में विभक्त है। 'व्यक्तित्व-खण्ड' के सभी लेख उन आत्मीय जनों के हैं जिनका स्नेह, आदर, आत्मीय भाव, श्रद्धा भाव तथा प्रेम डॉ० सहल को मिला है। 'काव्य-समीक्षा-खण्ड' डॉ० सहल के कवि का विवेचन करता है तथा उनकी कविता की क्षमता तथा प्रयोगशीलता को रेखांकित करता है। 'ललित निबन्ध तथा भाषा-शास्त्र खण्ड' में डॉ० सहल के ललित निबंधों पर प्रकाश डाला गया है तथा उनको भाषावैज्ञानिक उपलब्धियों की चर्चा की गई है। 'समीक्षा-खण्ड' के अन्तर्गत डॉ० सहल के समीक्षात्मक कृतित्व का विशद विवेचन है तथा उनकी समीक्षात्मक मान्यताओं, सिद्धान्तों, पद्धतियों आदि पर अधिकृत सामग्री है। 'लोक-संस्कृति-खण्ड' का सम्बन्ध डॉ० सहल के राजस्थानी भाषा और साहित्य पर किये गये कार्य से है। 'कृति-परिचय-खण्ड' में डॉ० सहल की लगभग सभी कृतियों की परिचयात्मक समीक्षाएं हैं। इनमें से अधिकांश समीक्षाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में पहले ही प्रकाशित हो चुकी हैं। ग्रंथ के अन्त में परिशिष्ट है जिसके तीन भाग हैं—अपने संपादन-काल में बाबू गुलाबराय 'साहित्य-संदेश' में प्रकाशित होने वाले लेखों पर अपनी टिप्पणियां दिया करते थे। डॉ० सहल के कतिपय निबंधों पर दी गई बाबू गुलाबराय की टिप्पणियां परिशिष्ट (क) में संकलित हैं। परिशिष्ट (ख) में डॉ० सहल की विभिन्न कृतियों पर मूर्धन्य विद्वानों द्वारा लिखी गयीं भूमिकाएँ संकलित की गयी हैं। परिशिष्ट (ग) में डॉ० सहल के नाम विद्वानों तथा उनके आत्मीय जनों के कतिपय पत्र हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ डॉ० सहल के व्यक्तित्व का आकलन तथा कृतित्व का मूल्यांकन करने का एक प्रयास है। इसमें मुझे कहां तक सफलता मिली है, इसका निर्णय तो सुविज्ञ पाठक ही करेंगे।

ग्रंथ के सम्पादन में मुझे हिन्दी-जगत् का पूरा सहयोग मिला है। मेरी योजना लगभग ४०० पृष्ठ का ग्रंथ निकालने की थी। लेकिन लेखकीय सहयोग का

परिणाम यह हुआ कि ग्रंथ का आकार बढ़ता गया। आकार और भी बढ़ सकता था लेकिन मेरी तथा प्रकाशक दोनों की सीमाएँ थीं, इसलिए काफी लेखकों को मुझे निराश करना पड़ा। सबसे पहले मैं इन लेखक-बन्धुओं से क्षमा चाहता हूं। अपनी सीमाओं के कारण ही मैं उनके सहयोग का लाभ न उठा सका।

ग्रंथ की भूमिका 'डॉ० रामधारीसिंह दिनकर' ने तथा 'प्रस्तावना' डॉ० नगेन्द्र ने लिखी है। इसके लिए इन दोनों विद्वानों के प्रति मैं श्रद्धानत हूँ।

जिन लेखकों ने ग्रंथ के लिए सहृदयता तथा निष्ठा से लेख लिखे हैं, उनके प्रति मात्र शाब्दिक आभार व्यक्त कर अपने औपचारिक दायित्व से भले ही उऋण हो जाऊँ पर वास्तव में उनके ऋण से मुक्त होना मेरे लिये कठिन है, तथापि मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

मैं श्री रामनिवास जाजू का किन शब्दों में आभार व्यक्त करूं जिन्होंने इस विशाल ग्रंथ के प्रकाशन में अपना उदार सहयोग दिया है। वस्तुतः श्री जाजूजी जैसे सहृदय ही ऐसा कर सकते हैं।

ग्रंथ का सम्पादन प्रारम्भ तो कर दिया लेकिन कई दिक्कतें पेश आईं। डॉ० सहल की पुरानी कृतियां उपलब्ध नहीं थीं। उनके पास अपनी उपलब्धियों से सम्बन्धित जो भी सामग्री थी, वह व्यवस्थित नहीं थी। लेखक अनेक सूचनाएँ तथा पुस्तकें मांगने लगे। पुस्तकों की व्यवस्था तथा सूचनाओं के लिए मैंने डॉ० कन्हैयालाल सहल के सुपुत्र डॉ० कृष्णविहारी सहल का द्वार खटखटाया। उन्होंने पिलानी, जयपुर, मुकुंदगढ़ आदि स्थानों के पुस्तकालयों से डॉ० कन्हैयालाल सहल की पुरानी कृतियाँ लाकर मुझे दीं। डॉ० सहल के पुस्तकालय के तीनों कमरों से पत्रिकाओं की पुरानी फाइलों से उपयोगी सामग्री तथा उनके पत्रों के अव्यवस्थित अम्बार से उपयोगी पत्र छांट कर उन्होंने मुझे दिये। इस सारी व्यवस्था से लेकर सम्पादन तक में मैंने उनका भरपूर प्रयोग किया है। असल में डॉ० कृष्णविहारी सहल मेरे अंतरंग मित्र हैं, इस ग्रंथ के सम्पादन में मैंने उनको आत्मीयता का नाजायज फायदा उठाया है। इस सबके लिए मैं उनका ऋणी हूं। पर उनके अलावा मेरी सहायता भी कौन करता? इसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद नहीं, (आयु में बड़ा होने के कारण) अपनी शुभकामनाएं देता हूँ कि वे भी साहित्य-सर्जन में तत्परता से लगे रहें तथा 'योग्य पिता के योग्य पुत्र' कहावत को चरितार्थ करें।

मैं मनीषा प्रकाशन का भी आभारी हूं जिसके द्वारा ग्रंथ का प्रकाशन बड़ी तत्परता तथा सुरुचि से किया गया है।

यह ग्रन्थ डॉ० कन्हैयालाल सहल की षष्ठिपूर्ति के अवसर पर निकल रहा है। इसमें डॉ. सहल के कृतित्व को मूल्यांकित करने की चेष्टा की गयी है लेकिन मैं यह दावा नहीं कर सकता कि यह ग्रंथ उनके कृतित्व के सभी आयामों को रेखांकित कर सका है। अनेक आयाम ऐसे हो सकते हैं जिनकी ओर लेखक बंधु ध्यान देंगे तथा उनके कृतित्व के मूल्यांकन की प्रक्रिया को जारी रखेंगे। वैसे भी डॉ० सहल अभी साहित्य-साधना में रत हैं। हिन्दी एवं राजस्थानी साहित्य को अभी उनसे बहुत आशाएं हैं। इस दृष्टि से भी उनके मूल्यांकन का कार्य यहां से प्रारम्भ होता है। आवश्यकता है कि शोध की दृष्टि से भी इस ओर ध्यान दिया जाए।

स्वाधीनता दिवस, १९७१ — **होतीलाल भारद्वाज**

नीम का थाना (राज०)

गांव के बाहर एक पेड़

• डॉ० परेश

कौन-सा पेड़ ? मन कहता है इसे अश्वत्थ अथवा वट कहूँ। वट ही ठीक है। वट में विशालता अधिक है और सम्भवतः अश्वत्थ की अपेक्षा पाताल से जीवन-रस खींचने की शक्ति भी। अश्वत्थ भी मरुभूमि में पर्याप्त पंनपता है, किन्तु वह सुकुमार अधिक होता है और मेरे मन के भाव को ठीक-ठीक व्यक्त नहीं करेगा। यद्यपि मैं चाहता हूँ कि अश्वत्थ के नाम से जो पवित्रता इसके लिए उमड़ती है, उसे समेटकर इस पाताल-रस भेदी वट की ही बात करूँ।

जब मैं इस वट और अपने गांव के बारे में सोचता हूँ तो 'जहाँ तक दृष्टि जाती है, सरकन्डों, सत्यानाशियों और कन्टकारियों के विरल गुल्मों के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई देता............मात्र एक सुदीर्घ शर-कान्तार मध्याह्न के तप्त वायुमण्डल में भांय-भांय कर रहा होता है और ऐसा जान पड़ता है मानों समूचे विश्व की एक धृष्ट अवसन्नता यहीं केन्द्रित हो गयी है और देखने वाले को लगता है कि वह दिगन्त के एक छोर से दूसरे छोर तक दृग्वलय निर्माण करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता..........।'

इस तप्त वालुका राशि पर पांव रखना तो अलग, दृष्टिपात भी जहाँ दारुण है, यह वट पाताल तक अपनी जड़ें डाल-कर कैसे बैठा है ? भगवान् जाने। किन्तु बैठा है और वह गांव का सबसे पुराना बरगद है, पुराना और पूज्य।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' के दशम उच्छ्वास के तुरन्त बाद ही जब मैं जलते हुए रेगिस्तान को बस में बैठकर पार कर रहा होता हूँ तो १५ वें उच्छ्वास की ये पंक्तियाँ मेरे साथ-साथ चलती हैं............'भद्रेश्वर दुर्ग का समीपवर्ती दुर्गम शरकान्तार दिखाई पड़ा। रजत पट्ट के समान दूर तक चमकते हुए वालुका प्रान्तर को आच्छादित करके वह सूना शरकान्तार इस प्रकार झूम रहा था मानो ज्वलंत

धरित्री की सहस्र-सहस्र जिह्वाएं आकाश तक फैल जाने की तैयारी कर रही हों। रह-रह कर वात्यालुंठित वालुका राशि उद्धूम अग्निकुंड की भांति चित्त को भय भ्रान्त कर रही थी—नीचे से ऊपर तक कहीं शीतलता का नाम नहीं था। मैं कई दिनों से घोड़े की पीठ पर सवार भागा आ रहा हूँ। एक बार भट्टिनी का चिन्ताकातर मुख मन में उदय होता है, दूसरी बार सुचरिता का प्रसन्न रूप। एक भद्रेश्वर की ओर खींच रहा था, दूसरा स्थाण्वीश्वर की ओर...........'

जीवन में इन दो विकल्पों की खींचतान हमेशा ही रही है। किसको तजूँ—किसको गहूँ? इसी अनिश्चय में एक जेब में 'गीता', दूसरी में 'बाणभट्ट की आत्म कथा' लिए व्यास के उद्गम स्थल व्यास-सरोवर तक पहुँच गया हूँ—रोहटांग पर्वत पर १४६०० फीट की ऊँचाई तक—रेगिस्तान से हिमालय के गिरिवर्त्म तक—रोहटांग से भी मीलों आगे लाहौल के तीर्थस्थान त्रिलोकनाथ तक...........क्या और भी आगे जाऊँ—पांगी घाटी को पार कर लेह, लद्दाख, तिब्बत या कि चाइना, मंचूरिया...........कहाँ तक...........?

भीतर से हर बार जैसे कोई अवधूत इस मंत्र को कान में फूँकता है, 'त्रिपुर सुन्दरी ने जिस रूप में तेरे मन को लुभाया है, उसे साहसपूर्वक स्वीकार क्यों नहीं करता? भुवन-मोहिनी का साक्षात्कार पाकर भी तू भटकता फिर रहा है, पागल।'

भटक ही तो रहा था...........त्रिलोकनाथ से लौटते हुए कुलू मण्डी, शिमला होकर चण्डीगढ़ आया और बाबा (द्विवेदीजी) को सच-सच बता दिया कि 'मैं मोहिनी को बचाना चाहूँगा।'

कह कर भी, इस अवधूत गुरु के प्रथम साक्षात्कार के बाद भी जाने किस मायाविनी ने भरमाए रखा। जयपुर या चण्डीगढ़........चण्डीगढ़ या जयपुर........ निर्णय नहीं हो पा रहा था।

कहते हैं, कोई नहीं बोलता तो गांव के बाहर का पेड़ बोल देता है। मैंने इस पेड़ को आते-जाते अनेक बार प्रणाम किया था—मौन दूर से। 'बस' आज भी सहलजी के घर के आगे से ही गुजरती है। दिल्ली की तरफ से आता हूँ तो जैसे पिलानी आते ही गांव की सीमा शुरु हो जाती है और यह घर मुझे मौन भाव से गाँव की सीमा में स्वीकार कर लेता है। पिलानी से मेरा घर २० मील दूर है, किन्तु यहाँ आते-आते हमेशा ऐसा-ऐसा लगा है कि घर आ गया है। इसी तरह दिल्ली की ओर बढ़ते हुए जब बस इस मकान के आगे गुजर जाती है तो लगता है कि अब गांव पीछे छूट गया है और सामने पार करने को बहुत-बहुत लम्बी-लम्बी यात्राएँ हैं।

गांव के वाहर के इस पेड़ से वर्षों से मेरा यही रिश्ता है-मूक-मौन-और आत्मीयता से पूर्ण। मुझे इस पेड़ से हमेशा यही मूक-मौन प्रेरणा मिली है। इस पेड़ की अपनी भाषा है—वह आदमियों की तुच्छ भाषा का उपयोग नहीं करता।

++ ++

केवल एक वार जयपुर में प्रत्यक्ष वातचीत की आवश्यकता पड़ी। वह भी विहारी के कहने से। विहारी-जिसमें वट की अपेक्षा ववूल के गुण अधिक हैं माने resistance है दोनों ही रेगिस्तान की रेती के सहस्र वर्ष जीवी पाताल-रस भेदी वृक्ष—कहां से अपना खाद्य वटोरते हैं—कोई नहीं जानता—लेकिन दोनों ही आतप और वात के विरुद्ध अपनी-अपनी गरिमा से अड़े हैं और खड़े हैं।

लाहौल, स्पित, रोहटांग और त्रिलोकनाथ के बर्फीले प्रदेशों में घूम कर मैं फिर एक वार जयपुर के पुराने G. P. O. के बड़े लैटर-वाक्स से टिककर खड़ा था। वहां ठेठ जयपुरी वातावरण गमगमाता है, सिंधी चाय की खुशवू उड़ती है—भवानी टाकीज के खत्म हो रहे 'शो' की 'फेयर जैन्ट्री' के वाहर निकलने की प्रतीक्षा रहती है। वहीं एक कॉलेज के अहाते में विहारी का हॉस्टल है। लगता है जैसे कलकत्ते की कथा-स्थितियों के वीच खड़ा हूँ।

जयपुर में सब कुछ मिलने की सम्भावना है। एक अत्यन्त अक्खड़, आत्मीय व्यक्ति का, जो हमेशा अहेतुक स्नेह मुझ पर लुटाता है—पूरा आश्वासन है कि जयपुर युनिवर्सिटी की जितनी सुविधाएं हैं, मुझे मिलेंगी, किन्तु हमेशा के 'बण्ड' को यह वात समझ में नहीं आई।

हमेशा ही तो प्राप्य को छोड़कर भागता रहा हूँ। वस कोई निमित्त मिल जाए। विहारी हिन्द होटल में एक कमरे का नम्वर देता है—जहां सहलजी ठहरे हैं। पांव छूकर मन का विकल्प सामने रखता हूँ। दूसरे ही क्षण निर्णय हो जाता है 'गुरु तुम्हें स्वयं वुला रहे हैं, इसमें सोचने वाली कोई वात ही नहीं, चण्डीगढ़ जाओ...........।'

गुरो! तुम यहां भी चले आए। मैं वार-वार भूलता हूँ—तुम वापस अपने चरणों में खींच लेते हो।

चण्डीगढ़ पहुँच जाता हूँ सीधा। अभी तक के जीवन का श्रेष्ठतम समय गुरुदेव के चरणों में साधना करते हुए कटता है। अव शिमले में हूँ। गांव-घर जव-जव आता-जाता हूँ—इस 'कांकड़' पर के वट को अर्घ्य चढ़ाता हूँ। ●

जीवन-क्रम

• डॉ० वसन्तलाल शर्मा

सागर की भाँति प्रशान्त और गम्भीर स्वभाव वाले डॉ० कन्हैयालाल सहल भारत के उन चोटी के साहित्यकारों में से हैं जिन्होंने अपनी कारयित्री प्रतिभा के बल से हिन्दी तथा राजस्थानी के कोष को अपने सुचिन्तित और अमूल्य विचार-रत्न प्रदान कर पूर्ण किया है। डॉ० सहल की प्रतिभा सर्वतोमुखी है। उसका स्रोत साहित्य की किसी एक ही दिशा में प्रवाहित न होकर उसकी विभिन्न दिशाओं में अप्रतिहत गति से प्रवाहित हुआ है और डॉ० सहल के प्रशासकीय कार्यों में व्यस्त रहने पर भी वह अभी तक उसी अबाध गति से वह रहा है। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में अभूतपूर्व ख्याति प्राप्त करने के साथ ही उन्होंने साहित्य-सर्जना के अन्य क्षेत्रों में भी प्रतिष्ठा प्राप्त की ही है। वे एक प्रतिभा-सम्पन्न कवि, तीक्ष्ण दृष्टि वाले शोध-कर्ता विद्वान् और अधिकार-सम्पन्न सम्पादक भी हैं। साहित्य-साधना में अपना सम्पूर्ण जीवन लगाने वाले डॉ० सहल एक कुशल अध्यापक और उच्चकोटि के प्रशासक भी हैं।

जन्म एवं शिक्षा

राजस्थान के शेखावाटी प्रदेश में नवलगढ़ नामक एक नगर है। इसमें अपनी धार्मिकता एवं विद्या के लिए सहल-परिवार प्रसिद्ध है। इसी सहल-परिवार में विक्रम संवत् १९६८ के मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष की तृतीया को डॉ० सहल का जन्म हुआ था। उनके पिता स्वर्गीय पं० रामकुमारजी सहल संस्कृत के विद्वान्, कर्मकाण्ड-निष्णात एवं धार्मिक पुरुष थे। योग्य पिता के गुणों का अपने पुत्र पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। डॉ० सहल बचपन से ही बड़े मेधावी और अध्यवसायी रहे हैं। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा नवलगढ़ में ही हुई। उन दिनों शेखावाटी में उच्च शिक्षा की कहीं भी व्यवस्था नहीं थी, अतः जयपुर के महाराजा

कॉलेज में उन्हें उच्च शिक्षा-ग्रहणार्थ जाना पड़ा और वहीं से आपने बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की और कक्षा में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। इसके पश्चात् वे श्री कानोड़िया मिडिल स्कूल (अब श्री शारदा सदन कॉलेज), मुकुन्दगढ़ में प्रधानाध्यापक नियुक्त हो गये। जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है, डॉ० सहल बाल्यकाल से ही बड़े मेधावी और विद्याव्यसनी रहे हैं, अतः उन्होंने अध्यापन के साथ-साथ स्वाधीन अध्ययन भी जारी रखा और आगरा विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में हिन्दी में एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करली। इसके बाद वे पिलानी के बिड़ला कॉलेज में हिन्दी तथा संस्कृत विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हो गये। तत्पश्चात् उन्होंने संस्कृत में भी आगरा विश्वविद्यालय से एम० ए० परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करली। वैसे आपका संस्कृत साहित्य पर प्रारम्भ से ही अधिकार था, अतः यह परीक्षा तो आपके लिए हस्तामलक ही थी। सन् १९५२ में आर्ट्स विभाग को पृथक् कर जब बिड़ला आर्ट्स कॉलेज की स्थापना की गई तो आप उसमें वाइस प्रिंसिपल के पद पर नियुक्त कर दिये गये और सन् १९६४ की जुलाई तक उस पद पर सफलतापूर्वक आप कार्य करते रहे। इसी बीच आपको राजस्थान विश्वविद्यालय ने 'राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन' शीर्षक शोध-प्रबन्ध पर पी-एच० डी० की उपाधि से अलंकृत किया। हिन्दी में अपने जैसा यह प्रथम शोध-प्रबन्ध था, जिसने शोध की एक नयी दिशा का मार्ग प्रशस्त किया।

प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व

डॉ० सहल शान्त और गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति हैं। वे बिना मतलब विशेष नहीं बोलते। सादगी, सरलता, मृदुभाषिता और मननशीलता आपके जीवन के सतत सहचर हैं। आपको क्रोध सामान्यतः कभी नहीं आता। यदि कोई आपका अनिष्ट करने की भी सोचता है तो आप बदले में उसका भी भला ही करने की सोचते हैं—यह आपके व्यक्तित्व की सर्वाधिक विशेषता है। अपने सम्पर्क में आने वालों के साथ आपका व्यवहार बड़ा ही सौजन्यपूर्ण रहता है। आप अपने छात्रों को भी सदा आदरसूचक शब्दों से व्यवहृत करते हैं। दयालुता आप में चरम कोटि की है। आप अपने निर्धन छात्रों की हमेशा मदद करते रहे हैं। आप जब से बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट के सेक्रेटरी हो गये हैं तब से आपके पास निरन्तर निर्धन छात्र सहायतार्थ आते ही रहते हैं और आपसे कोई भी निषेधात्मक उत्तर नहीं पाता।

निष्पक्ष प्रशासक

आप वर्षों ही बिड़ला आर्ट्स कॉलेज में हिन्दी व संस्कृत विभाग के अध्यक्ष और वाइस प्रिंसिपल रहे। एक बार श्रीमती देवकी अम्मा उपाध्याय के दिल्ली चले जाने पर उनके स्थान पर आप निरन्तर दो वर्ष तक बिड़ला आर्ट्स

कॉलेज के प्रिंसिपल भी रहे। पिलानी के तीनों कॉलेजों को मिलाकर बिड़ला इंस्टीट्यूट की स्थापना होने पर आप उसमें हिन्दी-संस्कृत के प्रोफेसर और अध्यक्ष रहे। आप अपने इन सभी पदों पर कार्य करते हुए अपने सहयोगियों के साथ सदा निष्पक्ष रहे। आपकी अध्यक्षता के कार्यकाल में कॉलेज ने बड़ी प्रगति की। आपने ही दर्शन एवं अंग्रेजी विषयों में कॉलेज में एम० ए० कक्षाएँ प्रारम्भ की। आपके कार्य-काल में कॉलेज की छात्र-संख्या भी बढ़ी। आपने कॉलेज की प्रगति के लिए सतत प्रयत्न किया। आजकल आप बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट के सेक्रेटरी के पद पर आसीन हैं और बड़ी ही लगन, निष्पक्षता एवं योग्यता के साथ ट्रस्ट का संचालन कर रहे हैं। जब से आपने यह गुरुतर कार्यभार सँभाला है, तब से ट्रस्ट की संस्थाएँ दिन प्रति दिन प्रगति कर रही हैं। आपने संस्थाओं के प्रायः सभी अध्यापकों को प्रशिक्षित करवा दिया है जिससे संस्थाएँ सुचारु रूप से संचालित हो सकें। आप हमेशा संस्थाओं की प्रगति के लिए नई-नई योजनाएँ बनाकर उन्हें कार्यान्वित करते रहते हैं। आजकल छात्रों के गिरते हुए स्तर को सुधारने में आप निरन्तर यत्नशील हैं। आपने पिलानी में 'हिन्दी-भवन' की स्थापना करवा कर सराहनीय कार्य किया है। आप 'हिन्दी-भवन' के माध्यम से पिलानी के छात्रों एवं अध्यापकों में हिन्दी के प्रति रुचि जागृत कर रहे हैं। इससे पूर्व पिलानी के कॉलेजों के छात्रों में हिन्दी-अनुराग जागृत करने के लिए आपने 'हिन्दी-साहित्य-समिति' की स्थापना की थी और उसके माध्यम से आपने हिन्दी-प्रचार की दिशा में कार्य किया था। जब तक बिड़ला आर्ट्स कॉलेज एवं बिड़ला इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलोजी एवं साइन्स के हिन्दी-संस्कृत विभाग के आप अध्यक्ष रहे तब तक पूर्वोक्त समिति सक्रिय रूप से कार्य करती रही।

पिलानी के सार्वजनिक जीवन में भी आपका बड़ा योगदान रहा है। आप वर्षों ही पिलानी नगर पालिका के प्रशासक रहे तथा उस काल में पिलानी नगर के निर्माण में आपने बहुत कार्य किया। पिलानी के नागरिकों की भलाई के लिए आपने अनेक कार्य किये। आप करीब १३-१४ वर्षों तक पिलानी में ऑनरेरी मजिस्ट्रेट भी रहे। आप अपने निर्णयों में बड़े निष्पक्ष रहते थे जिससे सभी स्थानीय लोग आज तक भी आपके बड़े प्रशंसक हैं। राजस्थान साहित्य अकादमी के आप सम्मान्य सदस्य तथा राजस्थान सरकार द्वारा नियुक्त पाठ्य-पुस्तक-राष्ट्रीयकरण समिति के आप संयोजक रहे हैं। राजस्थान विश्वविद्यालय में 'फैकल्टी ऑफ आर्ट्स', सीनेट, ऐकेडेमिक कौन्सिल के आप सदस्य तथा 'बोर्ड ऑफ स्टडीज' के वर्षों तक संयोजक रहे हैं। राजस्थान के प्रायः सभी साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्य-क्रमों में आपका बराबर सहयोग रहता है। जयपुर के आकाशवाणी केन्द्र को आपका वरद-

हस्त प्राप्त है। वहाँ से आपके साहित्यिक प्रवचन अनेक बार प्रसारित होते रहते हैं। रेडियो सलाहकार समिति के भी आप कई वर्षों तक सदस्य रह चुके हैं।

कुशल अध्यापक

डॉ० सहल एक कुशल एवं अधिकार-सम्पन्न अध्यापक हैं। आपने हिन्दी-साहित्य के साथ-साथ संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा अंग्रेजी साहित्य का भी अच्छा अध्ययन किया है। अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य से भी आपका अच्छा परिचय है। भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों एवं मनोविज्ञान का भी आपने मन्थन किया है। ज्ञान के क्षेत्र में डॉ० सहल की जिज्ञासा निरन्तर बनी रहती है और अभी तक नियम से घंटों ही स्वाध्याय करते रहते हैं। आपका ज्ञान-भंडार जितना व्यापक है, आपकी व्याख्यान-शैली उतनी ही विशद एवं स्वच्छ है। बड़े-बड़े साहित्यिक सिद्धान्तों और दार्शनिक ग्रंथियों का ऐसी स्पष्ट व्याख्यान शैली में आप स्पष्टीकरण करते थे कि छात्र-वर्ग तुरन्त ही विषय को हृदयंगम कर लेता था। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में "आप बहु-अधीत पंडित हैं। संस्कृत साहित्य, काव्य-शास्त्र, हिन्दी साहित्य-शास्त्र और अंग्रेजी साहित्य का इन्होंने सम्यक् अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य-अन्य भाषाओं के साहित्य से भी परिचय है।" आपकी अध्यापन-कला की आपके सभी भूतपूर्व छात्र मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं। डॉ० सहल में किसी प्रकार का दुराग्रह नहीं है—यह आपके अध्यापन की एक बहुत बड़ी विशेषता है। यदि कोई छात्र सही बात कहता है तो आप उसे स्वीकार करते हैं और कक्षा में उस छात्र की प्रशंसा कर अन्य छात्रों को भी अध्ययन के लिए प्रोत्साहित करते हैं। दुराग्रह अध्यापक का बहुत बड़ा दुर्गुण है, जिससे आप सर्वथा मुक्त हैं। केवल विवाद के लिए विवाद आपको पसन्द नहीं। अपने सहयोगियों से भी आप कभी मिथ्या विवाद में नहीं उलझे।

लब्ध-प्रतिष्ठ आलोचक

डॉ० सहल हिन्दी-साहित्य के एक सुपरिचित आलोचक हैं। आपकी आलोचना सम्बन्धी कृतियों तथा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले लेखों की एक लम्बी सूची है। 'समीक्षायण', 'आलोचना के पथ पर', 'समीक्षाञ्जलि', 'वाद-समीक्षा', 'विवेचन', 'विमर्श और व्युत्पत्ति' आदि प्रकाशित आलोचना-पुस्तकों के अतिरिक्त आपके कितने ही (करीब २५०) विविध साहित्यिक विषयों पर निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी आलोचनाओं का हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान है। आप डॉ० श्यामसुन्दरदास एवं बाबू गुलाबराय एम० ए० के समान समन्वयवादी आलोचक हैं। आपने निर्भीक होकर प्राच्य एवं पाश्चात्य सभी सिद्धान्तों का अपनी आलोचना में उपयोग किया है। डॉ० नगेन्द्र के

शब्दों में "आप भारतीय सिद्धान्तों में श्रद्धा रखते हुए भी नवीन से नवीन सिद्धान्त के प्रति जागरूक हैं तथा सारग्राही समीक्षक की दृष्टि से उसे ग्रहण करने में तनिक भी संकोच नहीं करते हैं।" इस प्रकार की आलोचना प्रस्तुत करने के लिए एक व्यापक अध्ययन अपेक्षित है जिसकी आपने अपने जीवन में पर्याप्त साधना कर रखी है और अब भी उसी में लीन हैं। आपकी आलोचना की परिधि अत्यन्त व्यापक है। विभिन्न विषयों के अगाध पाण्डित्य के साथ-साथ प्रकृति से आपको मिला है चिन्तनशील स्वभाव। इन दोनों के मेल से आपकी प्रतिभा ने हिन्दी आलोचना को पर्याप्त पल्लवित किया है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में "कुशल अध्यापक होने के नाते उन्होंने (डॉ० सहल ने) अपने विस्तृत ज्ञान का यथोचित उपयोग किया है। अध्यापक-वृत्ति सार-ग्राहिता के अतिरिक्त एक और विशेषता की अपेक्षा रखती है, वह है स्वच्छ व्याख्यान-शक्ति। गृहीत सामग्री को स्वच्छता के साथ प्रस्तुत करना अध्यापक के लिए अनिवार्य है, अतएव अध्यापक-आलोचक की समीक्षा में व्याख्यान गुण स्वभावतः आ जाता है। सहलजी ने काव्य की सिद्धान्तगत अथवा-व्यवहारगत विशेषताओं को स्वच्छ और सहजग्राह्य शैली में उपस्थित किया है। उनकी भाषा स्फीत और मँजी हुई है। वह विचार के भार से दबी हुई अथवा चिन्तन के भार से उलझी हुई नहीं जान पड़ती।" आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी एवं श्री सियाराम शरण गुप्त आदि अन्य विशिष्ट व्यक्तियों ने भी आपकी आलोचना की बड़ी प्रशंसा की है।

डॉ० सहल की आलोचना का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इनके समीक्षात्मक निबन्धों के विषय विविधता-पूर्ण हैं, अतः उनका वर्गीकरण अत्यन्त दुष्कर प्रतीत होता है; फिर भी स्थूलतया इनके निबन्धों को पाँच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—(१) मनोवैज्ञानिक निबन्ध, (२) सिद्धान्त-समीक्षात्मक निबन्ध, (३) व्यावहारिक समीक्षात्मक निबन्ध, (४) दार्शनिक निबन्ध, (५) सांस्कृतिक निबन्ध। इनके अतिरिक्त आपके साहित्येतर विषयों पर भी 'बूढ़े बच्चे' आदि अनेक मार्मिक निबन्ध प्रकाशित हुए हैं जिनका संकलन 'दृष्टिकोण' नामक पुस्तक में हुआ है। 'अनुसंधान और आलोचना' नामक आपकी एक कृति अभी कुछ दिनों पूर्व प्रकाशित हुई है जिसमें आपके विविध निबन्ध प्रकाशित हुए हैं। आपके निबन्धों की एक बड़ी विशेषता है उनकी मौलिकता। उनमें कहीं भी विचारों का पिष्ट-पेषण नहीं हुआ है। आपकी विचार-सरणी सर्वथा नूतन है।

व्याख्यात्मक आलोचना का सूत्रपात हिन्दी साहित्य में आपने ही किया और 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' तथा 'कामायनी दर्शन' में क्रमशः मैथिलीशरण गुप्त एवं प्रसाद के काव्यों की मार्मिक और वैदुष्यपूर्ण, व्याख्यात्मक आलोचना प्रस्तुत की। रस सिद्धान्त एवं अन्य साहित्यिक सिद्धान्तों की गूढ ग्रंथियों

का उद्घाटन अत्यन्त परिमार्जित भाषा में प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करना डॉ० सहल जैसे मननशील विद्वान् के ही वश की बात थी। जहाँ एक ओर उनमें चिन्तनशील ऊर्वर मस्तिष्क है, वहाँ दूसरी ओर इनके पास संवेदनशील हृदय भी है जिसके कारण ये कवियों की व्यावहारिक आलोचना करते हुए उनके काव्य-सौन्दर्य के मर्म का उद्घाटन करने में सफल हुए हैं। आपके विवेचनात्मक निबन्धों में मौलिकता के साथ विवेचना की गम्भीरता भी स्पष्ट परिलक्षित हो रही है।

अधिकार-पूर्ण व्याख्याकार

आप एक सफल आलोचक होने के साथ-साथ प्रौढ विद्वत्ता-पूर्ण व्याख्याकार भी हैं। आपने 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' तथा 'कामायनी दर्शन'† नामक व्याख्या-ग्रन्थों की रचना करके हिन्दी में व्याख्यात्मक आलोचना का सूत्रपात किया। आपने वर्षों की साहित्यिक साधना के साथ-साथ भावयित्री और कारयित्री प्रतिभा से सम्पन्न हृदय भी पाया है जिसके कारण आधुनिक युग के इन दो कलाकारों की अमर कृतियों के गूढ़ मर्म का उद्घाटन करने में आपने अच्छी सफलता प्राप्त की है। आपने इन दोनों के भाव व कल्पना-जगत् की तह में पहुँच कर उनका अत्यन्त विशद शैली में विवेचन प्रस्तुत किया है। भावों का विशद विश्लेषण, काव्य-सौष्ठव, गुण-दोष-विवेचन, अलंकार-छंद-प्रदर्शन, नूतन उद्भावनाएँ तथा अन्य कवियों के समान भाव वाले उद्धरणों से तुलना आपकी व्याख्या की प्रमुख विशेषताएँ हैं। गुप्त जी ने इस कार्य के लिए अपनी कृतज्ञता भी प्रकाशित की है। आपकी व्याख्या-शैली प्राचीन भाष्यकारों के समान बड़ी विवेचना-प्रधान है।

प्रतिभा-सम्पन्न कवि

प्रायः लक्ष्मी और सरस्वती की भाँति मस्तिष्क और हृदय में भी सौहार्द कम ही देखा जाता है। परन्तु डॉ० सहल में इन दोनों ने नैसर्गिक विरोध का परित्याग कर परस्पर मेल कर लिया है। तभी जहाँ विचार के क्षेत्र में आपका मस्तिष्क अपनी अद्भुत शक्ति प्रदर्शित करने में व्यस्त है, वहाँ प्रयोग' (डॉ० सहल की कविताओं का संकलन) में आपका कवि-हृदय बन्धन-मुक्त हो कल्पना की लम्बी-लम्बी चौकड़ी भरता हुआ न मालूम किन-किन अज्ञात लोकों का निरीक्षण करता फिरता है। 'प्रयोग' आपकी एक सुन्दर सृष्टि है। इसमें संगृहीत कविताओं में कुछ तो बड़ी ही उत्कृष्ट कोटि की हैं। श्री माखनलाल चतुर्वेदी को आपके ये अटपटे बोल (कविता) बड़े चित्ताकर्षक प्रतीत हुए और उन्होंने उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की।

---

† कामायनी-दर्शन डॉ० विजयेन्द्र स्नातक की सहकारिता में लिखा गया—समीक्षात्मक एवं व्याख्यात्मक ग्रन्थ है।

डॉ० रामविलास शर्मा ने डॉ० सहल की इस कृति को उस समय तक की प्रयोग-वादी कविताओं में सर्व-श्रेष्ठ घोषित किया था। वर्तमान युग की सामाजिक विषमताओं से क्षुब्ध कवि-हृदय उनको मिटाने ने के लिए छटपटा रहा है। भौतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा और जीवन की विवशताएँ कवि को व्यथित कर रही हैं। इन कविताओं के पाठक डॉ० सहल में नैसर्गिक कवि-हृदय के दर्शन कर सकते हैं। 'क्षणों के धागे' तथा 'समय की सीढ़ियाँ' डॉ० सहल के अन्य काव्य-सग्रह हैं।

हिन्दी और राजस्थानी साहित्य के शोध-कर्ता

हिन्दी तथा राजस्थानी के शोध के क्षेत्र में भी आपने बहुत बड़ा कार्य किया है। बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट के राजस्थानी शोध-विभाग के आप वर्षों तक संचालक रहे हैं तथा राजस्थानी के कितने ही दुर्लभ ग्रंथों की खोज करके राजस्थानी साहित्य-सेवियों का आपने महान् उपकार किया है। 'राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान' तथा 'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद' नामक ग्रन्थों में राजस्थानी के आख्यानों की परम्परा तथा उद्गम का अनुसंधान प्रस्तुत करते हुए आपने ही उन्हें सर्वप्रथम वैदिक साहित्य के ब्राह्मण ग्रन्थों में खोज निकालने का स्तुत्य प्रयास किया है। वैदिक साहित्य से उद्भूत होकर ये आख्यान किस प्रकार विभिन्न प्राचीन भारतीय साहित्यों से होते हुए राजस्थानी साहित्य में आये और राजस्थानी ने किस प्रकार इनको सुरक्षित रखा—इसकी खोज डॉ० सहल ने ही सर्वप्रथम की है। आपने अपने "राज-स्थानी कहावतें-एक अध्ययन" नामक शोध-प्रबन्ध में राजस्थानी कहावतों का जैसा सुन्दर विवेचन और वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, वह सर्वथा मौलिक है। इससे पूर्व इस प्रकार किसी भी भाषा की कहावतों का वैज्ञानिक अध्ययन किसी ने प्रस्तुत नहीं किया था। आपके शोध-प्रबन्ध से अनेक लोगों को प्रेरणा मिली है। डॉ० सुनीतिकुमार चैटर्जी जैसे विद्वानों ने भी आपके इस नवीन प्रयास को भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इस कृति की उत्कृष्टता पर आपको उत्तर प्रदेश सरकार ने पुरस्कृत भी किया है।

लोक-कथाओं के मूल अभिप्रायों की खोज की दिशा में भी आपका कार्य मौलिक है। आपने ही इस प्रकार की खोज का राजस्थानी साहित्य में श्री गणेश किया है, यदि ऐसा कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। विदेशी विद्वानों ने जरूर इस दिशा में कुछ कार्य किया था परन्तु आपने जिस वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया वह अपने ढंग की अनूठी है। कितने ही नूतन अभिप्रायों को आपने खोज निकाला है। 'लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ', 'लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तन्तु', 'नटो तो कहो मत' आदि एतद्विषयक आपकी अनेक पुस्तकें भी निकल चुकी हैं। अभी तक आपकी मूल अभिप्रायों के विषय में खोज जारी है।

राजस्थानी के सैंकड़ों ही शब्दों की व्युत्पत्ति डॉ० सहल ने खोज निकाली है। आपकी व्युत्पत्तियां केवल अनुमान या कल्पना पर आधारित न होकर दृढ़ प्रमाणों से परिपुष्ट हैं। इस प्रकार का कार्य भी डॉ० सहल ने ही सर्वप्रथम शुरू किया था और अभी तक जारी है।

डॉ० सहल के निर्देशन में कितने ही विद्वान् शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर पी-एच. डी. की उपाधियां प्राप्त कर चुके हैं। उनमें डॉ० मनोहर शर्मा, डॉ० नारायणसिंह भाटी, डॉ० ओमानन्द रू० सारस्वत, डॉ० महावीर प्रसाद दाधीच, डॉ० वसन्तलाल शर्मा आदि प्रमुख हैं। आप शोध-कार्य में इतने निष्णात हैं कि अपने निर्देशन में कार्य करने वाले गवेषक को आप व्यर्थ न भटका कर सही मार्ग से गन्तव्य स्थल तक पहुँचा देते हैं। आपके निर्देशन में लिखे गये शोध-प्रबन्धों का स्तर भी बहुत ऊंचा है और उनकी परीक्षकों द्वारा पर्याप्त प्रशंसा की गई है।

प्रेरणादायक सम्पादक

पिलानी से गत १८ वर्षों से डॉ० सहल 'मरु-भारती' नाम की त्रैमासिक शोध-पत्रिका निकाल रहे हैं। इसकी देश-विदेश के विभिन्न विद्वानों ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। राजस्थानी की उच्च श्रेणी की कतिपय पत्रिकाओं में यह सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। इसमें राजस्थानी लोक-वार्ता, प्राचीन साहित्य, पुरातत्त्व तथा इतिहास से सम्बद्ध कितने ही अनुसन्धान-पूर्ण लेख प्रकाशित हो चुके हैं। इस पत्रिका के माध्यम से आपने कितने ही नवीन लेखक तैयार कर दिये हैं। डॉ० मनोहर शर्मा, श्री गोविन्द अग्रवाल एवं कितने ही अन्य लेखकों को इससे लिखने की विशेष प्रेरणा मिली। पत्रिका के 'शब्द-चर्चा' नामक स्तम्भ में राजस्थानी के प्रचलित शब्दों की व्युत्पत्ति पर आपकी विद्वत्ता-पूर्ण गवेषणाएँ रहती हैं। यह विवेचना आपके गंभीर व्याकरण-ज्ञान व भाषा-विज्ञान-वैदुष्य की परिचायिका है। इस प्रकार आप एक प्रवीण सम्पादक भी हैं। इस पत्रिका के माध्यम से आपके द्वारा राजस्थानी साहित्य की जो सेवा की जा रही है, वह चिरस्मरणीय रहेगी।

इस प्रकार डॉ० सहल अपने विविध कार्यक्रमों द्वारा हिन्दी और राजस्थानी साहित्य भंडारों की अभिवृद्धि में एक महत्त्वपूर्ण योग देते रहे हैं और अब भी उनका योग पूर्ववत् बना हुआ है। आप एक गंभीर मननशील विद्वान् तो हैं ही किन्तु साथ ही प्रकृति ने आपको भावुक अनुभूति-सम्पन्न हृदय और सौन्दर्यान्वेषण-शक्ति भी प्रदान की है जिससे आपकी साहित्यिक साधना विविध रूपों में चलती रही है। आपकी शैली बड़ी गंभीर और विश्लेषण-प्रधान है। मौलिकता उसकी अपनी विशेषता है। आपके विचार बड़े सुलझे हुए और उनके प्रतिपादन का ढंग अत्यन्त विशद और स्वच्छ है। आप अभी तक साहित्य-साधना में रत हैं और न मालूम

कितने अमूल्य रत्न आपकी लेखनी से प्रसूत होकर हिन्दी तथा राजस्थानी साहित्य की चमक को बढ़ायेंगे। आपका साहित्यिक जीवन जितना प्रशस्त और गौरवमय है, उतना ही आपका व्यक्तिगत जीवन भी आदर्श और अनुकरणीय है। आपका सौम्य और निश्छल स्वभाव और विनम्र एवं शिष्ट व्यवहार आपके हृदय की विशालता के परिचायक हैं। मानवीय गुणों की इतनी अधिक मात्रा में उपस्थिति विरल है। ईश्वर इस प्रकार के साहित्य-स्रष्टा को शतायु करे, यह इन पंक्तियों का लेखक हृदय से कामना करता है।

विरल व्यक्तित्व

श्रीयुत कन्हैयालाल सहल एम. ए. 'महाराजा कालेज जयपुर' में मेरे पास पढ़े हैं। इनकी योग्यता, परिश्रम और चरित्र आदर्श रहा है। सब ही अध्यापक इनसे अत्यन्त प्रसन्न थे और कालेज भर में यह प्रशंसनीय विद्यार्थी थे।

आरम्भ से ही इनकी रुचि साहित्य की तरफ़ रही है। हिन्दी साहित्य में इनका ज्ञान परिपूर्ण है। कई अच्छे-अच्छे पत्रों में इनके लेख मैंने पढ़े हैं और मुझे मालूम है कि कई निबन्धों के लिए तो इन्हें पुरस्कार भी मिला है। मेरे हृदय के अन्तस्तल में हर्ष है कि मेरे शिष्यों में हिन्दी साहित्य विषय में यह सर्वोत्कृष्ट हैं। केवल रीति के अनुसार ही नहीं, सच्चे हृदय से बड़े संतोषपूर्वक यह लाइनें लिख कर विश्वास दिलाता हूँ कि बाबू कन्हैयालाल सहल एम. ए. के समान सुयोग्य, मार्मिक और सच्चरित्र अध्यापक आजकल बहुत विरल मिलेंगे।

—भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्री

व्यक्तित्व की उपलब्धि

• श्रीकान्त जोशी

हिन्दी साहित्य के यशस्वी समीक्षक, राजस्थानी साहित्य के प्रकाण्ड ग्राचार्य एवं व्याख्याता, सुप्रसिद्ध शिक्षाविद्, महान् शिक्षक, स्वतंत्र-चेता साहित्यकार एवं सुकवि डॉ० कन्हैयालाल सहल एक ऐसी विभूति हैं जिन पर उनकी कर्मभूमि एवं जन्मभूमि राजस्थान को ही नहीं, समस्त हिन्दी जगत् को अभिमान है। मुझे इस बात का गर्व है कि मैं उन इन-गिने सौभाग्यशालियों में से हूँ जिन्हें अपने बचपन से डॉ० सहल के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। जब छोटा था तो पिलानी में जिस स्थान पर मैं रहता था, उसके सामने ही, जरा-सा हटकर, डॉ० सहल का निवासस्थान था। मेरे पूज्य पिताज़ी, पं० सोनीरामजी जोशी, से उनकी घनिष्ठ मित्रता थी। कभी-कभी मैं, चोरी से, डॉ० सहल के अध्ययन-कक्ष में भी चला जाया करता था। वहाँ पुस्तकों, पत्रिकाओं और मासिक पत्रों का जो अम्बार लगा रहता था, उसे देखकर मैं विस्मय-विमुग्ध रह जाता। १०–११ वर्ष की अवस्था रही होगी। अपनी इनी-गिनी पुस्तकों के पढ़ने की विवशता की तुलना में अनगिनती पुस्तकों के फैलाव में अनवरत चिन्तनशील रहने वाले डॉक्टर सहल मेरे बाल-मन को एक पहेली-से लगते। पिताजी कहा करते थे, "क्या लिख-लिख कर काटा करते हो, सहलजी को देखो, एक बार जो शब्द लिख दिया सो लिख दिया, अब वाक्य चलेगा तो उसी शब्द को लेकर चलेगा जिसे लिखा जा चुका है, लिखने से पहले तुम्हें भी इतनी ही दृढ़ता से सोच-विचार कर लेना चाहिए।" सोच-विचार का तरीका तो आज भी सलीके से नहीं आया पर डॉ० सहल का जो प्रभाव तब पड़ा था, वह कभी भी मन्द न हो सका, वह बढ़ता ही गया और आज भी उनकी गतिशील प्रभविष्णुता जीवन के भावी विकास-पथ में एक प्रकाश-गृह की तरह महसूस होती रहती है।

सन् १९४९–५० में मैंने बी० ए० के प्रथम वर्ष के एक छात्र के रूप में बिरला कॉलेज पिलानी में दाखिला लिया था। जो लोग मेरे प्राध्यापक थे, उनमें डॉ० कन्हैयालाल सहल भी एक थे। वे हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे। इस समय का एक उत्प्रेरक प्रसंग आज भी ज्यों का त्यों याद है।

मेरे एक सहपाठी थे रमेश सक्सेना, उन्हें महाविद्यालय से स्कॉलरशिप मिलती थी, नियमानुसार यह स्कॉलरशिप छात्र के तिमाही, छः माही अथवा वार्षिक परीक्षा में असफल होने पर बन्द कर दी जाती थी अन्यथा मिलती रहती थी। रमेश का तिमाही परीक्षा में हिन्दी का वह प्रश्न-पत्र बिगड़ गया था जो डॉ० सहल पढ़ाया करते थे। उन्हें यह भली-भाँति विदित था कि मेरे डॉ० सहल के एवं उनके परिवार के साथ बहुत पुराने और पारिवारिक सम्बन्ध रहे हैं, अतः वे मेरे पास आये और कहने लगे "तुम यदि सहारा दो तो मैं पास हो सकता हूँ। तुम्हें केवल सहल जी से अनुशंसा करनी होगी कि स्कॉलरशिप का मामला है, अतः वे पास कर दें।" यह एक विचित्र-सी बात थी क्योंकि समस्त पारिवारिक घनिष्ठता के बावजूद डॉ० सहल का प्रशान्त व्यक्तित्व अपने आप में इतना दृढ़ था कि उनसे रमेश की अनुशंसा करना टुच्चापन प्रतीत होता था। मैं धर्म-संकट में पड़ गया था। रमेश को नाराज भी नहीं करना चाहता था और न यह चाहता था कि उसकी बात को लेकर मैं डॉ० सहल के पास जाऊं, पर मुझे जाना पड़ा। दूसरे ही दिन महाविद्यालय के पुराने भवन में लान में डॉ० सहल खड़े हुए थे कि रमेश ने मुझे उनकी ओर धकेल दिया। मैं निकट पहुँचा तो सहलजी ने अपनी मद्धिम सौम्य वाणी में सहज ही पूछा—

"क्या है, श्रीकान्त ?"

मैंने कहा—"जी, बात यह है कि रमेश. ...."

"कौन, रमेश सक्सेना, क्या है ?"

"उनका हिन्दी का प्रश्न-पत्र बिगड़ गया है और वे कहते हैं कि स्कॉलरशिप रुक जायेगा।"

"क्यों रुकेगा स्कॉलरशिप, वे तो नियमित छात्र हैं, कितना बिगड़ गया है उनका पेपर ?"

"वे कहते हैं, फेल हो जाएंगे ?"

"क्यों होंगे फेल, १०० नम्बर का प्रश्न-पत्र है तो २० नम्बर का बिगड़ा होगा, तो भी ८० नम्बर मिलेंगे, ३० का बिगड़ा होगा तो ७० मिलेंगे, ४० का बिगड़ा होगा तो भी ६० मिलेंगे। फेल क्यों होंगे वे ? वे तो नियमित छात्रों में से हैं न, तो ऐसा कितना बिगड़ गया उनका प्रश्न-पत्र ?"

"जी हाँ, आप ठीक कहते हैं, वे फेल नहीं होंगे, उन्हें फेल क्यों होना चाहिए ?" —यह कह कर मैं लौट आया। पता नहीं, लौटने पर रमेश को मेरा रिपोर्टिंग कैसा लगा होगा पर मुझ पर डॉ० सहल के इन प्रश्नोत्तरों का बहुत असर पड़ चुका था। मन में यही बात आती थी कि जो छात्र नियमित है, उसके सामने प्रश्न यह नहीं है कि वह फेल होगा या पास होगा, प्रश्न तो यह है (या होना चाहिए) कि वह ८० प्रतिशत अंक लायेगा या ६० प्रतिशत पर ही रुक जायेगा। सन् १९५३ में एम० ए० के उपरान्त जब मैं हिन्दी में व्याख्याता के रूप में कार्य करने लगा तो जाने कितने छात्रों को कितनी ही बार मैंने उपर्युक्त संस्मरण सुनाया है और उन्हें उत्प्रेरित किया है।

डॉ० सहल के प्राध्यापन की भी कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जिन्हें मैं भूल नहीं पाता। अपनी बात को छात्रों पर आरोपित करते रहना, उनके स्वभाव में नहीं है। यदि छात्र अपने अध्ययन के प्रति बिल्कुल ही लापरवाह है तो बात अलग है, अन्यथा हो नहीं सकता कि डॉ० सहल का कोई छात्र उन्हें अथवा अपने विषय को गम्भीरता से न ले। उनका प्राध्यापन प्रश्न-शैली पर आधारित है। अपने प्रश्नों का प्रत्येक छात्र से वे गलत या सही उत्तर लेते रहेंगे, जो सही है उसे वे स्वीकृति प्रदान करेंगे और जो सही नहीं है, उससे तब तक परम सौहार्द के साथ वे चर्चा करते रहेंगे जब तक वह स्वयं सही होने की सीमा का स्पर्श न कर ले।

जिन छात्रों को वे प्रतिभाशाली समझते हैं, उन्हें अतिरिक्त समय देने में वे कभी आगा-पीछा नहीं करेंगे। मेरी कविताओं में उनकी रुचि सदा ही रही और इस रुचि को प्रेरणा में बदल देने की कला में वे सदा ही निष्णात रहे। यदि वे कभी कोई मेरी मनपसन्द कविता पढ़ पाते, तो कक्षा में प्राध्यापन से पूर्व सभी छात्रों के सम्मुख बड़ी ही तटस्थता के साथ उसका उल्लेख करते। "आज श्रीकान्त की कविता 'हुंकार' में आयी है, अच्छा गीत लिखा है उन्होंने" यह एक पंक्ति मेरे लिए कई प्रशस्तियों से बढ़कर होती। छन्द का मेरा ज्ञान सदा ही अधकच्चा रहा है पर मैंने पाया है कि डॉ० सहल छन्द-शास्त्र में पूर्णतः दक्ष रहे हैं। मेरे मित्र डॉ० जगदीशचन्द्र जोशी अनेक बार मेरी कविताओं को (और मुझे भी) लेकर डॉ० सहल के पास जा खड़े होते और हम लोग देखते थे कि छन्द की अनेक त्रुटियाँ दूर कर दी गयी हैं। एक बार तो हम दोनों उस समय उनके पास जा पहुँचे थे जब वे कॉलेज के एकाउन्ट्स ऑफिस में बहुत ही गम्भीरता से विचार-विमर्श कर रहे थे, पर हुआ वही, मेरी एक लम्बी तुकबन्दी को संवारने में वे तुरन्त ही लग गये, जैसे वह काम ही उनका काम हो और खास काम हो। जब लगभग एक डेढ़ घन्टे बाद हम लोग वहाँ से रवाना हुए तो जगदीश ने कहा था, "पाप लगेगा तुझे, देख तीन बज रहे हैं और डॉ० सहल ने भोजन भी नहीं किया।" जगदीश ने तो मजाक ही

किया था, वह पाप-पुण्य में विश्वास नहीं कर पाता पर मुझे संकोच हो आया था।

कभी भी मैं बहुत अच्छा विद्यार्थी रहा होऊंगा, ऐसी बात कहना एक सरासर झूठ बोलने वाली बात होगी पर मैं सामान्येतर छात्र सदा ही रहा—कुछ कविताओं के कारण, कुछ नाटकों में किये जाने वाले अभिनयों के कारण, कुछ वाद-विवादों में पुरस्कार जीतते रहने के कारण और कुछ-कुछ शायद अपने अनुवाचनों के कारण। मैं मानता हूँ कि बिरला कॉलेज पिलानी से एम० ए० करने के पश्चात् मैं एक बहुत ही सामान्य द्वितीय श्रेणी का छात्र रह गया होता यदि वहां डॉ० सहल का वरद सम्पर्क मुझे प्राप्त न हो पाता। उन्होंने जो एक बहुत बड़ा काम किया है, वह यह है कि उन्होंने अपने छात्रों में सोचने की शक्ति उत्पन्न की है। 'अध्ययन का अर्थ आनयन ही नहीं, अनुचिन्तन भी है' यह तथ्य उनके व्यक्तित्व से प्रति क्षण प्रकाशित होता रहता है। मैं अपने 'सोचने की वृत्ति' को डॉ० सहल का सबसे बड़ा उपहार मानता हूँ और मैं नहीं मानता कि इससे बड़ा उपहार अपने सम्पूर्ण जीवन में मुझे कोई दूसरा प्राप्त हो सकेगा। सहस्रों छात्र होंगे जिन्होंने डॉ० सहल से अनुचिन्तन की दीक्षा प्राप्त की होगी। आज मैं मानता हूँ कि व्यक्तित्व-निर्माण की सबसे बड़ी सामर्थ्य मनुष्य की अनुचिन्तन-क्षमता में निहित है और यदि अपने चिन्तन को निर्भीक अभिव्यक्ति दे सकने की कला भी किसी को प्राप्त हो तो उससे बड़ा कोई नहीं हो सकता।

हिन्दी समीक्षा के वृत्त में डॉ० सहल अपनी इसी अनुचिन्तनशीलता के लिए विश्रुत हैं। 'आलोचना के पथ पर' डॉ० सहल की अप्रतिम समीक्षाकृति है। इस पुस्तक की भूमिका में हिन्दी के सुप्रसिद्ध सौष्ठववादी समीक्षक स्वर्गीय आचार्य नन्द-दुलारे वाजपेयी ने डॉ० सहल के इसी गुण की ओर संकेत करते हुए कहा है, "सहलजी के निबन्धों में उनके स्वतन्त्र चिन्तन का पूरा परिचय मिलता है.......... समीक्षा का कार्य विचारोत्तेजन और वैयक्तिक तथ्य-दर्शन का कार्य है और ये दोनों तत्त्व सहलजी के निबन्धों में प्रचुरता से प्राप्त हैं।"

स्वतन्त्र चिन्तन के उपरान्त डॉ० सहल के भव्य व्यक्तित्व में जो दूसरी बात मेरा ध्यान आकर्षित करती रही है, वह है उनकी समन्वय-वृत्ति। एक ओर जहां अपने 'मत' के प्रति वे स्पष्ट और दृढ़ रहते हैं, वहीं दूसरी ओर किसी रूढ़ि को अपने व्यक्तित्व पर आच्छादन बना लेने की अनुमति भी वे नहीं देते, 'ब्यौरों' में समन्वय-शील होना उन्हें आता है। सम्भवतः वे कालिदास के इस सिद्धांत में पूरी आस्था रखते रहे हैं कि पुराना मात्र होने के कारण कोई (काव्य) अच्छा नहीं हो सकता और न नया होने के कारण उपेक्षणीय होता है। सन्त लोग परीक्षा के उपरान्त

अपना मत निश्चय करते हैं और अज्ञ जन दूसरों के विश्वास पर ही अपना मत बना लेते हैं—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्
सन्तः परीक्ष्यान्तरद्भजंते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।

—मालविकाग्निमित्र (१/२)

डॉ॰ सहल की समीक्षाओं में भी यह समन्वयशीलता सर्वत्र मुखरित है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के ही शब्दों में, "भारतीय और विदेशी दोनों ही शास्त्रीय मतों को उन्होंने अपनाया है, ऐसा करते हुए उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी साहित्यिक विचारधाराओं पर अपने अधिकारपूर्ण अध्ययन का ही परिचय नहीं दिया, आलोचना के पथ पर दोनों के समन्वय की संभावना भी प्रकट कर दी है। इस प्रकार सहल जी ने साहित्यिक धरातल पर पूर्व और पश्चिम के आधार-समन्वय के उस प्रयत्न में अपना योग दिया है जो आज की एक प्रधान आवश्यकता है।" हिन्दी समीक्षा के एक दूसरे आधार-स्तम्भ डॉ॰ नगेन्द्र ने भी डॉ॰ सहल की इस विशेषता का उल्लेख करते हुए लिखा है, "(सहलजी के) निबन्धों की परिधि अत्यन्त विस्तृत है...........भारतीय सिद्धान्तों में निष्ठा रखते हुए भी सहलजी नवीन से नवीन सिद्धान्त के प्रति जागरूक हैं।"

हिन्दी समीक्षा की प्रगति में जो लोग रुचि रखते हैं, वे यह जानते हैं कि गत १५-२० वर्षों में हिन्दी समीक्षा समन्वय की उसी सांस्कृतिक[1] भूमि पर बढ़ती रही है जिसका संकेत डॉ॰ सहल ने 'आलोचना के पथ पर' नामक कृति में दिया था। इस क्षेत्र में हम उन्हें प्रमुख संकेतदाता स्वीकार कर सकते हैं।

रस की दृष्टि से नाटक के अतिरिक्त कहानी और उपन्यास आदि साहित्यिक विधाओं का विश्लेषण एवं अध्ययन करने की परम्परा की स्थापना में भी सहल जी का मौलिक योगदान रहा है। इस परम्परा ने एक ओर रस के धरातल पर समीक्षा के क्षितिज को व्यापक बनाया है तथा दूसरी ओर (इन विधाओं पर आरोपित पश्चिमी प्रभावों को देखते हुए) पश्चिमी समीक्षा की मुखापेक्षिता से भी बचाने का प्रयास किया है। कोई आश्चर्य की बात नहीं कि स्व॰ गुलाबराय जैसे आचार्यों का ध्यान सहलजी की इस देन पर गया है।[2]

---

१. बिना समन्वय के सच्ची संस्कृति का निर्माण नहीं हो सकता।

डॉ॰ कन्हैयालाल सहल, विवेचन पृ॰ ६८

२. सिद्धांत और अध्ययन—पृ॰ १२१

मैं जानता हूँ कि समीक्षा मेरा प्रमुख क्षेत्र नहीं है किन्तु एक अध्यापक के रूप में क्षेत्रेतर दखल देना मेरी विवशता है। मैंने अनुभव किया है कि हिन्दी समीक्षा के जिन ज्वलन्त प्रश्नों पर डॉ० सहल ध्यान आकर्षित करते रहे हैं, उन्हीं प्रश्नों पर दूसरे समीक्षकों ने उतना ध्यान नहीं दिया है। उदाहरण के लिए 'प्रसाद के नियतिवाद' जैसे गम्भीर विषय को लिया जा सकता है। 'नियति' का प्रसाद के लगभग सभी नाटकों में विशिष्ट स्थान और प्रभाव रहा है, यहाँ तक कि नियतिवाद के अनेक छाया-बिम्ब हमारे सामने उभरते हुए चले आते हैं। इन सभी बिम्बों का सूक्ष्म आकलन करते हुए जहां डॉ० सहल ने अपनी अधीतता का परिचय दिया है, वहीं अपनी नव-वस्तु-शोधिका समीक्षा-दृष्टि का भी। उनकी 'मूल्यांकन' समीक्षाकृति के ३३ पृष्ठ हिन्दी में प्रसाद-समीक्षा के विशेष पृष्ठ हैं।

इसी प्रकार 'समीक्षांजलि' नाम की उनकी लघु समीक्षा-कृति में कविवर सुमित्रानन्दन पन्त पर लिखे गये कुछ निबन्धों का, मेरी दृष्टि में, विशेष महत्त्व है। आज तो पन्त-साहित्य का बोलबाला है किन्तु जब ये निबन्ध लिखे गये थे, तब पन्त-साहित्य के इने-गिने समीक्षक ही थे।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि लगभग ११ विशिष्ट समीक्षाकृतियों की दृढ़ पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित इस विशिष्ट समन्वयवादी समीक्षक का अभी तक अपेक्षित मूल्यांकन नहीं हुआ है। हिन्दी में इधर समीक्षा विषय पर ही प्रकाशित कुछ बड़े-बड़े समीक्षा-ग्रन्थों को मैंने देखा है। किंतु मैंने पाया है कि ये ग्रन्थ समीक्षकोचित तटस्थता का परिचय देने में सामान्यतः असफल रहे हैं; इन ग्रन्थों में या तो उस व्यक्ति की समीक्षा, उपासना के बिन्दु को छूती-सी दिखाई देती है जिसके निर्देशन में ये रचे गये हैं अन्यथा कुछ विशिष्ट नामों की परिक्रमा करने में इनके लेखकों का इतना श्रम व्यय हो गया है कि अन्य समीक्षकों की महत्त्वपूर्ण कृतियों तक को स्पर्श कर सकने की साधारण शक्ति भी उनमें नहीं रह गई है।

अक्सर एक प्रश्न उठाया जाता है कि क्या कारण है कि आचार्य शुक्ल के पश्चात् समीक्षा-धारा के निरन्तर गतिमान रहने पर भी, उन जैसा व्यक्तित्व समीक्षा-क्षेत्र में दिखलायी नहीं देता ? इसका एक स्पष्ट उत्तर यह हो सकता है कि आचार्य शुक्ल की समस्त समीक्षा (महाराजकुमार रघुवीरसिंह के शेष-स्मृतियां जैसे ग्रन्थों की भूमिकाओं को छोड़कर) 'सम्पर्क-जीवी-समीक्षा' नहीं है। आचार्य शुक्ल के पश्चात् की समस्त आधुनिक समीक्षा (अर्थात् आधुनिक साहित्य पर लिखी गयी समीक्षा) 'सम्पर्क-जीवी-समीक्षा' है। जिन आधुनिक कवियों पर समीक्षा-ग्रन्थ लिखे गये, उन कवियों से उनके समीक्षकों के प्रगाढ़ सम्बन्ध रहे और वे समीक्षा करते हुए भी इन सम्बन्धों को भूल न सके। परिणाम यह रहा कि सम्पर्कशीलों के साथ

जो तटस्थता अपेक्षित थी, वह अपेक्षित ही रह गयी तथा सम्पर्क रहितों के प्रति जो संवेदना, सहानुभूति या रागात्मकता अपेक्षित थी, उसका भी अधिकतर टोटा रहा। यह दूसरी बात है कि उन्हें बहुत-सा इतर समीक्षा-कार्य या व्याख्या-कार्य पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकतानुसार अर्थ-लोभ-वश करना पड़ा।

डॉ० सहल के ग्रन्थों की विषय-सूची का अध्ययन करने पर मैं यह कह सकता हूँ कि उनके अधिकांश निबन्ध उनकी मूलभूत समीक्षा-वृत्ति का परिचय देते हैं, उनमें अर्थ-लोभ-वश निबन्ध लिखते रहने की वृत्ति का सदा ही सन्तुलन रहा है। यह अवश्य है कि अनेक बार छात्रोपयोगी पत्र 'साहित्य सन्देश' में प्रकाशित होते रहने के कारण उनकी इस वृत्ति को ठीक से समझा नहीं गया है।

जहां तक उनके छात्रों का सम्बन्ध है, डॉ० सहल ने जिस समीक्षा-दृष्टि को अपनी समीक्षा में व्यक्त किया है—वह एक विशेष अर्थ में उनकी जीवन-दृष्टि से असंपृक्त नहीं है। यह वह जीवन-दृष्टि है जो डॉ० सहल के सत्संग रूपी पारस को स्पर्श करने के कारण जीवन को हेममय बनाती रही है।

कोई भी समीक्षक अपने समीक्षा-कर्म का निर्वाह अपनी सरसता और राग-वृत्ति के अभाव में सफलता के साथ नहीं कर सकता। समीक्षाकार्य निरा बौद्धिक कार्य नहीं है यद्यपि बुद्धि की नीर-क्षीर सामर्थ्य की प्राप्ति उसकी प्रथम शर्त है। आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि हिन्दी के अधिकांश समीक्षक कवि भी रहे हैं। मिश्र बन्धु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० हजारी-प्रसाद द्विवेदी. स्व० शान्तिप्रिय द्विवेदी और अज्ञेय, डॉ० जगदीश गुप्त तथा नामवर सिंह जैसे समीक्षक प्रकट या गुप्त रूप से कविता-पथ-पंथी भी रहे हैं। कहना कठिन है कि इनमें से कितने समीक्षक असफल कवि होकर सफल समालोचक बने होंगे। जहां तक डॉ० सहल का प्रश्न है, वे एक सफल समालोचक की क्षमता का प्रमाण देकर ही कविता के क्षेत्र में आये हैं। कविता के क्षेत्र में भी डॉ० रामकुमार वर्मा जैसे सिद्ध कवियों ने उनके 'प्रयोग' नामक काव्य पर जो कहा है, वह किसी भी समीक्षक के लिए गौरव की बात होगी। उन्होंने कहा है, "आप सफल आलोचक भी हैं, अतः आपके काव्य में 'प्रयोग' की झलक बड़ी सुलझी हुई है। ये रचनाएं प्रयोगवाद का मार्ग-दर्शन करेंगी, ऐसी आशा है।"

डॉ० सहल की कविताएं उनकी चिन्तनशीलता की सरस अभिव्यक्ति हैं। हिन्दी कविता का प्रयोग–काव्य, प्रयोग की सीमा का अतिक्रमण कर चुका है किन्तु जिन 'बातों' को उसने प्रयोग का विषय बनाया था, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही थी कि चिन्तन–भूमि को काव्य–भूमि में समन्वित करके युग-संघर्ष को व्यक्त किया जाए। सहल जी की 'प्रयोग' काव्य-कृति में प्रकाशित 'ओ नवो माणस कोण

छे' जैसी कविताओं में इस प्रकार का सफल समन्वय है। यह कविता बंबई जैसी औद्योगिक नगरी में रहने वाले सहस्रों परिवारों के परिवारहीन जीवन की मर्मस्पर्शी किन्तु विचारपूर्ण झांकी प्रस्तुत करती है। मुझे स्मरण है कि इस संग्रह की अनेक कविताएं मैंने पूज्य दादा स्वर्गीय पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी को पढ़कर सुनायी थीं और उन्होंने भी उपर्युक्त कविता की बहुत सराहना की थी। राग को बुद्धि की स्वीकृति देकर (या न देकर) लिखी जाने वाली कविताओं की परम्परा सहस्रों वर्ष की है किन्तु बुद्धि का राज-पथ पर सहमते-सहमते पैर रखने का प्रयास नई कविता का ही प्रयास है। माखनलालजी ने डाक्टर सहल के इन प्रयासों के 'विजय की आकांक्षा' की थी किन्तु वे यह भी चाहते थे कि ये कविताएं "प्रगति और प्रयोग से परे हों", अर्थात् प्रगति और प्रयोग की वाद-बद्धता से मुक्त होकर जीवन की सहजता से युक्त हों। इसी काव्य-संकलन में डॉ० सहल ने विज्ञान और भारतीय दर्शन के अविरोध की जो महत्त्वपूर्ण एवं विचारोत्तेजक बात कही है (पृष्ठ ६, दूसरा संस्करण) वह उनके आधुनिक बोध की परिचायिका है।

समय की रफ्तार बहुत तेज है किन्तु इस तेजी के बावजूद छात्र-जीवन के बाद भी डॉ० सहल का सम्बन्ध अपने छात्रों से पूर्ववत् ही बना रहता है। मैं जब छात्र-जीवन के बाद के उनसे पाये गये पत्रों को पढ़ता हूँ तो अनुभव करता हूँ, मैं अभी भी उनका छात्र हूँ और मेरा अतीत अभी भी व्यतीत नहीं हुआ है। उनके अनेक पत्रों में से कुछ चुने हुए पत्रों के सन्दर्भ और सारांश इस प्रकार हैं—

(१) 'प्रयोग' काव्य-संग्रह पढ़ने के पश्चात् कुछ कविताओं के नीचे दी गयी टिप्पणियों पर आपत्ति व्यक्त करते हुए मैंने संभवतः उन्हें कुछ लिखा होगा। अपने ११-५-५६ के पत्रोत्तर में डॉ० सहल ने मुझे लिखा–"गत वर्ष टी. एस. इलियट की Four quartets और Wasteland जैसी रचनाएं पढ़ने पर लगा कि इस शैली पर कुछ रचनाएं मुझे करनी चाहिए–अजीब शीर्षक, कविताओं के बीच-बीच में सुप्रसिद्ध लेखकों के उद्धरण, उपनिषद् और गीता तक की पंक्तियां-अपनी ही कविताओं पर व्याख्यात्मक टिप्पणियां ये सब ईलियट में हैं। किन्तु मैं आपकी बात से सहमत हूँ–मुझे व्याख्यात्मक टिप्पणियां नहीं देनी चाहिए–ईलियट ने किया हो तो क्या जरूरी है कि हम भी अन्धानुकरण करें ?"

(२) सन् १९५६ में नई धारा में मेरी 'कह दो' शीर्षक रचना पर मुझे यह महत्त्वपूर्ण सम्मति उपलब्ध हुई–"नई धारा में 'कह दो' रचना पसन्द आयी। 'किसी महर्षि की वाणी में' 'किसी महर्षी की वाणी' में इस तरह पढ़ने में आता है। इस प्रकार के प्रमाद से भी यथासंभव बचना चाहिए। 'किसी महाऋषि की वाणी में, किसी पूज्य ऋषि की वाणी में, किसी तपस्वी की वाणी में, अथवा ऐसा ही कोई प्रयोग हो सकता था।"

(३) अपने २-८-५६ के कृपा-पत्र में डॉ० सहल ने कालिदास के एक श्लोक की व्याख्या दी है। अपने छात्रों को पढ़ाते समय यह श्लोक मुझे स्पष्ट नहीं हो सका था, अतः मैंने उनसे सहायता मांगी थी।

(४) मध्यप्रदेश के सुप्रसिद्ध गीतकार स्वर्गीय श्री विनयकुमार भारती के काव्य-संग्रह पर मेरी एक समीक्षा कर्मवीर में प्रकाशित हुई थी। अपनी प्रतिक्रिया देते हुए अपने १४-११-५६ के पत्र में डॉ० सहल ने लिखा, "श्री विनयकुमार भारती के सम्वन्ध में आपकी समीक्षा पढ़ कर चित्त प्रसन्न हुआ। काल को गिरफ्तार करने की कल्पना वड़ी रोमांचक है, मुझे वहुत भाती है। विनयकुमार भारती का गीत-संग्रह किस नाम से कहां से छपा है? पढ़ जाना चाहता था..........."

(५) सन् ५६ की ही ३० नवम्बर का एक और पत्र है। पूज्य दादा पं० माखनलालजी चतुर्वेदी ने मेरे सहलजी की सेवा में लिखे गये पत्र में एक वाक्य लिखवाया था, "विद्वद्वर सहलजी को हमारे भी प्रणाम कहना।" सहल जी ने लिखा है, "आपका कार्ड मिला। मेरे लिए यह सौभाग्य की वात है कि आपके कारण श्रद्धेय श्री चतुर्वेदी जी का स्नेह मुझे अनायास ही विभु के वरदान की तरह प्राप्त हो गया। जिस प्रकार की आत्मीयता उनमें मिलती है, वह अव दुर्लभ होती जा रही है..........घर पर हम सव आपको याद करते हैं।"

(६) ७-११-५९ को मुझे एक छपा हुआ दीपावली ग्रीटिंग्ज का कार्ड डॉ० सहल से प्राप्त हुआ। मेरे आश्चर्य की सीमा न रही जव उक्त ग्रीटिंग्ज कार्ड में भी यह छोटा-सा पत्र 'जड़ा' हुआ-सा मिला। पत्र (नहीं आशीर्वाद) सम्पूर्ण रूप में दे रहा हूँ—

प्रिय श्री जोशी,

अपने छात्रों में जितनी साहित्यिक लगन मैंने आपमें देखी, उतनी अन्य किसी में नहीं। यह मेरे लिए गर्व की वस्तु है।

हितैषी

कन्हैयालाल

(७) सन् ६३ में मेरा एक लेख स्वर्गीय माखनलाल जी और विश्रुत उपन्यास-कार जैनेन्द्रकुमार की खण्डवा में हुई परस्पर वार्ताओं के नोट्स के आधार पर भारती (भारतीय विद्या-भवन, वम्वई की मुख पत्रिका) में प्रकाशित हुआ था। मेरे प्रेरणा-स्रोत ने मुझे लिखा—(पूरा पत्र)

पिलानी

३/६/६३

प्रिय जोशी,

"एक भारतीय आत्मा के साहित्य-तीर्थ में जैनेन्द्र", अभी भारती में रस पूर्वक

पढ़ गया। मिलन संलाप की यह शैली भी रमणीय लगी। पत्र-पत्रिकाओं में इधर-उधर दृष्टि पड़ते ही आपकी रचनाएं उत्सुकतावश पढ़ता रहता हूँ। यह देख कर हर्ष होता है कि पिलानी कॉलेज से निकले हुए छात्रों में से आपका साहित्यकार सबसे अधिक सजग व सक्रिय है। पूज्य दादा से सादर अभिवादन कहें। "भारती" में प्रकाशित वार्ता में पूजनीय के स्थान पर पूज्यनीय छप गया है।"

हितैषी
क० सहल

(८) यह पत्र भी संभवतः ६३ का ही है। खण्डवा के विख्यात तुलसी-पुण्य-तिथि-उत्सव में प्रमुख अतिथि के रूप में उन्हें निमंत्रित किया गया था। औपचारिक पत्र के साथ एक विशेष आग्रह-पत्र मैंने भी स्वतन्त्ररूप से लिखा था। जो प्रत्युत्तर प्राप्त हुआ, उसकी उदात्त वाणी के सम्मुख मैं चिरनत हूँ–(पूरा पत्र)

पिलानी
१७/७

प्रिय श्री जोशी,

विधिवत् निमंत्रण-पत्र मुझे मिल गया था, किन्तु खण्डवा आने-जाने में कम से कम चार दिन अपेक्षित हैं। इसलिए उत्तर में मैंने अपनी असमर्थता ही प्रकट की है। इन दिनों में विल्कुल स्वस्थ भी नहीं हूँ (ता. २०-२१ को राज. सा. एकाडमी के गवर्निंग बोर्ड की बैठक में जा रहा हूँ।)

आप अच्छा काम कर रहे हैं, यही सबसे सुनता हूँ। मेरा तो यही सबसे वड़ा पुरस्कार है। औपचारिक निमंत्रण के पीछे आपका सुझाव रहा होगा, यह तो ध्वनित था ही। पूज्य दादा के दर्शन हो जाते, इससे मेरा सोया हुआ भाग्य भी शायद जग उठता, किन्तु उन पुण्यश्लोक दादा के दर्शनों का लाभ अभी कहां !

यहाँ Technology की संस्था वन रही है। एम. ए. कक्षाएं या तो इस वर्ष रहें या आगामी वर्ष तक। आगामी वर्ष के वाद हिन्दी किस रूप में रहे, रहे भी या न रहे, यह सब भविष्य के गर्भ में है।

पूज्य दादा से सादर नमस्कार कहें।

सस्नेह
कन्हैयालाल

उपर्युक्त पत्र में हिन्दी के प्रति डॉ० सहल की चिन्ता सत्य ही सिद्ध हुई ! पिलानी का कॉलेज टेकनालाजिकल इन्स्टीट्यूट में परिणत हो गया किन्तु 'भविष्य के गर्भ' में डॉ० सहल के महान् मर्यादावादी जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि छुपी हुई थी। समस्त भारत में ही नहीं, विदेशों में भी विख्यात बिरला एज्यूकेशन ट्रस्ट का

सबसे बड़ा मंत्री पद उन्हें सौंप कर संचालकों ने न सिर्फ अपनी सूझ-बूझ का प्रखर परिचय दिया है, मुझ जैसे सहस्रों छात्रों को चिर-ऋणी भी बना लिया है। हिन्दी साहित्य के प्रकाण्ड आचार्यो की जिस परम्परा के अन्तर्गत स्व० नंददुलारे वाजपेयी, डा० बाबूराम सक्सेना, श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', धीरेन्द्र वर्मा और डा० शिव-मंगलसिंह 'सुमन' आदि दिग्गजों ने विभिन्न विश्वविद्यालयों के उपकुलपति के रूप में अपनी सार्थकता को प्रमाणित किया है, उसी परम्परा में डा० कन्हैयालाल सहल का नाम संभवतः कुछ अधिक चमक के साथ देदीप्यमान है, क्योंकि बिरला एज्यूकेशन ट्रस्ट २ या ३ विश्वविद्यालयों के समकक्ष माना जा सकता है। यही कारण था कि १४ जनवरी, १९६८ की 'अमरज्योति' में मैंने ये पंक्तियां अपने समस्त पुण्यों का स्मरण करते हुए प्रकाशित करवायी थीं, "डॉ० कन्हैयालाल सहल राजस्थान की ऐसी विभूति हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य की समीक्षा, काव्य व निबन्ध विधाओं और राजस्थानी साहित्य के उन्नयन में अपना समस्त जीवन अर्पित कर दिया है........ एक महान् शिक्षक के रूप में भी आपकी सेवाएं मूल्यातीत हैं। उनके शिष्य आज उनके सामने प्रणत हैं और इस बात का गर्व अनुभव करते हैं कि वे उनके शिष्यत्व का सौभाग्य प्राप्त कर सके। व्यक्तिगत जीवन में भी डॉ० सहल 'सादा जीवन, उच्च विचार' की प्रतिमूर्ति रहे हैं...........हमारा यह कर्तव्य है कि ऐसे अप्रतिम व्यक्तित्व का समुचित सम्मान करते हुए उनका अभिनन्दन करें।"

'प्रयोग' के यशस्वी कवि की ही निम्नलिखित पंक्तियां में अपना आल्हाद व्यक्त करते हुए मैं अपने आचार्य, मार्ग-दर्शक और प्रकाशस्तम्भ श्रद्धेय डॉ० सहल के चरणों में अपने प्रणाम अर्पित करता हूँ—

> मिल गया (है) स्वप्न मेरा,
> पा गया (हूँ) मैं विपुल धन।

□□□

पिलानी का साहित्योपासक सन्त

• डॉ० दशरथ ओझा

डॉ० कन्हैयालाल सहल की कृतियों का अध्ययन करने पर उनसे मिलने की इच्छा हुई। मेरा पुत्र पिलानी के इंजिनियरिंग कालेज का जब छात्र बना तो मुझे वहां जाने का अवसर मिला। पिलानी जाने का मेरा यह भी उद्देश्य था कि डा० सहल से साहित्यिक विषयों पर चर्चा होगी। दिल्ली से छात्रों और अभिभावकों का एक दल रेल से स्टेशन पर पहुँचा और स्टेशन पर पिलानी जाने वाली बसों पर हम लोग सवार हुए। मार्ग बड़ा ही सुहावना था। हम लोग प्रातःकाल पिलानी पहुँचे। जुलाई में थोड़ी–थोड़ी वर्षा पिलानी में हो चुकी थी, अतः मरुभूमि की सन्तप्त रेत शीतल हो चली थी। रेत की सड़क इतनी पक्की हो गई थी कि बसों के पहिए सरकते और थिरकते हुए स्वतः आगे बढ़ते जा रहे थे, चारों ओर रेत के टीले और उनमें यत्र-तत्र कँटीली झाड़ियों की हरियाली मन को आकृष्ट करती रहती थी।

जब पिलानी के ऊंचे भव्य मन्दिर और नगर की धवल अट्टालिकाएँ दूर से दिखाई पड़ीं, तभी विश्वास होने लगा कि हम लोग गन्तव्य–स्थान पर पहुँच गए। छात्रों को छात्रावास में स्थान मिल गया किन्तु अभिभावक अतिथिशाला में ठहरे। मैं भी बिड़ला अतिथिशाला में अपना सामान रख कर डा० सहल की खोज में निकला। उस नगर में डा० सहल के व्यक्तित्व से इतने अधिक व्यक्ति प्रभावित हैं कि मुझे उनके घर तक पहुंचने में कोई कठिनाई नहीं हुई। पिलानी आर्ट्स कालेज का एक छात्र मुझे अपने साथ लेकर उनके घर तक पहुँचा गया। मार्ग में उससे वार्त्तालाप करने से ज्ञात हुआ कि डा० सहल के प्रति छात्रों के हृदय में कितनी श्रद्धा है। उसी छात्र ने बताया कि डा० सहल विद्यार्थियों के साथ पुत्रवत् व्यवहार करते हैं। निर्धन छात्रों की स्वतः आर्थिक सहायता करते रहते हैं और उनका द्वार छात्रों के

लिए सदा खुला रहता है। अपने गुरु की गुण-गरिमा का गान गाते-गाते वह छात्र गलदश्रु हो गया।

जब मैं सहलजी के घर पहुँचा, वह एम० ए० के छात्रों को 'कामायनी' पढ़ा रहे थे। 'कामायनी' पर उनकी समीक्षा प्रकाशित हो चुकी थी। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से एम० ए० के छात्रों को ही नहीं, अपितु अध्यापकों को 'कामायनी' के रहस्यों के समझने में पर्याप्त सहायता मिली थी। सहलजी की रुचि प्राचीन एवं नवीन सभी प्रकार के साहित्य की ओर रही है जिसका विवरण आगे दिया जायगा।

सहलजी का विशाल आवास स्वच्छ और भारतीय शैली का बना हुआ है। उनकी एक आदर्श गृहस्थी है। भगवद्भक्त वैष्णव परिवार में धर्म-चर्चा चलती रहती है। विद्याव्यसनी यह धार्मिक परिवार पीढ़ियों से विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध रहा है। सहलजी के एक भ्राता सफल प्रिंसिपल और दूसरे जोधपुर-विश्वविद्यालय में अंग्रेजी-विभाग के अध्यक्ष हैं। इनका परिवार अध्यापकों का परिवार है जो ज्ञानार्जन करता और विद्या का दान देता है।

सहलजी ने डिंगल, पिंगल, प्राचीन साहित्य, नवीन साहित्य पर प्रचुर मात्रा में ग्रन्थों का निर्माण किया है। इनके साहित्य के एक-एक अंग पर विस्तार-पूर्वक लेख लिखा जा सकता है। राजस्थानी कहावतों पर इनका शोध-प्रवन्ध आज भी सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता है। इनकी समीक्षा-पद्धति में एक नवीनता ऐसी पाई जाती है जो उन्हें अन्य समीक्षकों से पृथक् कर देती है। प्राचीन विद्वानों की तरह विषय के अन्दर प्रविष्ट हो करके सार को पकड़ने का इनका प्रयास इनके पांडित्य का परिचय देता है। अपने मूल लक्ष्य की ओर वह क्रमशः आगे बढ़ते जाते हैं। इनकी चिन्तन-शैली की विशेषता यह है कि वह आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर प्राचीन विद्वानों के ज्ञान की सामग्री से लेख के भवन का निर्माण करती है। प्राचीन पंडितों की तरह विविध शास्त्रों के ज्ञान को नवीन शिल्प-शैली में सुसज्जित करके लेख के कलेवर को सजाना इनकी बहुत बड़ी विशेषता है।

पुस्तकों के अतिरिक्त "मरु-भारती" नामक शोध-पत्रिका इनकी विद्वत्ता की परिचायक है। विविध विद्वानों के शोधपूर्ण लेखों से सुसज्जित यह पत्रिका हिन्दी की शोध-पत्रिकाओं में अपना विशेष स्थान रखती है। यह पत्रिका शोध करने वाले छात्रों का पथ-प्रदर्शन करती है। इसके अनेक लेख हिन्दी साहित्य के नवनिर्माण में सहायक सिद्ध होंगे। इसमें प्रमुख ग्रन्थों की समीक्षाएँ निष्पक्ष भाव से लिखी हुई मिलती हैं। खेद इस बात का है कि एक तपस्वी साहित्यकार के श्रम का उचित मूल्यांकन हिन्दी जगत् ने अभी तक नहीं किया। इस पत्रिका का जितना प्रचार होना चाहिए, उतना

हो नहीं पाया। यह पत्रिका प्रत्येक विश्वविद्यालय के महाविद्यालयों के लिए उपयोगी है। इसके लेख शोधार्थियों के लिए बहुत ही लाभप्रद हैं। मेरा सुझाव है कि यदि प्राचीन साहित्य पर लिखे गए चुने हुए निबन्धों को संकलित कर उन्हें पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया जाय तो शोधार्थियों का बहुत बड़ा कल्याण हो।

दो शब्द सहलजी की संगठन-शक्ति पर लिखना आवश्यक है। एक बार जब मैं पिलानी गया तो वह प्रिंसिपल के रूप में काम कर रहे थे। आर्ट्‌स कालेज का सारा दायित्व इनके ऊपर था। उन दिनों मैं पिलानी एक सप्ताह ठहरा था। कालेज के चपरासी से लेकर ऊंचे से ऊंचे प्रोफेसर तक इनकी संगठन-शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। मैं सोचता रहा कि सहलजी की इस सफलता का मूल रहस्य क्या है। कर्मचारियों से विचार-विमर्श करने पर ज्ञात हुआ कि उनका शासन स्नेह और सौहार्द पर अवलम्बित है, दंड और भय पर नहीं। प्रत्येक व्यक्ति उन्हें अपने परिवार का शुभचिन्तक समझ कर उनके आगे नतमस्तक रहता है। उनकी एक विशेषता है कि वयोवृद्ध को वह पूरा सम्मान देते हैं, समवयस्कों को अपनी योग्यता से जीतते हैं और छोटों पर स्नेह की वर्षा कर देते हैं। ऐसे सुयोग्य शासक को कभी कठिनाई का सामना करना ही क्यों पड़े? मुझे इनकी विशालता का एक बार प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। एक अध्यापक अस्पताल में मृत्यु से प्रतिक्षण युद्ध कर रहे थे। सहलजी नियमित रूप से उस रोगी से मिलने कई बार अस्पताल जाते थे। जब जब मैं उनके साथ अस्पताल गया, मैंने देखा कि सहलजी की मुस्कराती आकृति देखकर रोगी को बड़ी सान्त्वना मिलती थी। रोगी को आभास होता था कि मेरे पिता, मेरे गुरु और मेरे चिकित्सक आ गए हैं, अब मैं मृत्यु को युद्ध में जीत जाऊंगा। पिलानी का यह सन्त इसी प्रकार दुखी व्यक्तियों की पीड़ा का निवारण करता रहा है। उनकी सफलता का बड़ा रहस्य यह है कि विद्वत्ता के साथ निरभिमानता, शक्ति के साथ परहित-चिन्तन की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी हुई है। प्राचीनता के साथ नवीनता को समझने का सतत प्रयास उन्हें युग-भावना से प्रेरित करता रहता है, अतः वह नवीन पीढ़ी की मनोभावना को समझ कर साहित्य-सर्जन करने में सदा समर्थ रहते हैं।

अन्त में मैं ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूँ कि पिलानी के इस सन्त साहित्यकार को वह दीर्घजीवी बनाए जिससे उच्चकोटि के साहित्य द्वारा देश, जाति और धर्म की रक्षा हो सके। •

एक अद्भुत छात्र

• हनुमानप्रसाद वैश्य

लगभग १९२७-२८ की बात है जब कन्हैयालाल सहल मेरा विद्यार्थी था। पारीक हाई स्कूल में १० या ११ छात्रों का बैच था। मैं अंग्रेजी पढ़ाता था। इस बैच में कन्हैयालाल सहल एक विलक्षण छात्र था। उसी के साथ दुलीचन्द, शिवमोहन अच्छे छात्र थे पर जो तीक्ष्ण बुद्धि, काम की लगन, व्यवहार-सौम्यता, आज्ञाकारिता कन्हैयालाल में थी, वह किसी में न थी, इसलिए मैं सबसे उसकी प्रशंसा किया करता था। अक्सर वह मकान पर आया करता था। अंग्रेजी में 'ऐसे' लिखने में उसका कोई सानी न था। मैं उसके 'ऐसे' की कापी सभी छात्रों को दिखाता। उसके लिखे 'ऐसे' अध्यापकों को सुनाता और बताता कि यह 'ऐसे' सहल ने लिखा है। मैं सभी को उसका उदाहरण देता था।

कन्हैयालाल सहल जो पहले था, वही अब भी है—उसमें कोई परिवर्तन नहीं। वही सादा कमीज और धोती—सीधी चाल बगैर झुके। शायद उसने जिन्दगी में झुकना नहीं सीखा। आज वह कितना बड़ा आदमी हो गया है। सारे भारत में उसका नाम है पर मिलता है तो विनम्रता से; आज भी दण्डवत् करता है। वैसा अद्भुत छात्र अब नहीं मिल सकता।

(श्री एल. पी. वैश्य के सौजन्य से प्राप्त)

मेरे छात्रालय का योग्यतम छात्र

• हीरालाल शास्त्री

चि० कन्हैयालाल १९२०-३० की दशाब्दी में चलने वाले अपने राजस्थान छात्रालय में सबसे प्यारा छात्र था। विनीत था, सुशील था, कम बोलने वाला था। पढ़ने में तो तेज़ था ही। उसके स्वभाव में भी तेज़ी हो सकती है। पर उस तेज़ी को वह ज़ब्त करना भी जानता था।

राजस्थान छात्रालय चलाने का मेरा उद्देश्य विद्यार्थियों के साथ निकट सम्पर्क में रहते हुए उन्हें हो सके तो देश सेवा के लिए तैयार करना था। कन्हैयालाल मुझे सेवा के लिए तैयार होने वाला लगता रहा। एक बार यह बात सामने भी आई कि वह जीवन-कुटीर (वनस्थली) में पहुँचकर मेरे "फक्कड़ पन्थ" में शामिल हो जाए। पर वह बात आगे नहीं बढ़ सकी।

पिलानी में रहकर कन्हैयालाल बड़ा हो गया, विद्वान हो गया। मेरे पास वह आता तो पता नहीं क्या होता। मुझे लगता है, वनस्थली के शिक्षा के काम का मालिक वह अवश्य हो सकता था। दूसरे सार्वजनिक क्षेत्र में भी वह सम्भवतः कमाल हासिल कर सकता था। पर कन्हैयालाल तो आदमियों के जबर्दस्त पारखी भाई घनश्यामदासजी के चित्त चढ़ गया और उनकी छत्रछाया में विद्वत्ता और शिक्षा के क्षेत्र में अच्छी से अच्छी उन्नति उसने करली।

मेरा भूरि-भूरि आशीर्वाद चि० कन्हैयालाल के साथ रहा है। मैं अपने छात्रालय के इस योग्यतम छात्र का अभिनन्दन करता हूँ।



मेरे सहपाठी

• शिवशंकर

डॉ० कन्हैयालाल जी सहल मेरे सहपाठी रहे हैं। हम चार वर्ष साथ रहे हैं जब हम महाराजा कॉलेज, जयपुर में इन्टर व बी. ए. में पढ़ते थे। यह बात सन् १९२८ से १९३२ की है। श्रीहीरालालजी शास्त्री द्वारा स्थापित व संचालित 'राजस्थान छात्रालय' में खेजड़े के रास्ते में रहते थे, सहपाठी ही नहीं, सहवासी भी थे।

जैसा कि स्वाभाविक है अधिकतर बाल्यकाल ही भावी जीवन की रूप रेखा बनाता है। श्री कन्हैयालाल जी का जीवन बड़ा नियमित था। सादा व सरल था। वे बहुत कम बोलते थे, परन्तु जितना भी बोलते थे, वजनदार व सारगर्भित होता था। हम छात्रालयवासी अपने भोजन की व्यवस्था स्वयं करते थे। जब कभी कोई समस्या आती तो कन्हैयालालजी की राय सर्वमान्य हुआ करती। एक बार हम छात्रालयवासी राष्ट्रीय कांग्रेस का ४४ वां अधिवेशन देखने कलकत्ता गये। हम लगभग दस विद्यार्थी थे। सब का रेल टिकिट खरीदने का काम मेरे जिम्मे रक्खा गया। आगरा रेलवे-स्टेशन पर बड़ी भीड़ में मैंने टिकिट तो सब के खरीद लिये, परन्तु मेरी जेब से मेरी निजी रकम पीछे से किसी ने निकाल ली। कन्हैयालाल जी ने तय किया कि यह नुकसान सब को वहन करना चाहिए और मुझे इसे स्वीकार करने को राजी किया। सबने इस राय को सहर्ष माना।

श्री सहल जी का सरल स्वभाव होते हुए भी उनमें आत्मबल की कमी नहीं थी। एक घटना मुझे याद आती है जब हम छात्रालय-वासियों ने जयपुर से पन्द्रह मील दूर 'रामगढ़ बन्धे' की यात्रा की थी। वापसी के समय रात हो गई। रास्ते में शेर का भय था। सहल जी के सुझाव पर हमने पास ही गांव से तेल लेकर अपने पास की लाठियों की मशालें बना लीं और उन्हें जला कर 'रघुपति राघव राजा राम' की धुनि के साथ निर्भय होकर चल पड़े। यह उपाय कारगर सिद्ध हुआ, अन्यथा

एक शेर जो उधर से गुजरा, हम पर कूद ही पड़ता। इस यात्रा से सम्बन्ध रखने वाली एक कविता भी सहलजी ने लिखी थी जो अफसोस है, अब मुझे याद नहीं रही, परन्तु यह कहा जा सकता है कि उसमें सहल जी की साहित्यिक क्षमता की झांकी स्पष्ट थी।

हम अपने छात्रालय से एक हस्तलिखित पत्रिका प्रकाशित करते थे। उसका नाम 'विद्यार्थी-जीवन' था। यह कन्हैयालालजी की ही प्रेरणा का फल था। वैसे नियम यह था कि बारी-बारी से हर एक विद्यार्थी संपादक होता था, परन्तु कन्हैया-लालजी की नियमितता, सुन्दर अक्षर व संपादन-शैली से प्रभावित होकर सबका आग्रह रहता था कि वे ही संपादक बने रहें। वे बड़ी तैयारी से उसमें लेख लिखा करते थे। बड़े विद्वत्तापूर्ण व विचारोत्पादक उनके लेख पढ़ने की हमको सदा इच्छा बनी रहती थी।

कन्हैयालालजी अच्छे विद्यार्थियों में से तो थे ही, परन्तु उससे अधिक वे स्वाध्यायी थे। किस गहराई से वे पाठ्य विषय को तैयार करते थे, उसका अन्दाज हमको तब हुआ करता जब कभी हम अपनी कठिनाई उनसे पूछा करते थे।

अब जब कभी सहल जी से मिलता हूं और उनका साहित्य पढ़ता हूं तो उनके विद्यार्थी-जीवन की साहित्यकारिता का लघुरूप मेरे सामने आ जाता है।

मेरी कल्पना के आदर्श शिक्षक

• डॉ० पुरुषोत्तम प्रसाद शर्मा

पूज्य गुरुवर डॉ० कन्हैयालाल सहल के प्रति संचित अपने हृदय की आदर भावनाओं को अभिव्यक्ति देने में मुझे अनिर्वच आनन्द की अनुभूति हो रही है। यह भी सम्भव है कि मेरे अचेतन मन में इस प्रकार का अवसर पाने के लिए मेरी इच्छा लम्बे अरसे से छटपटाती रही हो क्योंकि जाने कितनी वार मैं अपने एकान्त और अवकाश के क्षणों में ऐसा कर चुका हूँ। इतना ही नहीं, अपने आत्मीय जनों और अन्तरंग मित्रों को भी अप्रत्यक्ष रूप से डॉक्टर सहल के व्यक्तित्व से परिचित कराने के लोभ का संवरण नहीं करने पाता रहा हूँ। मैं उस भावना को सहज ही समझ सकता हूँ जो कवियों को अपने आदर्श पुरुष का सविस्तार वर्णन करने की प्रेरणा देती है।

डॉक्टर सहल की विद्वत्ता, उनके मौलिक अनुसन्धान, राजस्थानी साहित्य को उनकी अनूठी देन, आदि के विषय में अधिकारी समीक्षकों के निवन्ध आप इस ग्रन्थ में अन्यत्र पढ़ेंगे। मैं तो केवल उनके शिक्षक के रूप में कुछ लिखूँगा क्योंकि मेरा अपना मत है कि वे मूलतः शिक्षक हैं। उनके संस्कार, उनकी शिक्षा-दीक्षा, उनकी सहज मनोवृत्ति, उनकी दिनचर्या, उनकी सम्पूर्ण जीवन-पद्धति सभी उसी दिशा में हैं। यह उनके व्यक्तित्व की सजगता का परिचायक है कि उन्होंने अपने आपको नाना परिस्थितियों के अनुकूल समय-समय पर ढाला है। उनमें उच्चकोटि के व्यवस्थापक, प्रवंधक, आयोजक और परामर्शदाता होने की अद्भुत क्षमताएँ हैं। किसी भी उत्तरदायित्वपूर्ण पद का, वे शालीनता और गरिमा से, दूरदर्शिता से और निस्पृह आदर्शों का पालन करते हुए, कार्यभार सम्हाल सकते हैं किन्तु इसमें कोई 'वदतो व्याघात' दोष नहीं है। आवश्यकता पड़ने पर डॉक्टर सहल सरीखा सफल शिक्षक किसी भी ऊँचाई तक पहुँच सकता है, किसी भी स्तर का स्पर्श कर सकता हैं, किन्तु इस सव पराक्रम के वाद उसकी इच्छा अपने प्रकृतिस्थ रूप में लौटने की

होगी। मुझको पूरा सन्देह है कि डॉक्टर सहल इस समय जो भी महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं, वे बीच-बीच में इस रूप में अवश्य लौटते हैं। लोगों की जानकारी के परे वे निश्चय ही ऐसा कर रहे होंगे-- रात्रि में देर तक जागते हुए किसी का शोध-प्रवन्ध देखना, कष्ट में पड़े हुए किसी जिज्ञासु की कठिनाई का समाधान करना, अपने अध्ययन और चिन्तन को निरन्तर सक्रिय रखना और सृजन-कार्य के लिए आतुर और तत्पर रहना, ज्ञान का परिश्रम के साथ क्षण-क्षण को उपयोग करते हुए संचय करना और मुक्तहस्त से उसका वितरण करना—ऐसे कार्य हैं जिन्हें वे प्रयत्न करने पर भी रोक नहीं सकते।

आदरणीय सहल जी से मेरा प्रथम साक्षात्कार १९४१ की जुलाई में बिड़ला कॉलेज, पिलानी में हुआ था। मैं इण्टरमीडियेट के प्रथम वर्ष का छात्र था और 'प्रभाकर' परीक्षा पास कर चुका था। हिन्दी की 'साहित्य रत्न' परीक्षा देने का इरादा था। लगता था कि हिन्दी साहित्य को काफी पार कर लिया है। कुछ नवार्जित ज्ञान का अभिमान हो चला था। देखा कि कक्षा में साधारण कद के एक अध्यापक हिन्दी पढ़ाने को आये हैं। उनके आकार-प्रकार, चाल-ढाल, वेशभूषा में कोई भी तो ऐसी बात नहीं जो उन्हें साहित्यिक घोषित करती। बोलने लगे तो प्रतीत हुआ कि उनकी वाणी पाण्डित्य-द ं से दृप्त नहीं और भाषा-शैली को प्रभावकर मान लेने का अर्थ होता कि जो कुछ मैंने चमत्कार उत्पन्न करने की लालसा से सीखा है, वह व्यर्थ है। कहना न होगा कि आरंभ में सहलजी ने मेरी हिन्दी-शिक्षक की पुरानी कल्पना को ठेस पहुँचाई; एक प्रकार से उसको झकझोर-सा दिया। कविता पढ़ाते समय स्वर के उतार-चढ़ाव से नाटकीय वातावरण बनाना और क्लिष्ट-तत्सम शब्दावली-बहुल दुरूह वाक्य बोलना—न जाने कहाँ से मेरी दृष्टि में हिन्दी शिक्षक के अविभाज्य अंग बने हुए थे और जब सहल जी में उन्हें न पाया तो लगा कि खरे न उतरने वाले का दोष है, न कि कसौटी का। किन्तु यह धारणा कुछ ही दिनों में शिथिल पड़ने लग गई। कुछ और समय व्यतीत हुआ और मुझ को ऐसा प्रतीत होने लगा कि साहित्य के अध्यापन के लिए उनकी शैली में बड़ी शक्ति है और एक शताब्दी के चतुर्थांश निकल जाने पर भी मेरी धारणा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

मुझको स्मरण आ रहा है कि वे कक्षा में किस प्रकार बिना आहट किये हुए सहसा प्रकट हो जाते थे और किस प्रकार प्रत्येक क्षण का भरसक उपयोग करते थे। भर्ती की बातों का उन्हें अवकाश ही न होता था। ऐसा लगता था कि जो कुछ उन्हें कहना होता था, वे उसको पहले से 'प्लैन' कर लेते थे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि उनके विवेचन में कहीं भी शुष्कता या यान्त्रिक

जड़ता के लिए स्थान होता था। विचारों के आदान-प्रदान के समय उनकी प्रतिभा का नवोन्मेष सदा ही झलकता रहता था। अपने शिक्षक-जीवन के आरम्भ में ही डॉक्टर सहल ने कदाचित् यह तथ्य हृदयंगम कर लिया था कि विद्यार्थियों की सुकुमार बुद्धि को अपने पाण्डित्य से आतंकित नहीं करना चाहिए। समय को इतनी दूरी से देखने पर कह सकता हूँ कि सहल जी पाठ्य वस्तु को इतना आत्मसात् करके हम लोगों के सम्मुख प्रस्तुत करते थे कि कहीं कोई प्रयत्न-सा न दीखता था। अनावश्यक वाग्जाल में विषय-वस्तु के खोने का कोई भय न था।

मुझको यह कहने में कोई संकोच नहीं कि सहल जी की कक्षा में मैंने और मेरे साथियों ने इस बात का अनुभव किया कि साहित्यानुशीलन में आलोचनात्मक दृष्टि का क्या अर्थ है। पश्चिमी आलोचना-सिद्धान्त और संस्कृत साहित्य-शास्त्र का गम्भीर अध्ययन और विश्लेषण सहल जी कर चुके थे और उपयुक्त अवसर पर संक्षेप में चर्चित विषय से संबद्ध सामग्री देते भी चलते थे किन्तु वे अपना प्रथम कर्तव्य उस लेखक या कवि के प्रति समझते थे जिसकी रचना वे पढ़ाते थे। उस रचना को सर्वोपरि प्राथमिकता रहती थी और सब बातें बाद में आती थीं। बाद के वर्षों में मैं अमरीका की 'नयी आलोचना' से कुछ परिचित हुआ। किन्तु जब इस नयी आलोचना का हमारे देश में या अन्यत्र भी चलन नहीं हुआ था, तब सहलजी पन्तजी के 'गुंजन' को पढ़ाते समय इसका भरपूर प्रयोग करते थे। किसी भी कलाकृति को उसकी गहराई में देखना, कौन सा शब्द या प्रतीक कहाँ आया है और उसकी सार्थकता क्या है, आदि प्रश्नों के प्रति सहल जी ने हम में से एकाधिक लोगों को छोटी अवस्था में ही जागरूक कर दिया था।

सहल जी के 'कैथलिक टेस्ट' के विषय में इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि यदि वे एक ओर तुलसी और सूर को पढ़ाते समय रस-निमग्न स्वयं होते और हम लोगों को करते थे तो दूसरी ओर नवीनतम साहित्यिक विधा-एकांकी नाटक के प्रबल समर्थक भी थे। जो भी वे पढ़ाते होते, निबन्ध, कहानी, एकांकी, भक्ति काल की कविता अथवा श्री सियारामशरण गुप्त का 'बापू'—उस समय तो ऐसा आभास होता कि सहल जी को इससे रुचिकर और कोई वस्तु नहीं है। पढ़ाई जाने वाली रचना के प्रति उनके पक्षपात का हम छात्रों पर भी वैसा ही प्रभाव पड़ता। मुझे ऐसा एक बार का भी स्मरण नहीं जब सहल जी ने कोई वस्तु अन्यमनस्कता से या बिना मनोयोग के पढ़ाई हो। पढ़ाते समय स्वयं आनन्द-विभोर होने वाला शिक्षक ही अपने छात्रों में उदार, स्वस्थ साहित्यिक रुचि का निर्माण कर सकता है।

सहल जी का पहला प्रयत्न रचना के मर्म को टटोलना होता था। बिना किसी हठ या दुराग्रह के वे अपने आपको उसके केन्द्रीय प्रभाव के प्रति अर्पित कर

देते थे। हम लोग इस प्रक्रिया में उनके साथ-साथ चल सकें, इस उद्देश्य से वे छोटे-छोटे वाक्यों से हम लोगों का सही दिशा में नेतृत्व करते चलते थे। कहीं भी ध्यान को बँटाने वाली अलंकृत शैली या 'ग्रैण्डीलोक्वेंट' शब्द नहीं आने पाते थे। नन्ददास कृत 'भँवर गीत' को इस ढंग से पढ़ाना कि आजकल के छात्र गोपियों के विरह को अतिरंजित न मान बैठें, साधारण कार्य नहीं है। किन्तु इस सब में अध्यापक का कौशल चाहिए। सहल जी की परिष्कृत परिहास-वृत्ति सभी परिस्थितियों में उनको सहायता करती थी। कक्षा में वे नितान्त वैयक्तिक रहते थे। ग्रामोफोन रिकार्ड की तरह बजने वाले अध्यापक विभिन्न इकाइयों से और उनकी प्रतिक्रियाओं से अचेत रहते हुए स्वयं अपने द्वारा उत्पन्न ध्वनि पर मुग्ध रहते हैं। किन्तु सहल जी की कक्षा में 'सेट पीस' का स्थान नहीं होता था। अपनी विचित्र अन्तरदृष्टि से उन्हें यह भाँपने में कठिनाई न होती थी कि कौन-सी बात गले उतर गई है और कहाँ शंका या सन्देह है। तुरन्त उसी बिन्दु पर वे प्रहार करते।

सहलजी के कक्षा के भीतर और बाहर के रूपों में मैंने अधिक अन्तर नहीं पाया। अपने घर पर भी वे प्रायः पुस्तकों से घिरे रहते थे। जिन समस्याओं को वे कक्षा में उठाते, उनके साथ वे लम्बे समय तक रह चुके होते थे। वास्तविक ज्ञान ऐसा ही होता है। अध्यापन-कार्य जादूगर का काम नहीं है कि बस थोड़ी देर के लिए इन्द्रजाल के कृत्रिम जगत् की रचना कर दी। सहलजी के निष्कर्ष चिन्तन और अध्यवसाय से प्राप्त किये गये होते थे, न कि आकस्मिक दैव-संयोग से। बौद्धिक वातावरण में अपना अधिकांश समय व्यतीत करने के फलस्वरूप सहल जी किसी कवि या लेखक की एक रचना पर बात करते हुए उसकी लगभग सभी प्रमुख रचनाओं में किसी विशेष प्रवृत्ति की ओर इंगित कर देते थे जिससे हम में से कुछ लोगों को यह पता लग जाता था कि पाठ्य-क्रम के संकुचित दायरे के बाहर भी प्रचुर सम्पदा फैली हुई है।

मिल्टन ने एक स्थान पर लिखा है कि उच्च कोटि के काव्य की रचना करने वाले के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वयं एक अच्छा व्यक्ति हो। सफल शिक्षक के लिए भी मैं इसको सही मानता हूँ। सहल जी इस तथ्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं। किसी भी निजी संकट में हम लोग निस्संकोच उन से सहायता या परामर्श लेने का अपना अधिकार समझते थे। योग्य छात्रों को वे अपने निजी नोट्स और प्रकाशित आलोचना और निबन्धों की प्रतियाँ भी दे देते थे। वाद-विवाद प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए मैंने केवल दो-एक दिन पूर्व उनसे कुछ 'पाइंट्स' माँगे तो रात्रि को नौ या दस बजे एक व्यक्ति के द्वारा मुझको भिजवाये। विद्यालय तो संपर्क स्थापित करने का माध्यम मात्र था। मुझको ज्ञात है कि उनके अनेक छात्र उनसे अपने भावी

जीवन में भी परामर्श मांगते रहे हैं और पाते रहे हैं। आजकल विद्यार्थियों के बीच बढ़ती हुई अनुशासनहीनता के संबंध में अनेक ऊँचे दर्जे के सुझाव रखे जाते हैं किन्तु उन सबके अतिरिक्त एक बात जो सर्वाधिक महत्त्व की है, वह प्रायः गौण रह जाती है। वह है शिक्षक का स्वयं का चरित्र और आचरण। सहल जी सरीखे शिक्षक के साथ अनुशासनहीनता सरीखे प्रश्न की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

अध्ययनशील शिक्षक समय के स्वभावतः लोभी होते हैं और छात्रों के निबन्धादि पर कम ही समय देना चाहते हैं। किन्तु यह संशोधन-कार्य किसी भी शिक्षा-पद्धति का कितना महत्त्वपूर्ण अंग है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। सहल जी खूब लिखने का काम देते थे और बड़ी तत्परता से, बारीकी से जाँचने के बाद, वापस करते थे। मजाल नहीं, कहीं अनुस्वार की भी त्रुटि छूट जाय। इससे जहाँ लेख की अशुद्धियाँ दूर होती थीं, वहाँ यह भी सीखने को मिलता था कि कर्तव्य-परायणता संक्रामक होती है। शिक्षकों के अनेक तौर-तरीके जिन्हें वे स्वयं सम्भवतः नहीं जानते, अनेक विद्यार्थियों को स्थायी रूप से प्रभावित करते हैं। इसी संदर्भ में सहल जी की एक विशेषता का स्मरण हो रहा है। वे अपने सहयोगियों की शक्तियों का ही अवसर आने पर उल्लेख करते थे, उनकी दुर्बलताओं का नहीं।

अतीत का सिंहावलोकन करते समय मैं प्रायः विस्मय करने लगता हूँ कि ग्यारहवीं और बारहवीं कक्षाओं को पढ़ाते समय भी सहल जी ऐसा नहीं समझते थे कि उन्हें अपनी सारी शक्तियाँ नहीं लगानी चाहिए; इसमें सन्देह नहीं कि वे उनका काफी अंश बचाकर भी काम चलाते रह सकते थे। किन्तु शिक्षक का काम वणिक् बुद्धि से संचालित नहीं होता, नहीं होना चाहिए। चाहे कक्षा नीची हो या ऊँची, अच्छा शिक्षक वही है जो सर्वात्मना अपने आपको कर्तव्य के प्रति अर्पित कर दे। सहल जी के आचरण से मैंने यह सिद्धान्त निकाला है। जहां तक मुझे स्मरण है, मैं उनकी कक्षा में गाँधी-दर्शन, 'गीता-ज्ञान,' 'फ्रायड,' 'मार्क्स,' 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' आदि से सर्वप्रथम परिचित हुआ था। जैनेन्द्र जी के 'त्याग पत्र' को लेकर उन्होंने हमारे सम्मुख मनोवैज्ञानिक चिन्तन और आलोचना के नये द्वार खोल दिये थे। उनकी क्लास के समाप्त होने पर कॉलेज लाइब्रेरी की ओर दौड़ पड़ना अनिवार्य-सा हो जाता था। 'त्याग पत्र' में जब इतनी विचारोत्तेजक सामग्री है तो अवश्य ही 'परख' 'फाँसी', 'सुनीता' आदि को पढ़ना चाहिए और जैनेन्द्र के निबन्धों को भी, उनकी कहानियाँ को भी। पन्त जी का गुंजन पढ़ाते समय उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती काव्यों की चर्चा करके सहल जी ने हम में से अनेकों को उनके 'पल्लव,' 'ज्योत्स्ना' 'ग्रन्थि' 'ग्राम्या' आदि को पढ़ने के लिए अधीर कर दिया। इससे अधिक किसी भी शिक्षक की क्या सफलता हो सकती है, मैं नहीं जानता।

सहल जी के शिक्षक रूप में बहुत कुछ लिखा जा सकता है और निस्सन्देह उससे बहुत बड़ा लाभ भी हो सकता है। उपसंहार में मैं केवल यही कहना चाहूँगा कि यदि हमारे देश में सहल जी सरीखे शिक्षकों की संख्या कुछ बढ़ जाय तो हमारे राष्ट्रीय जीवन के अनेक संकट अपने आप टल जाँय। आदरणीय सहल जी के अभिनन्दन में जहाँ एक ओर उनके महान् व्यक्तित्व की वन्दना है, वहाँ दूसरी ओर शिक्षा-जगत् की उन अन्य विभूतियों के प्रति भी नमस्कार है जो प्रचार के चकाचौंध से दूर देश के भावी नागरिकों का निर्माण करने में अपनी सारी शक्तियाँ लगा रहे हैं। सहल जी दीर्घजीवी हों, यही मंगल कामना है।



एक लोकप्रिय व्यक्तित्व

गत दशक में अनेक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के दौरान मुझे डॉ० कन्हैयालाल सहल की क्षमताओं को समझने का अवसर मिला है। मैं डॉ० सहल के भारतीय-शास्त्रों के गहन अध्ययन तथा आधुनिक युग में उनके महत्व को स्वीकार करने के संदर्भ में उनके विशाल दृष्टिकोण से बहुत प्रभावित हुआ हूं।

उनकी विद्वत्ता मात्र बौद्धिक अथवा कल्पनालोक की नहीं है। मैंने उन्हें जीवन के सभी नागरिकों के बीच—ग्रामीणों से लेकर आचार्यों तक पूर्ण रूप से लोकप्रिय पाया है। इसके साथ ही डॉ. सहल में एक कुशल प्रशासक तथा विद्वान का अपूर्व समन्वय है।

—डॉ० अमरजीत सिंह



कर्तव्य-परायण और सरस्वती के साधक

• पद्मश्री शुकदेव पाण्डे

डॉ० सहल से मैं कई वर्षों से परिचित हूँ। पहिले पहल मैंने इनका गुणगान मुकुन्दगढ़ में शारदा सदन कॉलेज के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए कुछ मित्रों से सुना था। संस्था के संचालन तथा विकास में प्रारंभिक वर्षों में जो भाग सहलजी ने लिया, वे उसकी प्रशंसा कर रहे थे। श्री भागीरथजी कानोड़िया भी संस्था के उत्थान का श्रेय सदा सहलजी को ही देते थे। मुझे भी एक बार संस्था देखने का अवसर मिला और मैं वहाँ की सुव्यवस्था देखकर बड़ा प्रभावित हुआ।

जब बिरला इण्टर कॉलेज पिलानी में श्री सूर्यकरण पारीक के, जिन्होंने हिन्दी तथा राजस्थानी की अपूर्व सेवा की थी, देहावसान के उपरान्त हिन्दी विभाग के अध्यक्ष का पद रिक्त हुआ, बिरला कॉलेज ऐसे विद्वान की खोज में था जो इस क्षति को पूरा कर सके। सौभाग्यवश संस्था ने प्रो० सहल को नियुक्त किया और उन्होंने अपने चयन पर संस्था के संचालकों की सब आशाएँ पूर्ण रूप से पूर्ण की। हिन्दी पठन-पाठन के अतिरिक्त बिरला शिक्षण संस्थान यह भी प्रयत्न कर रहा था कि राजस्थानी साहित्य के पठन-पाठन को प्रोत्साहन देने के अतिरिक्त संस्थान में लोक-गीतों व लोक-कथाओं तथा कहावतों का संग्रह हो व राजस्थानी साहित्य पर खोज तथा शोध प्रारम्भ हो। इस ध्येय की पूर्ति में डॉ० सहल ने जो प्रयत्न किया, उसके लिए हिन्दी तथा राजस्थानी समाज उनका सदा आभारी रहेगा।

राजस्थानी में शोध-कार्य की सहायतार्थ एक शोध-पत्रिका 'मरु-भारती' भी बिरला एजूकेशन ट्रस्ट, पिलानी के तत्वावधान में प्रकाशित होनी आरम्भ हुई जो अब १८ वें वर्ष में है। इस पत्रिका का विद्वत्-संसार में बड़ा आदर है और अब यह बहुत कुछ अपने पैरों पर खड़े होने में समर्थ हो चली है। यह पत्रिका बहुमुखी है। इतिहास, शिलालेख, कथा-कहानियाँ, शब्द-चर्चा, कहावतें, पवाड़े इत्यादि सब ही विषय इस पत्रिका में स्थान पाते हैं। केवल एक यही कार्य भी डॉ० सहल का नाम उन व्यक्तियों में रखने में समर्थ है जिन्होंने अपना जीवन सरस्वती की निष्काम वन्दना में लगाया।

डॉ० सहल ने हिन्दी साहित्य समिति, पिलानी के संस्थापन में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इस संस्था के द्वारा विद्यार्थियों में हिन्दी पठन-पाठन व लेखन में विशेष प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। संस्था थोड़े ही काल में पुस्तकों, समाचार-पत्रों व पत्रिकाओं का अच्छा संग्रह बन गयी। समिति के सभा भवन में हिन्दी के सुविख्यात लेखकों के तैल चित्र हिन्दी प्रेमी विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करने में बड़ा योगदान देते थे इस समिति द्वारा प्रति वर्ष विशेषांक निकाला जाता था जिसका सम्पादन विद्यार्थियों द्वारा किया जाता था। इस विशेषांक की शिक्षण-संस्थाओं में सदा बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जाती थी। यह समिति समय-समय पर हिन्दी के सम्मानित विद्वानों तथा कवियों के व्याख्यान तथा कविता-पाठ का आयोजन कर सदस्यों को प्रतिष्ठित विद्वानों के सम्पर्क में आने का अवसर देती थी। समिति के तत्वावधान में 'हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ' नामक पुस्तक भी प्रकाशित की गई। यह मौलिक पुस्तक बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है।

डॉ० सहल के बी० आई० टी० एस० के हिन्दी विभाग की अध्यक्षता छोड़ने पर तथा बिरला एजूकेशन ट्रस्ट के स्कूलों के निदेशक होने के उपरान्त उन्होंने स्कूलों के लाभार्थ 'हिन्दी-भवन' 'हिन्दी-भवन' की स्थापना में योगदान दिया। इस भवन के उद्देश्य हिन्दी साहित्य समिति के समान ही हैं।

डॉ० सहल का शिक्षा से सदा प्रेम रहा और वे शिक्षण-संस्थाओं तथा विद्यार्थियों के उत्थान में सदा रस लेते आये हैं। बिरला शिक्षण संस्थान के पहिले निदेशक, फिर १९६८ में मंत्री के पद का भार सँभालने पर वे तन्मयता के साथ एक सुलझे हुए शिक्षा-शास्त्री होने के कारण अपने कार्य में जुट गये हैं और बड़ी योग्यता से संस्थाओं का संचालन कर रहे हैं और इसमें कोई संदेह नहीं कि वे शिक्षा-प्रचार व प्रसार में तथा विद्यार्थियों व अध्यापकों के स्तर को ऊँचा करने में समर्थ होंगे।

डॉ० सहल बड़े प्रबुद्ध लेखक हैं। थोड़े से काल में ही विभिन्न विषयों पर आपके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। ये ख्यातिप्राप्त समालोचक भी हैं। अपने पठन-पाठन तथा शिक्षण-संस्था के कार्य में रत होने पर भी तीस से ऊपर ग्रन्थ काव्य, शोधन ग्रन्थ, समालोचना, राजस्थानी साहित्य इत्यादि पर प्रकाशित किये हैं जिनका साहित्य समाज में बड़ा आदर हुआ है।

प्रकृति में जिस प्रकार एक बीज उपजाऊ भूमि में पड़कर अंकुर के रूप से एक वृक्ष का रूप लेता है, परिपक्व होने पर अनेक बीजों को वितरित कर अनेक नये अंकुरों का उत्पादन करता है, उसी प्रकार डॉ० सहल ने भी प्रति दिन निद्रा देवी को अपने को सौंपने के पूर्व कुछ न कुछ नियमपूर्वक लिखा है चाहे एक या दो पृष्ठ ही क्यों न हों। लिखा भी इतना विचारपूर्वक कि लिखे पर उन्हें दूसरी बार लेखनी न चलानी पड़ी। वे बूंद-बूंद से घट भरते गये और हिन्दी-साहित्य कोष बढ़ता गया। यह प्रयास उनके जीवन की सफलता का एक विशिष्ट साधन सिद्ध हुआ। हिन्दी तथा राजस्थानी के लेखकों तथा विचारकों में उन्हें सम्मानित स्थान प्राप्त है।

डॉ० सहल को मुझे निकट से देखने का अवसर मिला। उनका जीवन नियमित तथा सदा सादगी से परिपूर्ण रहा। जो भी कार्य उन्होंने उठाया, उसमें सर्वदा वे सफल हुए। गम्भीर से गम्भीर परिस्थिति में संतुलन रखने से वे संस्थाओं के कार्यभार को निष्पक्ष रूप से निभाने में सफल हुए। ये विनम्र तथा धैर्यवान हैं। मुद्रा गम्भीर भले ही दीखती हो पर वे सहृदय हैं। वे अपने स्वकीय गुण तथा विशिष्टता से अपने सम्पर्क में आने वाले अध्यापक तथा छात्र-वर्ग को प्रभावित करने में समर्थ हुए हैं। उनकी लगन ही उनकी सफलता की कुंजी है। उनकी हिन्दी-राजस्थानी सेवा के लिए शिक्षित समाज सदा उनका ऋणी रहेगा।

□□□

एक सहकर्मी का साक्ष्य

• गुरुदेव त्रिपाठी

१९५९ से लेकर आज तक के अध्यापक जीवन की अनेक यादें डा० साहब के साथ वावस्ता हैं और इस नैकट्य में अनेक बार अनेक कोणों से उनके व्यक्तित्व को देखने, परखने, समझने और आस्वादित करने का अवसर मिला है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के विद्यार्थी-जीवन में डा० सहल का परिचय उनकी विद्वत्ता-पूर्ण पुस्तकों के माध्यम से हुआ था और तभी एक पूज्य भावना उनके विराट व्यक्तित्व के प्रति बन गई थी।

कामायनी-दर्शन का लेखक, राजस्थानी साहित्य का मर्मी विवेचक और नये साहित्य में गहरी अभिरुचि रखने वाला विद्वान् एक विराट आकृति।

फिर एक नितान्त दूसरी दास्तान, सहकर्मी के रूप में परिचय; फिर परिचय में प्रगाढ़ता और प्रगाढ़ परिचय का आत्मीयता के रूप में परिवर्तित हो जाना। सूर्य की ऊष्मा से विशाल हिम-खंड विगलित हो जाता है, तरल हो जाता है और वैसे ही आत्मीयता की ऊष्मा ने डॉ० साहब को तरल कर दिया। वह विराट आकृति, जिसकी कभी कल्पना थी, विगलित होने लगी, खंड-खंड टूटने लगी—विभागीय अध्यक्ष, अभिभावक, शुभैषी और आत्मीयता के वेष्टन में वेष्टित एक मूर्ति।

फिर तो विगत दशक में वे अनेक रूपों में सामने आये। कहीं तो वे सफल अध्यापक की भांति विद्यार्थियों के मध्य साहित्यिक चर्चा में व्यस्त नजर आ रहे हैं, कहीं सहकर्मियों को श्रम करने और कुशल अध्यापक बनने का उपदेश दे रहे हैं; कहीं सभा के वक्ता अथवा सभापति के रूप में हाथ फैला-फैला कर बोलते दिखाई दे रहे हैं; कहीं गम्भीर दार्शनिक साहित्यिक विषयों पर शांतिपूर्वक विद्वज्जनों की गोष्ठी में विचार-विनिमय कर रहे हैं तो कहीं एकदम सहज रूप से स्वजनों

की पारिवारिक चर्चाओं में बेतकल्लुफी से उलझे हैं और अनेक प्रकार की रायें दे रहे हैं और सहयोग के वायदे, तो कहीं याराना तर्ज में एक शिगूफा छोड़ कर हँस रहे हैं और अपनी कही हुई बात के लिए समर्थन मांग रहे हैं—"अच्छा, आप ही बताइए ठीक है न ?"

डा० के० एल० सहल और पं० कन्हैयालाल सहल एक ही व्यक्तित्व के दो अभिन्न रूप हैं।

अच्छा, तो मिलिए डा० के० एल० सहल से एक अपटुडेट व्यक्तित्व। कभी पेंट बुशर्ट में, कभी कमीज पेंट में, कभी सूट में मय टाई। आप न केवल अच्छी अंग्रेजी बोल-लिख लेते हैं बल्कि अंग्रेजी भाषा पर अच्छा अधिकार है। आप घंटों धारा-प्रवाह गम्भीर से गम्भीर विषय पर अंग्रेजी माध्यम से भाषण दे सकते हैं।

और अध्ययन का क्या कहना !

प्लेटो, अरस्तू, रिचर्ड्स, टी० एस० इलियट और अंग्रेजी साहित्य के कृती व्यक्तित्वों का आपका गहरा अध्ययन है; यही कारण है कि साहित्य शास्त्र की पश्चिमी धारा से लेकर नये काव्य पर पश्चिमी प्रभाव की हर खूबियों और खराबियों को आप भली-भांति पहचानते हैं और अपने समीक्षात्मक निबन्धों में इस ज्ञान का भरपूर उपयोग भी करते हैं।

माफ कीजिएगा डा० सहल साहब, मुझे आपका अंग्रेजीपन कभी-कभी बहुत अखरता है, जब आप हिन्दी के धुरन्धर विद्वान् होकर भी यदा-कदा अनावश्यक रूप से अंग्रेजी का प्रयोग करते हैं।

यह क्या ? आप कुछ गम्भीर लग रहे हैं। मैंने तो महज एक छोटी-सी बात कही थी और उसे आपने गम्भीरता से ले लिया। खैर, मैंने कहा भी जान-बूझ कर ही था। मुझे आपके स्वभाव की सफाई मालूम है कि औचित्य को स्वीकार करने में आपको संकोच नहीं होता है।

मेरे कहने को अन्यथा मत लीजिएगा।

और आप हैं पं० कन्हैयालाल सहल, राजस्थानी के उद्भट विद्वान्, हिन्दी के ख्यातिप्राप्त समीक्षक और कृती व्यक्तित्व।

मूलतः आप प्राचीन संस्कारों और अभिरुचियों से सम्पन्न सनातनी ब्राह्मण हैं। संस्कृत साहित्य आपका प्रिय विषय है और प्राचीन धर्म-दर्शन के आलोड़न विलोड़न में आपकी रुचि भी अधिक है। भाषणों में तो शायद ही कोई आपका भाषण है जो संस्कृत के किसी श्लोक से सम्पृक्त न हो। साधारण बातचीत में शाम को टहलते समय भी आप सहज रूप में अपनी संस्कृत ज्ञान-गंगा का जल बिखेरते

चलते हैं और होता कभी यह है कि जब अचानक बात करते-करते संस्कृत का कोई श्लोक उठने से बाज आ जाता है तब आप अपने अभिन्न और वरिष्ठ सखा आचार्य जी (पं० अनन्तदेवजी त्रिपाठी प्रिंसिपल संस्कृत कॉलेज) से पूछ बैठते हैं—"क्यों आचार्य जी, यह प्रसंग कैसे हैं अथवा इस श्लोक का आधा चरण स्मरण है क्या ?" और फिर बातचीत की गाड़ी आगे चल पड़ती है।

घर के भीतर आप कट्टर पुराण पंथी हैं। प्राचीन रूढ़ियों और मान्यताओं में आपकी घोर आस्था है। यही कारण है कभी किसी ने आपको नए अन्दाज में मान्यताओं के विरोध में आचरण करते और विचार प्रकट करते नहीं देखा होगा। पारिवारिक शिष्टाचार, शालीनता पर आपका काफी ध्यान है।

नियमित रूप से न केवल आप संध्याकाल टहलते ही हैं बल्कि नियमित संध्यावन्दन भी आपके क्रियाकलाप का अभिन्न अंग है।

अरे वाह, धोती कुर्ते में देखकर आप भड़किए नहीं। ये सहलजी ही हैं।

यार, धोती कुर्ते में तो ये काफी फबते हैं तो क्यों नहीं यही परिधान धारण करते हैं ?

छोड़ो भी, क्या बकवास शुरू कर दिया। अपनी-अपनी रुचि की बात है। कोई कैसे भी रहे। जनाब आपसे क्या मतलब ?

और फिर एक लम्बा अर्सा गुजर गया डा० सहल के साथ काम करते और पं० कन्हैयालाल सहल को देखते। बार-बार मन में प्रश्न उठता है, क्या एकत्र इन दो व्यक्तित्वों का मिलन-बिन्दु भी है।

कई वर्ष नजरों के सामने देखते-देखते एक-एक कर फिसल गए लेकिन उनके मीठे कड़ुवे स्वादों की यादगार बाकी है। उन दिनों जब मैं आया ही आया था डा० सहल बिड़ला आर्ट्स कॉलेज के संस्कृत-हिन्दी विभागाध्यक्ष और उपाचार्य थे। मेरा सम्बन्ध उन दिनों बिड़ला कालेज से था लेकिन हिन्दी का होने के नाते हरदम तो नहीं, यदा कदा हम लोग मिल ही लेते थे या यों कहिए, मैं मिल ही लेता था। उस समय भी डा० साहब मुझे अत्यन्त मृदुभाषी लगे। मैं यह नहीं कहना चाहता हूं कि कोई व्यक्ति नितान्त पूर्ण होता है अथवा खामियों से एकदम खाली होता है लेकिन इतना जरूर है कि वह किसी के साथ व्यवहार में कितना मीठा है, उसके व्यक्तित्व की अच्छाई और सफलता की यह पहली शर्त होती है। मुझे मालूम है डॉ० साहब हर परिस्थिति में संयत रहने के अभ्यासी हैं और व्यवहार में अत्यन्त मृदु।

एक दिन आया जब बिड़ला संस्थान के सारे कॉलेज मिल कर इन्स्टीट्यूट बन गए। तब से डॉ० साहब से मेरा सीधा वास्ता और साबका पड़ने लगा। ऐसा नहीं है कि इस दौरान में हम लोग कभी कटु दौर से न गुजरे हों। ऐसे उन समस्त अवसरों पर जब विगाड़ की सम्भावनाएं आई हैं, डॉ० साहब ने उन्हें वनाया है। अपने बलियाटिक स्वभाववश मैं यदा-कदा रोष में भी आ गया हूँ लेकिन डॉ० साहब ने स्वयं ही नीचे आकर मुझे समेटा है और व्यवहार की मिठास को कायम रखा है। साधारण व्यवहार में तो मुझे कभी उन्होंने यह सोचने का अवसर भी नहीं दिया कि कभी किसी समय हम में मतभेद भी हो गया था अथवा किसी वर्तमान बात को लेकर तैश भी वढ़ गया था। अतीत को भूल जाना और नए को संवारना, यह मनुष्य का दुर्लभ गुण है और यह मुझे डॉ० साहब के स्वभाव में प्रचुर मात्रा में मिलता है।

अनुसंधित्सु विद्यार्थियों के बीच जब मैंने डॉ० साहब को देखा तो उन्हें कुछ और ही पाया। उन्होंने कभी किसी विद्यार्थी पर अपने विचारों को बलात् लादने की चेष्टा नहीं की। विद्यार्थियों को पूरी छूट रही है कि वे अपनी बातें कहें, डॉ० साहब की दलीलों को काटें। लेकिन डॉ० साहब भी कम नहीं हैं। हाँ, हाँ कहते-कहते ही वे अपनी सारी बातें विद्यार्थियों से सहज मनवा लेते हैं। आज जहां साधारण लोग भी अवसर पाकर अपनी गुरुता का रोब गालिब करना नहीं चूकते, वहाँ डॉ० साहब की सहज व्यवहार-पद्धति कितनी अनुत्तर लगती है।

आज डॉ० साहब वयस की छोर के निकट पहुँच चुके हैं लेकिन उनकी कार्य-शक्ति में किसी को किसी प्रकार की कमी कभी परिलक्षित नहीं हुई। जब वे हिन्दी विभागाध्यक्ष थे तो सम्भवतः हिन्दी सम्बन्धी सारे कार्य-कलापों के स्वयं ही केन्द्र-विन्दु थे। हिन्दी वाद-विवाद, रंगमंच, समिति, भाषण, गोष्ठियां आदि सब के संयोजन व्यवस्थादि में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उनका हाथ रहता था। सब को स्मरण में रखना, सबको समान रूप से महत्त्व देना, साधारण कार्य नहीं है।

पुवाल की आग की तरह जलना और भभक कर राख हो जाने में व्यक्तित्व की शोभा नहीं होती है, शोभा होती है स्थायित्व में। इस संदर्भ में मुझे कहना यही है कि जब मैं पिलानी आया तो आने के साथ ही पता चला डॉ० साहब हिन्दी 'साहित्य समिति' और 'मरुभारती' के जनक हैं। हिन्दी 'साहित्य समिति' यहां की साहित्यिक संस्था है और 'मरुभारती' एक मात्र शोध-पत्रिका। इन दो वड़े उत्तर-दायित्वों को वखूवी अनेक वर्षों से डॉ० साहब निभाते चले गए, यह उनकी कार्य-शक्ति, श्रम-शक्ति और संयोजन-शक्ति का परिचायक है।

फिर 'हिन्दी-भवन' के रूप में डा० साहब ने अपने नगर और शिक्षा-संस्थानों को एक अनुपम भेंट प्रस्तुत की है। अपने अल्प वयस में ही भवन प्रगति की सारी संभावनाएं समेट रहा है।

आज डा० सहल अपनी योग्यता और सेवा के बल पर उपलब्धि की सीमा पर पहुँच चुके हैं। आज वे बिड़ला शिक्षा संस्थान के सचिव हैं। आज उनका दिन व्यवस्था, अनुशासन की कार्यवाहियों में व्यतीत होता है तो रातें संस्थान की प्रगति के ख्वाबों में। आज डा० सहल के पास सब कुछ उपलब्ध है लेकिन फुर्सत के क्षण नहीं—अपने क्षण नहीं। पुराने स्नेही, श्रद्धालु और याराना तर्ज के अन्य लोग जब उनसे वही पुरानी बेतकल्लुफी चाहते हैं तो उन्हें कभी-कभी निराशा भी हाथ लग जाती है।

आज पुनः मेरा भावुक मन एक विद्वान् कर्मठ डा० सहल का चित्र संजोने बैठता है तो वह चित्र सहसा फिसल जाता है और सामने खड़ा हो जाता है बिड़ला शिक्षा संस्थान के मंत्री का चित्र—सूट में लकधक कार से उतरते हुए। फिर एक अनावश्यक आशंका से मन भर जाता है, कहीं फूल-मालाओं, सुख-सुविधाओं के बीच वह तस्वीर दब न जाए जो विद्वत्ता की गरिमा से विराट है और शील-सौजन्य की आभा से शुभ्र



एक बहुमुखी व्यक्तित्व

• डॉ० मूलचन्द सेठिया

डॉ० सहल को जो केवल आलोचक के रूप में जानते हैं, वे डॉ० सहल को नहीं जानते। उनका एक सहज सन्तुलित और बहु-आयामी व्यक्तित्व है, जिसमें कई धाराओं का सङ्गम है। वे एक आस्थावान व्यक्ति हैं, जिनकी प्रथम आस्था जीवन के प्रति है। इस मूल आस्था से ही उनके जीवन की विविध प्रवृत्तियों को प्रेरणा प्राप्त होती है। जीवन के प्रति, उसके विविध रूपों में व्यक्त होने वाली गरिमा और महिमा के प्रति उनका सहज अनुराग है। अपने व्यक्तित्व के विविध आयामों का सम्यक् रूप से विकास करते हुए उन्होंने समृद्ध और सन्तुलित जीवन जीने का प्रयास किया है। एक रसग्राही आलोचक, भावविदग्ध कवि, स्वतंत्रचेता निबन्ध-कार, चिन्तनशील अध्यापक और कुशल प्रशासक के रूप में उन्होंने अपने व्यक्तित्व के जिन विविध पक्षों का अभिव्यंजन किया है, उनमें परस्पर अन्तर्विरोध नहीं, एक आन्तरिक सामञ्जस्य है। डॉ० सहल अध्ययन, चिन्तन और लेखन को स्वतः सिद्ध नहीं मानते, उनके लिए इन बौद्धिक और मानसिक प्रवृत्तियों का महत्त्व जीवन को लेकर ही है। यही कारण है कि साहित्य उनकी दृष्टि में कोरा कल्पना-व्यापार या बौद्धिक विजृम्भण नहीं है। साहित्य का आलोचन और विवेचन उन्होंने जीवन-मूल्यों के सन्दर्भ में ही किया है और उनका चिन्तन जीवन के मूलाधार को छोड़कर अमूर्तता की छल-छायाओं से प्रवंचित नहीं होता है। व्यक्ति का जीवन केवल अध्ययन, चिन्तन और लेखन तक ही सीमित नहीं है, उसमें लोक-व्यवहार का भी एक अपरिहार्य अंश सदा विद्यमान रहता है। अपनी इसी मान्यता के कारण डॉ० सहल अपने जीवन में प्रशासकीय दायित्वों को भी सफलतापूर्वक संभालने से कभी पराङ्मुख नहीं हुए हैं।

आलोचक के रूप में डॉ० सहल का उदय 'साहित्य सन्देश' के पृष्ठों पर हुआ था। आज 'साहित्य सन्देश' भले ही विद्यार्थियों के उपयोग का पत्र रह गया हो,

परन्तु हिन्दी आलोचना-जगत् को डॉ० सत्येन्द्र, डॉ० नगेन्द्र और डॉ० कन्हैयालाल सहल आदि कई लब्ध-प्रतिष्ठ आलोचकों को प्रविष्ट कराने का श्रेय इसी पत्र को है। अपने प्रारम्भिक निबन्धों के द्वारा ही डॉ० सहल ने हिन्दी जगत् का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था। उनके समीक्षात्मक निबन्धों का प्रथम संकलन समीक्षाञ्जलि के नाम से प्रकाशित हुआ था, जिसमें पूर्वीय और पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त गुंजन और बापू आदि कृतियों का विशद विवेचन किया गया था। साहित्य-सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए डॉ० सहल की नीर-क्षीर-विवेकी दृष्टि प्राचीन और अर्वाचीन तथा पूर्वीय एवं पाश्चात्य की सीमा-रेखाओं में नहीं उलझती। अगर पाश्चात्य मनोविज्ञान के सिद्धान्त कृति एवं कृतिकार की अन्तःप्रेरणाओं और रचना-प्रक्रिया को समझने में सहायक होते हैं, तो डॉ० सहल उनको प्रयोग करने में रंच मात्र भी संकोच नहीं करते। पूर्वीय सिद्धान्तों की व्याख्या करने में भी आपने गतानुगतिकता का परिचय नहीं दिया है। उनके निकट, आलोचना का उपयोग साहित्य के सम्यक् अनुशीलन में सहायक होना है और साहित्य स्वयं जीवन के सरल किन्तु चिरगूढ़ सत्यों को समझने और समझाने का एक प्रयास मात्र है। इसलिए डॉ० सहल का साहित्यालोचन शुष्क शास्त्रीयता और पूर्वाग्रह से सर्वथा मुक्त एक स्वतंत्र और मौलिक प्रक्रिया है। इतिहास, दर्शन, मनोविज्ञान और अन्य शास्त्रों के द्वारा साहित्य पर अगर कोई विशेष प्रकाश पड़ता है, तो उनका ऋण स्वीकार करने के लिए भी आप चिरतत्पर रहते हैं।

साहित्यालोचन के क्षेत्र में डॉ० सहल का प्रदेय विविध रूपों में है। उन्होंने हिन्दी साहित्य के साथ ही राजस्थानी के लोक-साहित्य का भी आधिकारिक रूप से विवेचन किया है। राजस्थानी कहावतें आपके साहित्यिक शोध का प्रमुख विषय रही हैं। कविवर सूर्यमल्ल मिश्रण के अमर काव्य वीर सतसई की भूमिका में आपने राजस्थानी साहित्यिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए उक्त काव्य का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। राजस्थानी लोक-कथाओं का एक संकलन चौबोली नाम से श्री पतराम गौड़ के साथ सम्पादित कर प्रकाशित कर चुके हैं। राजस्थानी साहित्य का आपने जो गहन अध्ययन किया है, उसका प्रस्तुतीकरण अभी तक नहीं हो सका है। भविष्य में, राजस्थानी साहित्य-प्रेमी आप से अगर इस दिशा में विशेष रूप से अग्रसर होने की आशा करते हों, तो यह स्वाभाविक ही है। हिन्दी की आधुनिक कविता आपकी विशेष रूप से विवेच्य रही है। कविवर सुमित्रानन्दन पंत, सियाराम शरण गुप्त, हरिकृष्ण प्रेमी आदि कवियों का विशेष अध्ययन प्रस्तुत करने के अतिरिक्त आधुनिक खड़ी बोली के प्रमुख प्रबन्ध काव्यों—'साकेत' और 'कामायनी' 'प्रमायनी' पर आपके स्वतंत्र ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। "साकेत के नवम् सर्ग का

काव्य वैभव" की पाण्डु लिपि पढ़ कर साकेतकार श्री मैथिलीशरण गुप्त ने स्वयं उसे प्रकाशित करने का संकल्प व्यक्त किया था।

डॉ० सहल ने साहित्यालोचन-सम्बन्धी निबन्धों के अतिरिक्त कुछ वैयक्तिक निबन्ध भी लिखे हैं। आपके वैयक्तिक निबन्धों में एक गम्भीर चिन्तनशील व्यक्तित्व का साक्षात्कार होता है। जीवन के अपेक्षाकृत प्रसन्न और अगम्भीर क्षणों में लिखे गए 'बूढ़े बच्चे' जैसे निबन्ध विशेष रूप से आस्वाद्य हैं, जिनमें मधुर हास्य और हल्के व्यंग्य के साथ जीवन की प्रच्छन्न वास्तविकताओं को उद्घाटित किया गया है। डॉ० सहल में हास्य का एक तीखा 'सेन्स' है और उनसे यह आशा की जा सकती है कि वे अपने और दूसरों पर हंसने-हंसाने वाले वैयक्तिक निबन्धों के लेखन की ओर विशेष रूप से प्रवृत्त हों। राजस्थान की सांस्कृतिक परम्पराओं और जन-जीवन से सम्बन्धित निबन्धों की संख्या कहीं अधिक है और उनमें राजस्थान के साथ अपने घनिष्ठ परिचय के आधार पर डॉ० सहल कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों को प्रकट करने में सफल हुए हैं। कतिपय निबन्धों का सम्बन्ध चिकित्सात्मक मनोविज्ञान और व्यावहारिक अध्यात्म से भी है। आपके निबन्ध चाहे किसी भी कोटि के क्यों न हों, उनमें एक प्रकार की सहजता और सुबोधता अवश्य पाई जाती है। जटिल से जटिल विषय का आप सरल से सरल प्रतिपादन करने का प्रयास करते हैं। विचार-प्रतिपादन में एक तार्किक क्रम और सङ्गति होती है, यदा-कदा उदाहरणों के द्वारा भी अपने वक्तव्य का स्पष्टीकरण करते चलते हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक बार कहा था कि "एक सहज व्यक्ति ही सहज साहित्य की सृष्टि कर सकता है।" डॉ० सहल के निबन्ध इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं।

काव्य-सृजन डॉ० सहल के जीवन में केवल प्रासंगिक महत्त्व रखता है। कृती कवियों के काव्य का रसास्वादन करते-करते डॉ० सहल की सरस्वती कब मुखरित हो गई, यह स्वयं उनके लिए भी एक सुखद आश्चर्य का विषय रहा होगा। जिस प्रकार एक विशाल भूधर की ऊँचाई पर कुछ हरित तृण अनायास प्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार आपके बौद्धिक और चिन्तनशील व्यक्तित्व की सरल और प्रसन्न भाव-रेखाएँ कविता की पंक्तियों में अङ्कित हो गई हैं। स्वभावतः ये कविताएं राग-प्रधान नहीं हैं, उनमें भावनाओं का तीव्र उद्वेलन नहीं है और अभिव्यंजन में भी निर्बन्ध आवेग का अभाव है। भावनाओं की लघु-लघु ऊर्मियां हरी दूब पर शबनम की तरह अपनी ही सजलता में झिलमिलाती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। इन 'क्षणों के धागे' में अनुभूति से अधिक जीवन के अनुभवों को वाणी दी गई है। बौद्धिकता का एक बारीक तार सभी कविताओं में पिरोया हुआ है, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि डॉ० सहल की कविताएँ ज्ञान-गरिष्ठ हैं या उनमें भावना का

उष्ण स्पन्दन नहीं है। हां, भावना पर बुद्धि का अनुशासन अवश्य है, जो कवि को न भावावेग में वहने देता है और न बहकने देता है। सम्भवतः डॉ० सहल ने अपने अध्ययन, अध्यापन और लेखन की विश्रान्ति को इन लघु-लघु कविताओं में बिखराना चाहा है।

डॉ० सहल ने अध्यापन को केवल व्यवसाय के रूप में ही ग्रहण नहीं किया है, उनका अध्ययन, चिन्तन और लेखन मूलतः अध्यापन का अनुवर्ती रहा है। अध्यापन उनका जीवन-कर्म ही नहीं, जीवन-धर्म भी रहा है। एक निष्ठावान् अध्यापक अपने विद्यार्थियों को कुछ घिसी-पिटी बातें बतलाकर कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। डॉ० सहल ने अपने विद्यार्थियों को नये-नये मोती लाकर देने के लिए ही ज्ञान के समुद्र में गहरी से गहरी डुबकियां लगाई। केवल हिन्दी की विद्वत्ता से ही सन्तुष्ट न होकर संस्कृत एवं अंग्रेजी साहित्य का भी गहन अध्ययन किया। हिन्दी काव्य का अध्यापन करते हुए भी उनकी दृष्टि विश्व-काव्य पर केन्द्रित रहती है। उर्दू, अंग्रेजी और संस्कृत के समानान्तर उद्धरणों के द्वारा वे विद्यार्थियों को भी अन्य भाषाओं के अध्ययन की ओर आकृष्ट करते हैं। उनके अध्यापन की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि वे अपने निर्णयों को विद्यार्थियों पर लादते नहीं है, प्रत्युत विद्यार्थियों को स्वतंत्र निर्णय लेने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। वे विद्यार्थियों के सम्मुख केवल अपना निर्णय ही नहीं प्रस्तुत करते हैं, उस निर्णय तक पहुँचने की पूरी प्रक्रिया भी प्रस्तुत कर देते हैं। एक रिसर्च गाइड के रूप में भी डॉ० सहल का यही दृष्टिकोण रहा है। वे अपने शोध-छात्रों को अपने स्वतंत्र मत का प्रतिपादन करने के लिए प्रेरित करते हैं, भले ही उनका मत अपने घोषित मत के प्रतिकूल ही क्यों न पड़ता हो। डॉ० सहल भारत की एक प्रमुख शिक्षण संस्था—विड़ला आर्ट्स कॉलिज में प्रायः २५ वर्षों तक हिन्दी-संस्कृत विभाग के अध्यक्ष रहे हैं। मुझे भी तीन वर्ष तक उनके तत्वावधान में कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे अपने सहयोगियों से भी यही अपेक्षा करते हैं कि वे अध्यापन को अपना मिशन समझ कर कार्य करें।

पिलानी के साथ डॉ० सहल का नाम घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हो गया है। साहित्य-जगत् में डॉ० सहल ही पिलानी के विद्याविहार के पर्याय बन गए हैं। प्रायः पच्चीस वर्षों में सहस्रों विद्यार्थी आपके घनिष्ठ सम्पर्क में आए और आज उनमें से अनेक उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित हैं। मैं पिलानी में देखता था कि उनके अनेक भूतपूर्व विद्यार्थी केवल उनका आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए ही पिलानी आते थे। अपने विद्यार्थियों के प्रति डॉ० सहल का वैसा ही सहज स्नेह है, जैसा विद्यार्थियों का डॉ० सहल के प्रति सहज समादर। आपने विद्यार्थियों की भावयित्री प्रतिभा को

ही विकसित करने का प्रयास नहीं किया, उनकी कारयित्री प्रतिभा को भी प्रेरित और प्रोत्साहित करने के लिए सदा सचेष्ट रहे हैं। पिलानी के विद्यार्थी जीवन में ही अनेक प्रतिभाओं ने अपनी पहली उड़ान लेनी प्रारम्भ कर दी थी। क्या आश्चर्य है कि आपके भूतपूर्व विद्यार्थियों में से आज अनेक उच्चकोटि के कवि, कहानीकार, आलोचक और विचारक हैं।

प्रायः अध्ययनशील व्यक्ति प्रशासकीय दायित्वों से कोसों दूर रहते हैं। डॉ० सहल इसे एक प्रकार की कायरता और उत्तरदायित्व-हीनता मानते हैं। उन्होंने समय-समय पर प्रशासकीय दायित्वों को न केवल स्वीकार किया है, बल्कि उनका सफल निर्वाह भी किया है। सन् १९६४ में पिलानी नगर पालिका से विद्या विहार का पृथक्करण कर पिलानी में दो नगरपालिकाएँ स्थापित कर दी गई थीं। इससे पिलानी के नागरिक काफी क्षुब्ध हुए थे। शहर में विशाल वटवृक्ष की छाया में प्रायः प्रति संध्या को विरोध-सभाएँ आयोजित की जाती थीं। इस विक्षुब्ध वातावरण में डॉ० सहल को पिलानी नगरपालिका का अध्यक्ष मनोनीत किया गया। वे स्वयं जानते थे कि यह 'काँटों का ताज' पहनाया गया है, परन्तु काँटों की चुनौती को वे अस्वीकार नहीं कर सके। मैंने अनुभव किया है कि डॉ० सहल ने स्वयं निरुद्विग्न रह कर दूसरों के उद्वेग को भी शान्त कर दिया। क्रमशः जब विरोधियों ने यह अनुभव किया कि आप किसी के इंगित से परिचालित नहीं हो रहे हैं और न्याय-बुद्धि से कार्य करने का प्रयास कर रहे हैं, तो सारा विरोध शान्त हो गया। उस वातावरण में अपने मानसिक सन्तुलन को स्थिर रखना दुःसाध्य था और इस बात की पूरी आशंका थी कि एक पक्ष ही नहीं, दोनों पक्षों की गलतफहमी का शिकार बनना पड़ सकता है। डॉ० सहल की प्रशासकीय योग्यता का यह प्रमाण है कि उन्होंने बिना डगमगाए हुए तलवार की धार पर चलकर दिखला दिया। अन्ततः, दोनों ही पक्ष आपकी सदाशयता और निष्पक्षता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके।

सम्प्रति डॉ० सहल बिड़ला एजूकेशन ट्रस्ट के सैक्रेटरी हैं। पद्मश्री शुकदेव पाण्डे का गौरवपूर्ण उत्तराधिकार उन्हें प्राप्त हुआ है। आपकी प्रशासकीय क्षमता से परिचित होने के कारण मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप इस पद के गौरव की और भी अभिवृद्धि करेंगे। भारत के विभिन्न प्रदेशों में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में 'ट्रस्ट' ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। अनेक शिक्षण-संस्थाएं इस 'ट्रस्ट' के द्वारा सञ्चालित होती हैं। इस महत्त्वपूर्ण पद पर कार्य करते हुए डॉ० सहल उच्च शिक्षा के प्रचार-प्रसार में अपना स्पृहणीय योग-दान कर सकते हैं। परन्तु, मेरे मन में एक लम्बा प्रश्नचिह्न भी लगा हुआ है—क्या आलोचक-प्रवर डॉ० सहल अब अपनी व्यापक साहित्यिक गति-विधियों से अलग हटकर केवल प्रशासन ही करते रहेंगे? क्या कविता

और निबन्धों के स्थान पर वे फाइलों पर हस्ताक्षर ही किया करेंगे ? मैं अपने को आश्वस्त करता हूं कि ऐसा नहीं होगा। डॉ० सहल के जीवन में अध्ययन-आहार की भांति अपरिहार्य है। अधुनातन ग्रंथों और पत्र-पत्रिकाओं को पढ़े बिना वे कदापि नहीं रह सकेंगे। जब वे अध्यापन करते थे तो वह भी आत्माभिव्यक्ति का एक माध्यम था। लेकिन, अब अध्यापन स्थगित होने के बाद केवल लेखन के द्वारा ही वे अपने आपको अभिव्यक्त कर पाएँगे। इसलिए हमें आशा करनी चाहिए कि वे भविष्य में अधिकतर और श्रेष्ठतर ग्रंथों की रचना करेंगे और हम यह कह सकेंगे कि अब तक उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह तो उनके वास्तविक लेखन की तैयारी ही थी। स्वस्थ-तन और स्वस्थ मन डॉ० सहल हमारी इस शुभाकांक्षा को चरितार्थ करने के लिए शतवर्षो तक जीवित रहें और अपने बहु-मुखी व्यक्तित्व में नये-नये आयाम जोड़ते रहें, यही मेरी मङ्गल-कामना है।



मैं नहीं जानता था कि आप इतने उच्च कोटि के कवि भी हैं और आपकी Sensibility (अनुभूति प्रवणता) इतनी modern है.......आपकी कविता में बड़ी चोट है और आपकी अभिव्यक्ति में बड़ी स्वाभाविक प्रेरणा और परिणति है।........ आपने एक नये विद्रोह का सूत्रपात किया है और प्रयोगवाद का अभिनव रूप।

डॉ० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

महागुरु और अप्रतिम साहित्य-साधक

• डॉ० एल० डी० जोशी

डॉ० कन्हैयालाल सहल एक चलती-फिरती संस्था के समान हैं। उनका व्यक्तित्व आज एक ऐसे स्रोत के समान है जिसमें से अनेक जल-प्रवाहों का उद्गम हुआ है या एक ऐसे वटवृक्ष के समान हैं जिसमें से अनेक शाखा-प्रशाखाएँ प्रस्फुटित हुई हैं। सौम्यमूर्ति डॉ० सहल का मानवतावादी दृष्टिकोण विशेष द्रष्टव्य है। उनकी सहानुभूति, दूरदर्शिता तथा परिश्रमशीलता ने अनेक विद्वानों तथा व्यक्तित्वों का निर्माण किया है। इनके व्यक्तित्व में से अनेक व्यक्तित्व बनकर बाहर आये हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। डॉ० साहब के मार्ग-दर्शन में अनेक अध्ययनशील युवक शोध के द्वारा न केवल पंडित (पी-एच० डी०) ही बने हैं, अपितु उनकी दृष्टि को ऐसी सूझ मिली है कि उन्होंने भी अनेक पंडित पैदा किये हैं। डॉ० सहल कई पीढ़ियों के गुरु हैं और इसीलिए तो मैं उन्हें संस्था के रूप में देखता हूँ। वे स्वयं एक गुरुकुल या आश्रम के समान हैं जिनमें से आज अनेक विद्वान उत्पन्न होकर माँ सरस्वती का भण्डार भरने में सक्षम हैं। डॉ० सहल एक ऐसे संन्निष्ठ, तपे हुए विद्वान हैं कि उनके विद्वान शिष्यों के नेतृत्व में विद्वान बनकर विद्यार्थी बाहर आ रहे हैं। विद्या नगर के मेरे एक मित्र तथा विद्वान प्रोफेसर (भूतपूर्व) डॉ० ओमानंद सारस्वत जिन्होंने डॉ० सहल साहब के मार्ग-दर्शन में ही शोध करके पी-एच. डी. प्राप्त की है) के मार्ग-दर्शन में गुजरात के अनेक उदीयमान युवक अध्यापक सुन्दर शोध-कार्य के उपरांत प्रगतिशील तथा नये विचारों को व्यक्त करने वाली लेखन-प्रवृत्ति में रत हैं। इन सब गुरु-शिष्यों को महागुरु डॉ० सहल का आशीर्वाद ही नहीं, उनकी दी हुई दृष्टि कार्य करा रही है, ऐसा मैं देख रहा हूँ। राजस्थान के पिलानी स्थान में वर्षों से साधना कर डॉ० साहब ने जो कार्य

मूल रूप में किया है, उसकी शाखाएँ गुजरात और समग्र देश में किस प्रकार विकसित हुई हैं, यह कहना ही मेरा अभीष्ट है। डॉ० साहब की सेवा-निष्ठा तथा सरस्वती की साधना—आराधना का सारस्वत-यज्ञ आज फलीभूत हो रहा है, यह परम प्रसन्नता की बात है।

डॉ० सहल की नीर-क्षीर विवेक दृष्टि का मैं कायल हूं। 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य वैभव' जब पहली बार मैंने पढ़ा था, तभी इनकी तटस्थ तथा पूर्वग्रह से मुक्त विवेचन-शक्ति तथा पद्धति का मैं प्रशंसक बना था। उनका अध्ययन, संशोधन, संग्रह, सम्पादन, प्रकाशन तथा विवेचन विशिष्ट रहा है और इनकी निजी सूझ ने शोध-कर्त्ताओं का जो मार्ग-दर्शन किया है, वह उन ग्रंथों को देखने से स्पष्ट विदित होता है। यही सब तो सहल साहब के विशाल व्यक्तित्व का रूप है। राजस्थानी तथा हिन्दी की जो सेवा डॉ० सहल ने की है, वह अपूर्व तथा अद्वितीय है, ऐसा मैं निःसंकोच कह सकता हूँ। 'मरुभारती' के संपादन द्वारा उन्होंने अनेक लेखकों को प्रोत्साहन तथा मार्ग-दर्शन दिया है और अनेक अलभ्य परन्तु उपेक्षित सत्यों तथा मूल्यों को प्रकाश में लाने का पुण्य कार्य किया है। मुझे तो लगता है कि राजस्थान तथा भारत सरकार ने आज तक डॉ० सहल की इस महती सेवा की कोई कदर क्यों नहीं की ? हम विद्यार्थियों के डॉ० सहल बुजुर्ग नेता हैं। 'बागड़ी बोली की कहावतें' शीर्षक मेरा लेख डॉ० साहब ने मरुभारती में छापा था, उस संदर्भ में उनका प्यार-भरा एक पत्र मिला था, जिसे मैंने गर्वपूर्वक कई प्राध्यापकों को पढ़ाया तो सभी प्रसन्न हुए थे। सरकारी स्तर पर डॉ० सहल की चाहे कदर नहीं हुई हो, इन अध्यापकों के मन में इनकी कदर दो दशाब्द से है ही और डॉ० सहल दूसरों की कदर करते हैं यह तो सबसे बड़ी बात है। डॉ० सहल जैसे कद्रदाँ कम ही होते हैं। शिक्षक तथा शिक्षा-शास्त्री एवं आचार्य के रूप में डॉ० सहल का आज एक विशिष्ट स्थान तो है ही परन्तु इनकी काव्य-दृष्टि के कारण तो ये हमारे साहित्य-क्षेत्र में अमर रहेंगे ही। नई कविता और इससे भी आगे 'अगली कविता' के ये प्रणेता हैं। प्रयोगवाद की कविता, नई कविता, अगली कविता इन सब को नजर में रखकर हिन्दी काव्य-धारा का अवगाहन करने वालों को डॉ० सहल की कविता का अवगाहन करना होगा तथा 'क्षणों के धागे' के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करना होगा।

डॉ० सहल का काव्य उनके प्राचीन काव्यादर्श तथा इनकी नई नजर के निरूपण में परखना होगा। एक पीढ़ी की प्रगति तथा परिवर्तन के प्रति इनका अभिगम तभी स्पष्ट होगा। देश, काल, परिस्थिति तथा प्रवाह के परिप्रेक्ष्य में सहल का कवि सतत चिन्तन, विचार, विवेचन, अनुभूति तथा आगे की नजर में किस प्रकार

ताने वाने बुनता रहा है, यह देखना ही इनका अध्ययन तथा मूल्यांकन करना है। इनके दृष्टिकोण का अनुशीलन व्यापक फलक पर ही हो सकता है। 'विद्वानेव विजानाति विदुषो विशिष्टताम्' 'कविः करोति काव्यानि, रसं जानंति पंडिता:' इन सूत्रों के अनुसार डॉ० सहल कवि, विद्वान, पंडित सब कुछ हैं, अतः इनके व्यक्तित्व को परखने के लिए भी ऐसे ही गुणों का होना जरूरी है।

कवि, विवेचक, आलोचक और चिन्तक सभी जब शामिल होते हैं, तब व्यक्तित्व का विवेचन करना कुछ कठिन बन जाता है, परन्तु डॉ० सहल के व्यक्तित्व के पहलू इतने स्पष्ट हैं कि कोई कठिनाई मालूम नहीं होती है। डॉ० सहल का चिन्तक, समीक्षक, शिक्षक और शिक्षा-शास्त्री, प्रशासक तथा समाज सेवी और सबसे बढ़कर कवि एवं भाषावैज्ञानिक का स्वरूप—इनके निबंधों में देख सकते हैं। उनमें भाषा, शैली, वस्तु-विवेचन, गांभीर्य, व्यंग्य, कटाक्ष, संस्कारिता तथा दूरदर्शिता आदि दिखाई देते हैं। मानववादिता मुखरित करने वाले इनके निबंध हमारी परम्परा तथा संस्कृति आदि तत्त्व के सर्वथा अनुरूप हैं। इनके निबंधों में गवेषणात्मकता खास देखने की बात है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी वाला रूप इनमें मैं देखता हूँ। इनकी दृष्टि, शैली, सभी में गंभीरता, परम्परा, संस्कृति, पांडित्य-लालित्य तथा सरलता, व्यंग्य तथा हास्य का अद्भुत मेल मिलता है। एक मूर्धन्य मनीषी के ही बूते की ये बातें हैं, सामान्य लेखक का काम नहीं।

हिन्दी, हिन्दी-साहित्य तथा लोक-साहित्य के क्षेत्र में डॉ० सहल का जो अनुदान है, वह कोई छोटी चीज नहीं है। कहावतें हों या प्रसाद-साहित्य हो, भाषा की गवेषणा हो या विचार-प्रधान निबंध हों, आलोचना हो या काव्य हो, सभी पर समान काबू (पकड़) के साथ कलम चलाना 'कन्हैयालाल' का ही काम है। भाषा-वैज्ञानिक उपलब्धियाँ, लोक-साहित्य को प्राप्ति-प्रसिद्धि, पत्रकारिता की कला, आलोचना की सिद्धि और समीक्षा की नई पद्धतियाँ और काव्य में परम्परा तथा प्रगति का मेल—यह सब डॉ० सहल के विशिष्ट व्यक्तित्व के सिवाय अन्य में संभव नहीं, ऐसा मेरा नम्र मत है। इन सब क्षेत्रों पर इनका अधिकार मैंने अनुभव किया है, इसीलिए तो मैं इन्हें 'महागुरु' विशेषण से विभूषित करता हूं।

काव्य, निबंध, समीक्षा, भाषा-विज्ञान, लोक-साहित्य के क्षेत्रों के अलावा शिक्षक-गुरु, शिक्षा-शास्त्री तथा मार्ग-दर्शक (Guide) संशोधक, संपादक, प्रशासक, उपासक तथा समाज-सेवी के रूप में डॉ० सहल की सेवाएं चिरस्मरणीय रहेंगी। 'राजस्थानी कहावतें – एक अध्ययन' डॉ० सहल कीवि शिष्ट देन है। मैंने भी इस क्षेत्र में (वागड़ का लोक-साहित्य) कुछ काम किया है, अतः मैं इसका प्रशंसक हूँ। लोक-कथाओं तथा वीर गाथाओं पर इन्होंने लिखकर अन्य शोधकों का मार्ग-दर्शन किया है। इनकी

वैज्ञानिक दृष्टि-पद्धति खास करके अति ही उपयोगी है। कहावतों के ये आचार्य हैं, यह हमें कबूल है। वागड़ी बोली की कहावतें तथा मुहावरों के संग्रह (दो हजार) के बाद में इनके संपादन में किसी पद्धति की खोज में था ही कि उनका यह मार्ग-दर्शक ग्रंथ मुझे मिल गया।

राजस्थानी साहित्य तथा संस्कृति की देन में जिन मनीषियों का योग रहा है, उनमें डॉ० सहल शामिल ही नहीं, मुख्य स्थान के अधिकारियों में से हैं। अभी अनेक क्षेत्रों में पड़ी सामग्री के संग्रह-संपादन तथा प्रकाशन में डॉ० सहल का साथ मिलेगा ही, ऐसी आशा से डॉ० सहल के चिरायु होने की हम मंगल कामना करते हैं।



मानव जीवन के अन्तर्तम को छूने वाले कई एक मार्मिक विषयों को लेकर आपने उन पर अपने ढंग की काव्य-रचना के जो प्रयोग किए हैं वे रोचक एवं विचारोत्पादक हैं। ये विषय अथवा उनके सम्बन्ध में आपका दृष्टिकोण प्रायः नूतन एवं अब तक अछूते ही रहे हैं।

रघुवीर सिंह

परायों के आत्मीय और मेरे पिता

• गायत्री जोशी

इस भरी-पूरी दुनिया में यदि डॉ० सहल की पुत्री कहलवाने का अधिकार किसी को है तो मुझे क्योंकि उनके पुत्र तो अवश्य चार हैं पर पुत्री के नाम पर मैं ही हूं। केवल मैं ही उनकी लड़की हूं, यह सोचना ही मेरे लिए सौभाग्य का सूचक है। उनकी लड़की होने के कारण जीवन में बहुत कुछ सीखने का अवसर मिला। उनके साये में बीता मेरा हर पल मेरी अपनी निधि है और स्वयं की सम्पत्ति है। मेरे चारों भाई उन्हें न 'वावूजी' कहते हैं, न 'वाऊजी', वे कुछ इस तरह बोलते हैं कि 'वाउजी' शब्द की ध्वनि निकलती है पर मैं ही इन्हें 'पिताजी' कहती हूँ और यदि यह कहूँ कि हम पांचों भाई-वहिनों में पिताजी सबसे अधिक मुझे ही चाहते हैं तो कोई गलत बात न होगी।

दो वर्ष पहले मैंने एम० ए० प्रीवियस का फार्म तो भर दिया पर दिसम्बर तक पढ़ाई न होने पर मन में एक अजीव-सा भय समा गया कि शायद मैं प्रथम श्रेणी प्राप्त न कर सकूं, अतः अक्सर एम० ए० में बैठने का विचार मैं स्थगित कर दिया करती थी पर अधिकतर ऐसा होता कि जव भी मेरा विचार वदलता, तभी पिताजी कोई पत्रिका या किताव लाकर मुझे दे देते और कहते कि 'देख लो-शायद तुम्हें कुछ मिल जाये।' उनके हाथ से किताव ले जव मैं अपने कमरे में आती तो माथा शर्म से झुक जाता कि एक तो ये व्यक्ति हैं जो इतना व्यस्त रहते हुए भी किताव दे देते हैं और एक मैं हूँ कि मेहनत से घवराती हूँ। मन में एक अजीव-सी ग्लानि का आविर्भाव हो जाता। मेहनत भी की, प्रथम श्रेणी भी मिली पर यह सब पिताजी का आशीर्वाद है।

पिताजी से हम लोग वहुत खुले हुए हैं। उन्होंने कभी भी इस अधिकार को हम लोगों के समक्ष रखने की चेष्टा नहीं की कि वे एक पिता हैं, अतः उनमें और

हम में दूरी होनी चाहिए। अतः हम लोगों ने कभी भी अपनी समस्या इनके समक्ष रखने में किसी भी तरह के संकोच का अनुभव नहीं किया।

पिताजी हमेशा दूसरी मंजिल पर रहना पसन्द करते हैं। उनका बचपन भी अपने घर के ऊपर के कमरों में ही बीता। आज भी वे अधिकतर ऊपर के कमरों में रहते हैं क्योंकि नीचे घर में औरतों का आना-जाना, बच्चों का शोरगुल, उनके चिन्तनशील जीवन में बाधक ही रहता है। ऊपर रहकर ही वे अपना पठन-लेखन करते रहे हैं। उनकी अच्छी खासी लाइब्रेरी है। अक्सर मैं कहा करती हूँ कि आपकी सब किताबें मैं जँचा दूंगी, आप एक बार मौका तो दीजिए लेकिन वे कहते हैं—नहीं, तुम सब उल्टी-सीधी लगा दोगी। मैं सोचा करती हूँ कि भला मैं इन उल्टी-सीधी रखी हुई किताबों को कैसे और उल्टा कर दूँगी। कई बार मन उनकी उस बात को मानने से इन्कार कर देता है। लेकिन उनसे किसी किताब की जब इच्छा व्यक्त की जाती है तो वे सहज ही पुस्तक को निकाल कर दे देते हैं और तब मैं स्वयं ही अपनी जिज्ञासा का समाधान कर लेती हूँ कि गुप्त साहित्य, कबीर साहित्य, सूर साहित्य आदि ने अपना अलग-अलग स्थान पिताजी की लाइब्रेरी में प्राप्त कर रखा है।

पिताजी के पास कपड़ों की कमी नहीं, कमी है तो उन्हें पहिनने के अवसरों की। यह नहीं कि ये कजूंस हैं, बल्कि सीधे हैं। मुझे याद है अगर इनको सर्दी के दिनों में सूट बदलने की याद न दिलाई जाए तो ये उसी सूट को पूरा सप्ताह पहिनते रहेंगे। मुझे यह जरा भी अच्छा नहीं लगता क्योंकि शिक्षालय में पढ़ते वक्त हम तो यही देखा करते थे कि कौन क्या पहिन कर आया है। अतः मैं कई बार कहती हूँ कि पिताजी, आप रोज-रोज सूट बदला करें। जब आपके पास इतने सूट हैं कि आप रोज एक सूट बदल सकते हैं तो बदलते क्यों नहीं? तो कहते हैं—भई, ठीक है पर मैं तो यह चाहता हूँ कि जब वक्त पड़े तो मेरे पास नया सूट हो। रोज-रोज सूट बदलने का अर्थ होगा समय का अपव्यय। पर कई बार तो बात मान लेते हैं और कई बार स्वयं की ही जिद्द रखते हैं।

पिताजी बहुत ही व्यस्त हैं और उनकी इस व्यस्तता पर सबसे अधिक क्रोध घर भर में यदि किसी को आता है तो वह मां को। छुट्टी का दिन भी मिलने वालों में बीत जाता है, बाकी तो ऑफिस में निकलता ही है। शेष वक्त स्वयं के पठन-लेखन में व्यतीत हो जाता है। बेचारी मां को यदि निष्फिक्र होकर बात करने का मौका मिलता है तो वह सुबह ४.३० से ५.३० या ६ बजे तक क्योंकि हम सब जल्दी ही उठ जाते हैं। पढ़ने वाले पढ़ने लगते हैं। बचे मां पिताजी, सो गृहस्थी की बातें करते हैं। फिर ६ बजे के करीब कोई गीत गुनगुनाते हुए पिताजी ऊपर चले

जाते हैं जहाँ पर उनका अध्ययन शुरू हो जाता है। मुझे लगता है—मां का यह कहना कि पिताजी, हमारे नहीं वाहर वालों के हैं, सही है। यह शिकायत तो मां को उनकी व्यस्तता के कारण हमेशा वनी रहेगी।

यद्यपि पिताजी वहुत व्यस्त हैं, गंभीर हैं पर उनके चेहरे पर कभी झुँझलाहट या चिड़चिड़ेपन की रेखा तक नहीं उभरती। हमेशा उनका चेहरा सौम्य व शांत रहता है। यदि यह कहा जाए कि चेहरे पर एक स्वाभाविक मुस्कान रहती है तो कोई गलत वात न होगी। आज भी जव वे ऑफिस से आते हैं तो जो भी उन्हें सामने दिखता है, उससे मुस्करा कर पूछते हैं 'क्यों, क्या हाल है?' कहने का अर्थ यह है कि ऑफिस में से थके-मांदे आने पर भी कभी उनके माथे पर एक शिकन तक नहीं रहती।

पिताजी से वातें तो वहुत सीखी पर जिन्हें मैंने अपने जीवन में उतारने का भरसक प्रयत्न किया है, वे दो हैं—आत्मनिर्भर वनना और किसी से किसी भी वात की आशा न करना। वे कहा करते हैं 'तुम स्वयं में इतनी शक्ति पैदा करो कि तुम स्वयं ही कुछ उपार्जन कर सको जिससे किसी के समक्ष हाथ न फैलाना पड़े'। यह वात मैंने ही अपने जीवन में नहीं उतारी, मेरे चारों भाइयों का भी यही दृष्टि-कोण वन गया है। आज वे किसी से यह आशा नहीं रखते कि कोई व्यक्ति उनका कुछ कार्य करेगा।

पिताजी वहुत ही सहनशील हैं—इतने कि जिसके लिए शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। वहुत ही कम व्यक्ति इतने सहनशील होते हैं। मेरे होश संभालने के वाद इनके जीवन में इतनी घटनाएं घटी हैं कि यदि साधारण व्यक्ति होता तो ज्वालामुखी की तरह फूट पड़ता। पर ये तो असाधारण प्रवृत्ति वाले हैं ना। अतः ऐसे समय में भी शांत ही वने रहे। इन्होंने वहुत से लोगों के लिए वहुत कुछ किया पर प्रतिदान में इन्हें उतना कुछ क्या, उसका सुई की नोक के वरावर का अंश भी नहीं मिला पर ऐसे व्यक्तियों के प्रति भी उनके मन में कभी भी वुरी भावना नहीं आई। दुश्मन का भी वुरा हो, यह इन्होंने कभी नहीं चाहा। यह मैं महज इसीलिए नहीं लिख रही कि वे मेरे पिताजी हैं वल्कि सचमुच उन्होंने किसी का वुरा नहीं चाहा। ऐसा लगता है मानों पिताजी इन सवसे दूर उसी प्रकार निर्लिप्त रहते हैं जिस प्रकार कमल पानी में रह कर भी पानी से ऊपर रहता है। पिताजी ने कभी भी इन वातों को तूल नहीं दिया पर इसके साथ ही एक अजीव-सी वात होते भी मैंने स्वयं ने देखी है कि जिस भी व्यक्ति ने पिताजी का अपमान करना चाहा है, वह स्वयं दैविक कोप से आक्रान्त हुआ है। नहीं कहा जा सकता कि यह मां दुर्गा की देन है या मेरी मां की पूजा का फल?

रात ९ वजते ही पिताजी विस्तर पर चले जाते हैं और सुवह जल्दी ही उठ जाते हैं। शाम को नियमित रूप से भ्रमण के लिए जाते ही हैं। पिताजी दाँतों

की सफाई पर बहुत ही जोर देते हैं। एक घटना अनायास ही याद आ जाती है कि मेरे भाई डॉ० कृष्णविहारी ने एक चित्रकार से पिताजी की तस्वीर बनवाई। उसमें दाँतों पर चमकीलापन न होकर कुछ कालापन-सा था। पिताजी ने देखते ही कहा कि यह क्या ! इसमें तो मेरे दाँत ही काले कर दिये। हम सब यह सुनकर बहुत हँसे, फिर तो वे स्वयं भी हँस पड़े पर आज भी वह बात जब याद आती है तो होठों पर अनायास ही मुस्कान उभर आती है।

पिताजी सब कुछ सह लेते हैं पर रात की नींद हराम हो, वे सहन नहीं कर सकते। गर्मी में कितनी ही बार उठकर तो मच्छरदानी में फ्लिट छिड़कते हैं। फिर भी एकाध मच्छर पिताजी की मच्छरदानी में से निकलते या घुसते उसमें घुस जाए और उन्हें काट खाए तो कितनी ही देर तक उसी का भ्रम लिए रहते हैं या जब बहुत ही परेशान हो जाते हैं तो मच्छर की गुनगुन में गीतों की लय का आभास पा कह देते हैं कि यह गा रहा है।

तू भी सो जा सो गया चमन चमन

आखिर साहित्यकार ठहरे ना, तो मच्छर की आवाज में भी लय ढूंढ ही लेते हैं।

पिताजी के बारे में और क्या लिखूं ? इतना ही कहना पर्याप्त है कि ऐसे देवता-तुल्य पिता बहुत ही कम लोगों के नसीब में होते हैं।

यदि इनके जीवन के बारे में कुछ कहा जा सकता है तो केवल इतना ही कि ये समुद्र की भांति विशाल व गंभीर हैं। जिस प्रकार एक समुद्र के जल की गहराई में कितने ही जीव-जन्तु आश्रय पाते हैं, पनपते हैं और चल देते हैं, उसी प्रकार पिताजी के ज्ञान से कितने ही व्यक्तियों ने जीवन पाया है, रोजी पाई है, जीवन-क्षेत्र में सफलता के सोपान पर चढ़ना सीखा है। पर जिस तरह समुद्र किसी से बदले की चाह नहीं रखता, आशा नहीं रखता, वह यह ध्यान ही नहीं देता कि कौन-सा जीव आ रहा है या जा रहा है, ठीक वैसे ही पिताजी ने कभी भी यह नहीं सोचा कि जो व्यक्ति उनके आश्रय में पनप रहा है, वह कल उन्हें क्या देगा। बस वे तो अपना कर्म करते हैं, सागर की-सी गरिमा लिए अपने कर्त्तव्यपथ पर निरन्तर चलते जा रहे हैं।

●●

एक प्रेरक और स्वस्थ व्यक्तित्व

• डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल 'तरुण'

पुष्प के पूर्ण विकास के साथ उसका मधु-किञ्जल्क व उन्मादकर सौरभ उसके प्रति भावुक सहृदयों के मन में सहज आकर्षण उत्पन्न करते ही हैं। प्रतिभा-सम्पन्न व सहृदय विद्वान् की नियति भी उससे भिन्न क्यों हो! प्रजातांत्रिक युग में तो प्रत्येक पुष्प की तरह प्रत्येक प्रतिभा अपने विकास के चरम बिन्दु पर अर्चना-स्तवन व अभ्यर्थना की सहज अधिकारिणी हो, यह परम आवश्यक है और स्वाभाविक भी। अभिनंदन किसी विशिष्ट, महामहिम, असाधारण का ही विशेषाधिकार या बपौती नहीं, जीवन की परिणति पर विविध रूपों में यह तो प्रत्येक का सहजाधिकार है। फिर सहृदय विद्वान् की तो बात ही क्या! जीवन की परिप्लुति को चिह्नित करने वाले एक सुभर, प्रकाशगर्भ, रस-सान्द्र, चरम क्षण की अनुभूति का आनन्द-भोग इस मर्त्य-जगत् में मानव की गौरवमय नियति का वाचक ही कहा जायगा। स्नेही, प्रशंसक, मित्र व बन्धु-बान्धव इस चरम आनन्द के क्षण की अनुभूति, अभिनन्दनीय के आजीवन श्रम व निष्ठापूर्ण कृतित्व के पुरस्कार-स्वरूप, कृतज्ञता-स्वरूप या आभार-स्वरूप सुलभ करें, यह सर्वथा उचित है। व्यक्ति के अभिनंदन को विशेषतः प्रजातंत्र के युग में—मैं इसी दृष्टि से देखता हूँ। विकसित पुष्प, पराग की चहल-पहल, रसार्द्र पुष्प-गर्भ और चतुर्दिक भ्रमर-भीर—बस इसी का प्रतिरूप हो सहृदय विद्वान् का अभिनंदन। नेत्र तृप्त हों प्रतिभा की पूजा के क्षण!

मेरे पिलानी के अध्ययन-काल (१९३७-३९ ई०) में आदरणीय प्रो० सूर्य-करणजी पारीक का मुझे बहुमूल्य सम्पर्क-लाभ हुआ था। वे स्मृतियाँ कितनी मधुर हैं! पर शोक, उन्हीं दिनों पारीक जी प्रकाश-लीन हो गये। सहल जी का नाम उन दिनों सुनते रहते थे हम लोग, पर वे पिलानी से बाहर अन्यत्र कहीं अध्ययन या अध्यापन-कार्य कर रहे थे। इण्टर की परीक्षा देकर पिलानी छोड़ने के बाद सुना कि सहल जी की नियुक्ति बिड़ला कॉलिज में हो गई है। बहुत प्रसन्नता हुई। साथ ही

उनसे मिलने की इच्छा भी प्रबल हुई। 'साहित्य-सन्देश' (आगरा) में उनके कई लेख भी मैं पढ़ता आ रहा था, ऐसा कुछ याद पड़ता है—'साहित्य-सन्देश' सन् '३७ से निकलने लगा था, जब मैंने इन्दौर से मैट्रिक की परीक्षा दी थी। हाँ तो सन् '४४ में मुझे पिलानी जाने का एक सुखद संयोग मिल ही गया और तब मैं आदरणीय सहल जी से मिलने गया। कॉलेज के स्टाफ़ रूम में उनसे भेंट हुई—उस समय वे क्लास लेने जा रहे थे। सुपुष्ट देह, प्रसन्न-प्रवाही सहज व्यवहार, उन्मुक्त भाव—व्यक्तित्व खुलासा-सा लगा। सफेद सूट पहने थे शायद, बन्द गले वाला कोट था, मन हुआ फिर से मिलने का। हाँ, याद आया—मैं एम. ए. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से कर चुका था और संयोगवश मेरे सन्दूक में उस समय एम. ए. की परीक्षा में, आठवें पत्र के विकल्प में प्रस्तुत 'हिन्दी कविता में प्रकृति-चित्रण' नामक लघु प्रबन्ध (Dissertation) की पाण्डुलिपि और मेरी तब तक की प्रायः सभी कविताओं का हस्तलिखित संग्रह आदि चीजें मेरे साथ ही थीं। तब तक मैं पारीक जी के स्थान पर आये सहलजी के प्रति भी अपना समानान्तर सम्मान सुस्थापित-सा कर चुका था, (मैं उस कॉलेज का भूतपूर्व छात्र ही तो ठहरा !), अतः उनके पास विद्यार्थी-भाव से ही उनके घर पहुँचा। मकान के ऊपर से वे नीचे अपने स्वाध्याय-कक्ष में आये। बातचीत हुई। मैंने उक्त, दोनों चीजें उनके अवलोकनार्थ सम्मुख प्रस्तुत कीं। मुझे उसी दिन शाम को लौटना था। सामग्री उनके पास ही छोड़ जाने में मुझे कुछ संकोच-सा हुआ पर उन्होंने स्वयं ही कहा—मैं शाम को पढ़कर लौटा दूँगा। मुझे आश्चर्य हुआ—लगभग १०० पृष्ठों का प्रबन्ध और इतनी कविताएँ, कैसे देख—पढ़ लेंगे वे शाम तक ! और शाम को मैं फिर घर पहुँचा। कहा—मैं आपका पूरा प्रबन्ध पढ़ गया हूँ। बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की और प्रेरणाप्रद शब्द कहे। कविताओं को पढ़ कर तो उन्होंने एक पृष्ठ की अपनी सम्मति भी मेरी नोट बुक में लिख दी। आज भी पूरे २५ वर्ष पुरानी, मेरे जीवन की ऐतिहासिक नोट बुक मेरे पास सुरक्षित है। कितने सहज-प्रवाही, स्वच्छ व लहरों में बहते मोतियों से हस्तलेख में बड़े उदार भाव से उन्होंने लिखा—

"श्री तरुणजी के इस संग्रह को मैं रसपूर्वक देख गया। कुछ कविताएँ स्वयं उनके मुख से सुनने का सौभाग्य भी मुझे मिला। आप बड़े सहृदय और भावुक कवि हैं और आपके व्यक्तित्व की छाप आपके काव्य में भी परिलक्षित होती है। कल्पना और अनुभूति का सुन्दर सामंजस्य आपकी अधिकांश कविताओं में है। कुछ कविताएँ भावना-प्रधान होने के कारण अत्यन्त मार्मिक बन पड़ी हैं। प्रकृति-वर्णन— सम्बन्धी कविताओं में आपने संश्लिष्ट चित्रण द्वारा जो बिम्ब-ग्रहण कराया है, वह वास्तव में प्रशंसनीय है। छायावादी युग में आत्माभिव्यंजन के अतिरेक के कारण इस प्रकार का प्रकृति-वर्णन उपेक्षणीय ही बना रहा। आपकी इस प्रकार की कविताएँ जहाँ

एक अभाव को पूरा करती हैं, वहाँ उनसे आपके प्रकृति-पर्यवेक्षण का भी परिचय मिलता है क्योंकि बिना सम्यक् पर्यवेक्षण के इस प्रकार के चित्र उपस्थित नहीं किये जा सकते। मैं इस उदीयमान कवि के संग्रह को पुस्तकाकार में देखने के लिए उत्सुक हूँ। मुझे आशा है कि आपकी कृतियों से हमारे साहित्य की श्रीवृद्धि होगी।

कन्हैयालाल सहल
२८-८-४४ प्रो० बिड़ला कॉलेज पिलानी

फिर तो सम्बन्ध-सूत्र गुँथते ही चले गए। मुझे उन्होंने कृपापूर्वक अपनी कई रचनाएँ छपते ही भेजी—'समीक्षाञ्जलि', 'आलोचना के पथ पर', 'प्रयोग' आदि। मेरे अल्प-विनम्र प्रयास भी जब-जब प्रकाशित होते, उनके पास पहुँचते, स्वेच्छा से वे उन्मुक्त भाव से उन पर अपना प्रेरक अभिमत भी भेजने की यदा-कदा कृपा करते। बिड़ला कॉलेज की पत्रिका के लिए उन्होंने मुझसे एक लेख भी मँगवाया था। 'पिलानी के वे दिन' नामक मेरा लेख उन्होंने छापा भी।

संभवतः सन् ५० या ५१ में एक बार बीकानेर में अनायास ही फिर उनसे भेंट हो गई। जहाँ मैं ठहरा था (जेल के कुएँ के पास), उस स्थान के पास ही उनका आवास था। तब तक मेरी 'प्रथम किरण' (सन् १९४९ में प्रकाशित) छप चुकी थी। उस पर उन्होंने अपना स्नेह बिखराया और मुझे याद है कि विस्तार से उन्होंने एक लेख-रूप में अपने विचार भी व्यक्त किये थे।

संभवतः तीन वर्ष पूर्व (५-६ नवम्बर, १९६७) आचार्य डॉ० नगेन्द्र जी, डॉ० स्नातक जी तथा मैं—तीनों पिलानी एक विशेष आयोजन पर पहुँचे थे। डॉ० सहल जी का उन्मुक्त भाव तब और भी देखने को मिला। भोजन की मेज पर हम सब की न जानें किन-किन विषयों पर बातें चलीं। स्वास्थ्य की चर्चा केन्द्र पर आ गई। सहल जी ने अपने सुस्वास्थ्य के कई गुर बताये। प्रभात-भ्रमण और फल खाने की बात का उन्होंने विशेष उल्लेख किया। उन्होंने अपने दाँतों की मजबूती का विशेष इजहार किया। आँतों की बात तो फिर समझ ही लीजिए। डॉक्टर नगेन्द्र जी विशेष प्रभावित हुए जान पड़े। रसशास्त्र के आचार्य ने मुक्तकंठ से कहा—भई, जिसका पेट साफ है, सारा सुख और आनन्द उसी के पास है। (ठीक शब्द तो याद नहीं, पर हाँ यह कथन मूल आशय के निटकतम है) स्नातक जी और मैं, पेट और स्वास्थ्य की बातें ध्यान से सुनने के सिवाय और करते ही क्या! खैर, मेरा तो यह क्षेत्र ही नहीं, स्नातक जी की वे जानें या उनका राम जाने!

हाँ तो इन १॥ दिनों के पिलानी-निवास में हम सहल जी के और निकट हुए। उनके यहाँ के रस गुल्ले मुझे अभी भी याद हैं—और क्या-क्या खाया, यह तो भूल चला।

हाँ, एक बात और कह दूँ। डॉ० सहल जी के अनुज श्री नागरमल जी सहल (जो १९३९ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय बी० ए० में फाइनल की परीक्षा दे रहे थे, मैं प्रीवियस में था) के सान्निध्य के माध्यम से मैं डॉ० सहल जी की सहजता, विद्वत्ता व सहृदयता के प्रति अपना आकर्षण विशेष पुष्ट करता रहा था। 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य वैभव' के विद्वान् लेखक के अनुज श्री नागरमल जी सन् '४४ में एक दिन प्रातः मुझे श्री रायकृष्णदास जी के यहाँ कविवर गुप्तजी से साक्षात्कार के लिए ले गये थे, यह सब कुछ अभी भी कितना साफ याद है। ज्येष्ठ भ्राता के अन्तः संस्कार ही उस दिन प्रातः अनुज (नागरमल जी) में पलुहा उठे थे, जीवन्त हो उठे थे, ऐसा जान पड़ा। लगे हाथों मुझे भी सौभाग्य-लाभ हो गया। उस दिन कविवर गुप्तजी को, २-३ मिनट उनके साथ रह चुकने पर भी, गुप्तजी के रूप में कैसे हमने नहीं चीन्हा, यह चर्चा तो एक स्वतंत्र ही चीज है। कितने सादे थे वे।

डॉ० सहल जी एक गंभीर अध्येता, निष्ठावान् अध्यापक, प्रौढ़ समीक्षक, अनेक भाषाओं के विद्वान्, राजस्थानी भाषा और साहित्य के मर्मज्ञ पण्डित व शोधक भावुक कवि, कुशल प्रशासक व हृदयवान् व्यक्ति हैं। अपनी छोटी सीमाओं में, कुछ बिन्दुओं से, भाग-दौड़ के जीवन के क्षणों के बीच व लघु-विश्रृंखल सम्पर्कों के बीच वे मुझे इतने और इसी रूप में दिखाई पड़े हैं और मैं उनका इतना ही गवाक्ष-दर्शन कर सका हूँ। उन्होंने पिछले चालीस वर्षों से भाषा और साहित्य की गहरी सेवा की है। मैं उनके अभिनंदन के समय अपनी भावभरी प्रणति अर्पित करके हार्दिक आनन्द का अनुभव करता हूँ। वे स्वस्थ-सुखी रहें और साहित्य व समाज की अधिकाधिक सेवा करके हमें प्रेरणा प्रदान करते रहें, यही इस क्षण मेरी मधुरतम कामना है।



प्रकाश-पुंज

• डॉ० नारायणसिंह भाटी

स्वातंत्र्योत्तर काल में राजस्थान की नवीन साहित्य-चेतना को शक्ति प्रदान करने वालों में सहलजी का विशिष्ट स्थान है। न केवल आलोचना, शोध-कार्य व पत्रकारिता के क्षेत्र में ही अपितु मौलिक साहित्यसर्जना में भी उनकी अपनी देन है। इन क्षेत्रों में अपने ठोस और स्थायी महत्त्व के कार्य द्वारा उन्होंने जो राजस्थानी और हिन्दी साहित्य की सेवा की है, वह सर्वविदित है। उनकी सर्वाधिक देन मैं राजस्थानी के शोध-क्षेत्र में मानता हूँ। उन्होंने इस क्षेत्र में तीन माध्यमों से निरन्तर सेवा की है— स्वयं द्वारा किया गया शोध-कार्य, 'मरुभारती' के माध्यम से शोध-कार्य तथा शोध-विद्यार्थियों के निर्देशक के रूप में किया गया कार्य। मेरी यह निश्चित धारणा है कि इन तीनों माध्यमों से निरन्तर जैसा कार्य सहल जी ने किया, वैसा कार्य करने का श्रेय राजस्थान के किसी अन्य विद्वान् को मिलना कठिन है। 'मरुभारती' राजस्थान की ही नहीं, पूरे हिन्दी जगत् की लब्धप्रतिष्ठित शोध-पत्रिका है। इसके माध्यम से सैकड़ों लेखकों को अपने विचार व्यक्त करने का अवसर मिला है और उसके अंकों का शोध के क्षेत्र में स्थायी महत्त्व है। इस पत्रिका का सम्पादन व प्रकाशन करते रहने में सहलजी की लगन व निष्ठा जितनी ही श्लाघनीय है, उतनी ही आज की पीढ़ी के शोध-कर्त्ताओं के लिए प्रेरणादायक भी। इस प्रकार की पत्रिकाओं के सम्पादन आदि में कितनी साधना और श्रम की आवश्यकता होती है, यह इस क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्ति ही जान सकते हैं, साधारणतया इसका अनुमान लगाना ही कठिन है। स्वतंत्र ग्रंथ-लेखन अथवा किसी ग्रंथ के सम्पादन से यह कार्य कितना ही कठिन और कष्टसाध्य है क्योंकि साहित्यिक ज्ञान और श्रम के अतिरिक्त इस कार्य में व्यावहारिक ज्ञान, विस्तृत सम्पर्क, और प्रबन्ध-पटुता की जितनी अपेक्षा रहती है, उतनी शायद अन्य किसी भी साहित्यिक कार्य में नहीं रहती और फिर राजस्थान जैसे पिछड़े प्रान्त में जहाँ लेखकों और

पाठकों, दोनों की ही कमी रही है, ऐसा कार्य सफलतापूर्वक कर लेना तो और भी बड़ी बात है। 'मरु-भारती' वैसे बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट के राजस्थानी शोध-विभाग की मुख पत्रिका है परन्तु इसके प्रकाशन-सम्पादन के लिए सभी प्रकार से सहलजी को ही प्रयत्नशील रहना पड़ा है, यह भी शायद बहुत कम लोगों को मालूम है। आज से ८-१० वर्ष पहले की बात मुझे याद है। सहलजी इस पत्रिका के अस्तित्व की समस्या को लेकर बड़े चिन्तित हो गए थे। इसकी ग्राहक संख्या इतनी कम हो गई थी कि पत्रिका को चलाना कठिन हो गया। तब उन्होंने अपने व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा मित्रों का सहयोग प्राप्त कर ग्राहक संख्या बढ़ाई और उस स्थिति में से पत्रिका को निकाला। इस कार्य में कुछ हाथ बंटाने का अवसर उन्होंने कृपापूर्वक मुझे भी दिया, तब मुझे पता लगा कि सहलजी अपने निजी प्रयत्नों के द्वारा किस प्रकार इस साहित्यिक अनुष्ठान में कृतसंकल्प हैं।

पिलानी ने आजकल विश्वविद्यालय का रूप ले लिया है परन्तु पहले से ही वह एक बड़ा शिक्षण-केन्द्र रहा है। बिड़ला बन्धुओं के प्रभाव से अनेकानेक बड़े व्यक्ति वहाँ आते रहे हैं तथा अनेक प्रकार की सांस्कृतिक गतिविधियां भी वहाँ चलती रहती हैं। सहलजी का उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। परन्तु 'मरुभारती' को उन्होंने इन सब गतिविधियों से अलग रखकर, इसके विशुद्ध साहित्यिक स्वरूप की रक्षा की है। यह बात वैसे बड़ी साधारण लगती है, परन्तु है बड़ी कठिन क्योंकि इसमें एक ओर निजी प्रचार के मोह को सर्वथा त्यागना पड़ता है और दूसरी ओर प्रबन्धकों के अनावश्यक हस्तक्षेप से (उन्हें बिना नाराज किए) बचाना पड़ता है।

इस पत्रिका के सम्पादन-कार्य के सिलसिले में उन्होंने राजस्थान की अन्य साहित्यिक पत्रिकाओं से भी निरन्तर जीवन्त सम्पर्क रखा है तथा समय-समय पर उन्हें भी लेख आदि भेजकर व सत्परामर्श देकर मूल्यवान सहयोग दिया है।

सहलजी राजस्थानी और हिन्दी के ही नहीं, संस्कृत और प्राचीन भारतीय संस्कृति के भी गंभीर विद्वान हैं। यह तथ्य उनके कुछ निबंधों से स्वतः प्रमाणित है और तीनों ही विषयों के शोध-विद्यार्थी उनके निर्देशन में कार्य कर चुके हैं। परन्तु इस क्षेत्र में भी उनकी सर्वाधिक देन राजस्थानी साहित्य को है। मुझे भी उनके निर्देशन में 'डिंगल-गीत साहित्य' पर शोध-प्रबन्ध लिखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अतः इस कार्य के दौरान उनके निकट सान्निध्य का भी सुअवसर मिला। आजकल विश्वविद्यालयीय शोध-कार्य एक फैशन का रूप धारण करता जा रहा है और जो हल्की-फुल्की चीजें, शोध-प्रबंधों के नाम पर प्रचारित हो रही है, इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति की बहुत-सी जिम्मेदारी विश्वविद्यालयों के निर्देशकों पर है क्योंकि वे अपने कर्त्तव्य का निर्वाह अपेक्षित जिम्मेदारी और आस्था के साथ नहीं करते। परन्तु डॉ० सहलजी में मैंने एक आदर्श निर्देशक के सभी गुण पाये। वे अपने अधीन शोध-कार्य

करने वाले शोध-विद्यार्थी की पात्रता का पूरा ख्याल रखकर ही उसे अपने निर्देशन में कार्य करने की स्वीकृति देते हैं तथा उसका इस कार्य में पथ-प्रदर्शन ही नहीं करते, उसे पूरी तरह प्रोत्साहित भी करते हैं। शोध-विद्यार्थी को आज के विकट युग में अनेक परिस्थितियों में होकर निकलना पड़ता है। इस बात को महसूस करते हुए वे उसे हर परिस्थिति में संभालने और निबाहने को तत्पर रहते हैं। यह कार्य प्रत्येक के वश का नहीं, केवल सहृदयी व्यवहार-कुशल, एवम् उदार व्यक्ति को ही यह श्रेय प्राप्त हो सकता है। शोध-विद्यार्थी से कार्य करवाने का उनका ढंग भी बड़ा निराला है। वे कभी भी विद्यार्थी को इस हीन भावना से ग्रस्त नहीं होने देते कि वह अमुक बात नहीं जानता। अपनी ओर से बहुत कुछ देते हुए भी वे शोध-विद्यार्थी का पथ इस प्रकार प्रशस्त करते हैं कि वह स्वयं प्रयत्नशील होकर समस्याका हल ढूंढ निकालने में सफलता प्राप्त कर लेता है। वास्तव में एक आदर्श गाइड की यही तो विशेषता होनी चाहिए। शोध-कार्य के सम्बन्ध में उनका यह पक्का सिद्धान्त है कि शोध-विद्यार्थी को अपनी ओर से पूरा श्रम करके अच्छे से अच्छा कार्य करना चाहिए। इसमें वे किसी का लिहाज भी नहीं करते और अपने विद्यार्थी का शोध-प्रवन्ध स्वीकृत न हो, इसे अपमानजनक समझते हैं। वे प्रायः कहा करते हैं कि जब तक शोध-विद्यार्थी स्वयं जानता है कि मेरे कार्य में कुछ कमियां हैं, उसे यह आग्रह नहीं करना चाहिए कि उसका प्रवन्ध विश्वविद्यालय को फॉरवर्ड कर दिया जाय और न निर्देशक को पूर्ण संतोष हुए विना ऐसा करना ही चाहिए।

मैंने उनमें जैसा आत्म, विश्वास पाया-वैसा बहुत कम विद्वानों में मिलेगा। यदि शोध-कार्य संतोषजनक रूप से कर दिया गया है तो वे बड़े विश्वास के साथ अपने विद्यार्थी से कहेंगे—"चाहे कोई परीक्षक हो, उसे यह प्रवंध पास करना पड़ेगा। यदि नहीं करेगा तो किस कारण से? विचार-भेद हो सकता है परन्तु हमने भी तो सभी बातें सप्रमाण कही हैं, फिर कोई चिन्ता नहीं। कोई परीक्षक हठधर्मी नहीं कर सकता और करेगा तो मैं भी आपत्तियों के निराकरण के लिए सर्वथा तैयार हूँ।"

परन्तु यह विचारने की बात है कि यह विश्वास अर्जित करना कितना कठिन है, यह सहलजी जैसे विद्वान ही कर सकते हैं,—जिनके पास लगभग १० हजार पुस्तकों का निजी पुस्तकालय है। अपने घर में उनका वह एक अलग घर है जहाँ कोई दूसरा व्यक्ति प्रवेश नहीं पा सकता और जो अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गँवाते; पढ़ना और लिखना जिनके जीवन के अनिवार्य अंग हो गये हैं, जो साहित्य-जगत की नवीनतम गतिविधियों से पूर्ण तया परिचित रहने के लिए सैंकड़ों रुपयों की पुस्तकें मंगवाकर अपने पुस्तकालय की वृद्धि करने में संतोष का अनुभव करते हैं तथा सरस्तवती की सेवा ही जिनके जीवन का सहज लक्ष्य बन गया है।

□□□

बहुमुखी प्रतिभा के धनी

• यशपाल जैन

बन्धुवर कन्हैयालाल सहल के प्रति मेरे हृदय में बड़ा मान और सम्मान रहा है; इसलिए नहीं कि उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सेवा की है, इसलिए भी नहीं कि उन्होंने साहित्य की अभिवृद्धि में योग दिया है, इसलिए भी नहीं कि वे विद्वान हैं, बल्कि इसलिए कि इन सब गुणों के होते हुए भी उन्हें अभिमान छू तक नहीं गया है और उनमें ऐसी सरलता और सुजनता है, जो आज के युग में दुर्लभ है।

सहलजी बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति हैं। यद्यपि उनका क्षेत्र मुख्यतः शिक्षा रहा है, तथापि मूलतः वे साहित्यकार हैं, उन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं को समृद्ध किया है।

आरम्भ से ही वे विद्याव्यसनी रहे हैं: जयपुर से स्नातक होने के उपरान्त वे कानोडिया मिडिल स्कूल, मुकुन्दगढ़ (राज०) के प्रधानाध्यापक बने। पर अध्यापन के साथ-साथ उनका अध्ययन कार्य भी चलता रहा। वहीं रह कर उन्होंने हिन्दी तथा संस्कृत में एम. ए. की परीक्षाएँ पास कीं। अनन्तर वे पिलानी के बिड़ला कॉलेज में हिन्दी तथा संस्कृत विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। वहीं आर्ट्‌स कॉलेज की स्थापना होने पर उसके उप-प्राचार्य पद का कार्य-भार सम्हाला। दो वर्ष तक इसी कॉलेज के प्राचार्य पद पर भी उन्होंने स्थानापन्न रूप से कार्य किया। अब वे 'बिड़ला शिक्षा न्यास' के सचिव हैं। राजस्थानी कहावतों पर उनका महत्त्वपूर्ण शोधकार्य है।

शिक्षा के क्षेत्र में, अध्यापन के अतिरिक्त, वे राजस्थान विश्वविद्यालय में 'फैकल्टी ऑफ आर्ट्‌स', 'सीनेट' तथा 'एकेडेमिक कौंसिल' के सदस्य तथा 'बोर्ड ऑफ स्टडीज' के संयोजक रहे हैं। राजस्थान साहित्य अकादमी के साथ उनका निकट का

सम्बन्ध रहा है और राजस्थान सरकार ने पाठ्य पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण के लिए जो कमेटी बनाई थी, उसका उन्हें संयोजक नियुक्त किया था। हिन्दी के एक समालोचक का यह कथन बड़ा यथार्थ है, "सहलजी बहुअधीत पंडित हैं। संस्कृत-साहित्य, काव्य-शास्त्र, हिन्दी साहित्य-शास्त्र और अंग्रेजी साहित्य का उन्होंने सम्यक् अध्ययन किया है और अन्य भाषाओं के साहित्य से भी इनका परिचय है।"

सहलजी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने ज्ञान को आत्मसात् किया है। यही कारण है कि वे पांडित्य के भार से दबे नहीं हैं और विद्वत्ता उनके लिए सहज रही है।

सहलजी से मेरा परोक्ष परिचय बहुत पहले से रहा है, लेकिन साक्षात्कार हुआ सन् १९६० में, जब मैं अपने पुत्र सुधीर का इन्जीनियरिंग कॉलेज में प्रवेश कराने पिलानी गया। सहलजी इतनी आत्मीयता से मिले, मानों हम वर्षों के साथी हों। वे भोजन पर हमें अपने घर ले गये और राजस्थान के लोक-साहित्य के विषय में उन्होंने विस्तार से चर्चा की। बातचीत में मैंने पाया कि वे जो बोलते हैं, साधिकार बोलते हैं; लेकिन अपने मत के प्रति इतने आग्रही नहीं रहते कि दूसरे की सुनी-अनसुनी कर दें। वे दूसरे की बात को उतना ही मान देते हैं, जितना अपनी बात को। अच्छा श्रोता बनने के लिए बड़े धीरज की आवश्यकता होती है। मैं कह सकता हूं कि यह धीरज सहलजी के स्वभाव का अभिन्न अंग है।

जिसमें धीरज होता है, वह प्रायः आवेश अथवा उत्तेजना से बचा रहता है। सहलजी को मैंने निमिषभर के लिए भी, किसी प्रसंग पर, उत्तेजित नहीं पाया। सम्भवतः उनकी सफलता का रहस्य इस बात में है कि वे धीर हैं, गम्भीर हैं और प्रामाणिक हैं। इसी से वे अपने छात्रों के बीच ही नहीं, सार्वजनिक-क्षेत्र में भी बहुत लोकप्रिय हैं।

साहित्य को सहलजी ने खूब दिया है—आलोचक और सृजनात्मक साहित्यकार के रूप में। समीक्षक के लिए आवश्यक है कि उसकी दृष्टि वैज्ञानिक हो और वादों से परे हो। वे दोनों ही गुण सहलजी की आलोचनाओं में स्पष्ट दिखाई देते हैं। उनकी 'समीक्षायण', 'आलोचना के पथ पर', 'समीक्षांजलि' 'वाद-समीक्षा' 'विवेचन', 'विमर्श और व्युत्पत्ति', 'अनुसंधान और आलोचना' आदि पुस्तकें इस कथन को पुष्ट करती हैं। उनके मस्तिष्क की उर्वरता तथा हृदय की संवेदनशीलता उनके आलोचनात्मक साहित्य को विशिष्टता प्रदान करती है। उनके विवेचनात्मक निबंधों में उनके मौलिक-चिंतन, विश्लेषणात्मक-बुद्धि तथा भाषा-सौष्ठव के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

सृजनात्मक-साहित्य के क्षेत्र में सहलजी कवि रूप में हमारे सामने आते हैं। नैतिक-मूल्यों में उनकी अटूट आस्था है। जब वे समाज को भौतिकता की उपासना में अनैतिक-मार्ग का अनुसरण करते देखते हैं, तो उनकी आत्मा गहरी व्यथा अनुभव करती है और तब उनका कवि मुखर हो उठता है, सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करता है। उनकी कल्पना नये बिम्ब प्रस्तुत करती है और बताती है कि नीति का मार्ग ही मानव के लिए स्पृहणीय है। उनकी कविताओं के तीन संग्रह-प्रकाशित हो चुके हैं। 'प्रयोग' संग्रह को हिन्दी के एक प्रतिष्ठित आलोचक ने प्रयोगवादी कविताओं की 'सर्वश्रेष्ठ कृति' कहा है।

राजस्थानी साहित्य की शोध के लिए सहलजी ने जो कार्य किया है, वह वास्तव में प्रशंसनीय है। बिड़ला शिक्षा न्यास के शोध–विभाग के संचालक के नाते उन्होंने न केवल अनेक दुर्लभ ग्रन्थों की खोज की है, अपितु विस्मृति के गर्त में पड़ी बहुत-सी मूल्यवान सामग्री को भी वे प्रकाश में लाए हैं। 'राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान', 'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद'. 'राजस्थानी कहावतें', 'चौबोली' 'वीर सतसई' आदि का प्रकाशन उसी दिशा का प्रयास है। 'मरु भारती' कार्यालय मे तीन खण्डों में प्रकाशित 'निहालदे सुलतान' की कथा को मैं आद्योपांत पढ़ चुका हूँ। उसको प्रकाश में लाकर, सहलजी ने राजस्थान के लोक-जीवन और लोक-साहित्य की जो सेवा की है, वह अपने ढंग की निराली है। लोक-साहित्य के मर्मज्ञ स्व० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इस रचना की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

सम्पादक के रूप में सहलजी की प्रतिभा की साक्षी त्रैमासिक शोध-पत्रिका 'मरु भारती' देती है। उसमें राजस्थान के पुरातन साहित्य, पुरातत्व, इतिहास, लोक-वार्ता आदि के विषय में शोधपूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं। उन्हें देखने से पता चलता हैं कि सहलजी की दृष्टि कितनी पैनी है और कितने परिश्रम और कितनी सूझ-बूझ से वे पत्रिका के अनुरूप सामग्री का संकलन करते हैं।

सहलजी के विचार बड़े सुलझे हुए हैं। उनके जीवन में कहीं भी जटिलता दिखाई नहीं देती और न उनके साहित्य में शब्दाडंबर दीख पड़ता है। उन्हें जो कहना होता है, साफ़-सुथरे शब्दों में कह देते हैं। वे उलझी भाषा से दूसरे को भ्रम में डालने का प्रयत्न नहीं करते। उनकी बोलचाल की भाषा जितनी सरल है, उतनी ही उनकी लेखन-शैली प्राञ्जल है।

सहलजी की बाह्याकृति को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो वे बहुत ही सामान्य व्यक्ति हैं। उनके चेहरे से सरलता टपकती है तथा उनकी पोशाक में किसी प्रकार की तड़क-भड़क नहीं है। लेकिन जब हम उनके सम्पर्क में आते हैं, तो मालूम

होता है, उनमें कितनी गहराई है। उन्होंने जिस क्षेत्र में भी प्रवेश किया है; चाहे वह शिक्षा का हो, साहित्य का हो, आलोचना का या अनुसंधान का; उसी पर अपने मधुर व्यक्तित्व, गंभीर विद्वत्ता, अनोखी सूझ-बूझ तथा अथक परिश्रमशीलता की छाप डाली है। उनकी खूबी यह है कि दूसरे की कठिनाई को समझने का पूरा प्रयत्न करते हैं, जो दूसरे की कठिनाई के प्रति उदार रहता है, वह कभी कठोर नहीं हो सकता। किसी महापुरुष ने ठीक ही कहा है कि किसी की वास्तविक स्थिति को जानकर हम उसके प्रति क्षमाशील ही हो सकते हैं।

सहलजी में गुण हैं, तो उनकी कुछ मर्यादाएं भी हैं। वे अल्प संतोषी हैं। आज देखने में यह आता है कि व्यक्ति थोड़ी-सी पूंजी के आधार पर कहीं से कहीं पहुँच जाता है, लेकिन सहलजी के पास बड़ी से बड़ी पूंजी होने पर भी वे जो हैं, उसमें इतने संतुष्ट हैं कि व्यापक क्षेत्र की उपलब्धियों, कीर्ति तथा लोकप्रियता से आकृष्ट नहीं होते। यह अच्छा भी है कि व्यक्ति छोटे क्षेत्र में रह कर सघन कार्य करे, लेकिन यह भी ठीक है कि सीमित स्थान की सीमाएं होती हैं और समुद्र में तैरने का आनन्द छोटे से तालाब में तैरकर अनुभव नहीं किया जा सकता।

हर्ष की बात है कि आज सहलजी ऐसे स्थान पर हैं जहाँ शिक्षा के क्षेत्र में वे बहुत कुछ कर सकते हैं। बिड़ला शिक्षा न्यास ने शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए जो किया है, वह सर्व-विदित है। नई-पीढ़ी के बीच चरित्र-निर्माण की दिशा में उसका चिन्तन और प्रयास सराहनीय है, पर आज जब देश मूल्यों के भारी संकट से गुजर रहा है, शिक्षा-संस्थानों की जिम्मेदारी बहुत बढ़ जाती है। कारण, कि नई-पीढ़ी पर देश का भविष्य निर्भर करता है। अपने साधनों तथा प्रभाव से सहलजी अपनी संस्थाओं के माध्यम से आज के किंकर्त्तव्यविमूढ़ शिक्षा-शास्त्रियों के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करें, ऐसी कामना है।

साहित्य के भण्डार की अभिवृद्धि के लिए तो सहलजी को अभी बहुत कुछ करना है। राजस्थान में जाने कितना लोक-साहित्य भूगर्भ में छिपा पड़ा है, जिसके कालांतर में लुप्त हो जाने की आशंका है। उस बहुमूल्य साहित्य को प्रकाश में लाना है, उसका वैज्ञानिक अध्ययन करना है और उसके प्रति लोक-रुचि जाग्रत करनी है। जानता हूँ, सहलजी यह सब करेंगे।

□□

मानवता के धनी तथा मूक साधना के स्वरूप

• मुरलीधर शर्मा

चालीस वर्ष पहले की बात है। जुलाई १६३० में जब मैंने महाराजा कॉलेज जयपुर में बी० ए० के प्रथम वर्ष में प्रवेश लिया तो श्री कन्हैयालाल सहल से मेरा प्रथम परिचय एक सहपाठी के रूप में हुआ। वे विशुद्ध खद्दरधारी, प्रशान्त-गम्भीर मुद्रायुक्त, सरल, विनीत, परिश्रमी, अध्यवसायी, अध्ययनशील तथा 'सादा जीवन उच्च विचार' के प्रतीक थे। खेजड़े का रास्ता, जयपुर में सुप्रसिद्ध कर्मठ नेता श्री हीरालाल शास्त्री के मकान में रहने वाले कॉलेज छात्रों में वे सबके स्नेह-सम्मान-भाजन थे। ब्राह्म-मुहूर्त में उठकर पढ़ने वाले और स्नान करने वाले छात्रों में वे अग्रगण्य थे तथा हाथ से अपना काम करने में वे गौरव का अनुभव करते थे। सद्-व्यवहार, कर्त्तव्यपरायणता, स्वाध्याय, हितकारिता, संगठन-शक्ति, गांधी विचारानु-शीलन आदि सद्गुणों के कारण सहलजी शास्त्री जी के बड़े स्नेह-पात्र थे। उस समय श्री शास्त्रीजी राजकीय नौकरी छोड़ तत्कालीन जयपुर राज्य के निवाई स्टेशन के समीपवर्ती गांव बनथली में (जिसको उन्होंने ही बाद में संस्कृत नाम वनस्थली दिया) जीवन कुटीर की स्थापना कर ग्रामोत्थान के काम में अद्वितीय श्रद्धा और निष्ठा के साथ संलग्न हो गये थे और अपने उक्त जयपुरीय मकान को स्वदेशी विचारों वाले छात्रों के लिए छात्रावास के रूप में दे दिया था। श्री सहलजी उस समय के छात्रों के प्रधान थे तथा अपने उज्ज्वल कार्य-कलापों और आदर्श आदतों के द्वारा सबको प्रेरणा देते थे। उस पारिवारिक और आत्मीयतापूर्ण जीवन को याद कर आज भी प्रसन्नता होती है।

सहलजी और मैं दो वर्ष तक (जुलाई, ३० से अप्रैल, ३२ तक) बी० ए० के निकटतम सहपाठी रहे हैं। हम दोनों के विषय समान ही थे—अंग्रेजी साहित्य, संस्कृत और अर्थ-शास्त्र। हम कॉलेज की वार्षिक तथा अर्द्ध वार्षिक परीक्षाओं में प्रायः

समान स्तर पर ही रहते थे यहाँ तक कि आगरा विश्वविद्यालय की बी. ए. परीक्षा, १९३२ में तो हम दोनों के बिल्कुल बराबर अंक थे। पर कॉलेज के अधिकारियों ने सहलजी को प्रथम पुरस्कार दिया और मुझे द्वितीय। स्नातकोत्तर कक्षाओं के अध्ययनार्थ हम दोनों के लिए ही राजकीय छात्रवृत्ति देने की घोषणा हुई थी पर दोनों ही अपनी-अपनी परिस्थितियों के कारण उसका लाभ न उठा सके।

कॉलेज में सहलजी का अध्ययन बड़ा विस्तृत और साथ ही साथ गम्भीर था। विषय-सम्बन्धी सभी प्राप्य पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ने की उनमें असाधारण आदत थी। सभी पाठ्य-पुस्तकों का अध्ययन कर वे कई बार उनकी पुनरावृत्ति भी कर लेते थे। शेक्सपियर का 'हैमलेट' नाटक उन्हें प्रायः कण्ठस्थ था और इसी तरह संस्कृत साहित्य की पुस्तकों पर उनका पूर्ण अधिकार था। अपने अधीत विषय को व्यक्त करने की उनकी शैली इतनी प्रांजल तथा भाषा इतनी सरल व सरस होती थी कि उनके उत्तर से परीक्षक सदा ही असाधारण रूप से प्रभावित होते थे।

सहलजी के जीवन की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने छात्र-जीवन में अर्जित गुणों को आज तक निरन्तर रूप से अपने अधिकार में रखा है तथा उन्हें बढ़ाया है। प्रतिकूल परिस्थितियाँ उन्हें विचलित नहीं कर सकी हैं। एम. ए. (हिन्दी तथा संस्कृत) परीक्षा उन्होंने प्राइवेट रूप से की, पर प्रथम श्रेणी में। इस वाणी-पुत्र की सरस्वती-आराधना अविच्छिन्न रूप से कड़ी साधना के रूप में चालू रही है। इसी के फलस्वरूप उन्होंने शोधकार्य किया, अनेक ग्रंथ लिखे तथा हिन्दी-जगत में यश अर्जित किया। प्रातःकाल जल्दी उठकर, दैनिक क्रियाकलापों से निवृत्त होकर तथा चाय-नाश्ता लेकर वे अध्ययन-कक्ष में पहुँच जाते हैं तथा प्रतिदिन की स्वाध्याय एवं लेखन-साधना में लग जाते हैं। लोगों से बातें करने का लोभ त्यागकर इस साधना में ही अबाध रूप से लगे रहने के कारण ही वे विशाल-साहित्य का प्रणयन कर सके हैं। उन्होंने यश-प्राप्ति के लिए कभी राग-द्वेष और दुर्नीति का सहारा नहीं लिया। केवल शुद्ध साधना के बल पर ही उन्होंने वह सिद्धि प्राप्त की है जो हमारे समक्ष है। आत्मश्लाघा एवं परनिन्दा से वे बहुत दूर हैं। साधना का अनुपम माहात्म्य ही है कि सहलजी कभी सिद्धि के पास नहीं गये, सिद्धि ही उनके पास आई है। चाहे हिन्दी-संस्कृत विभाग के अध्यक्ष का पद हो, चाहे वर्तमान प्रशासनिक पद—उन्होंने इनके लिए किसी के साथ संघर्ष नहीं किया, किसी प्रकार की सिफारिश की सहायता नहीं ली। अधिकारियों ने स्वयं ही उनका चयन या वरण किया है। उन्होंने इन पदों के लिए कभी दौड़-धूप नहीं की। उनके जीवन का सबसे बड़ा आकर्षण ही यही है कि उन्होंने शान्त और अनुशासनपूर्ण जीवन की मूक-साधना के द्वारा मुखर सिद्धि की गरिमा घर बैठे प्राप्त की। क्या यह जीवन प्रेरणाप्रद नहीं है? निश्चय ही यह जीवन आज के दिग्भ्रमित-मानव को एक आस्थापूर्ण दिशा दिखा सकता है।

छात्र-जीवन के साथी एवं अभिन्न मित्र के अतिरिक्त सहलजी मेरे संबंधी भी हैं। उनके अनुज श्री मक्खनलाल सहल (अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग, डूंगर कॉलेज, बीकानेर) मेरे बहनोई हैं। डॉ० सहल के दूसरे पुत्र डॉ० कृष्णबिहारी सहल मे दामाद हैं। लेकिन इन निकट के सम्बन्धों में भी मेरे उनके बीच हमारी व्यक्तिगत मित्रता का नाता ही प्रबल रहा है। सम्बन्धी होने के नाते मुझे सहलजी को एक भिन्न दृष्टिकोण से देखने का अवसर भी मिला है। एक विकट अवसर पर तो मैं यह देखकर अवाक् रह गया कि इस व्यक्ति में विद्वत्ता की अपेक्षा मानवता और भी अधिक गहरी है। विपरीत परिस्थितियों में भी उन्होंने अपने स्वभाव की मधुरता को नहीं छोड़ा। वे इतने शान्त, गम्भीर तथा कर्त्तव्यनिष्ठ हैं कि उन्होंने अपने स्वभाव में क्रोध या अक्षमा को कभी जन्मने ही नहीं दिया। उनके शान्त और गम्भीर स्वभाव की तह में विनोदप्रियता भी कम नहीं है। यह वस्तुतः एक महान् व्यक्ति के लक्षण हैं—वे वास्तव में आत्मनिर्मित महामानव हैं। धन एवं विद्या दोनों में ही उन्होंने 'कण-कण' द्वारा 'मन' संचित किया है। विद्या के अतिरिक्त वे अब स्थावर-जंगम सम्पत्ति की दृष्टि से भी धनी-मानी सज्जनों में प्रतिष्ठित हैं, पर इसके प्रति उनके मन में लोभ नहीं है।

मेरी बेटी सौ० सन्तोष सदा ही मुक्तकण्ठ से अपने पूज्य श्वसुर के विषय में कहती रहती है कि 'वे क्षमा और स्नेह की मूर्ति हैं। इतनी शान्ति के साथ घर में आते हैं या घर से बाहर चले जाते हैं कि पता तक नहीं चलता। कभी उनके मुख से घर के किसी सदस्य के प्रति कोई कटु शब्द नहीं निकलता। व्यवहार की कटुता तो उनके स्वभाव से परे की वस्तु है। बेटी और बहू दोनों पर उनका समान स्नेह है।'

ईश्वर उन्हें चिरायु करे ताकि वे अपनी गुण-गरिमा तथा आदर्श व्यवहार से वर्तमान और भावी पीढ़ी को प्रेरणा देते रहें। 'मानवता के धनी तथा मूक साधना के स्वरूप' डॉ० कन्हैयालाल सहल के विषय में जो कुछ लिखा जाए-थोड़ा रहेगा।

मेरे आदि गुरु और संरक्षक

• घनश्याम शर्मा

बचपन का जीवन-कितना मृदुल ! कितना मधुर !! चिन्ताओं से मुक्त, उल्लास और आह्लाद से पूर्ण ! किन्तु मेरा दुर्भाग्य कि ऐसे जीवन-काल में ही मुझे माता के स्नेह और उसकी ममता से वंचित होना पड़ा, 'चूल्हे और चक्की' का काम सम्हालना पड़ा। गाय और ऊँटों को चराते-चराते जैसे-तैसे गांव की प्राथमिक पाठशाला में पढ़ने का अवसर मिल गया। गांव में मुकुन्दगढ़ के सेठ कानोडियाजी का चौथी कक्षा तक का स्कूल था। कुछ तो गांव की स्थिति, कुछ मेरी आर्थिक व घरेलू परिस्थितियाँ--मैं चौथी कक्षा से आगे पढ़ने की कल्पना भी न कर सकता था। सम्भवतः मैं आगे पढ़ भी न पाता यदि प्रातःस्मरणीय परम आदरणीय गुरु डॉ० कन्हैयालाल सहल की प्रेरणा से जीवन में एक नया मोड़ न आता।

मैं चौथी कक्षा में था। उन दिनों वे मुकुन्दगढ़ में मिडिल स्कूल के प्रधानाध्यापक थे। वे उन्हीं सेठों की स्कूल के प्रधानाध्यापक थे जिनका स्कूल हमारे गांव में था। इस नाते वे शायद १९३८ में हमारे स्कूल का निरीक्षण करने के लिए हमारे गाँव पधारे। उस समय गाँव के सभी प्रतिष्ठित व्यक्ति स्कूल में उपस्थित थे। निरीक्षण प्रारम्भ हुआ। चौथी कक्षा में हम नौ विद्यार्थी थे। राजस्थान का नक्शा सामने टंगा था। निरीक्षक महोदय (डॉ. कन्हैयालाल सहल) ने पूछा, 'जैसलमेर कहाँ है ?' प्रश्न सीधा था। कक्षा में एक छात्र मुझसे होशियार था, पर उत्तर देते समय वह घबरा गया। मैं कुछ निर्भीक तथा नटखट था। मैंने प्रश्न के उत्तर में जैसलमेर कस्बे की स्थिति बताने के साथ ही जैसलमेर रियासत तथा उसकी सीमाओं के बारे में बताना प्रारम्भ कर दिया। निरीक्षक प्रसन्न हुए, उन्होंने मेरी पीठ थपथपायी, यही स्पर्श मेरी जिन्दगी का मोड़ बनेगा, किसी को भी पता न था। पता था केवल उस पारखी निरीक्षक के हृदय को।

उन्होंने एकत्रित जन-समूह से पूछा "यह लड़का किनका है ?" पिताजी वहीं थे। वे कुछ आगे बढ़ आए। गुरुदेव ने कहा "यह लड़का होशियार है। पण्डितजी, इसे आगे पढ़ने मुकुन्दगढ़ भेजना।" पिताजी के हृदय की उस वक्त की खुशी को वही आंक सकता है जिसे पिता का हृदय मिला हो। उनके कुछ भी कहने से पूर्व एक अन्य व्यक्ति ने कहा, "इसकी आर्थिक और घरेलू परिस्थिति ठीक नहीं है। घरवालों को रोटी बनाकर यही देता है। लम्बी-चौड़ी खेती है। आदि ·······आदि।" पिताजी ने भी हां में हां मिलायी। पर आदर्श गुरु जैसे कुछ और ही ठान बैठे थे। अतः उनके बार-बार कहने पर जब पिताजी राजी न हुए तो उन्होंने मुझसे कहा, "बच्चे, स्कूल खुलते ही तुम मुकुन्दगढ़ आ जाना। वहाँ मुझसे मिलना। तुम्हें कोई दिक्कत नहीं होगी।" ग्रीष्मावकाश आया पर उस गुरु के प्रेरणा-शब्द बराबर गूंजते रहे। पिताजी स्वयं इस उधेड़-बुन में थे कि मुझे पढ़ने भेजें या नहीं।

एक जुलाई को प्रातः चार बजे उठ कर दो अन्य साथियों के साथ मैं मुकुन्दगढ़ की ओर चल पड़ा। गुरु के स्वर बराबर प्रेरणा दे रहे थे। मुकुन्दगढ़ पहुँचा। छात्रावास में भारी भीड़ थी। मैंने यज्ञोपवीत उन्हीं दिनों लिया था। अतः जैसे-तैसे प्याऊ की तलाश कर पानी पिया। काफी बड़ा स्कूल था। गुरुदेव अन्दर दफ्तर में बैठे थे। कुछ देर मैंने बाहर प्रतीक्षा की; फिर हिम्मत कर अन्दर गया। गुरुदेव मुझे पहचान नहीं पाए। फिर मैंने अपनी टूटी-फूटी भाषा में निरीक्षण के समय का किस्सा उन्हें सुनाया। वे एकदम प्रसन्न हो गये। उन्होंने अपने एक सहयोगी को बुलाकर कहा "इसे मैंने बुलाया है।" तथा साथ ही उन्होंने डेढ़ रुपया छात्रवृत्ति तथा कुछ पुस्तकें देने की बात कह छात्रावास में रहने का आदेश दे दिया।

स्थानाभाव के कारण छात्रावास में एक छात्र को कोई डेढ़ फुट जगह मिलती थी। मैंने उसी जगह में अपने आपको अभ्यस्त किया। मेरे साथ आए दोनों साथी तो दस-पन्द्रह दिन बाद ही पढ़ाई छोड़ कर गांव चले गये थे। रह गया था मैं अकेला-छोटा-सा बालक। कई बार मुझे अन्य छात्रों की मार का शिकार भी होना पड़ा। निर्धारित जगह में थोड़ा-सा हेर-फेर होने पर ही झगड़ा होने की सम्भावना बनी रहती थी।

एक दिन फिर मेरे लिए खुशी का दिन आया। गुरुदेव छात्रावास का निरीक्षण कर रहे थे। मैं पहले से ही बाहर के दरवाजे पर आकर बैठ गया और सिसकियां भरने लगा। गुरुदेव जब जाने लगे तो उनकी दृष्टि मुझ पर पड़ी। उन्होंने पास आकर मुझे पुचकारा, बड़े प्यार से मेरे रोने का कारण पूछा। पर मेरी सिसकियां बढ़ती ही गयीं और मैं कुछ कह ही न सका। शायद उन्होंने मेरी 'नेकु कही बैनन, अनेक कही नैनन सों, रही सही सोऊ कहि दीन हिचकीन सों'

समझ ली और वार्डन महोदय को मेरी सहायता करने का आदेश देकर चले गये । वार्डन साहब ने पूछा "क्यों सुसरा, रो क्यों रहा है ?" मैंने रहने के कमरे में जगह की कठिनाई उन्हें बताई । वे बोले "कल तुम और हमारा लल्लू दफ्तर वाले कमरे में रहने लग जाओ । दो चारपाई हैं, लालटेन है और मेज कुर्सियां भी । दोनों एक कक्षा में हो । मिलकर खूब पढ़ना ।" मैं जानता था, यह सब कुछ गुरु की कृपा का फल था । मैं मौन भाव से उनके प्रति नतमस्तक था ।

एक वर्ष बाद—ठीक एक वर्ष बाद । छात्रावास-अधीक्षक बदले । इसलिए रातों रात मुझे उसी दरवाजे में, जहाँ बैठकर मैं रोया था, सामान सहित रहने के लिए जाना पड़ा क्योंकि वार्डन साहब को दफ्तर वाले कमरे में ही रहना था । दरवाजे पर पर्दे लगे तथा मैं एक और साथी के साथ वहाँ रहने लगा ।

कुछ दिनों बाद गुरु फिर निरीक्षण के लिए आए । उनके आगमन की सूचना पर कुछ तरकीब सोचने लगा । अपने आटे के पीपे को ताक से उतारा । उसमें कुछ पानी छिड़का । ज्योंही गुरुदेव उधर से निकलने लगे, मैं गीले आटे को फैंकने लगा । वे निकट आए । उन्होंने आटा फैंकने का कारण पूछा । मैंने कहा कि कुत्ता आटे में मुंह डाल गया है, अतः गन्दे आटे को फेंक रहा हूँ । वे रुके, वे वार्डन साहब से कुछ पूछने लगे । फिर मुझसे बोले "बच्चे, यहाँ जगह कम है । तुम मेरे घर पर रहने लग जाओ । वहां बैठक में ८वीं कक्षा के छात्र रहते हैं, तुम उसकी दुछत्ती पर रहना । आवश्यकता पड़ने पर मुझसे पूछ भी लिया करना ।" यह गुरु की अहेतुकी कृपा । क्या ऐसी ही कृपा से गुरु और गोविन्द एक श्रेणी में नहीं आ जाते ? पर ऐसे तो विरले ही होते हैं ।

इस समय तक मेरी छात्रवृत्ति बढ़ते-बढ़ते तीन रुपये तक हो गयी थी । कुछ पुस्तकें भी मिलने लग गयीं थीं । हर तरह से गुरु मुझ पर प्रसन्न थे । उनके घर रह कर मैं बड़ी लगन से पढ़ने लगा । एक बार स्कूल का वार्षिकोत्सव था । सुश्री रामेश्वरी नेहरू व अन्य गण्यमान्य नेता आने वाले थे । सांस्कृतिक समारोह में एक मारवाड़ी प्रहसन के अभिनय की योजना थी । मुझे गुरुदेव ने बुलाया और कहा "तुम्हारी आवाज ठीक है । मारवाड़ी भी ठीक बोल लेते हो, अतः तुम इस नाटक में पार्ट ले लो ।" मैं नादानीवश उस पारखी की परख दृष्टि को न समझ सका । अतः मैंने इन्कार किया । पर अपने अध्यापक बनने से अब तक लगभग १९ नाटकों का निर्देशन व मार्ग-दर्शन कर चुका हूँ । जब भी किसी नाटक को हाथ में लेता हूँ तो मुझे अनायास उस गुरु की याद आती है जिसने नाटक में भाग लेने की बात कही थी । काश ! मैं उस दिन भी नाटक में अभिनय कर लेता ।

फिर गुरुदेव पिलानी में प्रोफेसर होकर चले गये। मुकुन्दगढ़ में डॉ० कन्हैयालाल सहल के अनुज श्री फूलचन्द सहल आ चुके थे। मैं उनकी कृपा का भी पात्र बना। फिर फतेहपुर में डॉ नागरमल सहल का संरक्षण प्राप्त हुआ। पर यह सब तो आदि गुरु की कृपा का फल था। मैं सोचता हूं, आज जो कुछ हूँ, उसी आदि गुरु की कृपा से हूँ अन्यथा, कौन जाने, आज किसी खेत में हल जोत कर किसान बना हुआ जीवन-यापन कर रहा होता। मैं डॉ० कन्हैयालाल सहल को अपने इस जीवन का आदि गुरु कहता हूँ।



Shri Kanhaiya Lal Sahal has been my student in the High School classes. I was incharge of Mathematics and in this subject I found him the best student. He rather proved the best of all students who appeared at the High School Examination before and after him. He was specially intelligent in Mathematics and took a keen interest in the Subject.

—Godey Lal Maharwal

पंडित कन्हैयालालजी

• भागीरथ कानोडिया

श्री कन्हैयालालजी सहल से मेरा परिचय करीब ३५ वर्षों का है। उन दिनों वे २५ वर्ष के नवयुवक थे और मुकुन्दगढ़-स्थित शारदा सदन में अध्यापन-कार्य करते थे। लोक-कथाओं और कहावतों की ओर उनकी रुचि उस वक्त भी थी। शेखावाटी में प्रचलित कुछ कहानियाँ और कुछ मुहावरे तथा कहावतें मुझे भी याद हैं; अतः जब-जब मैं अपने गाँव जाता, वे मुझसे आग्रहपूर्वक कुछ न कुछ सुनते रहते थे। जो कुछ सुनते थे, उसमें काफी रस लेते थे।

डाक्टरेट की उपाधि भी उन्होंने राजस्थानी कहावतों पर ही प्राप्त की है। हिन्दी और राजस्थानी के अलावा पं० कन्हैयालालजी का संस्कृत भाषा का ज्ञान भी काफी अच्छा है। वे 'मरुभारती' के हर अंक में एक स्वरचित श्लोक देते हैं। जिस तरह अनुकूल वायु और पर्याप्त खाद और जल पाकर छोटा-सा पौधा बड़ा वटवृक्ष बन जाता है और अपनी शीतल छाया से पथिकों को तथा पके हुए फलों से पक्षियों को तृप्त करता है, वही बात पं० कन्हैयालालजी के साथ घटित हुई। पिलानी में उन्हें सब तरह की अनुकूलता मिली, विद्वानों का सत्संग, समृद्ध पुस्तकालय और साहित्यिक वातावरण मिला। आज पं० कन्हैयालालजी हिन्दी और राजस्थानी के मर्मज्ञ विद्वान के रूप में जाने-पहचाने जाते हैं। स्वभाव से सरल, निश्छल और निरभिमानी हैं। मितभाषी हैं। उनके ज्ञान और उनकी विद्वत्ता का पता उनकी पुस्तकों से ही लगता है। मां सरस्वती की सेवा में वे अथक प्रयत्नशील हैं। राजस्थानी के जो भक्त हैं, उन्हें पं० कन्हैयालाल सहल द्वारा काफी मसाला मिलता रहता है। ईश्वर करे, उनकी यह प्रतिभा अधिकाधिक विकसित होती रहे तथा जनता-जनार्दन इससे लाभान्वित होती रहे।

***

ज्ञानी और ज्ञानदानी

• कल्याणमल लोढा

डॉ० सहल से मेरा परिचय आज से लगभग २० वर्ष पूर्व हुआ था, उसके पहले मैं उनके कर्तृत्व से तो परिचित था ही। उनकी कृतियों ने मेरे मन में सहज जिज्ञासा उत्पन्न करदी थी कि हिन्दी के बहुप्रतिभासम्पन्न इस लेखक–प्राध्यापक का व्यक्तित्व कैसा है। उनके कर्तृत्व से प्रभावित होकर ही मैंने उनके व्यक्तित्व को जानना चाहा। दिल्ली विश्वविद्यालय के परीक्षा-कार्य के सम्बन्ध में मेरी उनसे पहली मुलाकात हुई थी, उनके सरल, निःस्पृह और अनौपचारिक व्यक्तित्व ने यह प्रमाणित कर दिया कि जितने श्रेष्ठ वे कृतिकार हैं, उतना ही महान् उनका व्यक्तित्व भी। भारतीय आचार्यों ने किसी भी व्यक्तित्व की परख के लिए पांच गुण बताये हैं: वाणी, वपु, विद्या, वेष और वैभव। आन्तरिक वैभवसम्पन्न वाणी के वरद पुत्र डॉ० सहल वेष से सरल, वपु से कान्त और महान् विद्वान् हैं। आधुनिक साहित्य से लेकर प्राचीन साहित्य तक उनका रचना-क्षेत्र रहा है और दोनों पर उनका विशेष अधिकार है। शिष्ट साहित्य के साथ-साथ लोक-साहित्य पर भी उन्होंने मौलिक कार्य और गवेषणाएँ प्रस्तुत की हैं। राजस्थानी कहावतों पर किये गये उनके कार्य पथ-प्रदर्शक भी हैं और पाथेय भी। राजस्थानी भाषा और साहित्य के बहुमूल्य ग्रंथों की उन्होंने जो विवेचनाएँ प्रस्तुत की हैं, वे हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन के नये क्षेत्र खोलती हैं। एक ओर उन्होंने 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य वैभव' स्पष्ट किया है तो दूसरी ओर सूर्यमल्ल के 'वंश भास्कर' और 'वीर सतसई' की ओजस्विता प्रतिपादित की है। आधुनिक युग में राजस्थान के जिन साहित्कारों ने हिन्दी भाषा और साहित्य को सबल और सम्पुष्ट बनाने का भगीरथ प्रयत्न किया है, उनमें डॉ० सहल का नाम सिरमौर है।

व्यक्तित्व और कर्तृत्व के साथ अध्यापक की दृष्टि से भी डॉ० सहल अत्यंत लोकप्रिय रहे हैं। राजस्थान से आए हुए कई विद्यार्थियों ने मुझे बताया कि उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण की पुष्ट पीठिका डॉ० सहल ने ही निर्मित की है। आन्द्रे जिद ने अपनी आत्म कथा 'काल नो मैन हैपी' में अपने प्रिय अध्यापक की संस्तुति में यह बताया है कि सफल अध्यापक वही है जो विद्यार्थियों के 'समग्र व्यक्तित्व का सम्यक् विकास' कर सके। डॉ० सहल के अनेक शिष्य इस कथन के प्रमाण हैं। साहित्य के अध्यापक का दायित्व तो और अधिक बढ़ जाता है। व्यक्तित्व के साथ-साथ वह मानवीय उच्चता, संवेदना और ऊर्जस्विता का प्रतिष्ठापक है। डॉ० सहल साहित्य के अध्यापक होने के नाते इस दायित्व को सदैव निभाते रहे हैं। कालिदास ने 'मालविकाग्नि मित्र' में शिक्षक के दो आवश्यक गुण माने हैं।

> श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
> यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।
> लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
> यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिज वदन्ति।

उसकी क्षमता और सिद्धि इन्हीं दो बातों में निहित है—वह कितना जानता है और जो जानता है उसे किस-प्रकार देने की योग्यता रखता है। डॉ० सहल ज्ञान और ज्ञानदान दोनों ही दृष्टियों से पूर्ण सफल अध्यापक रहे हैं।

श्रेष्ठ व्यक्तित्व, प्रतिभा-सम्पन्न महान् विद्वान् और अत्यंत लोकप्रिय अध्यापक के संगम हैं डॉ० सहल। उनका वास्तविक अभिनन्दन तो उन असंख्य विद्यार्थियों और साहित्य-प्रेमियों के द्वारा अनवरत भाव से अहर्निशि होता है और होता रहेगा। ऐसे वर्चस्वी, तेजस्वी और ऊर्जस्वी व्यक्ति-विद्वान्-अध्यापक की वन्दना के अनेक स्वरों में मेरा यह एक स्वर भी सम्मिलित है।

***

शब्दयोगी

• डॉ० ओमानन्द रू० सारस्वत

परम आदरणीय गुरुवर डॉ० कन्हैयालाल जी सहल ने संभवतः मेरे समस्त जीवन को सर्वाधिक प्रभावित किया है। इनके विषय में एक भी शब्द लिखने बैठता हूँ, तो मेरे विचार-क्षण अनेकानेक संदर्भों के काल-क्षितिजों से अनायास जुड़ जाते हैं। बहुत छोटी उम्र से लेकर आज बहुत बड़ी उम्र तक डाक्टर साहब को मैं देखता रहा हूँ, और उन सारे दृश्यों को किसी एक अंक में बांधकर अत्युत्तम नाटक सर्जित कर सकने की कालिदासीय क्षमता भी मुझमें नहीं है। अतः 'शब्द' के बहाने 'योगी' के चरणों में 'श्रद्धा' ही अर्पित करके गुरु-ऋण से मुक्त होने की कामना रही है।

सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धिनी।
तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते ॥[1]

शब्द को ब्रह्म कहा जाता है। शब्द की साधना कर लेने वाला सब कुछ साध सकता है। सच्चे साहित्यकार के लिए 'शब्दयोगी' से उत्तम अन्य दूसरा शब्द ढूँढ़ना कठिन है।

गुजरात विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० अम्बाशंकर नागर ने सुप्रसिद्ध गांधीवादी विचारक एवं गुजराज-विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति स्वर्गीय श्री मगन भाई देसाई के लिए 'संनिष्ठ बुद्धियोगी' शब्द का प्रयोग किया है,[2] उसी प्रकार मैं सोच-विचार की जाग्रतावस्था में डॉ० कन्हैयालाल जी सहल के प्रति 'शब्दयोगी' शब्द का उपयोग कर रहा हूँ। साहित्य, वस्तुतः, 'योग' की भांति एक व्यसन है। जो व्यक्ति इस योग में पड़ जाता है, वह मौन तपस्वी की भांति इसी में लीन रहता है। फिर उसे तिरस्कार और आलोचनाओं की कड़ुवाहट नहीं सताती।

---

१. वाक्यपदीय, १.१२५, (भर्तृहरि)।

२. गुजरात के सन्तों की हिन्दी-वाणी (समर्पण-पृष्ठ)।

शब्द और अर्थ की समन्वयात्मक सृष्टि को ही साहित्य कहते हैं। "शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या"।[१] "मनुष्य का मन पूर्व-स्मृतियों, विचार-धाराओं, भावनाओं तथा अनेक सदसत् प्रवृत्तियों का पूंजीभूत समूह है। शब्दों का स्पर्श प्राप्त होते ही मनुष्य का व्यक्तित्व अभिव्यक्त हुए बिना नहीं रहता।"[२] मूल-अभिप्रायों, लोककथाओं, कहावतों, राजस्थानी, अंग्रेजी, संस्कृत व हिन्दी साहित्य के विविध पक्षों आदि पर विचार करने वाले शब्दयोगी डॉ० सहल के जीवन में लाखों शब्द इधर से उधर गुजरे होंगे, और उनके सम्पर्क से इनका व्यक्तित्व जिस प्रतिमा में निर्मित हुआ होगा, इसकी कल्पना 'शब्दयोगी' शब्द सहज ही दे देता है।

डाक्टर 'सा'ब से जब-जब मिलने का सौभाग्य-प्रसंग प्राप्त हुआ, मुझे यही लगता तब-तब, कि मैं एक ऐसे जीवन-मुक्त योगी से मिल रहा हूँ जो शब्दों के ज्ञान-भण्डार से अमर है, अमृतमय है।[3] हर निःसृत शब्द 'क्रिस्टल क्लियर', और ध्वनि-पूर्ण व साभिप्राय होता है। बाइबिल में भी कहा गया है कि 'आरम्भ में शब्द था और शब्द परमात्मा के साथ था और यह शब्द परमात्मा था।' इसी शब्द रूपी ब्रह्म को, या शब्द की आत्मा को समझने की परिपाटी प्राचीन-काल से आधुनिक युग तक रही है। यास्क ने वेदों के शब्दों को समझने का प्रयत्न किया। पाणिनि और पतंजलि भी शब्द के ही साधक थे। इसी परम्परा में डॉ० सहल भी शब्दयोगी के रूप में आते हैं। प्राचीनकाल में आर्यों ने 'मेधा' (बुद्धि) को जीवन में उच्च स्थान दिया है। गायत्री-मंत्र में भी बुद्धि को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।' 'शब्द' भी बुद्धि का ही प्रतीक है। बुद्धि के सजीव रूप का दर्शन डॉ० सा० के हर मिलन में किसी को भी हो सकता है।

भाषा के कबीरी डिक्टेटर डॉ० सहल में मैंने निराला का महाप्राण और प्रसाद की गंभीरता का समन्वित त्रिवेणी रूप पाया है। बौद्धिकता के साथ अन्तस की अटूट श्रद्धा, सैद्धान्तिक शुष्कता के साथ हृदय की अन्तराल तरलता, पारिवारिक ममता के साथ मनीषी की-सी विरक्ति, विवेक के साथ विनय, तथा कथनी और करनी के सामजस्य से निर्मित इनका व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक है।

विराट मस्तक, ललाट के नीचे अन्तश्चेतनामयी आँखें, उन्नत वृषभ-स्कंध, सुडौल व सुष्ठु शरीर, श्यामल रंग, अध्ययनशील वृत्ति, सिर पर छोटे-छोटे बाल, हिंसाप्रतिहिंसा से दूर। दूर से ही ग्रीक दार्शनिक मुद्रा में दिखनेवाले डाक्टर साहब को जब कोई निकट से निहारता है तो एकदम सुलझे हुए व्यक्तित्व का परिचय पाता

---

१. काव्य-मीमांसा (राजशेखर)।

२. समीक्षाञ्जलि (डॉ० कन्हैयालाल सहल) सन् १९५५, पृष्ठ ३६।

३. Learning entitles to immortality.

है। आपका वाह्यजीवन सीधा-सादा और भोला-भाला है, और मन निर्मल एवं पवित्र है। अपने सादेपन के कारण ही हिन्दी-जगत् में आपका कोई 'मठ' नहीं बन पाया और मठाधीशों ने भी इनकी विद्वत्ता की योग्य कदर वहुत वाद में जाकर की। झूठी चापलूसियों और निम्नस्तरीय चालवाजियों से दूर रहने वाला ही सच्चा शब्द-योगी सिद्ध होता है।

इस साहित्यिक सन्त के व्यक्तित्व में एक चुम्बकत्व है। इस चुम्बकत्व का अनुभव निकट जाने वाले ही अनुभव कर पाते हैं। विशाल वट-वृक्ष की हरी पत्तियां, लम्वी जटाएँ और मोटी डालियों को देखकर मानव का मन जिस संतुष्टि को प्राप्त कर पाता है, वही संतोष मुझे डॉ० सहल के दर्शनों पर होता है। इससे अधिक तोष मुझे तव-तव होता है, जव-जव मैं इस वट-वृक्ष की गहरी जड़ों को देखने की उत्कण्ठा को पूर्ण कर पाता हूँ। वड़ी गहरी और उदात्त जड़ें हैं। डाक्टर साहव ने हमेशा यही चेतना प्रमुख रखी है कि महत्त्व इसका नहीं कि हम कितने अधिक जीवित रहते हैं, अपितु महत्त्व इस वात का है कि हम कैसे जीवित रहते हैं। सत्य और कर्त्तव्य का ऐसा समन्वय विरल व्यक्तियों के भाग्य में ही लिपिवद्ध होता है।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने विश्वगुरु कालिदास को सम्बोधित करके एक कविता लिखी है। इस कविता में यही प्रतिपादित किया गया है कि कालिदास के जीवन में भी ईर्ष्या, द्वेष, संघर्ष, छल आदि आये होंगे, किन्तु उन्होंने वे सव विष स्वयं पान कर जगत् को सद्-भाव ही प्रदान किये हैं। मैं समझता हूँ, शब्दयोगी डाक्टर साहव ने इस कविता को अपने जीवन में वहुत कुछ अंश तक आचरित किया है। श्री मान्टेस्क्यू के शब्दों में 'अव्यसन व्यक्तियों को जीवन में आने वाले विषाद और क्लान्ति के क्षणों को आनन्द और प्रसन्नता के क्षणों में परिणत करने में सक्षम वनाता है।' यही सक्षमता डॉ० सहल के पास अर्जित सम्पत्ति है।

स्वानुभव के लिए वुद्धि और हृदय के विवेकपूर्ण ऐक्य में आपका जवरदस्त विश्वास है। यही कारण है कि आपमें ज्ञान और प्रेम का समन्वय प्राप्त होता है। आपके अक्षरों की लिखावट जितनी सुन्दर है, आपके समझाने का ढंग भी उतना ही सुन्दर है। मैंने कभी भी आपके मुख से किसी की कटु आलोचना नहीं सुनी। पिछले दिनों किसी एक सभा में डॉक्टर साहेव की अध्यक्षता में मैंने 'कृष्णजन्माष्टमी' के शुभ अवसर पर भाषण देते हुए असली और नकली कृष्ण का अस्पष्ट संकेत किया था। यद्यपि उस वाल-सभा में मुझे स्वयं अपनी भूल वाद में अनुभव हुई थी, पर मैं उसे वेईमानी से पचा गया था। लगभग २–२½ माह के वाद एक दिन वातों के प्रसंग में डाक्टर साहेव ने मुझे वह पुरानी वात याद कराकर 'कान्तासम्मितउपदेश' दिया। मुझे लगा, यह व्यक्तित्व कितना उपयोगी है समाज के लिए। दूसरी कोई

विद्वान इतने ऊँचे पद पर होता तो दूसरे ही दिन बुलाकर कह देता। परन्तु डॉ० साहेब ने बड़ी स्पष्टता से कृष्ण के बिम्ब की रक्षा करते हुए लोक-मर्यादा के आदर्श स्वरूप को प्रस्तुत करने की मीठी सलाह दी।

वर्षों पहले मैंने आपसे हिन्दी की सुप्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' पढ़ी थी, और बड़े ही तन्मय भाव से कहानी की आत्मा को आत्मसात किया था। इसके बाद अपने डेढ़-दशक के प्राध्यापकीय जीवन में जब-जब यह कहानी मैंने अपने बी० ए० और एम० ए० के छात्र-छात्राओं को पढ़ाई तो सदैव घर आकर एकान्त होते ही मुझे यही अनुभव हुआ कि मैं डॉ० सहलजी जैसी समझ अपने विद्यार्थियों को देने में असमर्थ रहा हूँ।

आपके सुलझाव की प्रक्रिया समुचित सम्प्रेषण पर आधारित रहती है। प्रोफेसर तथा पी० एच-डी० निर्देशक के रूप में मैंने आपसे पढ़ा है, और मैं दावे से कह सकता हूँ कि आई० ए० रिचर्ड्स ने सम्प्रेषण के जिन तीन प्रचलित गलत अर्थों का उल्लेख किया है, उनसे हटकर रिचर्ड्स की संकुल-प्रक्रिया के अनुसार डाक्टर साहब की सम्प्रेषणीयता सफल है। जगत में मानव का मन अलग-अलग है, और अनुभूतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। "जब एक मन अपने परिवेश के प्रति इस प्रकार से प्रतिक्रिया व्यक्त करता है कि दूसरा मन उससे प्रभावित हो जाता है और उस दूसरे मन में ऐसी अनुभूति उत्पन्न होती है जो प्रथम मन की अनुभूति के समान और अंशतः उसके कारण उत्पन्न होती हैं।"[1] सम्प्रेषणीयता का यह गुण डॉ० सहल के भाषण में कहीं भी देखा जा सकता है। आपकी बातचीत या भाषण या कक्षा-लेक्चर में हृदय की प्रासादिकता, शब्दार्थ-लालित्य और भाव-गांभीर्य सहज ही प्रदर्शित हो जाते हैं। संस्कृत और अंग्रेजी के उच्चतर अध्ययन के कारण प्रायः आपके शब्द बड़े ही सम्यक् रूपेण प्रयुक्त होते हैं।

भाषा-विज्ञान की कक्षाओं को जब भी मैं स्मरण करता हूँ तो मुझे कामायनी का-सा आस्वाद पाने की अनुभूति होती है। शुष्क विषय को भी रसमय करके अपने छात्रों की नाभि तक स्थापित करने की ऐसी अद्भुत क्षमता मैंने अपने स्कूल या कॉलेज के अन्य अध्यापकों में नहीं महसूसी। सरल, सदय, सहृदय और विद्याव्यसनी आपका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। इसके परिणामस्वरूप आपका शिष्यवर्ग सदैव आपकी शिक्षा-दीक्षा-प्रणाली से प्रेरणा लेता रहा है।

इस प्रभावक व्यक्तित्व का एक कारण मुझे यह भी लगता है कि गुरुवर के जीवन में पुस्तकों का विशेष महत्त्व है। आपकी दिनचर्या में अध्ययन और टहलना दो बड़े जरूरी कार्य हैं। कभी-कभी आप बड़े सवेरे जगकर अध्ययनलीन हो जाते हैं। रात को देर तक ऊपर वाले कमरे की बिजली जलती हुई भी लोगों ने देखी

---

१. रिचर्ड्स के आलोचना-सिद्धान्त (डॉ० शम्भुदत्त झा), पृष्ठ ८६

है। इसी प्रकार प्रायः हर शाम आचार्य अनन्तदेव जी के साथ लुहारू-रोड पर टहलते-टहलते दूर तक जाते हैं, साथ ही शब्द और अर्थ के अनेक क्षितिज भी स्पर्श किये जाते हैं।

विचार-बोध का यह गुण आपमें इतना सम्पन्न है कि हर नये विषय और हर नयी पुस्तक का आपके यहां हमेशा स्वागत होता है। मुझे गौरव है कि मैं उनका सर्वप्रथम शोध-छात्र हूँ। मैं जानता हूँ कि वे अपने शोधार्थी-छात्रों के लिए मौखिक टाल-माल नहीं करते, अपितु स्वयं पढ़कर उस नये विषय से तादात्म्य स्थापित करते हैं। कुछ दिनों पूर्व 'नयी कहानी' विषय रजिस्टर्ड हुआ, इसके लिए राजेन्द्र यादव से लेकर हेतु भारद्वाज तक की नयी कहानियों का पढ़ना आपके 'विचार-बोध' का प्रमाण है।

साहित्य के माध्यम से आनन्दोपलब्धि आपके जीवन का एक प्रमुख लक्ष्य रहा है। यह आनन्द सस्ते 'प्लेज़र' से भिन्न और 'हिडोनिष्ट' सम्प्रदाय की कट्टरता से अलग है—'भारतीय आनन्द', जिसे कामायनीकार ने इन शब्दों में बांधा है :—

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।

आनन्द के वेग की सारणी बहुमुखी है। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के निरन्तर सम्पर्क में रहने के कारण प्राचीन और आधुनिक साहित्य पर आपका समान अधिकार है। इसी स्वाध्याय का परिणाम है कि आपका शिक्षक-जीवन और प्रशासक-जीवन 'गागर में सागर' की भांति शब्द-प्रतिष्ठा के लिए विख्यात है।

शब्द का प्रयोग करते समय बहुत ही कम लोग इस बात का ध्यान रखते हैं कि उन शब्दों से ठीक अर्थ या भाव प्रकट होता है या नहीं। प्रायः लोगों की यही आदत होती है कि जो भी शब्द सामने आ जाता है, उसी से काम निकाल लेते हैं, चाहे श्रोता या पाठक उस शब्द का समुचित अभिप्राय निकाल पाये या नहीं। डाक्टर साहब हर शब्द को सुनियोजित करके साभिप्राय प्रस्तुत करते हैं। उनके कक्षा-भाषणों या ग्रंथों के अन्तः साक्ष्य के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि उनके द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द, किसी अर्थ को पूर्ण रूपेण अभिव्यक्त करने में समर्थ है। भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के लिए अनेक शब्दों का ज्ञान आवश्यक है, साथ ही शब्द के अर्थ का ज्ञान भी जरूरी है। श्रेष्ठ शिक्षक वही होता है जो शब्द और उसके अर्थ की आत्मा को जानता है, और अवसरानुकूल शब्द का प्रयोग करता है।

डॉ० सहल जी के साहित्य में साभिप्राय शब्द-प्रयोग पद-पद पर दृष्टिगोचर होता है—यहां तक कि उनके पारिवारिक और सामाजिक जीवन में भी नपे-तुले

शब्दों का व्यवहार द्रष्टव्य है। उनके चार पुत्रों में से दो-दो के शब्द-युगल ध्वन्यात्मकतापूर्ण हैं। बड़े पुत्र श्यामबिहारी और उनसे छोटे कृष्णबिहारी के नामों में 'श्याम' और 'कृष्ण' समानार्थी हैं। "'श्याम' शब्द बहुअर्थी है, अतः बड़े पुत्र का नाम रखा गया है। 'कृष्ण' शब्द रूढ़ और संकुचित हो गया है, अतः छोटे के लिए उपयुक्त है। इसी प्रकार 'प्रभाकर' और 'सुधाकर' नामकरण भी छोटे-बड़े के सार्थक नामकरण हैं। 'प्रभाकर' का अर्थ भी 'चन्द्रमा' है, और 'सुधाकर' का अर्थ भी 'चन्द्रमा' है, किन्तु 'प्रभाकर' में 'चन्द्रमा' के साथ-साथ 'सूर्य', 'शिव' आदि अर्थों की व्यापकता है, इसीलिए बड़े का 'प्रभाकर' और छोटे का 'सुधाकर' नाम रखा गया।

मैं कभी-कभी सोचा करता हूँ कि गुरुवर ने अपनी संतानों के नामकरण अनायास ही नहीं रख दिये होंगे, बल्कि एकांत में अपने अध्ययन-कक्ष में बैठकर घण्टों या दिनों तक शब्द-योग की प्रक्रिया में उन पर विचार करके ही रखे होंगे। 'माजो' का नाम 'कमला' होने के कारण पुत्री का नाम 'गायत्री' भी समुचित है। ऋग्वेद में कमला (लक्ष्मी) का अर्थ सौभाग्यवती है, और वैदिक छंद का एक नाम 'गायत्री' है। 'कमला' विष्णु की पत्नी और 'गायत्री', विष्णु की एक शक्ति ब्रह्मा की पत्नी है। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार प्रजापति से 'कमला' और 'गायत्री' दोनों सम्बद्ध हैं। 'गायत्री' पर गुरुवर का स्नेह भी अगाध है। क्यों न हो? गायत्री ही तो वेद-माता है, सबसे अधिक पुनीत-पावन है। गुरुवर भी वैदिक संस्कृति में अगाध विश्वास का सांस लेते हैं और आचरण में पुनीतता सफेद कपड़ों को भी मात देती है। अकार, उकार और मकार (अर्थात् ओम्) का, तीन व्याहृतियों और तीन पादों में त्रिवेदों का यथाक्रम गायत्री में है। मन और बुद्धि को प्रकाशमान करने की उपासना का इतना हिमालयी मंत्र विश्व-साहित्य में ढूंढ़ पाना दुष्कर है, अतः शब्दयोगी के यथार्थ भाव का ही यह प्रतीक है।

इस प्रकार मुझे डॉक्टर सा'ब भारतीय साधकों की परम्परा में ही सम्बद्ध एक कड़ी नजराते हैं। गांधी, टैगोर और अरविन्द इनके सत्य, काव्यत्व और चिन्तन में कहीं भी देखे जा सकते हैं। 'कवि' शब्द अपने उदात्त रूप में डॉक्टर साहब के लिए प्रयोग किया जा सकता है। 'एक कवि निर्माता भी इसीलिए कहलाता है कि वह अपने जीवनानुभवों का सम्प्रेषण करने के लिए उसे माध्यम चुनता है।'[1] डॉक्टर साहब का जीवन भी कितने ही शिष्यों, मित्रों और पारिवारिक लोगों के जीवन-निर्माण में प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रेरक रहा है। यदि मैं यहाँ नाम-परिगणन-पद्धति का आश्रय लूँ, तो मुझे पन्द्रह-बीस ठोस पेजों की और आवश्यकता पड़ सकती है। किन्तु, यहाँ मैं उनके सुपुत्र डॉ० कृष्णबिहारी सहल के नाम का उल्लेख किये

1. The Process of Literature (Mackenzie) पृष्ठ ३५।

बिना नहीं रह सकता। पिता और पुत्र के समान धरातल पर उदय और उत्थान के युगल विश्व में अत्यल्प प्राप्त हैं। डॉ० आशुतोष मुकर्जी और डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी, पं० मोतीलाल नेहरू और पं० जवाहरलाल नेहरू, श्री उपेन्द्रनाथ अश्क और श्री नीलाभ अश्क जैसे बाप-बेटों की नामावली महात्मा गांधी, लिंकन, टालस्टाय या जैनेन्द्र आदि कितने ही ऐसे नामों के साथ नहीं ली जा सकती। यद्यपि मैं अपने प्रबुद्ध पिता के प्रबुद्ध पुत्र होने का दावा नहीं करता; लेकिन मैं जब-जब गुरुवर डॉ० कन्हैयालालजी का स्मरण करता हूँ, तब-तब उनके पुत्र डॉ० कृष्णविहारी को भी एक सशक्त हस्ताक्षर के रूप में प्रतिष्ठित पाता हूँ। सुयोग्य पिता के निर्देशन में कतिपय साहित्यिक मूल्यों का आरोपण सुयोग्य रीति से डॉ० कृष्णविहारी में हुआ है। प्राचीन और आधुनिकी छोरों का यह संगम एक ही घर में देखा जा सकता है।

पारिवारिक जीवन में अनेक प्रकार के कष्टों आदि का आगमन होता ही रहता है। डॉक्टर साहब अपनी आत्मीयता के कारण स्वयं के तथा समाज के कितने ही ऐसे कष्टों का निवारण करते रहते हैं; फिर चाहे वह दो मास्टरों की लड़ाई हो, या गाँव के दो दलों के विभेद हों, या मेरी और माथुर साहब की चोंचबाजी हो। अपनी १४-१५ वर्ष की प्रतिष्ठित सर्विस के बाद जब मैं 'महाभिनिष्क्रमणाभास' की मुद्रा में लीन था, तब उनके दुःख-संवेदन, सहानुभूति-सहकारन और दिशा-निर्देशन का परिचय बड़े विस्तार से मित्रवर श्री रामनिवास जाजू और मेरी पत्नी श्रीमती चिन्तामणि ने मुझे देकर अभिभूत कर दिया था।

आपका शिष्टाचार भी सुप्रसिद्ध है। घर पर ही नहीं, बाहर भी किसी प्रसंग पर कोई भी इसे कसौटी पर कस सकता है। कभी-कभी जब आप विनोद के क्षणों में हास्य-परिहास करते हैं, तो वह अत्यन्त शिष्ट, मर्यादित और सांकेतिक होता है। 'देखो, इसने कितना कर दिखाया।' 'हां, सचमुच इसकी तो कल्पना ही नहीं थी।' 'आप भी अपने व्यवहार में इसे अपनाइए।'—आदि कितने ही वाक्य-खण्ड शब्द-योग के सूत्र हैं। जब-जब मैं इन शब्द-योगी से मिलता हूँ, इन सूत्रों का सजीव दर्शन करता हूँ।

डॉ० कन्हैयालालजी सहल का सबसे मनोहारी एवं उदात्त कोण मुझे एक सच्चे 'शिक्षक' के रूप में प्राप्त होता है। 'अहम्' और 'इदम्' के बीच जिस प्रकार कला संयोजन-पुल का काम करती है, उसी प्रकार विद्यार्थी और विद्या के बीच डॉ० साहब एक सेतुबंध रामेश्वरम् का कार्य करते हैं। एक में अनेक का केन्द्रण एवं समन्वयन हो डॉ० सहल का पर्याय है। मुझे कभी इस बात को गिला नहीं रहेगी कि मुझे इस जन्म में गुरु-गोविन्द नहीं मिले।

●●●

A LEARNED AND UNASSUMING PERSON

• Satyacharan Pal

I had the privilege and pleasure of working with Prof. Kanhaiyalal Sahal and coming into fairly close personal contact with him while I was Vice-Principal and, later, Pricipal of the Birla College, Pilani.

Prof. Sahal joined the Birla College in 1939, and for full ten years I watched with interest the gradual growth of his stature as a teacher, a scholar and a man. He attracted me by his love of learning, his steadiness and his simple, unassuming ways. The attraction developed into a friendship and regard that has survived my physical absence from Pilani since 1949.

I was a witness to the respect and confidence which Prof. Sahal inspired in his students and colleagues and in the college authorities. That respect and confidence was a spontaneous tribute to his character, his devotion to learning and his interest in the welfare of his students.

My acquaintance with Hindi is too poor to enable me to speak of his contributions to Hindi language and literature or of

his pioneering efforts on behalf of his beloved Rajasthani literature. But I vividly remember, at this distance of time, the long and delightful hours spent together at my residence many an evening in informal, discursive talks and discussions on various topics of literature. Our approaches and views did not always agree, but his genuine interest in great literature, his faith in its power and value, his receptivity to new ideas and his readiness to check up his impressions and opinions made it a pleasure to exchange thoughts with him.

Being extremely unmethodical myself, I was particularly impressed by his methodical and painstaking habits. It was a regular practice with him to make careful note of whatever interested him in course of his studies or even in course of casual discussions, and to reduce it to writing. These neatly-written notes, classified and filed, must have by now swelled up into mountainous piles to make quarries from which his students will be able to draw materials for their doctoral thesis.

A pleasant memory for me is a study circle started by Prof. Sahal and myself in the early forties for the purpose of what we in our vanity pompously used to speak of as a comparative study of certain branches of literature in English, Hindi and Bengali. We were lucky enough to get some intelligent, eager young students as members. The group usually met once a fortnight at my quarters. The study of a topic often spread over several successive meetings. With gentle encouragement and winning ways, Prof. Sahal succeeded in inducing the student-members to overcome their shyness and to participate actively and intelligently in the readings and discussions. We had, if my memory serves me right, very interesting discussions on one-act plays, short stories and novels as forms of literature. Students learnt to find delight in the short stories of Tolstoy and Rabindranath and in 'Gora' and 'Resurrection'. It was from one

such meeting that I plucked up courage to plod through Premchand's 'Godan'. But it is a measure of the difference between Prof. Sahal and me that while Prof. Sahal soon acquired a working knowledge of Bengali to read Rabindranath in the original, my desire to read Tulsidas has been a mere bubble of a vague dream.

Prof. Sahal's reputation as a scholar and teacher has now spread beyond the bounds of a particular institution or a particular geographical region. He is widely respected for his learning and holds an honoured place among the exponents and critics of literature in Hindi. During the period of my association with him at Pilani, I saw how carefully and solidly the foundations of that scholarship and that reputation had been laid. He has the true scholar's 'infinite capacity for taking pains', and as a teacher, he has tried to make that capacity attractive to his students. What higher praise can a teacher have ?

I re-visited Pilani after twenty-one years in May last, and was happy to find in Prof. Sahal the same vigour and alertness of mind as had impressed me when I worked with him at Pilani.

Prof. Sahal is a big educational administrator now as Secretary of the mighty Birla Education Trust. I know he will bring to bear in his administrative task the same sobriety, sincerity, steadiness and sympathy which have marked his conduct in his long career as a teacher.

I wish Prof. Sahal a long, happy life devoted, in health of body and mind, to the pursuit of noble endeavours.

●●●

फोन : ४४-२२४१

१६, लार्ड सिन्हा रोड (कलकत्ता-१६)

ता० ५-७-७०

प्रिय कन्हैयालालजी,

तुम्हारा पत्र जब कभी मिलता है या जब कभी मैं लिखता हूँ तो कितने ही संस्मरण और अपनेपन की बात मन में आती है। मैंने तुम्हारे नाम के साथ 'जी' शिष्टाचारिक ढंग से लगा दिया। अब तुम उम्र में भी काफी बड़े हो गये हो और पद में और योग्यता में भी। इसलिए सम्मानसूचक लिखना अच्छा है, तब भी यह ठीक है कि हम लोगों का जो सम्बन्ध रहा है और है, उसमें तुम्हारी उम्र, पद, योग्यता और यश आदि से मुझे हार्दिक प्रसन्नता होना स्वाभाविक है न कि सम्मान-सूचकता।

तुम्हारी पुस्तक 'अनुसंधान और आलोचना' मुझे प्रकाशक ने तुम्हारे आदेशानुसार भेजी थी और भाई भागीरथजी को भी। शायद उन्होंने तुम्हें पहुँच लिखी होगी। मैं सोचता रहा, उसको पढ़कर लिखूं। कुछ-कुछ पढ़ता रहा हूँ। तुम्हारे सभी प्रकाशन प्रायः मुझे मिलते रहे हैं। और वे अच्छे तो हैं ही, पर मुझे विशेष अच्छे इसलिए भी लगते हैं कि वे तुम्हारे लिखे हुए हैं। हिन्दी जगत में खासकर कहावतों, मुहावरों, राजस्थानी साहित्य आदि में तुम्हारा स्थान बहुत ही अच्छा बन गया है।

मैं समझता हूँ कि कुल मिलाकर तुम्हारी पुस्तकों की संख्या काफी हो गयी होगी। अच्छा है कि सब भाइयों में इस दिशा में तुमने बहुत उन्नति की। यों तो सभी भाई शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में ही काम कर रहे हैं। अब तो शायद १-२ लड़के बिजनेस में भी हैं न ? शायद बैजनाथ के लड़के। तुम्हारे लड़के भी बहुत ही अच्छे और योग्य हैं। उन्होंने भी अपने-अपने क्षेत्र में अच्छा स्थान प्राप्त किया है, पर मैं उनके परिचय में नहीं आ सका, इसका दुःख है जब कि मेरा मानस तुम्हारे सारे परिवार के साथ जुड़ा हुआ है। भाई रामकुमारजी की मुझ पर बहुत कृपा रही और हम लोगों का बहुत स्नेह रहा। उस समय की यादों का तांता है जब हम रोज ही ५-५, ६-६ घण्टे साथ रहते। तुम्हारा पत्र मिलने पर मेरे मन में अनेक बातें आ जाती हैं। और वह ऊलजलूल तुम्हें लिख देता हूँ।

आशा है, तुम सब लोग अच्छी तरह हो। सब खुश रहो।

मेरी एक छोटी-सी पुस्तक 'बीता युग-नयी याद' सस्ता साहित्य मंडल से प्रकाशित हुई है, वह तुम को भिजवा रहा हूँ।

शुभेच्छु

सीताराम सेकसरिया

डॉ. कन्हैयालाल सहल :

व्यक्तित्व

और

कृतित्व



काव्य समीक्षा खण्ड

आधुनिक हिन्दी-काव्य में एक नूतन प्रयोग

• (स्व०) आचार्य रामकृष्ण शुक्ल

पिछले मास की कुछ नई कृतियों में डॉ० कन्हैयालाल सहल की काव्य-पुस्तिका 'प्रयोग' की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट हुआ है। डॉ० सहल का मन्तव्य है कि जन-संकुलता और जीवन की व्यस्तता से अपने चित्त को कुछ क्षणों के लिए समेट कर प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र चिन्तन द्वारा सोचना चाहिए कि आज हम किधर जा रहे हैं। डॉ० सहल चिन्तन को कोरी बौद्धिक क्रिया ही नहीं समझते। अपने आमुख में वह लिखते हैं—"आज बुद्धि का अधिक विकास हो रहा है। हृदय आज सिकुड़ रहा है, बुद्धि और हृदय, ज्ञान और भक्ति दोनों का सन्तुलन आज अपेक्षित है।" 'प्रयोग' में सहल जी ने अपने चिन्तन के कुछ क्षणों को पद्यों में बाँध देने का प्रयास किया है, जिनमें 'हम किधर जा रहे हैं' के साथ-साथ लेखक ने इस पर भी चिन्तन किया है कि हमें किधर जाना चाहिए।

अपने इन छोटे-छोटे पद्यों में सहलजी ने अपने आमुख की प्रतिज्ञा को निभाया है। जीवन के कुछ विचारोत्तेजक और मर्मस्पर्शी तथ्यों पर दृष्टिपात करते हुए उन्होंने बुद्धि और हृदय में समन्वय स्थापित किया है और 'हम किधर जा रहे हैं' के कौतूहल को लेकर आधुनिक जीवन की विषम विभीषिकामयी कृत्रिमता पर मार्मिक व्यंग्य किया है। प्राचीन भारतीय संस्कृति को सहलजी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं और आस्तिकवाद तथा अध्यात्मवाद में उनकी दृढ़ आस्था है। आधुनिक भौतिकवाद के साथ वास्तविक सुखशान्ति की प्राप्ति किस प्रकार हो? कवि की जिज्ञासा है कि:—

"सब पर शासन की इच्छा क्यों,
यह क्या नित्य चिरन्तन ?

छिन्न भिन्न बन्धन करना ही,
आत्मा का क्या अक्षय धन ?
जीवन का अस्तित्व तथा सुख,
ज्ञान और सब पर शासन ।
कहाँ मिलेंगे एक साथ सब,
आकुल उत्कण्ठा से मन ?"

एक कविता में प्रकृति के उदाहरणों द्वारा तपस्या की महिमा का भी वर्णन किया गया है । दार्शनिकता के भाव नीरस तत्त्व-कथन के रूप में नहीं, बल्कि कौतुक-मयी भावुकता के साथ अनेक रचनाओं में मिलते हैं । रेडियो पर अपना ही रिकार्ड सुनने के बाद उन पर जो प्रतिक्रिया हुई, उसका वह इस प्रकार उल्लेख करते हैं :—

"आज भी मैं सोचता हूँ, क्या अलग ही देखने पर सत्य अपना मुँह दिखाता, स्तब्ध-सा मैं रह गया, सच, जब न अपने ही स्वरों को मैं अरे ! पहचान पाया !"

वर्तमान युग ने हमें अणु की शक्ति का परिचय कराया है । एक छोटा-सा पार्थिव अणु अपने विस्फोट से कितने विशाल क्षेत्र को क्षण भर में आत्मसात् कर लेता है । तब यदि काल का एक क्षण या अणु कहीं बिखर जाए तो क्या हो । सहलजी वाल्मीकि अथवा बुद्ध के जीवन के उस क्षण की याद करते हैं जिसने रामायण की रचना कराकर या ज्ञान का आलोक फैला कर युगों-युगों को आत्मसात् कर लिया । पार्थिव अणु तो बिखर कर विध्वंस करता है, परन्तु काल का ऐसा अणु ठीक उसके विपरीत करता है । इसलिए—

"एक क्षण की बाहुओं में
अमरता जब वन्दिनी हो,
धन्य है वह एक ही क्षण ।"
"काल का अणु एक ही क्षण,
बिखर जो यदि जाय जग में,
व्याप्त उसकी परिधि में हो,
काल सीमाहीन बन कर ।"

देश-प्रेम की भावना भी 'प्रयोग' में यत्र-तत्र मिलती है । देश-गौरव और आत्म-गौरव से उल्लसित होकर कवि प्राचीन भारतीय शूरवीर का स्तोत्र-गान करता है—

"जब था यह नभ गिरने लगता,
वह अपना स्कन्ध लगा देता ।
उसका यह अनुपम शौर्य सैन्य में
जीवन-ज्योति जगा देता ॥

रोप अंगदी चरण युद्ध में,
प्रभु को भी ललकार लगाता ।
अगर भगाना हाथ, ईश के,
देखूँ कैसे मुझे भगाता !"

परन्तु प्रयोग में सबसे अधिक प्रभावशाली रचनाएँ वे हैं, जिनमें सहलजी ने मानव में से मानवता के निकल जाने पर दुःख प्रकट किया है या आधुनिक जीवन की एक तरफ दिखाई देने वाली दयनीयता तथा दूसरी तरफ दिखाई देने वाली भयङ्कर प्रवञ्चना और कुटिलता पर मार्मिक व्यंग्य किया है। अपने आमुख में भी वे लिखते हैं—"जन-रव और कानों को बहरा कर देने वाले कोलाहल में आज सत्य के स्वर डूब रहे हैं, छल और प्रवञ्चना का साम्राज्य है। शब्द आज अपना अर्थ खो बैठे हैं ·········निरन्तर डसना, दाँव लगाना, अहमहमिका से आक्रान्त होकर ईर्ष्या और द्वेष की आग में जलते रहना, उन्नति के शिखर पर चढ़ते हुए किसी सदाशय व्यक्ति की टाँग खींचकर उसे धड़ाम से नीचे पटक देना, यही हमारे जीवन का नियम बन गया है। प्रेस, रङ्गमंच, साहित्य, रेडियो और बुलेटिनों के द्वारा हर शब्द को एक जनसंहारकारी विषम युद्ध का साधन बनाने के लिए विषाक्त कर दिया गया है। 'सत्य' जैसा महत्त्वपूर्ण शब्द आज भयाकुल और मूर्छित होकर कोश में जाकर अचेत सो गया है। अपने इसी आक्रोश को 'डबल थिंकिंग' नामक कविता में सहलजी मृदुता के साथ इस प्रकार प्रकट करते हैं—

"ऊपर से तो बात अमृत की, अन्दर विष घुलता है।
मुँह है एक, जीभ हैं दो-दो, यही बहुत खलता है।

यहाँ 'डबल थिंकिंग' चलता है ॥"

जीभ के प्रसंग पर से सहलजी की एक अन्य कविता पर भी दृष्टि जाती है जिसमें जीभ के बारे में उन्होंने नए ढंग से सोचा है। जीभ बोलने वाले की भी सगी नहीं है। अपने कपट भाव में वह औपचारिक ढङ्ग से दाँतों से "दस्तबस्ता अर्ज" करती है कि आपके बीच रहती हुई कहीं मैं पिस न जाऊँ। पर भुक्तभोगी दाँत इसके स्वभाव से डरते हुए उत्तर देते हैं:—

"तू लचक जाती इधर, तू लचक जाती उधर,
कौनसा तेरा भरोसा जीभ है ?
डर हमें लगता यही, बोलने जो तू लगी,
तू तुड़ाएगी हमें ।"

शैली की दृष्टि से, ऐसा लगता है कि आजकल की नई मानवता की भाँति आधुनिक प्रयोगवादी नई कविता की ओर भी सहलजी का कुतूहल जागृत हुआ है। इसीलिए उन्होंने अपनी पुस्तिका का 'प्रयोग' नाम रखा है। परन्तु वह स्वयं इन रचनाओं को प्रयोगवाद कहते हुए झिझकते हैं। हमें भी पूरी पुस्तक में एक रचना "पुरानी बोतल में नई शराब" प्रयोगवादी-जैसी मिली है। प्रयोगवादी नई कविता में प्रायः अर्थ-गाम्भीर्य कम देखने में आता है। परन्तु 'प्रयोग' की कविताएँ अत्यन्त अर्थ-गर्भ हैं। नई कविता में प्रायः यह भी देखते हैं कि उसमें एक गद्य-वाक्य को खण्ड खण्ड करके बहुत सी पंक्तियों में लिखकर उसे अगद्य का रूप देने की चेष्टा की जाती है, इसके विपरीत 'प्रयोग' पुस्तिका में पद्यात्मक पंक्तियों के टुकड़े करके उन्हें कई-कई पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है।

***

'राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन' पुस्तक की महती सामग्री देख कर चित्त प्रसन्न हुआ। लेखक ने इस विषय के अध्ययन की आधार-शिला रख दी है। लोक-साहित्य के तत्त्वों की छानबीन के लिए यह—मूल्यवान् कृति है। कहावतें प्रत्येक भाषा में स्वतः उत्पन्न हो जाने वाले वक्रोक्ति और व्यंजना से भरे हुए अनुभव-सूत्र हैं। राजस्थानी भाषा में उनके इतिहास और महत्त्व की खोज करते हुए डॉ० सहल ने नई और पुरानी बहुविध सामग्री का तुलनात्मक अध्ययन किया है। मेरा विचार है कि इस आकर-ग्रन्थ से प्रेरणा पाकर अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के कार्य-कर्त्ता भी अपनी प्रादेशिक सामग्री को इसी पद्धति से छापने का प्रयत्न करेंगे। लोक-साहित्य के वर्धमान वाङ्मय में यह ग्रन्थ सर्वथा स्वागत के योग्य है।

—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

'राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन' में कहावतों के बारे में बड़ी छान-बीन की गई है। पुस्तक विद्वत्तापूर्ण तो है ही, उपयोगी भी है।

—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

पी-एच.डी. उपाधये हिन्दी भाषया प्रस्तुतानामधिनिबन्धानां चूडामणिरयं डॉ० कन्हैयालालसहलमहोदयानां 'राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन' नामा ग्रन्थराजः।

इति मनुते विदुषां वशंवदो

—डॉ० दशरथ शर्मा।

अम्लान काव्य-प्रभा

• डॉ० रामकुमार वर्मा

प्रभात का मनोहर काल। पूर्व में उषा ने सूर्य के आगमन के लिए विविध रंगों के फूलों की श्रद्धांजलि सजा ली। वायु के मन्द प्रवाह से आकाश के बादलों ने अपनी दिशाएँ बदल लीं और एक अरुणाभा प्रकृति के अधरों पर खिल उठी।

मन ने सोचा कि कुछ इसी तरह डॉ० सहल का साहित्य-वैभव है। विविध रंगों के फूलों की तरह उनके काव्य, निबंध और आलोचना का रूप है जो साहित्य-देवता पर समर्पित होने जा रहा है और जो प्रकृति के अधरों पर अरुणाभा है, वही उनकी काव्य-प्रभा है जो उनकी प्रतिभा से फूट निकली है।

यह काव्य-प्रभा कभी मलीन न हो।

•••

आप सफल आलोचक भी हैं, अतः आपके काव्य में 'प्रयोग' की झलक बड़ी सुलझी हुई है। ये रचनाएँ 'प्रयोगवाद' का मार्ग-प्रदर्शन करेंगी, ऐसी आशा है।

—डॉ० रामकुमार वर्मा

डॉ० कन्हैयालाल सहल का काव्य

• डॉ० इन्द्रपालसिंह 'इन्द्र'

हिन्दी साहित्य में डॉ० सहल का अवतरण एक सुधी, मननशील, चिन्तक एवं सत्समालोचक के रूप में हुआ था। शुक्लोत्तर समीक्षा के विकास में जिन कतिपय समालोचकों का प्रदेय महत्त्वपूर्ण माना जाता है, उनमें डॉ० सहल का नाम भी समादर के साथ लिया जाता है। उनकी आलोचनात्मक कृतियाँ तथा समीक्षात्मक निबन्ध ही उनके यश-सौरभ को विकीर्ण करने में सक्षम हैं। सत्समालोचक के लिए जहाँ चिन्तन की गहनता, विचारों की स्पष्टता एवं शैली की सुष्ठुता अपेक्षित हैं, वहाँ हृदय की सरसता भी वांछनीय है। भावयित्री प्रतिभा के बिना कवि या साहित्यकार के भावाम्बुधि में अवगाहन कर रत्नों को निकालना सम्भव नहीं है। डॉ० सहल इन गुणों से विभूषित हैं। कवि उत्पन्न होते हैं, बनाये नहीं जाते, उसी प्रकार सत्समालोचक भी उत्पन्न ही होते हैं, बनाये नहीं जाते। डॉ० सहल ऐसे ही समालोचक हैं। जब समालोचक में भावयित्री प्रतिभा के साथ कारयित्री प्रतिभा भी हो, तो उसकी समालोचना में अपने 'स्व' का वैशिष्ट्य भी समाहित हो जाता है, क्योंकि वह कवि के मानस में प्रविष्ट होकर उसकी अनुभूति के साथ सहजता से तादात्म्य स्थापित कर लेता है और उसका स्वाभाविक रूप से उद्घाटन करने में समर्थ होता है। डॉ० सहल का समालोचक ऐसा ही है। जब-जब उनका आलोचक मचल उठा है, विचारों पर भावना छा गई है तथा भावयित्री प्रतिभा को कारयित्री प्रतिभा ने अभिभूत कर लिया है, तब-तब उनका कवि मुखर हो उठा है और उनकी हृदय-वीणा से कविता के स्वर फूट पड़े हैं, जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है :-"क्षणों के धागे में लय अनायास आ गई है, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि लय ने क्षणों के धागों से काव्य-पट बुनने में मुझे सहायता पहुँचाई है।"[1] तथा "चिन्तन

---

१. क्षणों के धागे, ताना-बाना पृ० ६।

के ऐसे ही कुछ क्षणों को मैंने पद्यों में बाँध देने का प्रयास किया है।"[1] इससे स्पष्ट है कि डॉ० सहल के काव्य में भावों की उच्छृंखलता नहीं है। वे विचारों से नियंत्रित होकर औचित्य की परिधि में ही अपना क्रीड़ा-कौशल प्रदर्शित करते हैं। वस्तुतः यदि हृदय पर बुद्धि का अंकुश न हो, भावना पर विचार का आधिपत्य न हो, तो वह प्रलाप की सीमा का भी स्पर्श करने लगती है तथा उसकी कोई उपादेयता नहीं रह जाती। डॉ० सहल काव्य को भावना का उच्छलित वेग मात्र नहीं मानते, उसे साधना की वस्तु समझते हैं। वे कहते हैं :-

"कविता तो बड़ी साधना है
तपस्या है प्रखर।"–समय की सीढ़ियाँ

यही कारण है कि उनकी कविता में हृदय की सरसता के साथ बुद्धि की गहनता का भी समन्वय है। उन्होंने कविता के लिए कविता नहीं लिखी, अपितु उसका उन्मेष अन्तर की किसी प्रेरणा से हुआ है। उन्होंने बुद्धि की आँख से भौतिक जगत् को देखा है और हृदय की आँख कविता की देवी को समर्पित कर दी है, जिसने उनके काव्य को रूप दिया है। यही कारण है कि उनका काव्य किसी वाद-विशेष की परिधि में आबद्ध नहीं किया जा सकता। उसमें वैविध्य दृष्टिगत होता है। चिन्तन के क्षणों में जब भी भावोर्मियाँ उद्वेलित हुई हैं, काव्य बन गई हैं और उन्होंने विविध रंग धारण किये हैं।

सत्कवि अपने युग एवं अपने परिवेश से प्रभावित होकर उसे कुछ देता भी है। वह सभ्यता एवं संस्कृति का वाहक होता है। इसी कारण वह अपनी सभ्यता-संस्कृति पर आघात करने वाली बातों से उद्वेलित हो उठता है और उसकी वाणी उन बातों के विरुद्ध विद्रोह करती फूट पड़ती है, जिसमें व्यंग्य का प्रखर स्वर होता है। डॉ० सहल "कीरति, भनिति, भूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कर हित होई" के सिद्धान्त के अनुयायी प्रतीत होते हैं। इसी कारण उन्होंने व्यंग्यों द्वारा दृष्टि-उन्मेष करने का कार्य किया है। आज की नागरिक सभ्यता कितनी कृत्रिम, खोखली, प्रदर्शनमयी एवं स्वार्थपूर्ण हो गई है, जिसकी अनुभूति से कवि का मानस क्षोभ से भर जाता है और उसका क्षोभ व्यंग्योक्तियों के माध्यम से अभिव्यक्त हो उठता है। एक ओर जन-संकुल नगरों में अपनी जीविका अर्जित करने में व्यस्त ऐसे लोग हैं, जिनके वात्सल्य तक को परिस्थितियों ने सुखा दिया है, जिनको इतना भी अवकाश नहीं है कि वे अपनी आत्मा के अंशों के सूखे कपोलों पर एक चुम्बन भी अंकित कर सकें, फलतः छुट्टी के दिन उनके बच्चे ही उन्हें अपरिचित, अजनबी समझ कर अपनी मां से पूछ बैठते हैं :-

---

१. आमुख, पृ० ७।

"अरी मां !
अरी मां !!
ओ नवो माणस कोण छे !"[1]

भोले बालक के इस प्रश्न को सुनकर उस अभागे पिता के हृदय पर कैसा वज्राघात होता होगा, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। कुशल कवि ने परिस्थिति-जनित विवशता को प्रस्तुत करते हुए इस एक वाक्य में ही कितनी करुणा भर दी है। साथ ही समाज के प्रबुद्ध कहे जाने वाले वर्ग के हृदय पर करारी चोट भी की है। दूसरी ओर उन्हीं नगरों में ऐसे भी व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपने जीवन को व्यर्थ ही व्यस्त बना लिया है, जो समय के मूल्य के प्रति उदासीन हैं, जिनकी दिनचर्या चाय पीने, सिगरेट का धुआँ उड़ाने, गपशप करने, सिनेमा देखने, समाचार-पत्रों के हैडिंग मात्र पढ़ने, टेनिस खेलने इत्यादि में ही केन्द्रित हैं और जिनके पास विचार करने का भी अवकाश नहीं है। कवि ऐसे तथाकथित व्यस्त व्यक्तियों पर व्यंग्य करते हुए कहता है :—

"किसी को जीवन की संकुलता में
विचार करने का,
चिन्तन का
अवकाश ही नहीं !!"[2]

विडम्बना यह है कि ऐसा ही स्वार्थलिप्सु तथा अपने आमोद-प्रमोद में लीन मानव अपनी पैनी-प्रखर बुद्धि से अपने को मानवी मूल्यों का पोषक सिद्ध करते हुए अपने पशुवत् कृत्यों द्वारा पर-पीड़न करता है तथा षट्पद से भी तीव्र दंश देकर भी द्विपद कहलाता है।[3] इससे भी अधिक खटकने वाली बात यह है कि मनुष्यता निकल जाने पर भी वह रूप और आकार के कारण मनुष्य ही कहलाता है।[4] ऐसी ही विकृत सभ्यता में पले आज के नवयुवक छात्र हैं, जो सिगरेट, बैंड-टी, गपशप, शो इत्यादि को ही आज की सबसे बड़ी उपलब्धि मानते हैं तथा इसी में अपना गौरव समझते हैं। ऐसे ही छात्रों के प्रति तीव्र व्यंग्य करते हुए कवि ने कहा है :—

"फिर भी न तृप्ति कुछ होवे यदि आपकी तो
बात मेरी मानकर
आत्म-हत्या कीजिए।"[5]

---

१. प्रयोग, पृ० ४।
२. क्षणों के आगे, पृ० १८।
३. वही, पृ० १६–१७।
४. प्रयोग, पृ० ११।
५. वही, पृ० २८।

वस्तुतः ऐसे छात्र समय की हत्या करके आत्म-हत्या ही करते हैं। मानव जीवन में प्रत्येक क्षण मूल्यवान है, उसका अपना महत्त्व है। पता नहीं, किस क्षण क्या अद्भुत कार्य हो जाय, जिसे अमरता अपने आप वरण कर ले। वह क्षण कितना महान् था, जब आदि कवि के मुख से सरस्वती प्रसूत होकर रामायण दे गई, जब तथागत को ज्ञान का आलोक मिला। ऐसा एक क्षण ही शत-शत कल्पों से अधिक श्रेयस्कर है। अतः कवि कहता है :—

"एक क्षण की बाहुओं में
अमरता जब बंदिनी हो
धन्य है वह एक ही क्षण !"[1]

ऐसे ही क्षण में अमृत का वह बीज वपन किया जा सकता है, जिसके फल को आगामी पीढ़ियाँ युग-युगों तक प्राप्त कर अपने जीवन को सफल करती रहेंगी। कवि ऐसे ही क्षण की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहता है :—

"यह भविष्य की नींव
शक्ति का स्रोत
छोटा-सा क्षण लगता है यह
पर इसका आयाम
बड़ा विस्तृत है और गहन है
लघु क्षण का गुरुतर जीवन है।"[2]

आज की कविता क्षणवादी कविता कहलाती है, किन्तु सम्भवतः आज तक किसी नये कवि ने इतनी सशक्तता के साथ क्षण के प्रति आस्था व्यक्त नहीं की है। डॉ० सहल जीवन के प्रति-क्षण के प्रति आस्थावान हैं।

आज की तथाकथित नागरिक सभ्यता आडम्बरपूर्ण है, जो अन्दर से खोखली, किन्तु बाहर से प्रदर्शन से भरी हुई है। कवि ने उसकी समता छिछले छीलर से की है। आधुनिक सभ्यता का दम भरने वाले ऊपर से भले, वाह्य व्यवहार से सभ्य तथा वाणी से रसावतार प्रतीत होते हैं, किन्तु उनका अन्तर कितना मलीन होता है। कवि व्यंसक मयूर से प्रश्न करता हुआ उन पर तीव्र व्यंग्य करता है :—

"शहरों में तुम रहे नहीं
फिर क्यों कर तुमने
बाहर से कमनीय कलेवर

१. प्रयोग, पृ० २४–२५।
२. समय की सीढ़ियाँ, पृ० २७।

हम अपने अतीत से ही प्रकाश ग्रहण कर अपने भविष्य का निर्माण कर सकते हैं। वस्तुतः मानव अपनी परम्परा का ही विकास है। उसका जीवन अनन्त काल की महा धारा में प्रकाश-स्तम्भ-सा है। वह अपनी परम्परा से ग्रहण करता है और अनागत को उसे और भी प्रभविष्णु बनाकर समर्पित कर देता है। इसीलिए कवि ने कहा है कि :—

"मैं न मात्र चालीस वर्ष का
मुखरित मेरा अहं हो रहा
मैं हूँ पांच हजार वर्ष का।"[1]

उसे अपने इस महत्त्व को पहचानना चाहिए। छोटे से छोटा कहा जाने वाला व्यक्ति भी महत्त्वपूर्ण है। सच पूछा जाय तो समाज की नींव का आधार वही व्यक्ति है, जिसके श्रम के आधार पर यह समाज खड़ा है। यदि नींव का पत्थर विद्रोह कर उठे तो भवन क्षण में ध्वस्त हो जायेगा। कवि इसी प्रतीक के माध्यम से श्रमिकों को जागरूक करता हुआ कहता है :—

"निकल पड़े बाहर
नींव के प्रस्तर सभी
और गिर पड़ा
प्रासाद भी
जमीन पर।"[2]

साथ ही उन व्यक्तियों को भी चेतावनी देता है, जो श्रमिकों अर्थात् समाज के इन आधार-स्तम्भों को हीन समझकर अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं। राजनैतिक प्रचारात्मक तथाकथित प्रयोगवादी कविताओं में उतनी शक्ति नहीं दिखाई देती, जो इन ·क्तियों में दिखाई देती है। कवि ने बड़े सधे एवं विचारपूर्ण ढंग से अपने कथ्य को मर्म तक पहुँचाने का सफल प्रयत्न किया है। विद्रोही के लिए साहस एवं दृढ़ता अपेक्षित है, क्योंकि उसे अपने पथ से डिगाने के लिए वज्राघात भी किया जा सकता है, उसे क्षुधा-पिपासा सम्बन्धिनी यातनाएँ भी दी जा सकती हैं, किन्तु सच्चा विद्रोही और वीर अडिग रहकर अपने अधिकारों के लिए शान्ति तथा सहनशीलता के साथ संघर्ष करता ही रहता है। मृत्यु का भय भी उसे अपने पथ से विचलित नहीं कर सकता। कवि ने नीलकण्ठ मयूर के प्रतीक द्वारा यही सन्देश दिया है।—

---

१. क्षणों के धागे, पृ० २४।
२. समय की सीढ़ियाँ, पृ० २२।

"चौदह वर्षों तक मयूर वह
केवल कंकड़–पत्थर खाकर
रहा धरा पर जीवित अविचल,
संघर्षों में गिरते–पड़ते
जिसे देखकर
नभ के बादल बोल उठे थे–
'अरे भानजे ! अरे मोरिये !'
तू तो सचमुच, नीलकण्ठ है
तू जीता, हम हारे।"[1]

जो नीलकण्ठ की भाँति विषपायी होकर अविचल, अस्थिर एवं दृढ़ रहता है, सफलता उसके चरण चूमती है और विरोधी शक्तिसम्पन्न होकर भी उसके समक्ष नत होने को विवश हो जाते हैं। ऐसा धीर–वीर व्यक्ति ही जीवन को जीता है।

डॉ० सहल वस्तुतः जीवन के कवि हैं। जैसा कि हमने देखा है, उन्होंने व्यंग्यों एवं प्रतीकों के माध्यम से जीवन की विकृतियों पर आघात करते हुए सन्देश दिये हैं। पलायनवादी प्रवृत्ति से उन्हें सहज वितृष्णा है। जीवन का जीवनत्व उसकी गतिशीलता में ही है और यह गतिशीलता तभी रह सकती है, जब जीवन के प्रति अनुराग हो, आस्था हो। इसी कारण कवि अपने आराध्य से निवेदन करते हुए कहता है :—

"नाथ ! कि चाहे
बीच भंवर में नैया मेरी
डगमग-डगमग करती होवे
कभी न मैं निज हिम्मत हारूँ।
जीवन के प्रति आस्था मेरी
बनी रहे अविचल, पल-प्रतिपल।"[2]

कठिनाइयाँ और बाधाएँ तो वे कसौटियाँ हैं, जिनके कारण जीवन में और भी चमक आती है, स्फूर्ति एवं शक्ति का अभिनव संचार होता है। बिना साधना और तपस्या के सिद्धि प्राप्त नहीं होती। कष्ट-कसौटी पर कसा हुआ त्याग–तपस्यापूर्ण जीवन ही अनागत के लिए ज्योति विकीर्ण कर सकता है। अतः कवि कहता है :—

---

१. क्षणों के धागे, पृ० १५।
२. क्षणों के धागे, पृ० २१।

"दीप-वर्तिका जली नहीं
सिर न कटाया यदि उसने तो
क्या प्रकाश बढ़ सका कहीं !"[1]

चन्द्रमा क्षीण होते-होते लुप्त हो जाता है, किन्तु वह पुनः नवीन उत्साह के साथ बढ़ता है, धीरे-धीरे अपनी कलाओं को संचित कर तम के महादानव को परास्त कर नभ-मण्डल में अपनी स्निग्ध मुसकान विकीर्ण कर देता है। इसी प्रकार जीवन को जीवन मानने वाला वीर पराभूत होना नहीं जानता। वह "एक बार देकर प्राणों को सौ-सौ बार जिया करता है।"[2] मृत्यु भी ऐसे दुर्धर्ष वीरों से आतंकित रहती है और अमरता उसके साथ परिणय करने को समुत्सुका रहती है। कवि अपनी ओजस्विनी वाणी में इसी भावना को व्यक्त करते हुए कहता है :—

"जहाँ मौत भी आतंकित थी
वीरों के बलिदानों से
वहाँ अमरता मुसकायेगी
जीवन-ध्वज फहरायेगा
रात भले लम्बी हो कितनी
ध्रुव प्रभात तो आयेगा।"[3]

आशा और अमरता का कितना भव्य सन्देश भरा हुआ है इन पंक्तियों में। कवि ने अपनी 'शूरवीर', तपस्या, मैंने कब कहा कि····,स्वर्ग समान करेंगे धरती, बहुजन हिताय, उत्थातव्यं जागृतव्यं, इत्यादि कविताओं में जीवन के लिए इसी प्रकार की प्रेरणा दी है। मरमिट कर जीने की भावना तभी आ सकती है, जबकि शरीर के साथ आत्मा भी बलवती हो और आत्मा बलवती हो सकती है स्वावलम्बन एवं अपनी त्रुटियों को स्वीकार करने से। कवि इतने से ही संतोष नहीं करता, वह तो इतना महान् है कि संसार की समस्त त्रुटियों से अपने मानस को भर लेना चाहता है। वह अपने इष्ट से प्रार्थना करता है :—

"हे करुणामय ! हे विश्वम्भर !
दुनिया की जितनी त्रुटियाँ हैं
मेरे मानस में सब भर दो।"[4]

---

१. प्रयोग, पृ० ३६।

२. समय की सीढ़ियाँ, पृ० ५।

३. वही, पृ० ५।

४. प्रयोग, पृ० १०।

महात्मा गांधी जी भी इतने ही महान् थे। अतः कवि ने उनके प्रति अपनी श्रद्धा के पुष्प समर्पित करते हुए कई कविताएँ लिखी हैं। गांधी जी सत्य-पुरुष थे, जो "दोष हिमालय-सा करके भी आत्मा के नगराज बन गये थे।"[1] वे सत्य के बल से ही वर्तमान में ही भविष्य को ले आये थे और उन्होंने अपने कृतित्व से समय के ऐसे बाँध बाँधे हैं, जिनको काल कभी भी ध्वंस नहीं कर सकता और उन बाँधों से :—

"ऊसर मानवता का मरुथल
सदा सिक्त होकर नित नूतन
हरियाली में परिणत होगा।"[2]

गांधीजी ने शाश्वत जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। दरिद्रनारायण के प्रतिनिधि बनकर मानवता का जो आलोक उन्होंने विकीर्ण किया है, उससे आगामी युग प्रकाशित होते रहेंगे। अतः गांधी जी चिर-चिर नवीन हैं। आज विनोवा जी उन्हीं के चरण-चिह्नों पर चलकर भूदान-यज्ञ का सत्कार्य कर रहे हैं, जो आत्मा की कारा को खोलकर विपन्न मानवता को उत्कर्ष की ओर प्रेरित करता है। कवि ने उनकी वाणी को भी मुखरित किया है।

भारतीय संस्कृति के चिरन्तन आदर्शों की प्रतिष्ठा करने के साथ ही कवि ने नवयुग की उपलब्धियों का भी उत्साह से स्वागत किया है। चन्द्र–विजय का जो अभियान रूस ने किया था, उसकी कवि ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है।[3] राष्ट्र-सेवी वीरों के प्रति भी आस्था व्यक्त की है। स्वतन्त्रता के बाद जैसी आशा और आकांक्षा थी, उसकी पूर्ति न होने से आज कुण्ठाओं को ही जन्म मिला है, जिसकी अभिव्यक्ति आज के अनेक कवियों ने की है, किन्तु डॉ० सहल का कवि इन परि-स्थितियों से निराश नहीं है, उसे तो ज्योति के दर्शन होते हैं। अतः वह कहता है :—"रात भले लम्बी हो कितनी ध्रुव प्रभात तो आयेगा।"[4] आज पुनः ऐसी ही रचनाओं की आवश्यकता है। निराशा और कुण्ठा मात्र को ही चित्रित करना कवि-कर्तव्य नहीं है।

कवि ने प्रकृति के प्रति भी अपना प्रेम प्रदर्शित किया है। सौन्दर्य और शालीनता के प्रतीक कमल, नवोन्मेष एवं स्फूर्ति के प्रेरक वसन्त का प्रशस्ति-गान

---

१. प्रयोग, पृ० ८–९।
२. क्षणों के धागे, पृ० ६।
३. क्षणों के धागे, पृ० १०।
४. समय की सीढ़ियाँ, पृ० १०।

करते हुए कवि ने उनसे भी जीवन के लिए कुछ प्रकाश प्राप्त किया है।[1] किन्तु प्रकृति के गतिशील एवं जीवन्त चित्र राजस्थान की मरुभूमि के चित्र हैं। प्रोषित-पतिका मरुधरा सजल सुरंगे मेघों की बाट जोहती है और उनके संयोग का सुख पाकर नवेली वधू बन जाती है। कवि उस प्रकृति-वधू का स्वागत करते हुए कहता है :—

> "मरुधर की हे वधू नवेली चंचल चरण धरो।
> रिमझिम-रिमझिम थिरक-थिरक कर,
> मदमाती बन झूम-झूम कर,
> हरखाती, सरसाती अग-जग नव चैतन्य भरो।"[2]

राजस्थान के इस जागरूक कवि ने अपनी उपेक्षित धरा-वधू के मदोन्मत रूप को देखा है और उसके प्रति अपने रागात्मक भाव की अभिव्यक्ति की है।

युग की प्रवृत्तियों के अनुकूल कवि ने प्रयोग भी किये हैं। उसने अपनी कृतियों का नामकरण ही प्रयोगकालीन भावनाओं के अनुरूप किया है। किन्तु कवि ने प्रयोगवादी काव्य-प्रवृत्तियों की संकुचित सीमा में अपने को आबद्ध नहीं किया है। उसके प्रयोग केवल प्रयोगों के लिए नहीं हैं, न वे अस्पष्ट हैं। उसके प्रयोगों में भी जीवन के तत्व निहित हैं। भावों की अलमारियाँ तथा त्रिकोण इत्यादि कविताएँ इसी कोटि की हैं। प्रथम में कवि ने मन की भाव-राशि का परिचय देते हुए अपनी कमियों में अपने ही उपहास की अनुभूति करके उसी महानता का वरण किया है, जो आत्म-शोधन के अनन्तर उपलब्ध होती है। द्वितीय कविता में ऐसे लोगों पर तीव्र व्यंग्य किया गया है, जिनके देखने और समझने का दृष्टिकोण सदा ही विकृतिपूर्ण होता है और जो शिवं में भी अशिवं के दर्शन करते है और जिनके पास जाकर गुण भी अवगुण बन जाते हैं। तात्पर्य यह है कि कवि नई धारा में भी प्रकाश भर देना चाहता है। तथाकथित प्रयोगवादियों के लिए उसकी ऐसी थोड़ी-सी कविताएँ भी कुछ दे सकती हैं।

डॉ० सहल के काव्य में शैली के वैविध्य का भी दर्शन होता है। उन्होंने सम्भवतः इतिवृत्तात्मक शैली में ही काव्य-रचना का आरम्भ किया है। उनकी अनेक कविताओं में द्विवेदीयुगीन शैली दिखाई देती है। 'प्रयोग' की धरती धन्य-धन्य हम जानी, वसन्त ऋतु तथा ज्योति-भूमि यह देश हमारा आदि कविताएँ, 'क्षणों के धागे' की कमल, आयु-शतक, बहुजन हिताय, मेरे देश, अभिनन्दन आदि

---

१. क्षणों के धागे, पृ० २६, प्रयोग, पृ० ४६।
२. समय की सीढ़ियाँ, पृ० ३।

कविताएँ इसी कोटि की हैं। छायावादी कवियों की भाँति कवि ने प्रकृति का मानवीकरण भी किया है। वर्षा को उसने नवेली वधू बनाकर उसका रूपांकन किया है। यही नहीं, अपितु अमूर्त त्रुटियों का भी मूर्तीकरण या मानवीकरण करके उनको गवाक्षों से झांकते देखकर वह उनकी तीखी-मीठी चितवन से मुग्ध भी हुआ है।[1] कवि का नव्य अप्रस्तुत-विधान बड़ा सशक्त एवं अर्थगर्भित है। यथा-'अजनबी-से किसी जन को कोष्ठक की तरह अथवा वाक्य के क्लाज पैरेन्थेटिकल-सा घर में देखा', अनुभव की दुहिताएँ (लोकोक्तियाँ) काल की दीमक से अछूता फर्नीचर है, 'उस ब्लाटिंग पेपर-से वे, स्याही-सोख बना बेकार', 'दिमाग का फर्नीचर जर्जरित, उदई लग गई है उसे, पाउडराइज करो उसे', इत्यादि अनेक नवीन अप्रस्तुत कवि के अभीप्सित भाव को प्रेषणीय बनाने में पूर्णतः सक्षम हैं, यही काव्य की परम सिद्धि है, जो सहल जी के काव्य में मिलती है। उनका भाषा के प्रति किसी प्रकार का आग्रह नहीं है। भाषा भावों की वाहिनी होती है। कवि ने भावों के अनुकूल भाषा का प्रयोग किया है। उसकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, उसने तद्भव शब्द भी अपनाये हैं, सामान्यजन की भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्दों को भी स्थान दिया है तथा अंग्रेजी के शब्दों ने भी स्वाभाविक प्रवाह में आकर अपना स्थान बना लिया है। कवि का मुख्य लक्ष्य अपने कथ्य पर है और उसने इस बात का ध्यान रखा है कि वह जिस उद्देश्य से लिखा जा रहा है, उसमें समर्थ हो। यही उसकी विशेषता है।

इस विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि डॉ० सहल केवल अपने लोक के कवि नहीं हैं, अपितु इस लोक के कवि हैं। इसी से उन्होंने अपने भावों को विचारों के साथ गूंथ दिया है। उन्होंने अपनी काव्य-सरिता में हमें डुबाकर बहाया नहीं है, अपितु अवगाहन करा कर कल्मष को धोने का प्रयत्न किया है। अतः उनका प्रदेय एक विचारक तथा चिन्तक कवि के ही अनुरूप है।

नए काव्य के परिप्रेक्ष्य में डॉ० कन्हैयालाल सहल का काव्य

• डॉ० नत्थनसिंह

छायावादोत्तर हिन्दी-काव्य की परिधि से, यदि प्रगतिशील कविता एवं आधुनिक गीति काव्य को पृथक् कर दिया जाय, तो जो कुछ बच रहता है, वह बहुत हलका, असाहित्यिक एवं घिनौना है। इस साहित्य के स्रष्टा तथा समीक्षक के लम्बे-चौड़े दावे तथा व्याख्या-विश्लेषण के उपरान्त भी, इस बात को असत्य सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वह स्वयं आरोपित कुण्ठित हृदय की अस्पष्ट अनुभूति की असफल व्यंजना है। वह संकीर्ण हृदय की एकांगी, रुग्ण एवं समाज-निरपेक्ष तथा-कथित अभिव्यक्ति है। यही अभिव्यक्ति, नयी कविता के नाम से अभिहित की गई।

नयी कविता को सांस्कृतिक, आध्यात्मिक तथा कलात्मक सिद्ध करने के लिए कला की नवीन कसौटियां तैयार की गईं। उसका उद्देश्य नए सत्य का उद्घाटन करना बताया गया। उनको नए सत्य का अनुसंधान मिला-'लघुमानव' में और 'लघुमानव' दीख पड़ा—आत्मपीड़न तथा अनास्था में। नए काव्य के साथ नवीन सौन्दर्याभिरुचि की भी संगति बैठाई गई, वह निकली जड़ीभूत, जिसका मूल आधार उच्चवर्गीय मध्यवर्ग है। इसी वर्ग के, कुण्ठित व्यक्ति के अवचेतन की निराशा, अनास्था और घुटन को प्रकट करना कला का सत्य और नए काव्यकार का उद्देश्य माना गया। इस उद्देश्य की दिशा में, नयी कविता लड़खड़ाई, गिरी और फिर घिसटने लगी।

कुछ काल की अपनी यात्रा में, नयी कविता ने व्यक्ति-सत्य, व्यक्ति-चिन्तन और व्यक्ति-यथार्थ के विविध स्तरों के उद्घाटन का प्रयास किया। कहीं-कहीं, व्यक्तिहित तथा समाजहित के सामंजस्य का विफल प्रयास भी दृष्टिगत हुआ।

अन्ततः नयी-कविता में भाव-बोध के नाम पर व्यक्तिवादी बौद्धिकता ही उभर कर आई। परम्परागत विश्वासों के प्रति अविश्वास, मानव की सृजनात्मकता के प्रति संदेह, मानव के सुन्दर भविष्य के प्रति शंका और मानवीय पौरुष के प्रति हीन-भावना आदि व्यक्तिवादी बौद्धिकता के ज्वलन्त पहलू रहे। नयी कविता में शिल्प-बोध के नाम पर नवीन भाषा, नवीन प्रतीक, नए छन्द और योनि-बिम्ब को स्वीकार किया गया। भाषा में खंडित गद्यमयता का समावेश हुआ।

नयी-कविता को स्थापित मूल्यों और परम्परागत विश्वास-विरोधी आन्दोलन भी कहा जा सकता है। इसके व्याख्याताओं ने रसानुभूति या साधारणीकरण के विपरीत बौद्धिकता, अनुभूति के विपरीत अनुभव और समाज के विपरीत व्यक्ति को महत्ता प्रदान की। उन्होंने, शब्द की लय के स्थान पर, अर्थ की लय का भी नारा दिया! इस प्रकार, नयी कविता का समस्त स्वरूप, साहित्यिक जगत से लोकमंगल की भावना का निर्मूलन और वैचारिक क्षेत्र से समाजवादी चिन्तन का विरोध करना सिद्ध हुआ।

डॉ० सहल का काव्य, नयी कविता की उक्त कसौटी पर खरा नहीं उतरता। यही उसकी श्रेष्ठता और सफलता का प्रमाण है।

डॉ० सहल के काव्य में, नए काव्य के समान प्रयोग मिलते हैं, किन्तु साहित्यिक तथा सामाजिक परम्पराओं से आस्थाहीन भटकाव नहीं मिलता। इनके काव्य में, प्रयोग की सीमा शिल्प तक निहित है और परम्परा के अन्तर्गत विशुद्ध देश-प्रेम, ठोस सामाजिकता, मानवता के विकास में अविचल आस्था, गाँधीवादी जीवन-दर्शन के प्रति अनुराग, युद्ध-विरोधी भावना और अज्ञात शक्ति में विश्वास आदि की गणना की जा सकती है।

डॉ० सहल ने, अपने समस्त काव्य-जीवन में, परम्परा को उपयोगिता की तुला पर तोला है। अनुपयोगी और मानव-विकास में बाधक परम्पराओं को इनके काव्य में स्थान नहीं मिला।

अब, डॉ० सहल के काव्य की राह से गुजर कर उक्त मान्यता की प्रामाणिकता सिद्ध करना आवश्यक है। अब तक, डॉ० सहल के दो काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं—'प्रयोग' (१९५६) और 'क्षणों के धागे' (१९६० ई०)।[१]

देश-प्रेम की दृष्टि से 'क्षणों के धागे' की 'देश, मेरे देश' एवं 'अभिनन्दन' और 'प्रयोग' की 'ज्योति भूमि यह देश हमारा' नामक कविताएँ उल्लेखनीय हैं।

१. हाल ही में 'समय की सीढ़ियाँ' नामक तीसरा काव्य-संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है।—सम्पादक

आज, प्रान्तीयता का दानव समूचे राष्ट्र की आत्मा को खाये जा रहा है। यह संकीर्ण चिन्तन कवि को व्यथित करता है। अतः कवि, उत्तर-प्रदेश में प्रवाहित पुण्यसलिला गंगा के सांस्कृतिक महत्त्व और राजस्थान की वीर भूमि के गौरव को, केवल इन प्रदेशों का ही न मानकर, समूचे राष्ट्र का सिद्ध करता है।

'अभिनन्दन' में, कवि ने, भारत के स्वाधीनता दिवस—पन्द्रह अगस्त का स्तवन करके अपने राष्ट्र-प्रेम का परिचय दिया है। 'प्रयोग' की 'ज्योति भूमि यह देश हमारा' नामक रचना देश के सांस्कृतिक गौरव, शान्ति-कामना, सह-अस्तित्व, समाजवादी चेतना और मानवतामूलक स्वरों की अभिव्यक्ति करती है। कवि को, भारत भूमि की जन-जागृति और समाजोन्मुखी चेतना मानव-स्वाधीनता का सहज मार्ग प्रतीत होती है। अतः कवि गर्व के साथ गा उठता है—

नव-जागृति की अँगड़ाई ले, जग को एक चुनौती देकर,
भारत हृदय एशिया का यह, जाग उठा अब सारा।

मैंने, प्रारम्भ में, निवेदन किया है कि डॉ॰ सहल की चिन्तन-पद्धति वैयक्तिक न होकर समष्टिमूलक है। इसका प्रमाण है—'क्षणों के धागे' की 'बहु जन हिताय' नामक कविता। कुछ समय के लिए नरक में गए धर्मवत्सल राजा द्वारा शक्र तथा यमराज से कहे गए शब्द विचारणीय हैं—

"मैं न यहाँ से तब तक जाऊँगा
जब तक इन दुखिया जीवों को
मुक्ति नरक से
नही मिलेगी।"

स्पष्ट है, कवि का आदर्श राजा, अपने सुख का परित्याग करके, नरक-वासी अनेक जीवों की मुक्ति की कामना करता है। नयी-कविता की वैयक्तिक कुण्ठा की तुलना में यह दृष्टिकोण कितना स्वस्थ और समाज-सापेक्ष है।

कवि का यही दृष्टिकोण, प्रयोग की 'ओ नवो माणस कोण छे' और 'कोई सुन न ले' नामक दो-रचनाओं में देखा जा सकता है। बम्बई जैसे व्यावसायिक शहरों में, ऐसे अनेक माता-पिता रहते हैं, जो प्रातः अँधेरे में ही, बच्चों के जगने से पूर्व काम पर चले जाते हैं और रात को, बच्चों के सो जाने के बाद, अँधेरे में, घर लौटते हैं। छुट्टी के दिन, नए व्यक्ति को घर में देखकर, बालक अपनी माता से पूछते हैं—घर में यह नया व्यक्ति कौन है? जीविकोपार्जन के लिए, रात और दिन, इस मृत्युगामी संघर्ष में रत, मानवता के लिए, कवि-हृदय में कितना प्रेम है, यह इस कविता से ज्ञात होता है। वैयक्तिक कुण्ठा और अनास्था की रेतीली भूमि में

प्रवाहित, नयी कविता की शुष्क धारा में इस मानवता-प्रेम का रस नहीं मिलता। इसके विपरीत, मानवता-प्रेम, डॉ० सहल के काव्य की सहज उपलब्धि है। कवि, अपने हृदय की संचित निधियाँ व्यथित मानवता के लिए बाँटने को सहज सन्नद्ध है। 'कोई सुन न ले' कविता इसका प्रमाण है। यही स्वर, प्रयोग की 'बात यह खटक गई' नामक रचना में सुना जा सकता है।

कवि को, मनुष्य से मनुष्यता के बहिर्गमन पर अत्यन्त दुःख है। अतः वह जग की सारी त्रुटियाँ स्वयं लेकर अपनी चिरसंचित निधियाँ वितरित करने का अभिलाषी है। वह देखता है कि आस्थाहीनता, वैयक्तिक स्वार्थोन्मुखता, जीवन के उदात्त मूल्यों के प्रति विश्वासहीनता, पूँजीगत अमानवीय प्रतिद्वन्द्विता और बड़े राष्ट्रों की युद्धलोलुपता ने मानव में मर्यादाहीनता का संचार किया है। वह देखता है कि आज का मनुष्य, मानव न रहकर स्वार्थ-पूर्ति की मशीन का एक पुर्जा बन गया है। कवि को, मानव के इस पतन पर दुःख है, किन्तु वह नयी-कविता के कवि के समान पतन और ह्रास के गीत नहीं गाता और न उसकी वकालत करता है। उसे, मनुष्य की सृजन-शक्ति में विश्वास है। अतः वह, लोकहिताय आस्था और विश्वास के गीत गाता है। 'विडम्बना' नामक रचना इसका प्रमाण है।

इस रचना में, कवि ने, अकर्मण्यतामूलक आधुनिक जीवन का जो प्रातः जगते ही चायपान, दैनिक पत्र के हैडिंग-पाठ, रेडियो-श्रवण, सिगरेट-पान और दफ्तर-गमन से प्रारम्भ होकर सन्ध्याकालीन खेल-कूद, क्लब में गप-शप, सिनेमा-दर्शन तथा रात काली करने मात्र तक सीमित है, कठोर विरोध किया है और संघर्ष तथा साहसशीलता का 'तू जीता हम हारे' नामक रचना में समर्थन।

मयूर की दृढ़ता, संघर्षशीलता और जीवन-विश्वास कायम रखने की क्षमता मानव के इन्हीं गुणों का प्रतीक है। मयूर, साहसशील और दृढ़व्रती मनुष्य का प्रतीक है। नयी कविता के अनगढ़ प्रतीकों की अपेक्षा यह प्रतीक सार्थक एवं सुन्दर है।

नयी-कविता के कवि को न तो मनुष्य के जीवन में विश्वास है और न उसके जीवन-मूल्यों में। वह वर्तमान के प्रति-कुण्ठाग्रसित और भविष्य के प्रति निराशामय है। दूसरी ओर, डॉ० सहल को मानव के सुन्दर भविष्य में विश्वास है, देखिए—

"तीस मार्च-सा दिवस
एकता का जो स्मारक
इसको प्रेरित सदा करेगा
उन्नति-पथ पर।
धरा उर्वरा सभी बनेगी

नये-नये आयोजन होंगे
खानें रत्न राजियाँ उगलें
प्रगति-पंथ अवरुद्ध न होंगे
तीस मार्च यह
काल-खण्ड है।"

उक्त पंक्तियाँ, इस बात की प्रमाण है कि नयी-कविता के कवि के समान, डॉ० सहल का कवि न तो आत्महीनता का शिकार है और न अनास्था का, वह न नैतिक संकल्प के अभाव से आक्रान्त है और न तज्जन्य क्षोभ तथा उन्मादी भावना से। नयी-कविता के रचयिता के समान वह आन्तरिक रिक्तता से भी पीड़ित नहीं है। उसकी अपनी निश्चित दिशा है और दिशा में अग्रसर होने का शारीरिक तथा नैतिक साहस भी है। उसकी प्रतिज्ञा है,

"स्वर्ग समान करेंगे धरती
इस धरती के लाल
सभी वे इस धरती के लाल"

सहलजी की आस्था के स्वर उनकी व्यंग्यात्मक कविताओं में भी देखे जा सकते हैं। 'क्षणों के धागे' की 'तनिक सरक जा अरी धरित्री' में तथाकथित यशस्वी तथा गर्व से आक्रान्त वर्ग पर व्यंग्य है और 'आओ, हम रोड़ा अटकादें' में 'मुँह पर राम बगल में छुरी वाली' मनोवृत्ति वाले समाज पर। 'क्या ये पलकें भी कृत्रिम हैं' कविता में मर्यादा का उल्लंघन करने वाला समाज व्यंग्य का शिकार हुआ है। 'प्रयोग' की 'पुरानी बोतल में नई शराब' और 'डबल थिंकिंग' कविताएँ-व्यंग्य प्रधान हैं। इनका व्यंग्य सोद्देश्य और सामाजिकतापरक है। कवि सम्यक्-दृष्टि का आराधक है। 'साइकिल मेरा जीवन दर्शन' कविता इसका प्रमाण है।

नये-काव्य की प्रेरणा के स्रोत न तो भारतीय समाज में थे और न भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के गौरवपूर्ण अन्तराल में। फलतः उसकी समस्त बौद्धिकता तथा दार्शनिकता कृत्रिम और स्वयं आरोपित सिद्ध हुई। उसकी प्रेरणा के आधार थे, टी० एस० इलियट के 'वेस्टलैण्ड' तथा 'दि हॉलो मैन' जैसी कुण्ठित कृतियाँ। उसको 'ज्यां पाल सार्त्र' जैसे अस्तित्ववादी एवं कोलिन विलसन, गुन्यर, ब्लॉकर और एन्द्रे मालरावस जैसे अनास्थावादी विचारकों से भी प्रेरणा मिली। इसके विपरीत, सहल जी की प्रेरणा के स्रोत हैं, शान्तिकामी एवं मानवता के उपासक महात्मा गांधी एवं विनोबा। 'प्रयोग' की 'सत्य-पुरुष' तथा 'क्षणों के धागे' की 'हे अमर ज्योति' नामक रचनाएँ गांधी-दर्शन का प्रभाव सिद्ध करती हैं और 'प्रयोग' की 'धरती धन्य-धन्य हम जानी' विनोबा का।

युग-द्रष्टा और युग-स्रष्टा गांधीजी के समान कवि भी मानव के सुन्दर भविष्य के प्रति आस्थावान है। 'समय का बाँध' कविता की पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

> "ऊसर मानवता का मरु–थल
> उससे सदा सिक्त होकर नव
> हरियाली में परिणत होगा
> नयी-नयी आशाएँ जिससे
> कुसुमों–सी हो होकर
> विकसित
> जगती के विस्तृत आँगन को
> सुरभित पुलकित सदा करेंगी।"

निष्कर्ष यह है कि डॉ० सहल स्वस्थ परम्परा के अनुयायी कवि हैं। काव्य-रचना उनका अभिप्रेत नहीं। उनका अभीष्ट है, अन्तः तथा बाह्य परिस्थितिजन्य संघर्षात्मक अनुभूति की व्यंजना। कविता, उनके लिए निहित उद्देश्य की पूरक शक्ति है। नयी कविता का कवि एक रहस्यमय आत्मपीड़न से भी आक्रान्त है, जिसके बीज स्वच्छन्दतावादी कवि में खोजे जा सकते हैं। डॉ० सहल इस व्यक्ति-मूलक आत्मपीड़न से मुक्त हैं। उनमें जहाँ-कहीं पीड़ा का अस्तित्व है, वह सामाजिक वैषम्य का परिणाम है।

वह सामाजिक पीड़ा से दुःखी हैं, किन्तु इसके निर्मूलन की वह क्रान्तिकारी साहसशीलता, जो निराला जी की विशेषता है, इनके काव्य का आभूषण नहीं बन पाई।

डॉ० सहल काव्य में वजन, संयम अथवा ध्वनि-लहरियों के समर्थक हैं। वह नयी-कविता के पक्षधरों की भाँति कविता को एक 'अन्दाज' या श्रमरहित रचना नहीं मानते। उनकी इस मान्यता के प्रमाण, उनके दोनों काव्य-संग्रह हैं। इनकी रचनाओं में संगीतात्मक अभिव्यक्ति, रचना-गत संयमन, छन्द-लालित्य और अभि-व्यंजना की सरसता वर्तमान है।

सहलजी काव्य में प्रयोगों के विरोधी कभी नहीं रहे। नये-नये प्रयोगों को, आपने, शुभ लक्षण माना है, किन्तु प्रयोग के पीछे वर्तमान अनुकरण-वृत्ति का वह विरोध करते हैं। पश्चिमी काव्यकारों की अंधी नकल को वह हेय मानते हैं। नव्यतम यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए नूतन छन्द की उद्भावना उनको ग्राह्य है। 'प्रयोग' की 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे', 'पुरानी बोतल में नई शराब' और 'काल का

अणु' तथा 'क्षणों के धागे' को 'नमस्कार', 'समय का बाँध', 'तू जीता हम हारे', 'फिर भी वह तो मात्र द्विपद है', और 'मैंने कब यह कहा कि' आदि रचनाएँ छन्द के प्रयोगों की साक्षी देती हैं। इसके अतिरिक्त, सहलजी ने लोकगीतों की ध्वनि पर 'स्वर्ग समान करेंगे धरती' और सहगानमूलक 'धरती धन्य-धन्य हम जानी' जैसे प्रयोग भी किए हैं। इनकी विशेषता यह है कि ये केवल प्रयोग मात्र नहीं, कुशल अभिव्यंजना के उपादान भी हैं।

कई कविताओं में, आपने, भाषा के प्रयोग भी किए हैं। राजस्थानी भाषा को कई पंक्तियों को कविताओं में रखकर अभिव्यक्ति को तीव्र बनाया है। 'मोरिया', 'लोह', 'तणी', 'माणस', 'छै' आदि राजस्थानी भाषा के प्रयोग से प्रेषणीयता का प्रभाव गहराया है।

सारांश यह है कि डॉ० सहल स्वस्थ परम्परा के प्रयोगशील कवि हैं। उनका काव्य वाद और परम्पराओं की सीमित राहों से आगे निकलकर स्वस्थ राहों का अन्वेषण करता है।

●●●

आपका नया 'प्रयोग' स्वागत-योग्य है। इसे आगे भी चलाते रहिए।

साधारण बात कहते-कहते आप कुछ ऐसा कर देते हैं कि जिससे चौंक जाना पड़ता है।

—(स्व०) मैथिलीशरण गुप्त

आपके 'क्षणों के धागे' स्थायी होते दीखते हैं। यह आपकी सफलता है।........

सुन्दर भूमिका और सूचनाओं से पुस्तक और भी सज गई है।

—(स्व०) मैथिलीशरण गुप्त

'प्रयोग' से 'क्षणों के धागे' तक

• डॉ० हरिचरण शर्मा

परिवर्तन का चक्र बड़ी तेजी से घूम रहा है। दुनिया अपने आप में सिमटती जा रही है। सर्वत्र एक दौड़ हो रही है। हर आदमी दम छोड़ कर भाग रहा है, उसे न तो पीछे मुड़कर देखने की फुर्सत है और न आगे के खड्डे की परवाह। वह समझता है 'दौड़' ही मूल्यवान है, उसके पीछे छुपी भावना बेमानी और गैरजरूरी है। उसे यह भी मालूम नहीं कि वह कहाँ जा रहा है ? क्यों जा रहा है ? अपने से ही अजनबी और अपरिचित आज का मानव दूसरों की परवाह करे भी तो कैसे ? जीवन इतना व्यस्त और सीमित है कि दूसरों के लिए सोचना तो दूर, वह अपने लिए ही नहीं सोच पा रहा है। रुचियों के मेले में स्वार्थ और संकीर्णता की दुकान सजा कर दुनिया 'मीना बाजार' बन गई है और साहित्य-जगत् भी इससे अछूता नहीं रहा है। आज साहित्य और कला ही नहीं, ज्ञान और विज्ञान भी जीवन के बदलते मान-दण्डों के आधार पर कसे जा रहे हैं। समालोचना के इस युग में कविता भी सम्प्रदायों में बंट गई है और गुटों में कैद होकर जैसे वह अवश भिखारिन की भाँति जगह-जगह घूमती हुई हर कवि से सत्य की भिक्षा माँग रही है।

कविता का सत्य कवि की आत्मा की उस भीतरी परत पर अंकित है, जहाँ इस भाग-दौड़ का न तो कोई औचित्य है और न कोई अर्थ। जन-संकुल वातावरण में कविता चीख-चीख कर कह रही है, कि अरे भारती के सपूतो ! अपने आपको न तो आगे से काटो और न पीछे से। केवल वर्तमान की विसंगतियों और रुचियों की वैसाखियों के सहारे चलने में ही जीवन की सार्थकता नहीं है, अपितु चिन्तन और व्यवस्था ही हमें सही मार्ग दिखा सकती है। हम परिस्थितियों से नहीं बदलते बल्कि हमसे परिस्थितियाँ बदलती हैं। डॉ० सहल एक ऐसे ही कवि हैं जिनकी कविता में एक व्यवस्था है, एक संतुलन है, लय है और उनकी कविता परिस्थितियों

की दासी नहीं हैं, अपितु जीवन के क्षणों से कुछ समय निकाल कर लिखी गई ऐसी यथार्थ डायरी है जो मानवता की सुरक्षा-व्यवस्था के लिए भी निहायत जरूरी है और मानव-जीवन की स्वस्थ गतिशीलता के लिए भी। साथ ही उसमें कर्म, प्रयत्न, मानवता और बुद्धि व हृदय का अभूतपूर्व मिश्रण है। इतना ही क्यों, उसमें निरुद्देश्य दौड़ती भीड़ पर करारे व्यंग्य हैं और आधुनिक विसंगतियों की भयावहता से उभरने का मार्ग भी। 'आलोचना के पथ पर' चलते-चलते जब कभी उनकी दृष्टि जीवन के उपरिकथित संत्रास और तज्जन्य विवशता पर जाकर टिक गई है, तभी वे कविता के पास और कविता उनके पास चली आई है।

आलोचना बाह्य अनुसंधान है और कविता अन्वेषण-यानी भीतरी खोज। उनका हृदय आलोचना-जगत् में जिस भाव-सत्य को नहीं पा सका है, वही उन्होंने कविता के माध्यम से पा लिया है। सहलजी का कवि-मानस कितनी ही ऐसी स्थितियों के चित्रों से सजा 'एलबम' है, जो जीवन की स्वार्थपरता, संकीर्णता और विवशता की काली रील पर उतारे गये चेतन-जीवन की साफ-सुथरी तस्वीरों से भरा पड़ा है। हम कहीं से भी पलट कर देखें, उसमें हमारी सांस्कृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक छवियाँ तो मिलेंगी ही, साथ ही नये मानवीय मूल्यों के रंगों में मानव-जीवन की विविध तस्वीरें भी मिलेंगी। ये कविताएँ एक ऐसे कलाकार की चित्रावलि हैं, जिसमें परम्परा और प्रयोग, वर्तमान और अतीत मिलकर भविष्य की मूल्यवान निधि बन गये हैं। सहलजी के दो कविता संग्रह मेरे सामने हैं—'प्रयोग' और 'क्षणों के धागे'। इनके अतिरिक्त उनकी करीब ७० छोटी-बड़ी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में सुरक्षित हैं।

'प्रयोग' में कई संदर्भ हैं, कहीं जीवन की विषमता पर व्यंग्य है तो कहीं वादों और गुटों में कैद जिन्दगी की निरर्थकता और असहायता पर, किन्तु इन सबके ऊपर मानवता का संदेश है। कवि ने परम्परा को एकदम भुलाया नहीं है, उसने तो जैसे परम्पराओं को नये संदेश संदर्भ दिए हैं और कुछेक नये प्रयोग भी किये हैं। यही कारण है कि 'प्रयोग' प्रयोग भी है और कवि के चिन्तन का भावमूलक विश्लेषण भी। उसमें सत्य भी है, संदेह भी है और इन सबकी छाँह में पलता मानव-जीवन भी है। 'प्रयोग' की कविताओं में चिन्तन प्रधान है। कवि विचारक के रूप में सामने आया है। यही कारण है कि कवि ने कविताओं के माध्यम से सामाजिक विसंगतियों, ईर्ष्या और द्वेष की अग्नि में जलते और स्वार्थ व संकीर्णता की गलियों से गुजरते मानव की स्थिति से संत्रस्त होकर कर्म का संदेश दिया है। वह भाग्यवादी नहीं, कर्मवादी है। इसी से कविताओं में यह भाव बार-बार आया है कि मनुष्य परिस्थितियों की कठपुतली नहीं है, वरन् उसमें

अदम्य शक्ति है। सहलजी ने भारतीय दर्शन के संदर्भ से कर्मवाद की प्रतिष्ठा की है। उनका विश्वास है कि स्वतंत्रचेता व्यक्ति अपनी शक्ति से, अपनी बुद्धि-चेतना की कुशलता से अपनी नयी दृष्टि का अवलम्ब लेकर कर्म की ओर ही प्रवृत्त नहीं होता है, अपितु नयी राह भी खोजता है। आज अस्तित्ववाद के साये में जो चिन्तन चल रहा है, वह बहुत पहले ही सहलजी के 'प्रयोग' के माध्यम से अभिव्यक्त हो चुका है। इस दृष्टि से 'प्रयोग' नयी चिन्तना का वाहक भी है और नये द्वारों का पुरस्कर्ता भी।

आज विज्ञान का युग है। मस्तिष्क बढ़ रहा है और हृदय पीछे छूट रहा है। फलत: दोनों के बीच खाई बढ़ती जा रही है। आवश्यकता इस बात की है कि विज्ञान द्वारा प्रसारित बुद्धिवाद और भारतीय संस्कृति के हृदयवाद के बीच बनी इस खाई को भरा जाये। मानव-शांति का यही सफल और सर्वोत्तम उपाय है। कामायनीकार प्रसाद ने जिस भेद की ओर यह कहकर संकेत किया था कि—

> "मस्तिष्क हृदय के हो विरुद्ध, दोनों में हो सद्भाव नहीं।
> जब वह चलने को कहे कहीं, तो हृदय विकल चल जाय कहीं॥

उसी का स्पष्ट निदर्शन 'प्रयोग' की कतिपय कविताओं में मिलता है। सहलजी का कवि-मानस विविध विचारों के साये में हृदय और बुद्धि के इसी बिलगाव को सफल वाणी दे सका है। 'काल का अणु' और 'द्वैध चिन्तन' इन्हीं सदर्भों में लिखी गई कविताएँ हैं। 'द्वैध चिन्तन' के माध्यम से कवि ने स्पष्ट किया है कि आज मानव दुहरी जिन्दगी जी रहा है। बाहर से तो उसकी वाणी अमृत बरसाती है, किन्तु उसका अन्तस् विषवमन करता है। उसकी एक सांस तो शांति का पाठ पढ़ाती है—और दूसरी घात लगाती है। कवि का संताप इसलिए है, कि आज मानव द्विजिह्व बन गया है—'कासमोपोलिटन' बन गया है। उसकी जबान 'ओयली' है जिस पर कोई भी बात सत्य रूप होकर टिक नहीं पाती है। बाहर और भीतर की यह विषमता ही जीवन को विनाश की ओर ले जा रही है। प्रयोग की कविताएँ एक आस्थावान कवि की कविताएँ हैं। इसी से उनमें मानव की व्यस्तता, विवशता, दानवी प्रवृत्ति, संकीर्णता और स्वार्थपरता के रेखांकन के बाद भी इन सबसे उभरने का सफल प्रयास है।

'बात यह खटक गयी' कविता संकलन की विशिष्ट कविता है जिसमें साधारण शैली में एक असाधारण बात कही गई है। शैली में इतना निजीपन और मर्मको छूने की शक्ति है कि सम्पूर्ण कविता का भाव मस्तिष्क को झटक जाता है। आग के जलने के बाद राख शेष रह जाती है, शिवत्व से इकार निकलने पर

'शवत्व' रह जाता है, किन्तु मनुष्य से मनुष्यता निकल जाने पर भी उसके रूपाकार और नाम में कोई अन्तर नहीं आता है। कितना बड़ा सत्य है, कितनी मर्म को छूने वाली बात है और उसे कितनी साधारण शैली में ऐसे कह दिया गया है जैसे कोई चित्रकार बड़ा चित्र बनाने के बाद उसे चुपके से रखकर कहीं चला जाय और देखने वाला विस्मय से उसे ढूँढ़ता रह जाये। वस्तुतः सहलजी की कविताओं का यह बहुत बड़ा गुण है कि वे साधारण बात असाधारण शैली में इस तरह रख देते हैं कि पाठक चमत्कृत हो उठता है। यही साधारण की असाधारणता है, जो नयी कविता की बहुत बड़ी उपलब्धि है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सहलजी की कविताओं को इसी प्रकार की बहुतसी विशेषताओं के आधार पर नयी कविता की पंक्ति में बिठाया जा सकता है। यह शैली निर्जीपन और आत्मीयता के दो ऐसे छोरों का स्पर्श करती है, जिससे कवितागत सत्य सहज और महत्त्वपूर्ण ढंग से सम्प्रेपित हो जाता है।

'ओ नवो माणस कोण छे', 'बात यह खटक गई', 'नहीं पहचान पाया मैं अरे आवाज अपनी ही' और 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' जैसी कविताओं में साधारण शैली की यही असाधारणता देखने योग्य है। 'ओ नवो माणस कोण छे' में एक ओर जीवन की व्यस्तता से उत्पन्न अप्रत्याशित और अनचाहे संदर्भ की कड़वी और दर्द-भरी दुनिया है तो दूसरी ओर 'बड़े शहरों की भीड़ में खोये मानव-सम्बन्धों' का हवाला है। बड़े शहरों के अंधेरे बंद कमरों में जैसे मानव सड़ रहा है, वैसे ही उसके सम्बन्ध जुड़कर भी टूट गये हैं। कवि ने नयी कविता की शैली में अपनी बात को पूरी वफादारी के साथ पाठकों के सामने रख दिया है। 'नहीं पहचान पाया मैं अरे आवाज अपनी ही' कविता में भी यही बात है। कवि की 'एप्रोच' नयी है! बात साधारण है कि यंत्र से प्रसारित होने पर मनुष्य की आवाज बदल जाती है, किन्तु व्यंजना कितनी असाधारण और विशिष्ट है। आज विज्ञान के बढ़ते हुए चरणों ने मनुष्य की मनुष्यता तो छीन ही ली है, उसकी स्वाभाविकता और सहजता को भी छीन लिया है। फलतः उसकी अपनी आवाज ही उसके लिये अपरिचित और अजनबी बन गई है। विज्ञान ने मानव-सम्बन्धों में दरार पैदा कर दी है। आज उसकी आवाज भी उसकी नहीं रही है। कैसी विषमता है कि यांत्रिक जीवन की चक्की की घरघराहट में वह अपने व्यक्तित्व से ही नहीं, अपनी आवाज से-अपनी आत्मा की शक्ति से ही अपरिचित हो गया है। इस ट्रेजेडी को व्यक्त करने के लिए सहलजी ने जिस शैली का प्रयोग किया है, वह कविता के इतिहास में अपना सानी नहीं रखती। बात यों भी सच है, कि मनुष्य सब करता है, किन्तु अपने आप को ही नहीं पहचान पाता है। आत्मान्वेषण की प्रक्रिया से न गुजरने के कारण ही जीवन

में विषमता व्याप्त है और कवि इसी विषमता से पीड़ित होकर स्वस्थ जीवन-पद्धति का संदेश देता है।

आज उपदेशों का युग नहीं है, भारी भरकम बात कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि कोई उसे सुनना नहीं चाहता है, लेकिन न सुनने से काम तो चलने वाला नहीं। जाहिर है कि सत्य प्रेषित होना ही चाहिए, फिर एक आस्थावादी कवि इस सत्यप्रेषण से कैसे विलग रह सकता है? यही वजह है कि वैषम्य, अराजकता, अविश्वास और स्वार्थान्धता के युग में समता और ज्ञान का दीपक ही प्रकाश-किरण फैला सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि सहलजी ने इतने बड़े सत्य की प्रतिष्ठा और मानवता के विधान के लिए ही यह असाधारण, किन्तु सहज और विशिष्ट शैली अपनायी है। यह वह शैली है जो आज के युग में मनुष्य को सबसे अधिक अपनी और आत्मीय प्रतीत होती है। सहलजी ने जन-मानस की इस चेतना को पहचाना है और बड़ी से बड़ी बात कहने का यह सहज तरीका निकाला है।

संकलन की अन्य कविताओं में कवि की साधना-मूलक दृष्टि और मानव-जीवन की विविध स्थितियों का अंकन है। आंसू और हंसी के संवेदनात्मक व्यापारों से बना मानव-जीवन असहाय और विवश तो है ही, त्रस्त और विपन्न भी हो गया है। जीवन में नियंत्रण और संतुलन की परम आवश्यकता है। मनुष्य को जिह्वा पर नियंत्रण रखना चाहिए, नहीं तो महाभारत होने में देर नहीं लगती है। शांति के पुजारी कवि ने इसके माध्यम से शांति की कामना की है। शांति और सुख दोनों ही जीवन की बहुत बड़ी आवश्यकताएँ हैं, किन्तु विवशता इनके बीच में मुंह बाये खड़ी है। वह पुराने तराने तो गाने नहीं देती और नयों का गाया जाना संभव नहीं है। फलतः मनुष्य अपनी पुरानी संस्कृति को भी भुला बैठा है और वह जीर्ण कह कर छोड़ दी गई है। रही नयी संस्कृति, वह गले नहीं उतर रही है। यही विडम्बना है, विवशता है, तो क्या मनुष्य पीड़ा से छटपटाता रहे? नहीं। कवि ने तपस्या को श्रेष्ठ बतलाया है, क्योंकि कर्म के मार्ग में आये कष्टों को सहकर ही सुख और शांति उपलब्ध हो सकती है। तप की अग्नि में तपने से ही मानव-मन कोमल बनता है। दुनिया गवाह है कि कष्ट सहे बिना कोई मानवता विकसित नहीं हुई है, किसी भी इतिहास का निर्माण नहीं हुआ है। कवि का निम्नलिखित कथन देखिए, जिसमें यही संदेश निहित है—

"कुम्भ आग में पका नहीं
कच्चा घट क्या ललनाओं का

शिरोधार्य बन सका कहीं ?
काष्ठ भस्म यदि हुआ नहीं
बन विभूति क्या संत जनों के
मस्तक पर वह चढ़ा कहीं ?
निष्ठुरता तो बनी रही
गल न सका यदि मानव का मन
दुख ज्वाला में कभी नहीं !!"

आज नयी कविता जिस 'लघुमानव' को वाणी दे रही है, उसका सांकेतिक स्पर्श सहलजी की कविताओं में भी मिलता है। यह मानव अपनी उपलब्धियों पर नहीं, त्रुटियों पर गर्व करता है। उसकी धारणा है कि स्पर्द्धालु दुनिया में केवल रोष, त्रुटियाँ और भूलों पर ही मनुष्य अपना अधिकार जता सकता है। मानव की भूलें ही ऐसी हैं जिन पर अकेले उसी का अधिकार है। इनमें किसी का साझा नहीं है। यही उसकी निधि है—

"मैं अपनी त्रुटियों का प्रेमी
मैंने निधि-सी उन्हें संजोकर
उनको ही बस प्यार किया है।"

अपने लघुत्व के प्रति इतना ममत्व नयी कविता की विशेषता है और सहलजी का यह भावमूलक चिन्तन भी नयी कविता के संदर्भ से पढ़ा और समझा जाना चाहिए। इसी प्रकार 'काल का अणु' में क्षणवादी भावनाओं को अभि-व्यक्ति मिली है। क्षण का मूल्य अमूल्य है, किन्तु सहलजी का क्षणवाद स्वस्थ और संतुलित जीवन-पद्धति का संदर्भ प्रस्तुत करता है, जबकि नये कवि में यही भावना उसे वैयक्तिक सीमाओं का स्पर्श कराती हुई भोगवाद तक ले जाती है। कवि का कथन तो यह है—

"काल का अणु एक ही क्षण
बिखर जो यदि जाय जग में
व्याप्त उसकी परिधि में हो
काल सीमाहीन बनकर ॥"

नयी कविता में व्यंग्य का अच्छा विकास हुआ है। 'प्रयोग' की कतिपय रचनाओं में व्यंग्य पैना और तीक्ष्ण होकर बहुत प्रभावकारी बन गया है। 'मयूर-व्यंसक' कविता में नगरीय सभ्यता और जीवन-पद्धति पर करारा व्यंग्य है। यद्यपि यह कविता अज्ञेय की 'सांप के प्रति कविता' से पूरी तरह प्रभावित है, फिर भी 'मयूर'

का संदर्भ देकर कवि ने अपनी मौलिकता का परिचय भी दिया है। दोनों कविताएँ प्रस्तुत हैं—

"सांप तुम
सभ्य तो हुए नहीं
न होगे।
एक बात पूछूं ?
उत्तर दोगे ?
कहाँ सीखा डसना ?
विष कहाँ पाया ?"

सहलजी की कविता इस प्रकार है—

"ओ रे मयूर !
सुन्दर मयूर !!
व्यंसक मयूर !!!
एक बात पूछूं
उत्तर दोगे ?
शहरों में तुम रहे नहीं
फिर क्यों कर तुमने
बाहर से कमनीय कलेवर
अन्दर से छलिया
बनकर के
सीख लिया
विषधर का खाना !!!"

इस कविता में अज्ञेय की कविता की भाव-वस्तु तो है ही, शैली तक का अनुकरण है, फिर भी अज्ञेय की कविता में 'संजैस्टिविटी' अधिक है और सहलजी की कविता में स्पष्टता और विश्लिष्टि। व्यंग्य दोनों का मारक है, किन्तु सहलजी ने कविता के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते कथ्य को सहज संवेद्य बना दिया है, जबकि अज्ञेय ने अपनी ओर से कुछ न कहकर पाठक के लिए छोड़ दिया है।

'पुरानी बोतल में नयी शराब' कविता मुक्त अनुषंग पद्धति पर लिखी गई है, जो यह सिद्ध करती है कि जीवन की व्यस्तता से निकल कर आज 'फ्री थिंकिंग' कितना चल रहा है ? इस पद्धति पर नये कवियों ने अनेक कविताएँ लिखी हैं। सहलजी में उन्हीं का प्रभाव प्रतीत होता है। 'चितेरा' और 'काल गणित' रहस्या-

भास देने वाली कविताएँ हैं। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कवि कुछ क्षणों के लिए रहस्य और दर्शन की दुनिया में चला गया है। वास्तव में इन दोनों कविताओं में कवि का जिज्ञासामूलक स्वर रहस्याभास से मिलकर एक अद्भुत मिश्रण तैयार करता है, जो कुछ स्थितियों में हमें प्रभावित भी करता है और कतिपय संदर्भों में गैरजरूरी भी प्रतीत होता है। कुछेक कविताओं में राष्ट्रीयता और वीर-भावना का संदर्भ है, तो कुछेक कविताओं में मातृभूमि की वंदना की गई है। कुल मिलाकर 'प्रयोग' प्रयोग है, किन्तु ऐसा प्रयोग जो कितने ही संदर्भों में परम्परा भी बन सकता है और अपने भविष्यधर्मी दृष्टिकोण से स्वस्थ मान-मूल्यों को विकसित करने में सहायक भी। आस्था की उम्र लेकर जीने को तैयार इन कविताओं में न तो रुग्ण मनोवृत्ति कहीं मिलेगी और न अतिरिक्त वैयक्तिकता व अतिरंजित जीवन-दृष्टि ही। यहाँ तो सभी कुछ साफ-सुथरा, धुला-धुलाया स्वस्थ जीवन-चेतना का प्रसार है, जो पाठक को संतुलित जीवन-पद्धति देगा और हिन्दी-कविता के इतिहास में अपनी पहचान आप होगा। हाँ, शिल्प की दृष्टि से कविताएँ प्रारम्भिकता की सभी सीमाओं का स्पर्श करती हैं। कहीं-कहीं शब्द-प्रयोग में हुई फिजूलखर्ची, भावान्विति का अभाव और शैलीगत एकरसता अखरती है, किन्तु अभिव्यक्तिगत सहजता, आत्मीयता और विचारों की मौलिक प्रस्तुति के साथ-साथ उपमानगत नवीनता, नव्यार्थयुक्त शब्द-प्रयोग, कथन-वक्रता और सरसता में डूबी कविताओं की माला में उपर्युक्त अभावों का रंग हल्का नीला है। आगे चलकर यही माला के मनके जब 'क्षणों के धागे' में पिरोये जाते हैं, तो वे भीतर से तो अधिक रंगीन हैं ही, इनकी बाहरी 'स्किन' भी टिकाऊ और स्थायी प्रतीत होती है।

जीवन में अनेक क्षण ऐसे आते हैं, जबकि हम-हम नहीं होते, बल्कि अनुभूति और जीवन के धागों से ऐसा पट बुनते हैं कि खुद हम ही हैरान हो जाते हैं—अपनी सर्जना देखकर। डॉ० सहल की यह कृति एक ऐसी ही सर्जना है, जिसमें कितने ही क्षणों की जीवन्त अनुभूति कविता बनकर कागज पर उतर गई है। यह संग्रह 'प्रयोग' से आगे की ऐसी भूमिका प्रस्तुत करता है जिसमें कवि का चिन्तन स्वस्थ और संतुलित तो हुआ ही है, साथ ही शैली भी वैविध्यपूर्ण और नयी हो गई है। यह वह संग्रह है जिसकी कविताएँ डॉ० साहब के भावी कवि-रूप की स्वस्थ और जीवंत-कल्पना को रेखांकित करती हैं। 'समय का बाँध', 'अंधकार को आग लगादो', 'नाम अंकित किया चन्द्रमा पर', 'मैं हूँ पाँच हजार वर्ष का', 'साइकिल मेरा जीवन दर्शन' और 'फिर भी वह तो मात्र द्विपद है' आदि कविताओं में जो कथ्य है, वह कविता ही नहीं है, कवि के व्यक्तित्व का भी प्रतिरूप है। ये कविताएँ संकलन की सर्वश्रेष्ठ और मौलिक कविताएँ हैं। इनकी शैली भी आत्मीयता और सजगता से युक्त है।

सहलजी के मन में गांधी के लिए विशेष आदर रहा है। उनकी विचार-पद्धति और योजना-प्रयोजना में गांधी के चिन्तन का प्रभाव स्पष्ट है। यही कारण है कि 'प्रयोग' से लेकर आज तक की कविताओं में कहीं न कहीं गांधीवादी विचारधारा का सम्यक् और अनिवार्य गुम्फन मिलता है। 'प्रयोग' की कविताओं में जो चिन्तन है, वह समन्वयात्मक भावनाओं का प्रतीक है। 'क्षणों के धागे' की 'हे अमर ज्योति' रचना एक प्रकार से गांधी के लिए वैचारिक श्रद्धांजलि है। उसमें एक ओर भौतिकवादी दुनिया के लोगों पर कटु व्यंग्य है, तो दूसरी ओर गांधी की रीति-नीति की व्यावहारिकता और समकालीन उपयोगिता के साथ-साथ भावी औचित्य का निदर्शन भी है। यही कारण है कि समय भी उनके साथ नहीं चल सका। वे वर्तमान में ही भविष्य का दीप जलाकर मानवता को सच्ची आँखें प्रदान कर गये और उस बीच दीप की लौ तले भौतिक-जन कीट-पतंगों के रूप में जलकर खाक हो गये। मानवता के सबसे बड़े गवाह गांधी के सामने दुनिया के बुरी-राष्ट्र भी अपनी ही हिंसा की चट्टानों से टकरा कर चूर-चूर हो गये। असल में गांधी पर लिखी गई यह कविता केवल कविता नहीं है, वरन् एक ऐसा दस्तावेज है, जो आने वाले कितने ही युगों तक अपनी सच्चाई खुद होगा। 'समय का बांध' रचना भी गांधी की विचार-पद्धति का ही जीवंत रूप है। गांधी ने क्षण को बाँध कर मानवता के रेतीले मैदान में नवीन आशा और आस्था के फूल खिलाये। यह कार्य गांधी ही कर सकता था क्योंकि—

> "समय का बाँध जो बाँध जाते इस जगत में
> काल के भीषण प्रहार से वे ही बचे हैं।"

समय की गति विचित्र है, उसकी सुई निरन्तर बिना रुके घूमती रहती है, किन्तु जो इस नैरन्तर्य में अपने पैर टिका सकता है, वही सच्चा मानव है। कवि का यह संदर्भ और तज्जनित संदेश महान् ही नहीं, अनिवार्यतः अनुकरणीय भी है।

आज की विषम परिस्थितियों में कर्मरत होना, आगे बढ़ना, जागृत रहना, स्वाभिमान की रक्षा करते हुए अस्तित्व के प्रति जागरूक बने रहना आवश्यक भी है और कठिन भी है। 'क्षणों के धागे' की अधिकांश कविताओं में यही स्वर निनादित है। आज जबकि नयी पीढ़ी के कितने ही कवि व्यस्तता, कठिनाई, संकीर्णता, निराशा और हताश जिन्दगी की कविताएँ लिखकर स्वयं तो थकते ही हैं, पाठकों को भी थका देते हैं, वहीं डॉ० सहल की कविताओं में कथ्य की नवीनता सादगी-पूर्ण शैली में जीवन को जीवन मानकर जीने की प्रेरणा देती रहती है। इन कविताओं में कहीं आस्था का दीप है, तो कहीं जीवन में 'चरैवेति-चरैवेति' का संदेश है और

कहीं ताजगी व स्फूर्ति से युक्त हो कर्म करने का आमंत्रण है। भावनाएँ नई जरूर हैं, किन्तु वे कितने ही तथाकथित नये कवियों की तरह चौंका कर समाप्त हो जाने वाली नहीं हैं। उनमें स्वस्थ दर्शन है। 'साइकिल मेरा जीवन दर्शन' कविता को ही लें, तो स्पष्ट होता है कि जीवन में संतुलन बहुत आवश्यक है। कारण सम्यक् दृष्टि ही जीवन की साइकिल को आने वाले झंझावातों और ऊँचे-नीचे खार-खड्डों से बचा सकती है। प्रतीक कितना छोटा है, किन्तु उसकी व्यंजना कितनी महत्त्वपूर्ण है। दैनिक जीवन से लिया गया प्रतीक पूरी 'सजेस्टिविटी' के साथ भाव को सम्प्रेष्य कर देता है। यही साधारण की असाधारणता है। जीवन के दुर्दम्य वात्याचक्रों और प्रबल झंझावातों के सामने झुकने से तो काम नहीं चलेगा। आज की परि-स्थितियों में जिस निर्भयता और दृढ़ता से जीवन-यापन करने की आवश्यकता है, वही 'तू जीता हम हारे' कविता का कथ्य है। मयूर के प्रतीक ने अर्थ को कितना गौरव प्रदान किया है, यह सहज ही ध्यातव्य है। सचमुच ऐसा लगता है कि सहलजी का प्रतीक-विधान दैनिक जीवन के विविध संदर्भों से लिया जाकर अभिव्यक्ति की क्षमता और प्रसन्नता को नये अर्थ और आयाम प्रदान करता है।

आस्था में बड़ी शक्ति होती है। आज की थका देने वाली स्थितियों में हमें चेतनता और आस्था की उतनी ही जरूरत है, जितनी किसी बेसहारा और अवश व्यक्ति को यष्टिका की होती है। आस्था और जागृति के दो कूलों के बीच ही हम सुरक्षित रह सकते हैं और ये ही वे तत्त्व हैं जो कविता को कविता और आदमी को आदमी बनाये रख सकते हैं। यही कारण है कि सहलजी की अनेक कविताओं का पट आस्था और चेतना के धागों से बुना गया है, उनमें एक ऐसी क्रियाशीलता विद्यमान है, जो सम्पूर्ण जड़ता को एक बार ही स्फूर्ति का 'इंजेक्शन' देकर सक्रिय बना देती है। उनकी कविताओं में पस्त मनोदशा, रुग्ण व्यक्तित्व और ठण्डी अनुभूतियों को स्थान नहीं मिला है। मिलता भी कैसे ? 'उत्थातव्यं जागृतव्यं' की पीठ पर लिखी गई कविताओं में स्याह अंधेरा आकार पा भी कैसे सकता है ? हां, यदि कभी मानव-जीवन की व्यस्तता उसे कुरेदे भी, तो वह यह कहकर संतोष कर लेता है—

"रात भले लम्बी हो कितनी
ध्रुव प्रभात तो आयेगा।"

संतुलन के सहचर, प्रगति के विधायक, कर्म के चितेरे, जागृति का अलख जगाने वाले और आस्था की उम्र लेकर जीवित रहने वाले सहलजी की कविताओं में एक ऐसे कवि का साहस, चिन्तन और मानवीय मूल्यों की स्थापना का प्रयत्न

दृष्टिगोचर होता है जिसे जीवन प्यारा है, मानवता प्रिय है और जो बहुजनहिताय की भावना को जीवन का मूल मंत्र मानता है। यही वजह है कि 'क्षणों के ये धागे' केवल उस रेशम की तरह दिखावटी नहीं हैं जो सजधज में तो अपना सानी नहीं रखती, किन्तु जिसकी उम्र उतनी ही कम होती है जितनी पानी के बुलबुले की। वस्तुतः कविता को बुनने वाले ये धागे तो खादी की तरह खुरदरे हैं—ऐसे खुरदरे जिनमें बाहरी नफासत भले ही न हो, भीतरी मजबूती किसी भी हालत में कम नहीं है। यही इनके स्थायित्व की पहली और आखिरी पहचान है। रेशम से खादी और खादी से 'टेरेलिन' की ओर बढ़ते जाना जिस तरह आधुनिक संदर्भों में हमारे स्थायी जीवन की तलाश की प्रक्रिया का एक दौर है, वैसे ही समसामयिक परिप्रेक्ष्य में जीवन-मूल्यों की तलाश भी सहलजी की कविता का अविस्मरणीय संदर्भ है। यह एक ऐसी तलाश है जो उन्हें समकालीन बोध का कवि तो ठहराती ही है, मानव के विकास और निर्माण का हिमायती भी सिद्ध करती है। आज जबकि दोनों पीढ़ियों को अपना-अपना औचित्य सिद्ध करने में पसीना बहाना पड़ रहा हो, शाश्वत मूल्यों को खतरा उपस्थित हो गया हो, परम्परा की चिकनी दीवारों से फिसल कर हड्डी टूटने का भय हो और पुराने विचारों के केंचुल को उतारने की विवशता हो, तो उसका अहसास हर संवेदनशील कवि को होता है। सहलजी भी इसके अपवाद नहीं हैं। यही वजह है कि उनकी कविता में कतिपय ऐसे संदर्भ भी हैं जो उनकी कविता को नयी कविता तक ले आते हैं। समसामयिक संदर्भों की यह स्थिति 'क्षणों के धागे' में कहीं व्यंग्य, कहीं नये-पुराने के संघर्ष, कहीं रूढ़िवादी विचारों की टूट-फूट और कहीं नये मान-मूल्यों की स्थापना के माध्यम से प्रकट हुई है।

नयी कविता में व्यंग्य का अच्छा विकास हुआ है। सहलजी का काव्य भी व्यंग्य के संदर्भ से नयी कविता की एक कड़ी प्रतीत होता है। व्यंग्य 'प्रयोग' में भी था, पर वहाँ वह कथन की एक शैली बनकर रह गया था, परन्तु यहाँ वह शैली तो है ही, ऐसा कथ्य भी बन गया है जो कवि की प्रामाणिक अनुभूति का पैरोकार भी है और तथ्य का संवेदनात्मक आकलन भी। यही कारण है कि कवि कोई और बात करते-करते कुछ ऐसा कह देता है, जिससे एक बहुत बड़े झूठ का पर्दाफाश हो जाता है और कभी-कभी वह इसके लिए ऐसे प्रतीक और बिम्ब जुटाता है कि कथ्य संप्रेषित तो होता ही है, पाठक कवि-कल्पना पर दंग रह जाता है। उसे लगता है कि बात सही और साधारण है, किन्तु सामान्य पाठक की चेतना में न आने के कारण यथार्थ और असाधारण बन गई है। उदाहरणार्थ विज्ञान के साये में पलकर मानव पशु बन कर रह गया है। मनुष्यता में पशुता ने घुसपैठ प्रारम्भ कर दी है। मानव अपनी बौद्धिक उपलब्धियों के आधार पर उस पर आवरण डालता रहता है, उसकी वृत्ति द्विपद होकर भी षट्पद से कम नहीं है। षट्पद में जो

चांचल्य और लोलुप वृत्ति होती है, वह मनुष्य में द्विपद होकर भी उससे कहीं अधिक मात्रा में मिलती है। यह मनुष्य की विशिष्टता है कि वह मानव को अधिक बौद्धिक होने के कारण पट्पद न कहकर द्विपद ही कहकर संतोष कर लेता है। इस प्रकार के भाव की व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति 'फिर भी वह तो मात्र द्विपद है' कविता में हुई है—

"नर ही है या वह पट्पद है ?
दंशन जिसका पट्पद से भी
तीव्र व्यथाकर
फिर भी वह तो
मात्र द्विपद है।
पट्पद से वह किसी कदर भी
नहीं न्यूनतर
फिर भी वह तो
शुद्ध द्विपद ही
कहलाता है।

इसी प्रकार 'आओ हम रोड़ा अटकादें' कविता में उस मानवीय मनोवृत्ति पर व्यंग्य किया गया है, जो दूसरों के मार्ग में रोड़ा अटकाने में ही बड़प्पन का अनुभव करती है। इसके अतिरिक्त और भी कई कविताओं में व्यंग्य तीखा और गहरा हो गया है। सहलजी की व्यंग्यात्मक कविताओं की शैली की विशेषता यह है कि वे आक्रोशमय कम और सहज अधिक हैं। उनकी सहजता बहुत अधिक मारक और चुटीली है।

नयी कविता के संदर्भ से जिस क्षणवाद की बात की जाती है, वह सहलजी की कविताओं में भी मिलता है, अन्तर इतना ही है कि सहलजी का क्षणवाद एक संतुलित दर्शन का नियामक है, जबकि अधिकांश नयी कविताओं में वह या तो भोगवाद से जा मिला है या फिर मात्र क्षणिकता का आग्रह बन गया है (यह बात कुछ प्रसिद्ध कवियों के साथ नहीं मेल खाती है।) सहलजी की अधिकांश कविताओं में क्षणबोध का संदर्भ है। 'अंधकार को आग लगादी' कविता में एक क्षण विशेष की ही अभिव्यक्ति है और 'क्षणों के धागे' में जो बोध आद्यन्त व्याप्त है, वह भी क्षणों की अभिव्यक्ति और चिन्तना से ही उपजा है। इतने पर भी वह विशिष्ट है और अपनी पूरी गरिमा रखता है। 'क्षण का अमरत्व' एक ऐसी ही कविता है जिसमें क्षण को स्थायित्व या अमरत्व प्रदान करने के प्रति प्रबल आकांक्षा-भाव है। 'अंधकार को आग लगा दी' कविता में यह भाव बहुत गहरा है कि रोशनी

शांति की विघातक है और अंधेरा शांतिदायी और आनन्ददायक है। अंधकार को आग लगाने का अर्थ है शांति का नाश और कोलाहलमय जीवन के प्रति ममत्व-भाव का प्रदर्शन। यह विचित्र, किन्तु विशिष्ट अनुभूति है, जो कवि को अपनी एक यात्रा के दौरान हुई थी।

जहाँ तक परम्परा का सवाल है, नयी कविता ने उन्हीं परम्पराओं को छोड़ा है जो बासी हो गई हैं या रूढ़ि बन गई हैं। सहलजी भी उस परम्परा को त्याज्य मानते हैं, जो विकास की गति को अवरुद्ध करे। यही कारण है कि उनकी कविताओं में अतीत और वर्तमान मिलकर भविष्य का पथ निर्मित करने में सफल हुए हैं। प्रगति और प्रयोग के लिए परम्परा का अहसास और बोध जरूरी है, उसे छोड़कर एकदम कोई नई बात कहना बेबुनियाद और हवा में मुक्का मारने की तरह है। सहलजी की कविताओं में प्रतिपादित जीवन-दर्शन प्राचीन होकर भी नवीन है। 'मैं हूँ पांच हजार वर्ष का' कह देने से ही कवि-परम्परावादी नहीं हो जाता है। इससे तो उल्टे उसकी नवीन युग की संवेदना के प्रति जागरुकता का परिचय मिलता है। कारण, यह तो हमारा सांस्कृतिक दाय है, जिसकी अवगति करके ही हम आगे बढ़ सकते हैं। कवि की दृष्टि में नया-पुराना स्वतः उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना कि उसके प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया। यों सहलजी उम्र से भले ही पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करने वाले कहे जायें, विचारों से वे उतने ही नये हैं, जितने कि नव आधुनिकतावादी। उनमें अतिवाद कहीं नहीं है, जो है वह यथार्थ और समय सापेक्ष है। 'पुरातन युग' कविता में उन सभी पर व्यंग्य है जो न तो अपने विचारों में परिवर्तन करना चाहते हैं और न किसी के परिहास पर ध्यान देते हैं। वे स्वयं मूर्खता के दावेदार बने रहते हैं। कैसी विडम्बना है कि हमारे पूर्वग्रहों का साँप हमें बराबर डसता रहता है। अतः यही कहा जा सकता है कि सहलजी के व्यक्तित्व और काव्य में नये और पुराने का ऐसा सम्मिलन है, जो किसी भी स्वस्थ और सक्रिय कवि के लिए आवश्यक है। सही अर्थों में सहलजी की कविता परम्परा से प्रगति की जमीन पर कदम रखती हुई उसी तरह प्रयोग की भूमिका पर उतरी है, जैसे कोई प्रौढ़ मस्तिष्क पूर्व-परिवेश को आत्मसात् करके नये परिवर्तनों के अनुकूल अपनी समकालीनता सिद्ध करता हुआ सतत जागरुकता का प्रमाण देता है। यही कारण है, कि उनके काव्य में नवीन मूल्यों की स्थापना का स्पष्ट प्रयास दिखाई देता है। वे अपनी कविताओं के माध्यम से कुछ ऐसे मानवीय मूल्यों की तलाश करते प्रतीत होते हैं, जो वर्तमान परिस्थितियों में मानव के लिए निहायत जरूरी हैं। इस प्रकार के मूल्यों की तलाश को व्यक्त करने के लिए कवि ने नूतन शिल्प का सहारा लिया है। यही वजह है कि कथ्य और विचारों की सम्प्रेषणीयता के लिए कवि कुछ ऐसे शिल्पगत प्रयोग करता है, जो व्यावहारिक तो हैं ही, औचित्यपूर्ण भी हैं।

प्रयोगवादी काव्य के माध्यम से हिन्दी-कविता ने बड़ी तीव्रता से शिल्प के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न की है। सहलजी की कविता में भी नये प्रयोग मिलते हैं। उनकी भाषा में एक सहजता है, शब्दों का ऐसा चयन है, जो भाव को स्वयं ही व्यक्त कर देता है, अनावश्यक शब्दों का प्रयोग 'क्षणों के धागे' में ढूंढ़े भी नहीं मिलता है। यही कारण है कि शब्दों का यह औचित्यपूर्ण प्रयोग उन्हें शिल्पी मानने के लिए प्रेरित करता है। ठीक भी है, उन्होंने अपने शब्दों को बुद्धि के तराजू में तोल कर भाव के साथ इस तरह बिठा दिया है, जैसे कोई शिल्पी चुन-चुन कर अपने सभी उपकरणों को उचित रंगों के मेल से बिठा देता है। कविता के बीच में आये संस्कृत वाक्यांशों की अपनी गरिमा है। इस तरह के प्रयोगों से अर्थ-प्रेषण में तो सहायता पहुँचती ही है, भाव अधिक ग्राह्य और वजनदार शैली में सामने आता है। सहलजी की अप्रस्तुत योजना दो प्रकार की है—एक तो छायावादी ढंग की और दूसरी नयी और वक्रतापूर्ण। कवि जब अपने मन को भावों का सम्मेलन बताता है तो कथन और अनुभूति दोनों का औचित्य सामने आ जाता है। इसी तरह बिखरे मन की अनुभूति को ताश के पत्तों की तरह बिखरा बतलाकर जो नया उपमान लाया गया है वह चौंकाने के लिये नहीं, अपितु वस्तुस्थिति का सम्यक् निदर्शन कराने के लिए उपयुक्त है—

"ताशपुंज ज्यों बिखर गया हो
ऐसा बिखरा-सा मेरा मन"

इसी प्रकार ये पंक्तियाँ भी देखी जा सकती हैं—

"मेरे मन के विशद कक्ष में
भावों की बहुविध अलमारी
....
मेरी त्रुटियाँ
मेरी कमियाँ
कमरे के कूड़े-कर्कट-सी
मेरा है उपहास कर रहीं ॥"

इनमें त्रुटियों के लिए कूड़े-कर्कट का उपमान सार्थक है। वह औचित्यपूर्ण तो है ही, भावसाम्य भी पर्याप्त लिये हुए है। कूड़ा-कर्कट जहाँ एक ओर अकर्मण्यता, प्रमाद और अपावनता का प्रतीक है, वहीं अपने आप में एक बड़ा दुर्गुण भी है। इसी संदर्भ में यह उपमान अपनी महत्ता सिद्ध करता है। प्रतीक सत्यान्वेषण के साधन होते हैं, अतः महत्त्व प्रतीक का उतना नहीं होता, जितना कि उससे व्यंजित अर्थ

का। सहलजी के प्रतीक कुछ इस प्रकार के हैं कि उनके माध्यम से अर्थ-व्यंजना में कोई बाधा नहीं पहुँचती है। 'बकरी' जैसे शब्द को कवि ने प्रतीकत्व प्रदान किया है। यह उस व्यक्ति का प्रतीक है जो किसी भी बात को सारी मृदुता और चारुता खोकर मानता है। बकरी दूध तो देती है, पर देने से पहले मैंगनी करती है, जिससे उसका समस्त सौन्दर्य घृणास्पद बन जाता है। इसी प्रकार 'निर्मोक' और 'केंचुल' ऐसे प्रतीक हैं जो रूढ़ियों का अर्थ लिये हुए हैं। इतना ही नहीं, इनके माध्यम से कवि ने हमारी समस्त पुरानी मान्यताओं और स्थापनाओं पर सहज ही आघात कर दिया है।

सहलजी की कविताओं में प्रयुक्त छंद मुक्त अवश्य हैं, किन्तु उनमें एक अनिवार्य आन्तरिक लय बनी हुई है। वह गद्य नहीं है, कविता है, जिसे पढ़ने से ही उसका सौन्दर्य छलक-छलक जाता है। सभी कविताओं में लय है और उसका एक निश्चित नियम है क्योंकि लय-निर्धारण में कवि की संतुलित दृष्टि ने सदैव एक अच्छी भूमिका अदा की है। संग्रह की कविताओं में मुक्त छंद का प्रयोग भी एक निश्चित नियम के सहारे हुआ है। उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्तियों में अष्टकपर्वाधारित लय का सौन्दर्य मन को बांध लेता है और पाठक कविता के साथ स्वतः ही आगे बढ़ता चला जाता है—

मैंने कब यह/कहा कि
    मुझ को/
सुख सागर की/
    चटुल लहरियों/में
    तिरने दो/?
मैंने कब यह/कहा कि
    मुझको/
छोड़ हलाहल/घूंट अमृत की/ही
    पीने दो/

इस विवेचन के उपरान्त सहलजी के काव्य का भाव-सौंदर्य उन कविताओं के आधार पर भी देखा जा सकता है, जो संकलन में कुछ नये संदर्भ लिये हुए है। संकलन में कुछ ऐसी कविताएँ भी हैं, जिनमें कहीं तो स्तवन-मात्र है और कहीं किसी विशेष विषय की व्याख्या है। कुछ जिज्ञासा-प्रधान हैं, तो कुछ ऐसी भी हैं जो सूत्र-व्याख्या-शैली में लिखी गई हैं। कतिपय कविताओं में छायावादी 'टोन' है। हां, यह बात अलग है कि उनकी शैली छायावादी न हो, किन्तु उनका अन्तस छायावादी ही है। व्याख्यामूलक कविताओं में कवि का आलोचक और व्याख्याकार प्रमुख हो गया

है। कविता के माध्यम से लोकोक्तियों का अर्थ-विश्लेषण इसी शैली में किया गया है, जिसका प्रमाण 'अनुभव की दुहिताओं' में मिलेगा।

इस प्रकार राजस्थान की धरती पर जन्मे कवि सहलजी पुरानी पीढ़ी के होकर भी नये बोध के कवि हैं। उनमें पुराने के प्रति न तो अतिरिक्त आसक्ति ही है, और न नये के लिए दुराग्रहपूर्ण ममत्व ही। वे तो पुराने से आधार लेकर समसामयिक संदर्भों में पढ़े और समझे जाने वाले कवि हैं। उनकी कविताओं में जो औचित्य है, जो संतुलन है और जो दृष्टिकोण है, वही उनकी आलोचना में भी है। एक ओर वे श्रेष्ठ समीक्षक हैं, तो दूसरी ओर आधुनिक जीवन की विसंगतियों के द्रष्टा और भोक्ता भी हैं। यही कारण है कि उनकी कविताओं में अनुभूतिगत ईमानदारी और अभिव्यक्तिगत प्रसन्नता का अपूर्व संगम है। उनकी कविता अतीत से संस्कार लेकर वर्तमान की छाती पर भविष्य के लिए अनुभव की स्याही से लिखी गई ऐसी लिखावट है जो गहरी भी है और अमिट भी। उसमें सौन्दर्य भी है और स्थायित्व भी, जो भविष्य के लिए संदेश भी है और एक प्रामाणिक दस्तावेज भी, जिसमें परम्परा भी है, प्रयोग भी है, और जो जीवन के लिए लिखी गई एक चिन्तक की ऐसी काव्यमय डायरी है, जिसके प्रत्येक पृष्ठ से अनुभव और चिन्तन की ऊष्मा हमारे पोर-पोर को गरमा देती है और कितने ही क्षणों में हम कविता से और कविता हम में से गुजर जाती है।

●●●

काव्य के नये क्षेत्रों और नये उपादनों की जो खोज आज हो रही है, उसमें 'प्रयोग' के रचयिता का योगदान अवश्य स्वीकार किया जाएगा।

—डॉ० हरिवंशराय बच्चन

'प्रयोग' के बाद 'क्षणों के धागे' उन्नति के क्रम में है। संग्रह में विविधता और विभिन्नस्तरीयता है।

मौलिकता की दृष्टि से 'साइकिल मेरा जीवन-दर्शन', 'नाम अङ्कित किया चन्द्रमा पर', 'मैं हूँ पांच हजार वर्ष का' रचनाएँ मुझे अच्छी लगीं। भूमिका बहुत सारगर्भित है।

—डॉ० हरिवंशराय बच्चन

आस्था और प्रगति के कवि

• डॉ० सियाराम शरण प्रसाद

डॉ० कन्हैयालाल सहल हिन्दी के मर्मी आलोचक एवं आस्था के कवि हैं। "समीक्षायण" और "आलोचना के पथ पर" जैसी कृतियों से उन्होंने आलोचक के रूप में पर्याप्त यश प्राप्त किया। आलोचक के अतिरिक्त उनका कवि-व्यक्तित्व भी है जिससे उनका प्रगतिशील परन्तु निष्ठायुक्त दृष्टिकोण प्रकट होता है।

उनकी दो काव्य-कृतियों 'प्रयोग' तथा 'क्षणों के धागे' के आधार पर हम उनके कवि-व्यक्तित्व का मूल्यांकन करेंगे।

इन दोनों पुस्तकों की रचनाओं में एक आन्तरिक एकसूत्रता है, शृंखला है। दोनों में कवि की मांगलिक चेतना का उज्ज्वल संदेश है। कवि को अपने भारतीय सांस्कृतिक संस्कार में अटूट गौरव अनुभव होता है। इसीलिए तो परम्परा की स्वीकृति करते हुए उसने लिखा है—"जो अपने को ५ हजार वर्ष का बतलाता है, (भारतीय ऐसा बतलाते हैं) उसे परम्परावादी ठहराकर उसका उपहास किया जा सकता है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जो प्राचीन स्वस्थ परम्पराओं को आत्मसात करके नवीन युग की संवेदना तथा चेतना के प्रति भी सजग और जागरूक है, वह प्राचीन होते हुए भी नवीन है तथा नवीन होते हुए भी प्राचीन है। प्राचीन-नवीन स्वतः अपने में कोई मूल्य नहीं है, उसके प्रति कलाकार की मानसिक प्रतिक्रिया ही उन्हें मूल्य का रूप प्रदान करने में सक्षम होती है। "अतः कवि की प्रगतिशीलता एक विस्तृत परम्परा-बोध और विकास की प्रक्रिया से संयुक्त होकर निखरी है। आज का आधुनिक कवि परम्परा और संस्कार के मूल्य का तिरस्कार कर अपने को अपरम्परावादी घोषित कर मौलिक सिद्ध होने के उपक्रम में है। परन्तु सहलजी की दृष्टि में इतिहास की शक्ति है, विकास की प्रक्रिया की सहज स्वीकृति है। अतः इसी केन्द्र पर कवि के उत्पन्न भाव-पुष्प एवं वैचारिक पराग अपना सहज महत्त्व रखते हैं।

कवि ने प्रगति के लिए, जीवन की समृद्धि के लिए भारतीय कर्मवाद को आवश्यक ठहराया है—"हमारे देश का दर्शन कर्मवाद है, जिसे भूल कर लोग दैववाद अथवा भाग्यवाद समझ बैठते हैं। यह दुर्भाग्य की बात है कि जिस देश का दार्शनिक सिद्धान्त कर्मवाद हो, वह देश भाग्यवादी बन बैठे, उस देश के निवासी हाथ पर हाथ धरे रहकर दैववाद की शरण लें। प्रेरणा और मांगलिक चेतना के कवि ने इसीलिए कहा है—

कभी न मैं निज हिम्मत हारूं
जीवन के प्रति
आस्था मेरी
बनी रहे
अविचल, पल-प्रतिपल"

कवि प्रगतिशील चेतनानुरूप जनता की शक्ति में विश्वास रखता है। इसीलिए आधुनिक युग-बोध से संवर्द्धित कवि कहता है—

प्रजासूय यह यज्ञ कि जिसमें
जन जन की कल्याणी।
जय अभिषेक-जनार्दन-जनता
गूंजे मंगल-वाणी।

श्री सहल का कवि भावना के पंख लगाकर आकाश में, कल्पना लोक में उड़ने वाला नहीं, प्रत्युत जीवन और जगत की यथार्थता को परखते हुए उसमें नई ज्योति फैलाने वाला पौरुषवान व्यक्तित्व रखता है। उसकी यथार्थ दृष्टि ही उसे जीवन की विकृतियों पर व्यंग्य करने को बाध्य करती है। इसीलिए तो यथार्थ की तीखी गंध व्यंग्य-बाण के साथ बेधती है—

परन्तु यह मनुष्य है
मनुष्यता निकल गई
तथापि रूप है वही
कि बात यह खटक गई!

कवि की व्यापक अनुभव-भूमि से ही ये पंक्तियां उत्पन्न हुई हैं। कवि यथार्थ, आवेष्टन की सत्यता से पलायन कर भावुक व्यक्ति की तरह निष्ठा का आधारहीन गान नहीं करता प्रत्युत सत्य को परखते हुए, जीवन के गंदे प्रकरणों को जानते हुए, आशा के पुष्प खिलाने का प्रयास करता है।

कवि ने इसीलिए निम्न पंक्तियों में शहरी सभ्यता पर गहरा प्रहार किया है—

ओ रे मयूर !
सुन्दर मयूर !
व्यंसक मयूर !
एक बात पूछूं
उत्तर दोगे ?
शहरों में तुम रहे नहीं
फिर क्योंकर तुमने
बाहर से कमनीय कलेवर
अन्दर से छलिया बन करके
सीख लिया विषधर का खाना !

"फिर भी वह तो मात्र द्विपद है" में भी इसी तथ्य का प्रकाशन हुआ है—

नर ही है या वह षट्पद है ?
दंशन जिसका षट्पद से भी
तीव्र व्यथाकर,
फिर भी वह तो मात्र द्विपद है !

उसने तो यह भी देखा है कि आज का मनुष्य आकृति से ही मनुष्य रह गया है परन्तु उसकी मनुष्यता नष्ट हो गई है। वह शिवत्वहीन हो गया है। शहरों में बिजली के प्रकाश ने मानव के विश्राम को खा लिया है। रात्रि का निर्माण निसर्ग ने मानव विश्राम-हेतु ही किया था। परन्तु वैज्ञानिक दंभ में, भौतिक उपलब्धि में मनुष्य उस सुख से वंचित हो गया है—

अरी ओ रात !
तेरे अन्धकार में कितनी
नीरवता औ शान्ति भरी थी
किन्तु यहां शहरों में मैं तो
देख-देख हैरान हो गया
यह प्रकाश तो निगल गया है
सुन्दर-सुन्दर श्यामल तम को
कितना था विश्राम कि
जिसमें !

"विडम्बना" में आज की विडम्बना पर स्पष्ट चोट है—

> विचारणीय युग में
> आज हम रहते हैं
> किन्तु किसी को जीवन की संकुलता में
> विचारने का, चिन्तन का
> अवकाश ही नहीं !

स्पष्टतः यथार्थ के धरातल पर खड़े होकर ही कवि ने निष्ठा और आस्था का अमंद दीप जलाया है, प्रगतिपूर्ण भावनाओं से युक्त गीत गाया है। वह आलोक-गीत गाता है—

> नया हेम नभ पर उषा घोलती नव,
> नया रंग भरने, नयी ज्योति छाई,
> उठो थाल मंगल सजाओ, सजाओ।
> इसी ज्योति-भू पर नया स्वर्ग बनकर
> नयी कल्पना है सभी को सुहाई।

कवि जीवन की श्री-वृद्धि एवं समृद्धि के लिए सम्यक् दृष्टि की आवश्यकता भी स्वीकार करता है। सन्तुलनहीनता पतन का मार्ग खोल देती है। "साइकिल मेरा जीवन-दर्शन" में जीवन को ठीक साइकिल की तरह माना गया है जो सन्तुलन पर चलती है और सन्तुलन खोने पर दुर्घटनाग्रस्त हो जाती है—

> साइकिल मेरा जीवन-दर्शन
> जीवन में बस एक सन्तुलन ही तो सब कुछ
> ....
> सम्यक् दृष्टि रहे यदि तो फिर
> जीवन की साईकिल सुन्दर
> सही मार्ग पर सरपट-सरपट दौड़ी चलती।

कवि का यह विश्वास भी है कि जो समय का बांध, बांध पाते हैं वही जीवन में यश प्राप्त करते हैं। समय की धारा में बह जाना जीवन का श्रेयस् पथ नहीं। जो शक्तिसम्पन्न होते हैं, जिनका अपना व्यक्तित्व होता है, वे ही इस महत्त्वपूर्ण कार्य को करने में सक्षम होते हैं—

> समय का बांध जो बांध जाते इस जगत में
> काल के भीषण प्रहार से वे ही बचे हैं।

कवि की दृष्टि में महात्मा गांधी की महत्ता का मूल कारण यही था। "हे अमर ज्योति" और "समय का बांध" शीर्षक कविताओं में इसी वस्तु-सत्य पर कवि ने सहज भाव से प्रकाश डाला है।

निर्माण और सुन्दर विश्वासों के लिए कवि स्वस्थ परम्परा और संस्कार को आवश्यक मानता है। "मैं हूं पांच हजार वर्ष का" को उदाहरणार्थ देख सकते हैं। मैं यह भी स्पष्ट कर दूं कि इसीलिए कवि को अपने भारतीय जीवन पर गर्व अनुभव होता है। भारत की सभ्यता-संस्कृति पुरानी है। यह देश अनेकानेक ज्ञान और अनुभवों की अमृतमयी भूमि पर विकसित हुआ है। याज्ञवल्क्य, नागार्जुन (शून्यवाद के आचार्य), गांधी आदि ने इसी देश में उत्पन्न हो मानव को ज्योति प्रदान की। इसीलिए लम्बी परम्परा का भारत कवि को आकर्षित करता है और इसीलिए वह भाव-विह्वल होकर कहता है—

ज्योति–भूमि यह देश हमारा
जहां प्रवाहित हुई ज्ञान की, पावन मंगल धारा
सत्य–अहिंसा का संबल ले, बढ़ते रहे शान्ति के पथ पर
पंचशील सिद्धान्त मनोहर, त्रस्त विश्व का नारा।

"देश, मेरे देश" में भी भारत-भूमि के गौरव का गान है।

स्पष्टतः कवि ने अपनी वैचारिक भूमि को पर्याप्त उर्वर रखते हुए, उसे प्रगति और निष्ठा से अभिसिंचित किया है।

***

डॉ. सहल और उनकी कविताएँ

• डॉ. ओमानन्द रू. सारस्वत

डॉ० कन्हैयालाल सहल हिन्दी के मूर्धन्य आलोचकों में प्रतिष्ठित हैं। हिन्दी-साहित्य के प्राचीन और मध्यकालीन युग को जिस प्रकार राजस्थान का प्रदेय कम नहीं है, उसी प्रकार आधुनिक-काल में भी डॉ० सहल जैसे सशक्त समीक्षक, सहृदय कवि एवं सबल निबन्धकार आदि देकर राजस्थान ने अपना योगदान कम नहीं होने दिया है। लगभग तीस-पैंतीस ग्रन्थों के रचयिता डॉ० कन्हैयालाल सहल पिछले कई दशकों से पिलानी (राजस्थान) के शिक्षा-केन्द्र के हिन्दी, संस्कृत, राजस्थानी के 'आकाशदीप' रहे हैं, जहाँ से सैंकड़ों एम. ए. और दर्जनों पी. एच. डी. अपने-अपने ज्ञान-दीपकों को कथा, विवेचन, कविता, लोक-साहित्य, शोध आदि विविध क्षेत्रों में प्रकाशित कर चुके हैं, और कितने ही आज भी कर रहे हैं।

बहुत कम लोगों को ज्ञात है कि डॉ० सहल की समीक्षात्मक प्रतिभा के साथ-साथ सर्जनात्मक प्रतिभा भी उतनी ही तेजस्वी है। हिन्दी का यह समन्वयवादी समीक्षक 'प्रयोग' के धरातल पर बड़ा ही आस्थावादी कवि सिद्ध होता है। जीवन के विश्वास को उभार देने का पावन कार्य मौन साधक की भाँति गुटबन्दियों की घेरेबन्दी से मुक्त रह कर जितना इस कवि ने किया है, उतना 'सेल्फ सेंटर्ड' प्रवक्ताओं ने भी नहीं किया, सस्ते प्रचारक तो क्या कर पायेंगे ?

सहलजी के काव्य का यहाँ संक्षिप्त 'संदर्भ' उनकी दो काव्यकृतियों के आधार पर किया जा रहा है। एक है 'प्रयोग' (प्रथम संस्करण सन् १९५६, दूसरा सन् १९६४) और दूसरा संग्रह है 'क्षणों के धागे' (सन् १९६०)। दोनों ही संग्रहों की भूमिकाएँ कवि के आस्थावादी चिन्तन का प्रतिबिम्ब हैं, साथ ही कवि की अपनी मान्यताएँ भी बड़ी सहज स्पष्टता से अंकित हैं।

'क्षणों के धागे' में कवि ने 'आज' की कविता की बौद्धिकता स्वीकार की है

और जनजीवन के चिन्तन पर विज्ञान के परिवेश के प्रभाव का भी विश्लेषण किया है। बौद्धिकता और विज्ञान के साथ 'आस्था' रूपी आत्मा की अस्वीकृति उनकी कविताओं में नहीं है। डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दों में मैं पूर्ण सार्थकता देखता हूँ, जब वे यह लिखते हैं कि सहलजी के 'काव्य में प्रयोग की झलक बड़ी सुलझी हुई है। ये रचनाएँ 'प्रयोगवाद' का मार्ग-दर्शन करेंगी।'–'प्रयोगवाद' को एक सुनिश्चित मार्ग-दर्शन की आवश्यकता थी और उस अभाव का कुछ अंश डॉ० सहल ने पूरा किया है। डाक्टर साहेब की दृष्टि समन्वयात्मक रही है। पुराने और नये का समन्वय ही 'आगे' की उर्वर भूमिका है। वे कहते हैं कि, 'वह परम्परा जो विकास के मार्ग में अवरोध बन कर खड़ी हो जाय, निश्चय ही त्याज्य है, किन्तु यदि विकास की गति को अग्रसर करने के लिए परम्परा प्रेरणादायक सिद्ध हो सके तो किसी भी प्रकार उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।' ये विचार कितने स्वस्थ एवं संतुलित हैं और 'शाश्वत' भावों की रक्षा इसी विचारसूत्र से संभव है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। कवि का यही सिद्धान्त उसके काव्य में व्यवहार-पक्ष के रूप में सजीव है।

डॉ० सहल 'मानवता' को ही प्रधानता देना चाहते हैं। उनकी यह चुनौती कुण्ठा, अनास्था, निराशा आदि से पीड़ित 'लघुमानव' को एक खुला संदेश ही नहीं, अपितु अंतर्भूत प्रेरणा भी है। श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने 'विजयिनी मानवता हो जाय' का जो नारा छायावाद में रहते हुए भी दिया था, वही स्वर 'आज की कविता' को इस आस्थावान कवि ने दिया है। जीवन की जिस यांत्रिकता ने 'इन्सानियत' के सांसों पर अर्गला डालने का प्रयत्न किया है, उससे मुक्ति का सहज अथवा सायास प्रयास ही 'मानव' के जीवन की कहानी होगा। आज बेटा बाप को भूल गया है और मनुष्य अपनी मनुष्यता को! 'ओ नवो माणस कोण छे!' शीर्षक कविता में कवि ने जिस व्यंग्य का संकेत दिया है, वह कितना सार्थक है :

"अजनबी-से किसी जन को
कोष्ठक की तरह
अथवा वाक्य के
'क्लाज–पैरेन्थेटिकल'–सा
घर में देखा"

(प्रयोग, पृष्ठ ४)

कवि आदमी से 'आदमियत' का निकलना 'शिव' में से 'इ'–कार का निकलना मानता है। 'शिव' और 'शव' का अन्तर शैली का ही नहीं, प्राण-शक्ति का भी एक अन्तर है :

"जहाँ शिवत्व-देह से
इकार ही निकल गया
वही अनन्तरूप तो
शवत्व-मात्र रह गया !!"
(प्रयोग : वात यह खटक गई)

संतुलन ही जीवन-दर्शन है, यह कवि ने 'साइकल मेरा जीवन-दर्शन' कविता से स्पष्ट किया है। इस जीवन-दर्शन पर विचार करने का अब अवकाश नहीं रहा, क्योंकि 'प्रातःकाल उठकर चाय पीना' से लेकर नींद से जगने पर 'खींच सिगरेट-कश' उसे बुलाना ही 'जीवन' रह गया है। 'आयु-शतक' की जीवन-व्याख्या भी आस्थाओं का पुंज ही है।

सहलजी ने कविता को 'सुन्दर विचार-पट' कहा है। सचमुच ही मुझे लगता है कि 'सुन्दर' (सौन्दर्य), 'विचार' (वौद्धिकता), और 'पट' (शैली आवरण)—इन तीनों शब्दों में से 'आधुनिक' कविता की परिभाषा 'विचार' और 'पट' से तो सन्निहित है, यदि उसे 'सुन्दर' से भी अभिसिक्त किया जा सके तो वस्तुतः 'आस्था-बोध' को पुष्टि मिल सकती है। स्वयं कवि तो आस्थावादी है ही :

'जीवन के प्रति
आस्था मेरी
वनी रहे
अविचल
पल-प्रतिपल।'
(मैंने कव यह कहा कि....)

प्रत्येक क्षण 'आस्था' में लीन रहने वाला कवि 'आज' का नहीं, वल्कि 'मैं हूं पांच हजार वर्ष का' है। अतीत पर वर्तमान की दृष्टि ही वास्तव में 'अनुभव की दुहिताएँ' हैं। भूत की प्रेरणा पर वर्तमान में जीवित रह कर 'अगली' का निर्माण एक वहुत वड़ी क्रांतदृष्टि है; और वही महान् होता है जो ऐसा कर सकता है :

'समय भी
साथ तुम्हारे
चल न सका
वह पिछड़ गया,

तुम बढ़े चले !
तुम वर्तमान में ही
भविष्य को ले आये !
(हे अमरज्योति !)

'वर्तमान' में ही 'भविष्य' को ले आना, वस्तुतः सनातन काव्यस्वर है। गत एवं आगत का यह मणिकांचन योग (संयोग नहीं !) ही काव्य के प्रयोजक तत्त्व का प्रेरणास्रोत है। वास्तव में प्राचीन और नवीन और आगामी, कालगत नहीं, मानसगत हैं। 'आज' जीकर भी कोई १३वीं शदी में जीता है, और कोई २२वीं में। जो कवि अपने मानस में इन तीनों कालों का अनुपात साध सकता है, वही सफल और सनातन 'कवि' कहलाने का अधिकारी है। डॉ० सहल की रचनाएँ परिमाण में थोड़ी होते हुए भी परिणाम की दृष्टि से इस मानदण्ड पर 'खरी' उतरती हैं।

सहल जी ने कहीं नभमंडल के मॉडर्न 'चितेरे' की चित्रकला की विशदता अंकित की है, कहीं 'डबल थिंकिंग' पर मीठी चुटकी ली है, और कहीं बाल-सुलभ 'जिज्ञासा' का बड़ा ही प्रभावोत्पादक चित्र प्रस्तुत किया है। एक स्थान पर बालक अपनी मां से पूछता है कि सोम, मंगल, बुध आदि सब वार तो जल्दी-जल्दी आ जाते हैं, 'रविवार' कहाँ ठहर जाता है ? क्या वह 'ऊँट' पर चलता है ? उसको मोटर या साइकिल दिलवाने की प्रार्थना करता है। बाल-मन का कौतूहल और उसकी मनोवैज्ञानिक समाधान-वृत्ति दर्शनीय है। इस प्रकार कवि ने जीवित जीवन में से प्रतीक, उपमान, स्थितियों एवं बिम्ब-विधानों को लेकर काव्य-भाव को ऊर्वर ही नहीं, फलप्रद भी बनाया है।

छंदों का दृष्टि से सहलजी में वैविध्य है। छंद के अनिवार्य 'आग्रह' को मानकर वे नहीं चले, किन्तु फिर भी कुछ रचनाएं बड़ी ही सजीव छंदबद्धता में सर्जित हैं। छंद के मापदण्ड पर इनके काव्य का छंद 'आंतरिक लय' है। छंदों में लोकगीत की तर्ज से लेकर सहगान तक के सफल प्रयोग प्राप्य हैं। इस दृष्टि से गीत, चतुर्दशपदी, मुक्त छंद आदि सभी दर्शनीय हैं।

डॉक्टर साहब भाषा के आचार्य हैं। संस्कृत के विद्वान होने के कारण कवि की भाषा में संस्कृत-प्रधानता या तत्सम शब्दावली की अधिकता सर्वत्र है। भावों की सबल अभिव्यक्ति के लिए अंग्रेजी, गुजराती, राजस्थानी तथा बोल-चाल के स्थानीय शब्द आदि सभी का उपयोग हुआ है। कहीं-कहीं पर राजस्थान की 'आंचलिक' शब्दावली बड़ी ही फबती हुई है। बाथ-रूम, ड्रेनेज, काला-पहाड़, अष्टांगिक, महा-शून्य, सोवण, मनै, 'निचली बैठ' ऊल, दाय, अप्सराओं का आशिक, चंदनामा,

मोरियो प्रभृति शब्दों से कवि के विशाल तथा प्रसंगानुकूल शब्द-भण्डार का परिचय मिलता है। 'कमल' शीर्षक काव्य उन लोगों को एक उत्तर है जो यह मानते हैं कि 'आज की कविता' में पंत-जैसी, कोमल-कांत शब्दावली का प्रयोग कठिन है।

'नहीं पहचान पाया मैं, अरे! आवाज अपनी ही' शीर्षक कविता में डॉ० सहल ने जिसे व्यंजित किया है, वही आज की कविता का दिशा-बोध होना चाहिए। आकाशवाणी से प्रसारित स्वयं की आवाज जब हम अपने से अलग होकर सुनते हैं तो विषमता का अनुभव करते हैं। आज 'हमारी' और 'हमारी अभिव्यक्ति' की दरार पर पुल बाँधने की जरूरत है। आज अन्दर की आस्था और बाहर की यांत्रिक शैली में समन्वय की आवश्यकता है। व्यक्तिवादी आस्थाएँ अनुभूति के तीव्र एवं छोटे-छोटे खण्ड उपस्थित करके भी समूह को 'हिला सकने' में समर्थ हैं; इस ओर इस संतुलित समन्वयात्मक कवि की रचनाएं संकेत कर रही हैं।

***

एक लेखक के रूप में आप पर बराबर मेरी श्रद्धा थी, किन्तु, मैं यह नहीं जानता था कि इतना विशाल कार्य आप कर चुके हैं। बस यही कह सकता हूँ कि आप धन्य हैं।

—रामधारीसिंह 'दिनकर'

परम्परा और प्रयोग के आयाम

• डॉ० प्रवीण नायक

काव्य आदिकाल से मानवीय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम रहा है। मानवीय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति-हेतु काव्य के स्वरूप में युगानुकूल परिवर्तन भी होते रहे हैं, कभी अनुभूतियों की सीमा सीमित रही तो कभी असीमित। अपनी सीमित सामर्थ्य एवं सीमाओं से आवद्ध कवियों ने परम्परागत सर्जन करने के उपरांत भी उसमें जीवन-तत्त्वों को प्रस्तुत करने की पूर्ण चेष्टा की, अपने मानस के काल्पनिक तत्त्वों को उन्होंने व्यक्तिक एवं सामाजिक चेतना की पीठिका पर ही प्रस्तुत किया, यही कारण है कि आज भी उनके काव्य में सार्वकालिकता एवं आनंद का तत्त्व सन्निहित है। रस, छन्द, अलंकार पहले काव्य के मानदंड थे। इनके अभाव में प्रणीत काव्य को काव्य के नाम से अभिहित करने में विद्वानों को अत्यधिक आपत्ति होती थी। लेकिन धीरे धीरे रस, छन्द, अलंकार काव्य से लुप्त होते गये। रीतिकालीन कविता की प्रतिक्रिया उत्तरार्ध काव्य पर भी हुई। व्यक्ति और समाज चलता रहता है, किन्तु उसके मूल्यों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता है। इस प्रभाव को साहित्य पर आने से रोकने का अर्थ साहित्य की गति को अवरुद्ध करना है। समय के साथ-साथ न चलने से जिस प्रकार व्यक्ति और समाज पिछड़ जाता है, उसी प्रकार साहित्य भी पिछड़ जाता है। पर समय-समय पर गतिशील साहित्यकारों के कारण साहित्य की गति अवरुद्ध होने से बचती रही है। छायावाद, प्रयोगवाद, नई कविता एवं अब अकविता इसी प्रतिक्रिया का प्रतिफलन है।

नई कविता ने परम्परागत शिल्प एवं कथ्य के प्रति विद्रोह कर नूतन शिल्प एवं कथ्य को गढ़ लिया है। काव्य के क्षेत्र में जब इस प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ तो इसे साहित्यिक विद्रोह माना गया तथा इसके प्रति आलोचकों की अनेक प्रतिक्रियाएँ

हुईं, वैसे ही जैसे आज अकविता को लेकर नित्य प्रति हो रही हैं। आरम्भ में इसे एक नारा एवं आंदोलन ही माना गया किन्तु अब नई कविता का स्वरूप स्पष्ट होता जा रहा है। नई कविता में मानवीय पक्ष जिस प्रबलता से उभरा, वही उसका मूल स्वर एवं तत्त्व है। मानव-संघर्षों को नई कविता का मुख्य आधार मानना भी अनुचित नहीं क्योंकि यह हमारे आधुनिक जीवन की एक सचाई है जिसकी ओर से मुंह नहीं मोड़ा जा सकता।

सर्वश्री अज्ञेय, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त, दुष्यंत कुमार, देवराज, गिरजाकुमार माथुर, शमशेर, रघुवीर सहाय, नरेश मेहता, बालकृष्ण राव, भारत भूषण अग्रवाल, मुक्ति बोध, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के अतिरिक्त जिन अन्य कवियों ने नई कविता के विकास में सहयोग दिया, उनमें डॉ० कन्हैयालाल सहल का नाम भी आता है। 'प्रयोग' (१९२९) तथा "क्षणों के धागे" (१९६०) में उनकी रचनाएँ संकलित हैं।

नई कविता के सम्बन्ध में काफी कहा एवं लिखा गया है। प्रायः प्रत्येक कवि ने अपनी रचनाओं के आधार पर नई कविता को पारिभाषित करने का उपक्रम किया है। डॉ० सहल का नई कविता के सम्बन्ध में विचार है :—"नई कविता में पाठकों को चौंका देने और उन्हें आतंकित कर देने की प्रवृत्ति देखी जाती है किन्तु जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, अपना रचना-पट बुनते-बुनते अनेक बार मैं स्वयं चौंक उठता हूँ और उस अवस्था में कुछ ऐसी बात लेखनी से निकल पड़ती है जो असाधारण-सी लगती है·······नई कविता का मूल्यांकन करते समय परम्परा और आधुनिकता की भी आज प्रायः चर्चा की जाती है। वह परम्परा जो विकास के मार्ग में अवरोध बनकर खड़ी हो जाय, निश्चय ही त्याज्य है किन्तु यदि विकास की गति को अग्रसर करने के लिए परम्परा प्रेरणादायक सिद्ध हो सके तो किसी भी प्रकार उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।" (क्षणों के धागे : ताना बाना)

डॉ० सहल के वक्तव्य से स्पष्ट है कि वे परम्परागत तत्त्वों को वहीं तक त्यागने के पक्ष में हैं जहाँ तक उससे प्रगति में बाधा उत्पन्न होती है। यदि परम्परा प्रेरणादायक सिद्ध हो तो उसे अपनाने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं। उनकी यह बात ठीक है किन्तु सभी कवियों ने (नई कविता वाले) इस प्रकार की उदारता का परिचय नहीं दिया। वैसे भी इस विशाल राष्ट्र की आत्मा को समझे बिना किया जाने वाला प्रत्येक दावा निरर्थक हो जाता है। आज आधुनिकता के नाम पर लिखा जाने वाला साहित्य जहाँ हमारा नैतिक विघटन कर रहा है, वहाँ ऐसे ही किसी क्षण में डॉ० सहल की लेखनी से जब यह निसृत होता है कि वे ४० वर्ष के नहीं, किन्तु ५००० वर्ष के हैं, जिन्होंने मोहन जोदड़ो के युग से लेकर गांधी तथा उसके

परवर्ती युग तक की चेतना को आत्मसात् किया है तो पाठक चौंके बिना नहीं रहता। यथा—

"मैं हूँ पाँच हजार वर्ष का !
देख चुका मैं
मोहेंजोदड़ो
के वे बैल
वहाँ की परी–नर्तकी
टाउन–प्लैनिंग बाथरूम
ड्रेनेज वहाँ का
सब मेरी स्मृति में
संचित हैं…………
और २०वीं इसी शती में
गांधी को धरती पर चलते
देख चुका हूँ
इन आँखों से
विश्व समूचा आज
ज्ञान, नेत्रों के सम्मुख
घूम-घूम कर मंडराता है
मैं न मात्र चालीस वर्ष का
मुखरित मेरा अहं हो रहा
मैं हूँ पाँच हजार वर्ष का।" (क्षणों के धागे, पृ० २२-२४)

जो कवि अपने को पाँच हजार वर्ष पुराना बताता है, उसे नई कविता के समर्थक परम्परावादी घोषित कर केवल उसका उपहास ही नहीं कर सकते किन्तु उसे नयी कविता के संप्रदाय से विलग भी कर सकते हैं। किन्तु यहाँ पर वस्तु-स्थिति यह है कि डॉ० सहल प्राचीन स्वस्थ परम्पराओं को आत्मसात् करके नवीन युग की संवेदना तथा चेतना के प्रति भी पूर्ण सजग अथवा जागरूक हैं। नवीन युग के प्रति सजगता एवं जागरूकता नई कविता की एक अनिवार्य शर्त है जो डॉ० सहल की कविताओं में उपलब्ध है। वैसे प्राचीन और नवीन अपने आप में कोई अस्तित्व और मूल्य नहीं रखते। मूल्य देने का कार्य केवल कवि की मानसिक प्रतिक्रिया करती है। प्राचीनता एवं नवीनता का सम्बन्ध किसी युग विशेष से न होकर कवि की मनःस्थिति से होता है। २०वीं शती में रहते हुए भी कोई कवि मानसिक दृष्टि से २१वीं शती में रह सकता है तथा अपने समय से पिछड़ भी सकता है।

कवि यह मानता है कि महात्मा गांधी में प्राचीन एवं नवीन परम्परा एवं प्रगति का विलक्षण सामंजस्य था। वे अपने युग के साथ-साथ होते हुए भी उससे बहुत आगे थे यथा—

"बढ़ते ही तुम तो रहे
समय भी
साथ तुम्हारे
चल न सका
वह पिछड़ गया,
तुम बढ़े चले।
तुम वर्तमान में ही
भविष्य को ले आये।" (क्षणों के धागे : पृ० ३)

परम्परा का विवेकपूर्ण त्याग एवं ग्रहण जहाँ वर्तमान को गतिशील बनाता है, वहीं कविता नूतन मानव-मूल्यों की अभिव्यक्ति-हेतु नूतन शिल्प-विधान का अन्वेषण करती रहती है। काव्य में अभिव्यक्ति के माध्यम जहाँ प्रत्येक युग में परिवर्तित हुए हैं, वहीं अनुभूतियों में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। कारण अनुभूतियाँ संस्कारजन्य होती हैं। 'साइकिल मेरा जीवन-दर्शन' एक नया प्रतीक है। काव्य के क्षेत्र में विद्वानों ने सम्यक् दृष्टि एवं समरसता की जो बात कही है यद्यपि वह प्राचीन है किन्तु कवि ने उसे नये प्रतीक के माध्यम से जिस मौलिक रूप में अभिव्यक्त किया है, वही शिल्प नई कविता का प्राण है :—

"साइकिल मेरा जीवन-दर्शन
जीवन में बस एक
संतुलन ही तो सब कुछ
कहो उसे समरसता चाहे
'सामरस्य' भावे जो कह दो
अथवा सम्यक् दृष्टि कहो, पर
बात एक की एक वही है।" (क्षणों के धागे : पृ० ७)

आधुनिक युग का प्रत्येक मनुष्य आधुनिक सुख, सुविधाओं का उपभोग करना चाहता है। आज प्रत्येक व्यक्ति विद्युत् का प्रकाश चाहता है। विद्युत् का प्रकाश उन उल्काओं के सदृश है जिसने अंधकार में मिलने वाली शांति को भस्म कर दिया है। "अंधकार में आग लगा दी" डॉ० सहल की एक ऐसी ही रचना है जिसने वे स्वयं ही चौंक पड़े। विद्युत् की चकाचौंध से साधारण मनुष्यों को ही

नहीं किन्तु असाधारण मनीषियों तक की एकाग्रता में व्याघात पहुँचता है। विद्युत्-वल्बों ने शहरों की शांति नष्ट कर अंधकार को आग लगा दी है। यहाँ पर कवि ने शहरी सभ्यता पर व्यंग्य करते हुए लिखा है :—

"देख-देख हैरान हो गया।
यहाँ बिजलियाँ
अंधकार को
निगल गई हैं–
निगल गईं क्या,
उल्काएँ ये
इन सबने मिल
अंधकार को आग लगा दी–" (क्षणों के धागे : पृ० ८)

नई कविता एवं अकविता के माध्यम से आधुनिक कवि यद्यपि लय एवं छंदों से विदा ले रहा है तथा अपनी अभिव्यक्ति को सशक्त स्वरूप प्रदान करने हेतु नित्य नूतन प्रयोग कर रहा है, फिर भी आज ऐसे अनेक कवि हैं जो लय, छंद एवं अलंकार को विदा करने की प्रवृत्ति को अवांछनीय मानते हैं। डॉ० सहल के विचार इस सम्बन्ध में इसी प्रकार के हैं :—

"छंदों के सम्बन्ध में परम्परा-त्याग का यही अर्थ होना चाहिए कि नव्यतम यथार्थ की अभिव्यक्ति-हेतु नूतन छंदों की उद्‌भावना की जाय किन्तु लय तक को भी तिलांजलि देकर छंद को बिल्कुल स्वच्छंद बना देना वांछनीय नहीं।"

(क्षणों के धागे : पृ० ५)

कवि ने भी यह स्वीकार किया है कि–"क्षणों के धागे" में लय अनायास आ गई है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि लय ने क्षणों के धागों से काव्य-पट बुनने में मुझे सहायता पहुँचाई है।

"नाम अंकित किया चन्द्रमा पर" में कवि ने यह स्पष्ट किया है कि सत्य पर आधारित होने के उपरांत भी विघटित मानव-मूल्यों की समस्या का समाधान करने में विज्ञान का विशेष योगदान नहीं रहा। इस समस्या का समाधान न होने का एक कारण यह भी है कि मानवीय-मूल्यों की स्थापना का क्षेत्र दर्शन का है, विज्ञान का नहीं। पर यह भी सत्य है कि विज्ञान का विरोध कर कोई भी दर्शन खरा नहीं उतर सकता। आधुनिक युग भावुकता का नहीं, किन्तु बौद्धिकता का है; अतः "क्षणों के धागे" में कवि इस बौद्धिकता से बच नहीं सका है; शायद इसी कारण डॉ० सहल की कविताओं में

आधुनिक-युग में मानव-जीवन इस गति से व्यस्तता की ओर अग्रसर होता जा रहा है जिससे वह स्वतंत्र चिन्तन कर ही नहीं पाता। इस व्यस्तता का प्रभाव भारत जैसे आध्यात्मिक दृष्टिकोण वाले देश पर भी पड़ा है। छल एवं बढ़ती हुई प्रवंचना के कारण सत्य, शांति, समाधि आदि शब्द भी अब अपना अर्थ खोते जा रहे हैं। इससे अधिक चिन्ता की बात दूसरी नहीं हो सकती कि—शांति का अर्थ आज "सैनिक पैक्ट" से तथा शांति के समर्थन का अर्थ आक्रमण से लिया जाता है। मैत्री का अर्थ आर्थिक और सामरिक परतंत्रता से लिया जाने लगा है। आधुनिक मनुष्य "द्विजिह्व" बन गया है। इसे कवि ने "डबल थिंकिंग" (प्रयोग) में अति सफलता से व्यक्त किया है। आज विश्व में निरन्तर बौद्धिक विकास होने से मानवीय हृदय संकुचित होता जा रहा है। 'प्रयोग' की रचनाओं में कवि का यही संदेश है कि आधुनिक युग में ज्ञान और भक्ति तथा बुद्धि और हृदय का संतुलित समन्वय जितना अधिक अपेक्षित है, उतना पहले कभी नहीं रहा। जीवन के संकुचित वातावरण से दो क्षण निकालकर प्रत्येक मनुष्य के लिए स्वतंत्र चिन्तन करना आवश्यक है। 'प्रयोग' में डॉ० सहल की जिन रचनाओं का संकलन है, वे वस्तुतः चिन्तन के कुछ क्षणों की ही उपज हैं।

मशीनी युग में महात्मा गांधी का चर्खा चलाना वस्तुतः श्रम की प्रतिष्ठा को बताना था। जन्म लेकर लोग सुख खोजते हैं किन्तु गांधीजी ने 'सत्य' की खोज की। इसे ही कवि ने निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया है :—

"अंधकार में राह टोहती
मानवता को आँख दे गया।
'सत्य स्वयं भगवान्' बता कर
स्वयं सत्य को रूप दे गया।
दोष हिमालय-सा करके भी
आत्मा का नगराज बन गया,
सत्य-पुरुष आया धरती पर,
सत्य मरा कब ? अमर हो गया।" (प्रयोग : पृ० १)

"तीस मार्च" में कवि ने एक नई क्रांति की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। "बात यह खटक गई" में कवि ने यह बताने की चेष्टा की है कि आग से दाहकता निकाल लेने से उसमें आग नहीं रह जाती, शिव से जब इकार निकाल लिया जाता है तो वह 'शव' रह जाता है किन्तु जब मनुष्य से मनुष्यता का लोप हो जाता है तथा वह पशुवत् व्यवहार करने लगता है तो भी उसका स्वरूप अपरिवर्तित रहता है। यह सचमुच एक खटकने वाली बात है यथा—

"जो आग की जलन गई
तो आग फिर कहाँ रही ?
कि रूप ही बदल गया
जो ढेर खाक का वही
जहाँ शिवत्व-देव से—
इकार ही निकल गया
वही अनंत रूप तो
शवत्व-मात्र रह गया
परन्तु यह मनुष्य है,
मनुष्यता निकल गई
तथापि रूप है वही
कि बात यह खटक गई।" (प्रयोग : पृ० ११)

"ओ नवो माणस कोण छे" में डॉ० सहल ने बताया है कि आधुनिक जीवन की व्यस्तता के कारण जब सप्ताह भर बालक अपने पिता के दर्शन नहीं कर पाता और जब इतवार को वह उसे देखता है तो चिल्ला पड़ता है :—

"अरी मां !
अरी मां !!
ओ नवो माणस कोण छे" (प्रयोग : पृ० ४)

संप्रति डॉ० सहलकृत 'प्रयोग' एवं 'क्षणों के धागे' की अधिकांश कविताएँ नई कविता के परिप्रेक्ष्य में खरी उतरती हैं। डॉ० सहल ने इनमें जहाँ परम्परागत शिल्प तथा कथ्य के प्रति विद्रोह किया है, वहीं यह दिशा भी दी है कि विकास-मार्ग में, अवरोधक परम्पराएँ जहाँ त्याज्य हैं, वहीं उसमें सहायक परम्पराएँ प्रेरणादायक भी सिद्ध होती हैं जिनका त्याग या जिनकी अवहेलना अनावश्यक है। कुछ इसी प्रकार की मान्यता छंदों के सम्बन्ध में भी उनकी है। वे जहाँ परम्परागत छंदों के त्याग की बात करते हैं, वहीं नव्यतम यथार्थाभिव्यक्ति-हेतु नूतन छंदों की उद्भावना की बात भी करते हैं, ये दोनों ही तथ्य नई कविता में डॉ० सहल की एक विशेष देन हैं।

•••

प्रयोगवादी कवि : डॉ. कन्हैयालाल सहल

• प्रो. विनोदकुमार मेहरोत्रा

प्रयोग की परम्परा वहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। परम्परा का नवीन मोड़ स्वयं उसका प्रयोग होता है और जब वही प्रयोग रूढ़िवद्ध हो जाता है तो परम्परा कहलाया जाने लगता है। आदि कवि वाल्मीकि की वाणी के माध्यम से प्रस्फुटित श्लोक आधुनिक काव्य का आदि था। परन्तु आधुनिक हिन्दी-साहित्य की नवीनतम प्रवृत्ति प्रयोगवाद अपने शब्द की व्यापकता का परिचायक न रह कर एक सामान्य प्रवृत्ति विशेष के ही लिए रह गया। जिस प्रकार प्रगतिवाद सामान्य प्रवृत्ति का परिचायक न रहकर साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित साहित्य का परिचायक वन गया है, उसी प्रकार प्रयोगवाद भी विकासोन्मुख एवं स्वस्थ कल्याणकारी साहित्यिक प्रयोगों का परिचायक न रह कर प्रतिक्रियावादी, संकीर्ण एवं रुग्ण विचारधारा के लिए प्रयुक्त होने लगा है।

कवीर की तरह उन्मुक्त कंठ से अलापने वाला, हिन्दी साहित्य का केवल एक कवि समाज की परिस्थितियों में पवित्र पावन गंगा का विकास एवं कल्याण का विद्रोही मार्ग प्रदर्शक, झूंठे आडम्वरों के प्रति विद्रोह करने वाला तथा ज्ञान एवं वुद्धि को ही सत्य मानने वाला चालीस वर्ष का कवि (डॉ. सहल) पाँच हजार वर्ष की अवस्था के होने का दावा करता है—

विश्व समूचा आज
ज्ञान-नेत्रों के सन्मुख
घूम घूम कर मँडराता है
मैं न मात्र चालीस वर्ष का
मुखरित मेरा अहं हो रहा
मैं हूं पांच हज़ार वर्ष का ।

कवि ने प्राचीन भारतीय संस्कारों तथा आधुनिक युग के प्रभावों को उत्तराधिकार के रूप में ग्रहण किया है। इसलिए वह अपने को पाँच हजार वर्ष का बतलाकर गौरव का अनुभव करता है। सत्य, शिव और सौन्दर्य के नए माप से पूरित—यह रचना एक नूतन प्रयोग है।

विशुद्ध मस्तिष्क का विकास एवं हृदय की सजग कल्पनाओं का वास्तविक शिल्प ही सच्चे प्रयोगवादी कवि की कसौटी है। बेढंगे एवं बेसुरे रागों को चित्रित करके कुछ प्रयोगवादी कवि अपनी प्रतिभा का प्रयोग एक ऐसे साहित्य का सृजन करने में लगा रहे हैं जो उनकी दृष्टि में जनवादी हो या न हो परन्तु ऐसा अवश्य हो जिसे पढ़कर पाठक आश्चर्यचकित हो उठें, चाहे उसे कोई समझे या न समझे परन्तु यह अवश्य कह उठे कि वाह! क्या ही नई बात कही है!

अगर कहीं मैं तोता होता
तो क्या होता?
तो क्या होता?
तोता होता
आल्हाद से झूमकर
तो तो तो तो ता ता ता ता
निश्चय के स्वर में
होता होता होता होता

ऐसे ही अनेक प्रयोगवादी कवियों के प्रति विद्रोह की आवाज उठाते हुए तथा प्रयोग के सच्चे अर्थ का ज्ञान कराते हुए डॉ० सहल की निम्नलिखित पंक्तियाँ चिर सत्य हैं। प्रयोगवादी कवियों ने कविता के अस्पष्ट कल्पना-चित्रों पर केवल नया मुलम्मा ही चढ़ाने का प्रयत्न किया है, फिर भी वे उसमें सफल नहीं हो पाये।

घिसे घिसाये पात्र पुराने
नया मुलम्मा चढ़ा न पाये
हुए बहुत उपमान पुराने
नव्य काव्य जग बसा न पाये।

श्री अज्ञेय ने प्रयोगवाद की परिभाषा देते हुए कहा है, प्रयोगशील कविता में नए सत्यों या नई यथार्थताओं का जीवित बोध भी है, उन सत्यों के साथ नए रागात्मक सम्बन्ध भी हैं और उनको पाठक या सहृदय तक पहुँचाने, यानी साधारणीकरण करने की शक्ति है। डॉ० नगेन्द्र ने इन पंक्तियों की मान्यता स्वीकार न करते हुए लिखा है:—

१. भाव, तत्त्व और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के बजाय बुद्धिगत सम्बन्ध।

२. साधारणीकरण का त्याग।

३. उपचेतन मन के अन्दर अनुभव-खण्डों के यथावत् चित्रण का आग्रह।

४. काव्य के उपकरणों के एवं भाषा का एकांत वैयक्तिक और अनर्गल प्रयोग।

सहृदय प्रयोगवादी कवि डॉ० सहल की कविताओं को देखने के पश्चात् डॉ० नगेन्द्र द्वारा बताई हुई सभी विशेषताओं में कुछ न कुछ कमी अवश्य रह जाती है।

काव्य के तीन तत्व होते हैं-बुद्धि, भावना और कल्पना। बुद्धि के ही कारण भावों से भरे हुए हृदय में बिम्ब निर्माण होता है। तीनों में उतना ही गूढ़ सम्बन्ध है जितना मानव और मानवता में। "ओ नवो माणस कोण छे" कविता बुद्धि, भावना और कल्पना की सुन्दरतम त्रिवेणी है:—

अरी मां!
अरी मां!
ओ नवो माणस कोण छे?

पराकाष्ठा पर पहुंचते ही कवि का हृदय इतना भाव-पूरित हो जाता है कि उसके आगे कलम की चाल स्वयं रुक जाती है। कविता में रागात्मक तत्व सहृदय पाठक को स्वयं मालूम हो जायगा।

डा. नगेन्द्र ने दूसरा आरोप यह लगाया कि काव्य का चरम लक्ष्य आनन्द है। जब तक काव्य में आनन्द प्राप्ति की आशा नहीं होगी, तब तक पाठक ग्रंथ को पढ़ने की जहमत मोल नहीं लेगा। आज के बुद्धि-युग में कवि एवं पाठक दोनों ही बुद्धिवादी हो गए हैं—किसी एक चरम के सत्य की खोज में लगे हुए हैं। दोनों का उद्देश्य एक ही है, बुद्धि के माध्यम से जीवन-सत्य का अनुसंधान करना। हम प्रयोगवादी कविताओं में आनन्द की प्राप्ति इसलिए करते हैं कि उसमें वर्णित पात्रों के साथ न तो हमारा स्वभाव रहता है और न ही तटस्थ भाव। साधारणीकरण का भी यही सिद्धान्त है। एक भावुक ऐसी अवस्था में आ जाता है जहां शब्द, अर्थ और उसके ज्ञान अथवा वस्तु, सम्बन्धी और उसके सम्बन्ध की भिन्न-भिन्न प्रतीति नहीं होती। प्रयोगवादी कविताओं में प्राप्त आनन्द की भी प्रक्रिया है। अतः डा. नगेन्द्र का यह मत कि प्रयोगवादी कविताओं में साधारणीकरण नहीं होता, समीचीन नहीं। तन्मयता की चरमसीमा पर पहुंच कर भावों में तल्लीन, अपनी ही आवाज को न पहचानने वाला कवि 'डबल थिंकिंग', पर विचार करते हुए इतना आत्मविभोर हो जाता है कि रागात्मकता तथा साधारणीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता।

अंधकार में राह टोहती
मानवता को आँख दे गया
सत्य पुरुष आया धरती पर
सत्य स्वयं भगवान् कह गया

स्वस्थ एवं कल्याणकारी भावमय सच्ची प्रयोगवादी कविता है।

डॉ० सहल की प्रत्येक प्रयोगवादी कविता उपचेतन मन के अनुभव-खडों के यथावत् चित्रण का ही रूप नहीं है। उनमें चेतनता, अनुभवशीलता एवं स्वस्थ मस्तिष्क के साथ-साथ हृदय की भावुक कल्पना भी है:—

ओ रे मयूर ! व्यंसक मयूर !
शहरों में तुम रहे नहीं
फिर क्यों कर तुमने
बाहर से कमनीय कलेवर
अन्दर से छलिया बन करके
सीख लिया विषधर का खाना !

इस कविता में सहृदयता और भावुकता के साथ-साथ उतनी ही वाग्विदग्धता एवं वैचित्र्य भी है।

अंतिम बात दुरूहता जो डॉ० नगेन्द्र ने बतलाई है, काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकान्त वैयक्तिक और अनर्गल प्रयोग भी डॉ० सहल की कविताओं में नहीं मिलता।

•••

भावना यदि कविता-कामिनी का मेरु-दण्ड है तो बुद्धि है उसकी आँख, जो उसे पथ-भ्रष्ट नहीं होने देती।

—डॉ. कन्हैयालाल सहल

समय की सीढ़ियाँ : एक अवलोकन

• प्रो. मनोहरलाल शर्मा

आम तौर पर लोगों की यह सामान्य धारणा है कि आलोचक की प्रतिभा दूसरे दर्जे की होती है और वह सर्जक-साहित्यकार को प्रतिभा की कोटि का स्पर्श नहीं कर पाती। पहले में भावयित्री और दूसरे में कारयित्री प्रतिभा होती है। सर्जक-साहित्यकार अपनी अन्तश्चेतना में विश्व-हृदय के कम्पनों का अनुभव करके अपने रंग से उन्हें रंजित करके विभावित करता है और आलोचक उनकी भावना करके सहृदयों को प्रमाण-पुष्टि के साथ उधर उन्मुख करता है, यानी अपने पथ का सहयात्री बनाता है।

यह भी कहा जाता है कि जो सफल कवि नहीं बन पाता वह सफल आलोचक बनता है। परन्तु मेरा मत है कि ये दोनों कथन अतिवादी हैं और सत्य से काफ़ी दूर हैं। इनके मूल में राजशेखर का वह कथन है जिसमें उसने कवि और भावक के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए सुविधा के हेतु प्रतिभा के दो पक्षों को ही दो विभिन्न कोटि की प्रतिभाएं मान लिया है जैसे काव्यशास्त्र में रस की एक और अखण्ड अनुभूति होते हुए भी तत्तत् स्थायीभावों के अनुसार नाम दिये गये हैं। कवि और समालोचक को दो नितान्त भिन्न कोटि के प्राणी मानने का आग्रह व्यर्थ है। दोनों का ही सृजन ललित सृजन है। कवि भावित होकर सृजन करता है और समालोचक भी भावित होकर विश्लेषणपूर्वक पुनः सृजन करता है। कवि पर आद्यन्त भावना का प्रवेग रहता है तो समालोचक पर उत्तरोत्तर विश्लेषण-चिन्तन प्रधान होता चला जाता है। इस प्रकार निरन्तर रचना-सौन्दर्य के मर्म में अवगाहन करते-करते समालोचक खुद ब खुद कवि बनने की भूमिका में आने लगता है और कवि भी जब अपनी या परायी कृति के सौन्दर्य के हेतुओं की शोधयात्रा में निकल पड़ता है तो अनायास समालोचक के धर्म का वरण करने लगता है। कभी-कभी ऐसा भी होता

है कि कवि और समालोचक युगपत् एक ही व्यक्ति में, जीवन में सुख दुःख और माधवी-कुंज में चन्द्रिका-अंधेरी की तरह, गाढ़-आश्लेष में बँध जाते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ जहाँ गुरु-गम्भीर सैद्धान्तिक समीक्षक थे, वहाँ उनमें 'किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण' जैसी गर्वोक्ति का वाहक उदग्र कवित्व भी था।

कौन कह सकता है कि हिन्दी की सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक समीक्षा के प्रतिमान पण्डित रामचन्द्र शुक्ल कवि-हृदय नहीं थे ?

डॉ० रामकुमार वर्मा और डॉ० रामविलास शर्मा आलोचक से कवि एवं छायावाद के चारों स्तम्भ प्रसाद (काव्य-कला और अन्य निबन्ध) निराला (पन्त और पल्लव) पन्त (गद्य-पथ) महादेवी (विवेचनात्मक गद्य, साहित्यकार की आस्था) कवि से समालोचक बनने के उदाहरण हैं।

डॉ० कन्हैयालाल सहल भी ऐसे ही कवि हैं जिनका आलोचक रूप पहले प्रकट हुआ। (वैसे निबन्धकार और राजस्थानी लोक साहित्य के मर्मी शोधक और व्याख्याता के रूप में भी उनकी विश्रुति कम नहीं है) अनेक कृतियों के सौन्दर्य का अवलोकन करते-करते और उनके सौन्दर्य-विधायक तत्वों का मार्मिक अवगाहन करते-करते वे अन्तः प्रेरणा से कवि-रूप में अवतीर्ण होने के लिए विवश हुए हैं। उनके कवित्व का प्रस्फुटन तब हुआ जब वे हिन्दी-साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के अन्तस् और उसके सौन्दर्य का निर्वचन कर चुके, [आधुनिक हिन्दी-काव्य की विभिन्न धाराओं के प्रत्यक्षदर्शी रहकर उन्हें अगामी विकास की अग्रदूत बनने हेतु विलीन होते देख चुके।] अतः उनका काव्य क्रियाकल्प या काव्यकरण विधि का ही परिणत फल नहीं, वरञ्च उनकी शब्द-शोधन-व्यापार की कुशलता का निदर्शन भी बन गया है और उसमें शब्द और अर्थ का वह सर्वांग सुन्दर सम्मेलन सहज ही आ उपस्थित हुआ है जिससे 'अन्यूनानतिरिक्तत्वं मनोहारिण्यवस्थितिः' की स्वाभाविक निष्पत्ति हुई है।

डॉ० सहल का कवि 'प्रयोग' और 'क्षणों के धागे' के बाद 'समय की सीढ़ियाँ' में अपने परिपक्व रूप में अवतीर्ण है। यहाँ पहुँच कर कवि की वर्धमान चेतना (Nascent Consciousness) विश्व-हृदय से तदाकार हो गई है और यह ही वह स्थिति है जो अनुभूति को निर्वैयक्तिक रूप देकर साधारणीकरण के लिए पुष्ट आधार पेश करती है। काड्वेल के शब्दों में :

"Poetry is the nascent self-consciousness of man not as an individual but as a sharer with others of a whole world of common emotion."

इस संकलन की 'ऐसी चिति दो' नामक पहली ही कविता में कवि के संवेदन का मूलमंत्र यों प्रकट हुआ है।

"समझें मुझको और न चाहे
औरों को पर समझ सकूं मैं
ऐसा वर दो"

कवि का आग्रह किसी विशेष प्रवृत्ति, धारा और मतवाद की तरफ नहीं है। उसने निर्विशेष रूप से सभी प्रकार की कविताओं को इसमें स्थान दिया है जो अपने लिखे जाने के समय सम्बन्धी लम्बे अन्तराल की सूचना देती हैं (शायद इसी कारण संकलन का नाम 'समय की सीढ़ियां' रखा गया है) स्तोत्र, भक्तिगीत, छायावाद, रहस्यवाद, अन्तश्चेतना और प्रयोग-सम्बन्धी कविताओं की संख्या काफी है। ये भिन्न कोटियों की रचनाएं भिन्न-भिन्न समयों पर लिपिवद्ध की गई कवि की विभिन्न मनः स्थितियों का रेखाङ्कन करती हुई उसके (कवि के) Best and happiest moments को रूपायित करती हैं और वर्ड्स्वर्थ के शब्दों में कहूँ तो Ornaments of rhyme हैं। कृति के अन्त में वाग्देवी को उद्दिष्ट करके लिखे गये २३ स्तोभ कवि के भक्ति-पूरित हृदय का परिचय देते हैं और साथ ही उसके संगीत सम्बन्धी ज्ञान को भी प्रकाशन देते हैं। वाग्देवी के स्वरूप प्रत्यय कराने के लिए जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, उनमें कवि के पुराख्यानों के गंभीर ज्ञान का संकेत मिलता है। कई स्तोत्रों में निराला की 'वीणावादिनि वर दे' का उत्कर्ष पाठकों को हठात् तन्मय कर देता है 'मरुधर की हे वधू नवेली' 'प्रोषितपतिका' और 'अमावस्या की रात' जैसी कविताओं में छायावाद के युग की भावना, रूमानियत, प्रकृति का मानवीकरण, छन्दोवैभव, व्यंजक शब्दराशि और संयत अलंकरण अनायास ही दृष्टिगोचर हो जाते हैं। इस वाच्य-वाचक की समंजस उपस्थिति के लिए कवि को कहीं भी 'लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्' उत्पन्न अपनी निपुणता का प्रदर्शन नहीं करना पड़ा है। [शब्द और अर्थ की यह विशालवाहिनी तो कवि-चक्रवर्ती के एक इशारे मात्र पर पंक्तिवद्ध रूप में खड़ी हो गई है 'यस्येच्छयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते द्राग्वाच्यवाचकमयः पृतनानिवेशः' का अद्भुत उदाहरण।]

अमानिशा का एक उत्प्रेक्षापूर्ण चित्र इस कथन के साक्ष्य में प्रस्तुत है :

"निशा-सुन्दरी की अलकों में,
मानो पिरो दिये हों मोती
झिलमिल झिलमिल करते उडुगण
लगता है
उल्लास निशा का

नृत्य कर रहा
भर उमंग में"।

'और खुल गई मेरी दोनों आँखें' कविता में कवि के अन्तश्चक्षुओं के सामने वहिर्जगत् और कल्पना-जगत् के उन्मीलित हो उठने की बात कही गई है :

"ऐसी शक्ति तो
सब में होती नहीं
कवि की आँखें
दोनों लोकों की
देख पाती हैं झाँकियाँ।"

कवि जब अन्तरवलोकन करने लगता है तो दोनों लोक उसे हस्तामलकवत् हो जाते हैं। शायद इसी सत्य को शेक्सपियर ने भी लक्ष्य किया था :

'The poet's eye in frenzy rolling,
Doth glance from heaven to earth and from earth to heaven."

लेकिन मुझे डॉ० सहल के इस संकलन में एक और नया आयाम खुलता दृष्टिगत हुआ है जहाँ वे दोनों लोकों से अतीत आत्म-लोक के सोपानों पर चढ़ते नज़र आते हैं और उपनिषदों के 'आत्मानं विद्धि' का अनुसरण करते हुए अपनी अन्तश्चेतना को वाणी देते प्रतीत होते हैं। उनकी सत्यानुभूति ही सोऽहं में परिणत हो जाती है :

"लिखत लिख दी
बकलम खुद की
है तो वही यह
जो
कलम मेरी
अभी
कुछ लिख गई प्रेरी

× × × ×

लिखत लिख दी
छाप भी तब
लग गई मेरी
वह मैं........................
वह मैं........................"

आत्मा से परे ज्योति पुरुष के प्रति कवि कौतुक ही नहीं, जिज्ञासा भी रखता है :

"ज्योति रूप वह कौन पुरुष है ? चमचम करते जिसने अनुपम, तारापों के सुन्दर दीपक, नभ में भव्य असंख्य सजाये।"

डॉ० सहल की इस कृति में दर्शन का सम्पुट इतना अधिक है कि वह सहज ही लक्ष्य किया जा सकता है परन्तु उसकी प्रस्तुति आह्लाद्य अमृतवत् है। वे दर्शन के किसी सम्प्रदाय विशेष के पक्षधर नहीं हैं। निस्संग तत्त्व-दृष्टि से उन्हें जो भी सारवान् सत्य दिखाई पड़ता है, वह सरल-सीधे शब्दों में भाव-संकुल हो जाता है। कवि 'अस्ति नास्ति' की अन्ध गुहा में तर्क की किरण के साथ नहीं उतरा है। अपनी चेतना की परिधि में सहज स्फुरित हो उठने वाले सत्य को वह ऐसा रूप देता है जो देशकाल-सापेक्ष होता हुआ भी अपनी अपील में सार्वत्रिक और सार्वजनीन बन जाता है। मैं सोचता हूँ, हर बड़े कवि का कुछ सीमा तक दार्शनिक होना एक अनिवार्यता है, नहीं तो वह घिसेपिटे नीतिवचनों और शुष्क ज्ञान-विज्ञान की बातों का ही उल्था करता रहेगा। इस सम्बन्ध में S. T. Coleridge का कथन ध्यान देने योग्य है : "No man was ever yet a great poet without being at the same time a profound philosopher."

डॉ० सहल ने अपने दर्शन की परिधि में रूप-अरूप, भाव-अभाव और वस्तु-अवस्तु सभी को लिया है, लेकिन भावक के भाव्यमान हो सकने की शर्त पर।

अरूप समय और उसकी अगोचर सीढ़ियों को क्रमशः निम्न बिम्बों में देखा जा सकता है :

(क) समय अनन्त महासागर
है
न माप दण्ड कोई
जन्यों का जनक यह
ब्रह्माण्ड का आश्रयस्थल

× × ×

(ख) ये हैं अदृश्य
अस्पृश्य
श्रव्य भी
ये हैं नहीं कभी
दुर्गम ये सोपान समय के
अद्भुत ये सीढ़ियाँ समय की।

'दीवाली का त्रिक-दर्शन' नामक कविता में कवि ने 'ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की ?' का समाधान पा लिया है और उसकी परिणति निविड़ आनन्द में मानी है।

"स्नेह ज्ञान औ सम्यक् कृति ही
त्रिक दर्शन है
यही दिवाली
यही हृदय की ज्योति
यही आनन्द घना है।"

परम्परा और प्रगति का अविनाभाव सम्बन्ध निम्न Poetic question में उत्तरित किया गया :

"विच्छिन्न हो जड़ से
पनपती है
क्या
कभी पौध ?"

सत्य के देश कालातीत और निस्संग-निरपेक्ष रूप को भी कई कविताओं में वाणी दी गई है। हाँ, कुछेक स्थल ऐसे भी हैं जहाँ डॉ० सहल पर कवि प्रसाद की 'कामायनी' का प्रत्यक्ष प्रभाव लक्षित किया जा सकता है :

(क) "सदियों की चट्टानों पर पद करके अंकित
बढ़ता रहता समय सदा ही अपनी गति से"
(समय छन्द है एक विलक्षण)

"युगों की चट्टानों पर सृष्टि, डाल पद-चिह्न चली गंभीर,
देव, गंधर्व, असुर की पंक्ति अनुसरण करती उसे अधीर।"
(कामायनी)

(ख) "बासी फूलों से
होता नहीं कभी
शृंगार प्रकृति का"
(सूर्य की साक्षी)

"प्रकृति के यौवन का शृंगार,
करेंगे कभी न बासी फूल।"
(कामायनी)

अन्त में डॉ० सहल के विभावन-कौशल को भी नजर-अन्दाज़ नहीं किया जा सकता जिसके द्वारा वे अनुभूति का सफल सम्प्रेषण करके सहृदयों के लिए उसके साथ

तादात्म्य स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं। कहीं औपम्य-मूलक अलंकार अनुभूति को गोचर रूप देते हैं तो कहीं व्यंग्य उसे उजागर करता है; कहीं विरोधाभास तो कहीं राजस्थानी के 'ओखाण' उसे गम्य बनाते हैं। 'भूरि भुजंगे गरुड न बीहे' ओखाण का एक स्थल पर बड़ा व्यंजक प्रयोग देखने को मिला। प्रश्नित, उजलाना, विशदाना और पाउडराइज करना जैसे शब्द भी कवि ने गढ़े हैं। अंग्रेजी के इंटेलीजेंशिया और रेडिकल जैसे कुछ चलते शब्दों को लेकर कवि की विनोदी वृत्ति भी मुखर हुई है।

ठलुआ-क्लब के अफ़लातूनों और मूलोच्छेदी प्रगतिशीलता के अलम्बरदारों पर कसी गई ये फब्तियाँ बड़ी सटीक हैं।

(क) "हम विचारक हैं, इंटेलीजेंशिया के अंग हैं,
विचारना है क्या कम ?"

× × ×

(ख) "हम रेडीकल हैं
बुढ़ापे का
बूढ़े विचारों का
कूबड़
कभी झुका नहीं सकता
हमको।"

•••

कवि-रूप में कृष्ण कन्हैया

• नटनागर

डॉ० कन्हैयालाल सहल सुलझे हुए व्यक्ति हैं। न जीवन में, न आलोचना-क्षेत्र में उनका कहीं दुराग्रह या मिथ्याग्रह है। अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, बँगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं से उन्होंने साम्यभाव से लिया-दिया है। अच्छी वस्तु जहाँ कहीं मिले, उन्हें ग्राह्य है। उनके मस्तिष्क की खिड़कियाँ सदा खुली रहती हैं, जिनमें शुद्ध हवा का प्रचार-प्रसार सतत और अबाध रहता है। उनका झुकाव कहीं कभी इकतरफा नहीं। रागद्वेष यदि कहीं है, तो शुद्ध बौद्धिक, पक्षपातशून्य। उनका व्यक्तित्व सन्निविष्ट है, आवेशाविष्ट नहीं। नये-पुराने से उनका कोई अलगाव-विलगाव नहीं। उन जैसे परिश्रमी सफल अध्यापक आजकल यत्र-तत्र ही मिलते हैं। मिडिल स्कूल में किसी जमाने में अंग्रेजी पढ़ाई तो Active and Passive voice, Direct and Indirect Narration तथा Simple Essays जैसी पुस्तकें उन्होंने लिखीं। इन पुस्तिकाओं में विषयों का सार-ग्रहण है। छात्रों की कठिनाइयों का निराकरण करते हुए उनका उचित मार्ग-दर्शन—यही उनका उद्देश्य था। तदनंतर कॉलेज कक्षाओं को जो पढ़ाया, उसी पर विशेष रूप से चिंतन किया, चाहे पाठ्य-पुस्तक 'लहर' हो, चाहे 'कामायनी' चाहे 'साकेत' अथवा 'अजातशत्रु' और चाहे कोई कहानी अथवा जैनेन्द्र का उपन्यास। अध्यापन-क्रिया में तो पाठ्य सामग्री का विश्लेषण होता ही है, लेखन प्रक्रिया द्वारा उसका जन-जन तक और भी विस्तार हो जाता है। नयी उद्‌भावनाओं की प्रतिक्रिया भी होती है। 'साकेत में कौन सा रस प्रधान है?' जैसे लेखों ने अन्य आलोचकों को उत्तेजित भी किया। इसी तरह 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' वाली बात यदा-कदा चरितार्थ होती रहती थी। मेरे समय के कुछ यशस्वी प्राध्यापक भी छायावादी कविताओं की बिना व्याख्या किये ही, उनकी यों ही इतिश्री कर दिया करते थे, यह कह कर कि ऐसी कविताओं के

एक नहीं, जैसे चाहो अनेक अर्थ किये जा सकते हैं, पर सहलजी को स्वयं जब तक संतोष नहीं होता, तब तक उनको चैन कहाँ ? छात्रों को यों टहला देना उनके स्वभाव में है ही नहीं। यही बात उनके राजस्थानी साहित्य सम्बन्धी लेखों में देखी जा सकती है। कवि सूर्यमल्ल मिश्रण की 'वीर सतसई' की टीका, विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका सहित, इसी कोटि की है। जो स्वयं देखा, जो सहयोगियों के साथ काम किया, वह सब ऐसे ही प्रकाश में आया। 'मरु भारती' के सम्पादन में भी यही सारग्राहिणी वृत्ति रही। शब्दों की व्युत्पत्ति की अथवा किन्हीं क्लिष्ट पंक्तियों का अर्थ किया, तो उनमें भी कहीं 'इदमित्थं' का दर्प नहीं। अपने किये हुए पुराने अर्थों का उन्होंने स्वयं परिष्कार किया है। दूसरों के जो भी सुझाव मिले हैं, मान्य होने पर, उनको अंगीकृत किया है, अमान्य होने पर उनकी सकारण मीमांसा की है। उनका नीर—क्षीर विवेक हमेशा प्रवुद्ध रहा है। उनकी आलोचना अधिकांशतः परिस्थिति जन्य है, पाठ्य सामग्री का सर्वाङ्गीण समीक्षण ही उनका हेतु है।

जैसे उनकी आलोचना में सूझ-बूझ अधिक और वाद का आग्रह न्यूनतम है, वैसे ही उनकी कविताओं की भी कोई देशी-विदेशी विधा निर्णीत नहीं। आलोचना उनकी व्यवसायजन्य है तो काव्य सुविधाजन्य। दूसरे शब्दों में आलोचना उनका अगर Vocation है तो काव्य Avocation—वह भी जैसे Vacation के क्षणों में बिना किसी औपचारिकता या बन्धन के जैसे With unbuttoned ease. कविताओं में ऐसे ही आराम के क्षणों के वे धागे बुनते रहे हैं, उन धागों का कोई पाटवाला पट भी हो, तो देखने योग्य, सराहना योग्य ही है, पहनने ओढ़ने के लिए जैसे नहीं। वे सहज कवि इतने नहीं हैं, जितने सहज आलोचक, क्योंकि उनकी काव्य-सृष्टि भी आलोचनामयी है, यद्यपि यह आलोचना साहित्य की उतनी नहीं, जितनी जीवन और समाज की है। मैथ्यू आर्नोल्ड भी आलोचक और कवि दोनों थे, पर उनकी काव्य की परिभाषा ही—a criticism of life है। काव्य उनके लिए साध्य नहीं, साधन है—संस्कार का, पूर्णता का, जीवन की उदात्तता का। सहलजी की कविताओं में भी कोई न कोई विचारकण अवश्य है और हमें तो ऐसा लगता है कि वह विचार ही मूर्त्त होकर कविता में उतर आता है और कभी-कभी तो ऐसा बाना धारण करता है, जो रचयिता को भी एक बार चमत्कृत करदे।

सहलजी की प्रायः सभी कविताएँ प्रसंगोपात्त हैं। उनके शीर्षक चाहे तीस मार्च हो, २६ जनवरी अथवा १५ अगस्त; वे वसन्तोत्सव या दीपावली आदि पर्व विशेषों पर सहगान के रूप में प्रस्तुत की जाने योग्य हों अथवा प्रति अंक 'मरु भारती' में शारदा—स्तवन के रूप में। सरस्वती वंदना प्रायः छंदोबद्ध है, कुछ तुकांत भी, कुछ अखिल संस्कृतमयी-सी भी। सरस्वती के पर्यायवाची शब्द उनमें प्रयुक्त होते रहते

हैं, जैसे ब्रह्माणी, ब्रह्मजाया हंसवाहिनी, सितांबरा, कल्याणी, गीर्वाणी, बीनधारिणी, ईश्वरी, महिमानी, प्रकाशिनी, सुहासिनी, कवि-मन विलासिनी आदि-आदि।

मूढ़ मन ! भज शारदा !
हंसवाहिनि धवल वसना
श्वेत पद्म विराजिता
देव मुनि गंधर्व सेवित
शुक्ल वर्ण सुशोभिता।
हार मुक्ताधारिणी मां
कलाशिल्प समन्विता
मोहतम अज्ञानहारिणि,
रत्न कुण्डल मंडिता।

जैसे स्तवनों को देख हरिऔधजी की याद आ जाती है, जहाँ पूरे छंद में मुश्किल से एकाध हिन्दी शब्द, बाकी सब संस्कृत ही संस्कृत, यथा—'राधा थी सुमुखी विशालनयना आनन्द आन्दोलिता'। पूरे पद्य में बस 'थी' ही हिन्दी की लाज रखने वाली है। सरस्वती-स्तवनों को सहलजी गेय अधिक बना पाये हैं, श्रेय तो होंगे ही, पर प्रेय उतने नहीं। एक स्थान पर तो कवि की उक्ति है—

शारदे ! वरदान पाया।
रागिनी नव-नव स्वरों में
बज उठी, उल्लास छाया।

यह वरदान उन्होंने १६६६ में ही पाया है, इससे तो यह प्रतिफलित होता है कि उनकी रागिनी अब नवनवोन्मेषकारिणी सिद्ध होगी, पर कहाँ तक, यह भविष्य ही बताएगा।

कवि की वाणी का घोष किसी न किसी संबल के आधार पर हुआ है, चाहे वह बाह्य हो अथवा अन्तर्मथित। सेंट फांसिस के प्रवचन के आधार पर उनकी 'अभिलाषा' है कि—

क्षति के बदले, क्षमा कर सकूं.................
और न मुझ से प्रेम करें
तो भी उनके प्रति
मुझे प्रेम दो।
क्योंकि स्वयं देने में ही तो
हम पा जाते।

जिस कविता में 'क्योंकि' का प्रयोग मिलता है, वह मुझे गद्य के अधिक सन्निकट दीखने लगती है। ऐसी कविता का रुझान तर्कात्मक अधिक हो जाता है, भावनात्मक कम, यद्यपि कहने वाले यों भी कह सकते हैं कि मनमानी का भी कुछ 'मानी' होता है। कवि की प्रवृत्ति विग्रहमयी नहीं, शान्तिमयी है, इससे ऐसे प्रवचन उनके सर्वथा हृद्य हो जाते हैं।

सहलजी ने एक वार मेरे यहाँ से ही पुस्तक निकाल कर पढ़ी। उसका शीर्षक था The Price of an Eye। इसमें उनको विचार मिला कि कविता खिलवाड़ नहीं, साधना है। कवि बनने के लिए त्याग की महती अपेक्षा है, उसके लिए कवि को जैसे एक आँख ही दे देनी पड़ती है। यही विचार 'और खुल गई मेरी दोनों आँखें" में रक्तमांस लेकर अवतरित हुआ है जो देखते ही वनता है। पुस्तक का Concept यहाँ पूर्ण Percept के रूप में आया है। यही स्वयं कविता का अपना साध्य है। कवि की एक आँख भौतिक जगत् को अर्पित रहती है तो दूसरी काव्य-देवी की उपासना में रत। कवि काव्यदेवी से स्वप्न में यह सुन ही रहा था कि :—

> इतने में छात्रावास की घंटी वजी
> और खुल गई
> मेरी दोनों आँखें।

दोनों आँखों का खुलना ही उस अप्रतिम संदेश को आत्मसात् करना है।

कवि मनोविज्ञान का अध्येता है और जन-जीवन की गतिविधि का पारखी भी। गहरे पानी में पैठ कर रत्न निकालने वाले मनुष्य विरल हैं, संख्यातीत हैं 'सतही जन' जिनको :—

> रुपये की नव खनन-खनन
> आकर्षित करती अनुक्षण।
> अपने में जो कभी न स्थित।
> रहते प्रतिपल जो चिंतित।
> ....गति की इति वे, धूल फाँकते।

आज के लोग सभ्य तो वहुत हैं, पर संस्कृति से कोसों दूर जा पड़े हैं। सभ्यता के आवरण में वे अपने आपको छिपाये हुए हैं, भूले हुए हैं। चतुर आदमी की तो परिभाषा ही यह हो गई है—'कर्मणि अन्यत् मनसि अन्यत्, वचसि अन्यत्'। एक तरफ यह छल-नीति, दूसरी तरफ़ मनसावाचाकर्मणा शुद्ध वने रहने की प्रेरणा। कितना वैषम्य है इनमें! कथनी और करनी का। अन्तर कवीर को भी वहुत खलता था। यही कवि की चिंता 'डवल थिंकिंग' में मुखर हुई है :—

> मुँह है एक, जीभ हैं दो-दो
> यही वहुत खलता है।

काम साधने वाले कम, रोड़ा अटकाने वाले बहुत। बात करते हैं हम मीठी-मीठी पर अन्दर घोलते हैं विष। कवि के शब्दों में :—

आओ, भरत-वाक्य हम गा दें
पर, दिल से रोड़ा अटकादें।

कैसा तीखा व्यंग्य है यह, हमारी कुटिल नीति पर! खोखली शहरी सभ्यता पर कवि के व्यंग्य यत्र, तत्र, सर्वत्र मिलेंगे। फैशन की दुनिया में कोई नाखून बढ़ाते हैं, कोई लिपस्टिक लगाते हैं, तो कुछ अमरीकी नवोढाएँ कृत्रिम पलकों का भी प्रयोग करने लगी हैं। यह कृत्रिमता कवि को सर्वथा नेष्ट है—

यही लालिमा, ओष्ठ लालिमा
सीमा का यदि
करे अतिक्रमण
सुन्दरता बीभत्स बन उठे।

जीवन की संकुलता में विचार करने का किसी को अवकाश ही नहीं। मनुष्य की परिभाषा है A Rational animal, पर चिंतन से कोसों दूर वह पशुत्व से भी नीचे उतर आया है। उसका दंशन

……षट्पद से भी
तीव्र व्यथाकर
फिर भी वह तो
मात्र द्विपद है।

मनन करने वाला मानव तो जल में कमलवत् जीवनयापन करेगा, सहज सुखद स्वास्थ्य के बदले में ओष्ठों की सहज लालिमा खोकर क्या, वह लिपस्टिक के भरोसे जिएगा? कवि को यही खीझ है कि :—

दुनिया के जितने भौतिक जन
मिट्टी से जिनका निर्मित तन
वे सबके सब अवसरवादी

ऐसे निष्प्रभ वातावरण में भी कवि की यही प्रार्थना है कि :—

जीवन के प्रति
आस्था मेरी
बनी रहे
अविचल
पल-प्रतिपल।

कवि वर्ड्सवर्थ को यह बुरा लगा था कि लोग दुनियादारी में फँस कर प्रकृति को ही भुला बैठे हैं और लेन-देन के गोरख–धन्धे में, निन्यानवे के फेर में ऐसे उलझे हैं कि 'ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहत त्यों त्यों उरझत जात' ।* अर्थ साधन है। उसको साध्य मानना ही सब अनर्थों की जड़ है। हमारे नगरों का पारिवारिक जीवन कितना उखड़ गया है, यह प्रतिध्वनित होता है 'ओ नवो माणस 'कोण छे' में। दफ्तरों के कर्मचारी बच्चों के उठने के पहले ही प्रातःकाल घर से रवाना हो जाते हैं और जब लोटते हैं तो बच्चे सोये मिलते हैं। तभी तो :—

एक परिवार के एक बच्चे ने
रविवार के दिन
अपने पिता को
अजनबी से किसी जन को
कोष्ठक की तरह
अथवा वाक्य के
'क्लाज पैरेन्थैटिकल'-सा
घर में देखा
तो लगा कहने—
अरी माँ !
अरी माँ !!
ओ नवो माणस कोण छे !!!

शहरी सभ्यता की चकाचौंध में मनुष्य उभयभ्रष्ट-सा हो गया, उसे न माया मिली न राम ! बिजली का प्रकाश क्या है—उल्का है जिसने अंधकार को आग लगा दी। अंधकार को क्या, उसने नीरव शान्ति का गला घोट दिया।

अंधकार की वह गरिमा
वह सन्नाटा सब
स्वप्न-जगत् की वस्तु बन गया।
....यह प्रकाश तो निगल गया है
सुन्दर-सुन्दर श्यामल तम को
कितना था विश्राम कि
जिसमें

---

*The world is too much with us
Late and soon, in getting and spending
We lay waste our powers
Little we see in nature, —that is ours. . . .

कवि बच्चन से जैसे प्रभावित सहलजी की दृष्टि में :—

मेरी निधियाँ मेरी त्रुटियाँ
....साईकिल के उस नौ सिखिये
डिगते-डिगते हिलते-हिलते
आशंकित हो चलने वाले
धरा नापते उस सवार–सी
मेरी त्रुटियां मनोमोहिनी

सहलजी ने साइकिल चलाना इन्हीं वर्षों में सीखा है, जब विद्या-विहार घर से काफी दूर मालूम होने लगा। अपना स्वयं का अनुभव उपमा की छटा लेकर यहाँ आया है तो वही साइकिल दूसरी कविता में जीवन-दर्शन के रूप में प्रकट हुई है। सन्तुलन (Balance) के बिना साइकिल नहीं चलाई जा सकती, उसी सन्तुलन के अभाव में 'बात यह खटक गई' कि आग से दाहकता निकल जाय तो वह आग नहीं, शिव से इकार निकल जाय तो वह शव मात्र रह जाता है :—

परन्तु यह मनुष्य है,
मनुष्यता निकल गई
तथापि रूप है वही
कि बात यह खटक गई !

कवि अनुप्राणित होता है, गांधीजी जैसे महात्माओं से, उत्साहित होता है, गीतादि महान् ग्रंथों से। जीवन के दुर्दम वात्याचक्रों और प्रबल झंझावतों के सामने जो झुकता नहीं, मृत्यु से जो भय खाता नहीं, वही अमर है। राजस्थान ऐसे शौर्य से आपूरित है, जहाँ की ललनाएं वीरप्रसविनी होती थी, जो :—

भांवर लेते वेदी से भी
अश्व पीठ का पथ दिखलाती

आज के युग में 'चंदनामा' करने वाले फिर अवतरित हुए हैं, अमरीकी और रूसी दोनों। यह कवि-कल्पना थी कि चांद का धब्बा, धब्बा नहीं, वीरों द्वारा अंकित नामों की काली स्याही है।

जो केवल रूपक ही रूपक था
वही आज बन गया यथार्थ
....ऐसे युग में जीवित रहना
योगदान फिर अपना करना
यह गौरव की बात नहीं क्या ?

पर साथ ही इस युग की विवशता भी कम नहीं है जब :—

अपने ही युग का साहित्यिक
बना अपरिचित अपने युग से ।

विज्ञान की प्रगति वस्तुतः विस्मयकारिणी है, पर बिना तपस्या के, बिना त्याग-तितिक्षा के, मनुष्य चाहे आकाश को छूले, पर उसका अन्तस्तल फिर भी रिक्त का रिक्त ही रहेगा। स्वर्ण को जितना तपाया जाय, उतना ही निखरता है, ठीक वैसे ही :—

दीप-वर्तिका जली नहीं
सिर न कटाया यदि उसने तो
क्या प्रकाश बढ़ सका कहीं ?
निष्ठुरता तो बनी रही
गल न सका यदि मानव का मन
दुःख ज्वाल में कभी नहीं ।

विज्ञान के प्रसाद से अनेक बांधों का निर्माण संभव हुआ है, उनकी अपनी उपयोगिता है, पर उत्कर्ष है उनका जो गांधी-सदृश :—

समय का बाँध जो बाँध जाते इस जगत् में
काल के भीषण प्रहार से वे ही बचे हैं ।

अथवा १५ अगस्त सरीखा दिवस, जो युग युगान्तर तक हमें अपने देश की स्वतन्त्रता की वेला की याद दिलाता रहेगा। कवि के शब्दों में :—

मृत्यु कभी क्या
निगल सकी है
अमृत तत्व को ?

समय की गति बड़ी विचित्र है, पर उसकी सबसे बड़ी विचित्रता है—यतिहीनता। छन्दों में गति होती है तो यति भी, छन्द 'द्रुतविलंबित' साथ ही हो जाता है पर यह समय का छन्द ऐसा विलक्षण है :—

जिसके चरण असंख्य
कौन गिन सकता उनको ?
जिसमें लय है, जिसमें गति है
किन्तु न जिसमें कहीं दिखाई पड़ती
यति है ।

समय के इस आवर्तन में ही आकाशवाणी जैसा चमत्कार सामने आया, जिसके माध्यम से कवि को अपनी ही आवाज जैसे पराई-सी लगी :—

विषमता-सी जान पड़ती
अपरिचित-सा मैं बना
अपने स्वरों के सामने ही ।

महात्मा गांधी को कवि ने बार-बार स्मरण किया है। वह सत्य पुरुष—

अन्धकार में राह टोहती
मानवता को आँख दे गया

गांधीजी आज के नहीं, भावी कल के थे। तभी तो कवि के मुँह से बरबस निकल पड़ता है—

बढ़ते ही तुम तो रहे
समय भी
साथ तुम्हारे चल न सका
वह पिछड़ गया, तुम बढ़े चले !
तुम वर्तमान में ही
भविष्य को
ले आये ।

परम्परा से चिपके रहना बुरा है, पर बिना परम्परा को समझे बूझे-उससे सदा के लिए छुट्टी पा लेना और भी बुरा। 'तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति'—ठीक, पर पुष्ट, स्वस्थ परम्परा को ठोकर मारने वाला भी किस काम का ? थोथी रूढ़ियों के चक्कर में पड़े मनुष्य की वही गति होती है जो केंचुली का मोह न छोड़ सकने वाले सर्प की—

निर्मोक के मोह ने
मुक्ति से
वंचित किया मुझे !

इतिहास की आंखों से अंधकारपूर्ण अतीत की भी झांकी मिल सकती है। कवि अपने को देश-काल से विच्छिन्न नहीं देखता, तभी तो अपने को चालीस-पचास वर्ष का न मान कर पांच हजार वर्ष का मानता है, जिसने मोहनजोदड़ो, वेद और उपनिषद्-काल की सभ्यता, नागार्जुन का शून्यवाद, दादू, कबीर की परम्परा तथा तुलसी सूर से लेकर गांधी तक का ज्ञानार्जन किया है। कवि स्वयं जैसे पुरातन होते हुए नवीन है और नवीन होते हुए पुरातन है, ठीक वैसे ही उसकी कविता एक ही साँस

में नयी-पुरानी दोनों हैं—इसे प्रयोगवादी कहिए, प्रगतिवादी कहिए, नयी-पुरानी का मेल कहिए या और किसी नाम से अभिहित कीजिए, पर यह अवश्य है कि इस चटनी में देशी-परदेशी, नये पुराने कई मसाले बांटे गये हैं पर, बंटने के बाद वे सब समरस या एकरस हो गये हैं।

सहलजी की कुछ कविताएँ संस्कृत की ऋणी हैं जैसे 'छेड़ छाड़' जो निम्न श्लोक पर आधृत है।

हे हरेम्ब, किमम्ब, रोदिषि कथं, कर्णौ लुठत्यग्निभूः।
किं ते स्कन्द विचेष्टितं मम पुरा संख्याकृता चक्षुसाम् ॥
नैतत्तेऽप्युचितं गजास्य चरितं नासां मिमीतेऽम्ब मे।
तावेवं सहसा विलोक्य हसितव्यग्रा शिवा पातु वः ॥

ऐसे ही 'मयूर व्यंसक' का आधार भी संस्कृत का ही एक श्लोक विशेषतः है। मयूर से कवि पूछता है कि शहरों में रहे बिना ही 'बाहर से कमनीय कलेवर, अन्दर से छलिया बन करके' उसने सीख लिया कहाँ से 'विषधर का खाना ?' संस्कृत का श्लोक है—

त्वं सर्प, नैव किमभूः खलु सभ्य जन्तुः।
नैवं भविष्यसि तथा नगरेऽपि वस्तुम्।
जानासि नैव यदि दास्यसि सत्यमुक्तम्।
लब्धं कुतोऽथ गरलं क्वचदंशकर्म ॥

इसी की प्रतिछाया अज्ञेय की इस रचना में देखिए :

सांप तुम सभ्य तो हुए नहीं, न होगे,
नगर में बसना
भी तुम्हें नहीं आया
एक बात पूछूं (उत्तर दोगे)
फिर कैसे सीखा डसना
विष कहाँ पाया ?

सहलजी की दृष्टि में निश्चय ही ये दोनों रचनाएँ रही होंगी। संस्कृत व्याकरण के अध्येता को सहज ही मयूर-व्यंसक शीर्षक मिल गया, जिसने सारे अर्थ में चार चाँद लगा दिये।

कवि अपनी प्रयोगशीलता में एलियट से भी प्रभावित हुए हैं। एलियट की तरह दूसरी भाषाओं की कविताओं से भी सहलजी की कविताओं में उद्धरण आये हैं। Eliot की Waste Land ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः से समाप्त होती है, वही

सहलजी की एक स्वतंत्र कविता बन सामने आती है। बिना हाड़मांस की जिह्वा कहीं मनुष्य की हड्डी-पसली न तुड़वादे, इसी से पाठ हम करते यही :—

ॐ
शान्तिः शान्तिः शान्तिः

'आयु-शतक' राजस्थानी की एक कहावत पर आधृत है। वह है 'दसां डावड़ो बीसां बावलो, तीसां तीखो, चालीसां चोखो, पचासां पाको, साठां थाको, सत्तरां सूलो, अस्सी लूलौ, नव्वै तो नागौ र, सौवां भागो ही भागो।' 'तनिक सरक जा अरी धरित्री' का आधार है, दूसरी एक कहावत 'धरती माई सरकज्याए छैला पाँव धरैगा।' 'राजस्थान की कहावतें' कवि का शोध-प्रबन्ध ही था। वे कहावतें यहाँ 'अनुभव की दुहिताएँ' बनी हैं। ये जनता-जनार्दन की उक्तियां हैं। काल की दीमक से अछूती ये नाविक के-से तीर हैं जो देखने में अवश्य छोटे लगेंगे पर गम्भीर घाव करने वाले हैं। कहावतें न किसी से डरती हैं, न किसी की लाज खाती हैं।

सहलजी की कुछ कविताएं बाल-सुलभ हैं—लिखी भी जैसे बालकों के पत्रों के लिए हों। ऐसी हैं, 'छेड़ छाड़', 'जिज्ञासा', 'लिखत सुधाकर लिखगा राहू', 'यह तेरी कैसी नादानी' आदि। बच्चे को लगता है कि सोम, मंगल जल्दी जल्दी आ जाते हैं पर रविवार जैसे ऊंघता रहता है। औरों के पास क्या मोटरगाड़ी है ? बेचारा रविवार क्या ऊंट पर ही लद कर चलता है ? यह बालक की भोली जिज्ञासा है। 'लिखित सुधाकर' में कवि ने :—

मूर्त्तिमंत शैशव को देखा
पक्षि जगत् से मैत्री करते।

'यह तेरी कैसी नादानी' बकरी की बात है, जो दूध देती है तो मेंगणी भी कर देती है। आलंकारिक अर्थ लें तो बकरी उस व्यक्ति की प्रतीक है, जो किसी दूसरे की बात मानता तो है, पर चारुता और मृदुता खोकर।

मनोविज्ञान से प्रभावित कविताएं हैं—'भावों की अलमारियां' तथा 'मेरा मन है एक अजब सम्मेलन'।

ताश पुंज ज्यों बिखर गया हो
ऐसा बिखरा-सा मेरा मन !
....मेरा मन कुछ छिपा-छिपा
मुझसे ही रहता
पर्दे वाली मुग्ध नायिका-सा
मेरा मन।

कुछ कविताएँ शुद्ध उद्बोधनात्मक हैं--जैसे "ध्रुव प्रभात तो आयेगा" जिनका आधार निश्चय ही Shelley की पंक्ति If Winter Comes, can Spring be Far Behind ?' तथा मैथिलीशरण गुप्त की 'यदपि रात चाहे जितनी हो उसके पीछे एक प्रभात' जैसी पंक्तियां रही हैं। "उत्थातव्यं जागृतव्यम्" शीर्षक के अनुरूप ही "चरैवेति चरैवेति" की शिक्षा देने को है।

मरुप्रदेश का वासी, कवि सहज रूप में इन्द्र से विनती करता है, यह कह कर कि :—

इस मरुधर को रसमय कर दो
....बादल बिजली का आलिंगन
....हुए,
यहाँ पर
अगणित बरस व्यतीत हो गये।

वही कवि सजल सुरंगे मेघों को देखकर उत्फुल्ल होता है। मारवाड़ में पहले बादलों का आना मुश्किल, आने पर उनका टिकना दूभर। इसीलिए कवि की विनती है—

बहुत दिनों से आये हो तुम
तनिक बरस कर चले न जाना।
यही मरुधरा प्रोषितपतिका
बाट देखती रही तुम्हारी
चिर वियोगिनी
हरी-भरी सी हो जायेगी
पाकर के संयोग तुम्हारा।

हरी भरी की तरफ तो स्वतः ध्यान चला ही जायगा। दूसरा अर्थ भी कवि को इष्ट है कि चिर वियोगिनी का जैसे प्रेमी कृष्ण से संयोग हो जायगा। वर्षाकाल वैसे भी ऐसे भावों का उद्दीपक है ही।

'शब्दों को ज्यों जीभ मिल गई' में कवि की प्रशस्ति है, अर्थान्तरन्यास को लपेटे; देखिए, कवि क्या करता है—

जब जब युग अंधा होता है
उसे आँख दे जाता है कवि
अन्धकार भी कहाँ टिक सका
उदित मुदित जब प्राची का रवि।

कवि की यही वाणी कभी संत की वाणी बनकर डाकू का भी हृदय-परिवर्तन कर देती है। विनोबाजी का भी ऐसा ही कुछ चमत्कार था। ऐसे कृत-संकल्प डाकू के मन-मंदिर में ईश्वर भी कुछ काल बैठ कर सुस्ता सकता है। 'The greater the sinner, the greater the saint' यह बात सटीक है। पथभ्रष्ट पुत्र यदि कुमार्ग छोड़ आता है तो उसके लिए उत्सव अधिक मनाया ही जाता है। अच्छा तो अच्छा था ही, है ही, पर वह जो बुरा बन गया—ऐसा कि जिसके सुधार की कोई आशा नहीं, भाग्यवशात् सुधर जाय तो ईश्वर की महती अनुकंपा नहीं, तो क्या है?

कवि सहल सतत जागरूक रहा है। समय के साथ उसने पैर बढ़ाये हैं। 'स्पेस मार्क' वह लिखता है तो 'चीन की चुनौती' की ओर से भी आँखें मूंदे हुए नहीं है। विदेशी आक्रमण के समय विभक्त-सा भारत भी कितना संयुक्त हो जाता है, यह इस कविता में द्रष्टव्य है :—

पंथ हैं अनेक, पर
एक ही पुकार है;
धर्म हैं अनेक; पर
एक ही विचार है।
जातियाँ अनेक पर
एक ही गुहार है,
भाषाएँ अनेक पर
भाव एकाकार है।
वीणाएँ अनेक पर
वही स्वर-भार है,
चीन की चुनौती पर
सब एक-तार हैं।

'सूर्य की साक्षी' में नयी पुरानी पीढ़ी के झंझट को समेटते हुए प्रकाश के देवता की वाणी है, कैसे वह पौरस्त्य—देश :—

भारत देश
मेरे होते हुए
डूब सकेगा
अंधकार में।

कवि जानता है कि जमाना बेढब है। पुरातन युग बदलना नहीं चाहता, नया युग पुराने युग की तरफ झाँकना तक नहीं चाहता। पुरातन युग ऐसा

आश्वस्त है कि :—

नवयुग की बस्ती में
 बनाकर झोंपड़ी
रहता है पुरातन युग ।
 झोंपड़ी है जीर्णशीर्ण ।
वर्षा में चूता है
 छप्पर
देख-देख हँसते हैं
 लोग सब
पर युग पुरातन
 न झोंपड़ी
सुधारता है
 और न देता है
तनिक ध्यान
 हँसी पर
किसी की ।

ऐसी स्थिति में प्रश्नों को अनुत्तरित ही रहने दो, क्योंकि 'आज की दुनिया की गतिविधि है अनोखी ।' लोग आज समाजवाद की बढ़-चढ़ कर बातें करते हैं, यही कांग्रेस का उभयपक्ष आज कर रहा है, पर कवि की कल्पना में यह समता नहीं समाती :—

न बुद्धि, धन, लावण्य
 किसी को मिला समान है
समता की चर्चा यह
 अपलाप फिर महान है ।
समय एक वस्तु जो
 सबको मिली बराबर है ।
समय का यह साम्ययोग
 एक मात्र सच्चा है ।

समय के सदुपयोग की यह शिक्षा कैसे कलात्मक ढंग से आई है ! इसी से वह थोथी उपदेशात्मक न रहकर सीधे गले उतरने वाली है । व्यर्थ की बकवास छोड़ कर सब लोग अगर समय का सदुपयोग सीख जाएं तो यह धरा ही स्वर्ग बन जाय । समय की भ्रूण-हत्या जितनी हम भारतवासी करते हैं, उतनी कदाचित् अन्य देशवासी नहीं ।

'कमल' में कमल की भूरि-भूरि प्रशंसा है, पर साथ ही संस्कृत के श्लोक की छाया के रूप में उसको कवि की चेतावनी भी है :—

किन्तु नलिन ! तू गर्व न करना,
द्विरद–कराघातों से डरना !

संस्कृत का यह प्रसिद्ध श्लोक है :—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे
हा हन्त ! हन्त ! नलिनीं गज उज्जहार ।

जयपुर के स्व० पं० मथुरानाथजी शास्त्री ने 'साहित्यवैभवम्' लिखकर यह सिद्ध किया कि संस्कृत भाषा इतनी प्रभविष्णु है कि इसमें किसी भी भाषा के छन्द का सफल प्रयोग किया जा सकता है। कवि सहल ने भी सब तरह की विधाएं अपनायी हैं, नयी भी, पर पुरानी भी कभी नयी बनकर आ जाती है। 'स्वर्ग समान करेंगे धरती' लोकगीत की तर्ज पर लिखा गया है—

स्वयं चन्द्रमा सहित चाँदनी
निकलेगा भइ निकलेगा ।

जैसे विधा के संबंध में कवि की कोई कुण्ठा नहीं, वैसे ही विचार-क्षेत्र में व्यर्थ ऊहापोह नहीं। विचार–लोक में आदर्श की ओर कवि सहज उन्मुख रहता है :—

'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' का
महामंत्र जहाँ
जपा गया था कभी
वही देश क्या संकुचित बन कर
रहेगा; देश, मेरे देश ।
मुखरित कर अपनी उदात्त उस वाणी को
किन्तु अपनी वीणा के उन तारों को
इतना भी कस न दे तू
कि तार ही टूट जाएँ
देश, मेरे देश ।
'धरा भी उत्कर्णा बन
अंतरिक्ष-संदेश-श्रवण-हित
तल्लीना-सी'

ऐसे युग में कवि की जिम्मेवारी शतधा बढ़ जाती है और उसकी वांछा होती है—मनुष्य बस मनुष्य ही बना रहे तो उसकी सार्थकता असंदिग्ध है। कवि को कभी कुतूहल होता है, कभी अनुकृति की उमंग भी। 'नमो नमो वाणी देवी मां!' स्व० सियारामशरण गुप्त की एक बापूविषयक रचना से अनुप्राणित है—

गगरी थी छोटी-सी अपनी, बिचा यह भरती फिर कितनी ?
गहरी नहीं जा सकी फिर-फिर, तट पर ही यह तरी-तरी ॥

कवि का कुतूहल देखिए 'काल—गणित' में। ययाति ने विवाह किया देवयानी से पर अनुरक्त हो गया दासी शर्मिष्ठा पर। देवयानी के पिता शुक्र ने ययाति को शाप दिया कि वह वृद्ध हो जाय। चारों पुत्रों मे से केवल पुरु ने पिता का वार्धक्य अपने ऊपर ले लिया। पुरु वृद्ध हो गया और वृद्ध ययाति युवा। एक हजार वर्ष तक भोग भोगने पर भी ययाति की तृप्ति नहीं हुई। अंततोगत्वा ययाति फिर वृद्ध हो जाता है और पुरु पूर्ववत् युवा। कवि के मुँह से सुनिए—

जीवन की यह गणित अनोखी
कितनी 'रोमैण्टिक' हो जाए
वर्ष घटाना और बढ़ाना
यदि यथेच्छ नर करने पाए ?

एक हजार वर्ष तक आनन्दोपभोग करने वाले का भी उपदेश यही है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।

अग्नि में घृत की आहुति देने से आग बुझती नहीं, वैसे ही कामोपभोग करते रहने से कामेच्छा शान्त नहीं होती। यह उपदेश, उपदेश नहीं, ययाति के दीर्घ जीवन का अनुभव जितना प्राचीन है उतना ही नवीन भी। विज्ञान पुराना पड़ सकता है, पर ऐसा ज्ञान अक्षुण्ण रहता है, जिसकी धार कभी 'भोंडी' नहीं होती।

कवि का प्रकृति-प्रेम भी कहीं कहीं उभरा है। 'चितेरा' में

मैंने देखा—
कभी सिंह, गज, कभी ऊँट ही
नभमण्डल पर चित्रित होते
और कभी तो
मानचित्र भारत का नभ पर
इतना सुन्दर दर्शनीय मोहक मानस का
जिसे कदाचित् कभी धरा का
चित्रकार तो बना न पाए।

आँसू और हँसी का खेल, यह मानव जीवन कवि को सुहाता है। इसमें उसकी आस्था है, अडिग विश्वास है। यद्यपि पुरानी बोतल में नयी शराब उँड़ेलने वाले भी यहाँ कम नहीं हैं। कवि के शिक्षा-संस्कार ऐसी विभीषिकाओं से भी विचलित होने वाले नहीं हैं।

काव्य-गगन में कवि सहल की उड़ान बहुत ऊँची नहीं। पतंग की डोर कवि के हाथ में बराबर रहती है, कल्पना के उड्डयन को रास्ता दिखाती है—स्वयं कवि की चिंतना। चिंतन और कल्पना का सम्मिलित सहोत्कर्ष उसमें कम मिलता है। कवि कल्पना को कभी इतनी बेलगाम नहीं कर देता कि कल्पना ही कवि को अपने साथ ले जाय। कवि का चिंतक-अहं बराबर पहरेदारी–सा करता है जिससे उसके काव्य में कॉलरिज के शब्दों में Fancy का ही कुछ अतिशय देखने को मिल सकता है। कवि को इसका भान है। 'राग की अपेक्षा विचार–पक्ष की प्रधानता होने के कारण इसे काव्य का नाम देने में मैं कार्पण्य से ही काम लेना चाहता हूँ' यह उसकी स्पष्टोक्ति है। वह यह जानता है कि आज "बुद्धि का विकास अधिक हो रहा है, हृदय आज सिकुड़ रहा है, संकुचित हो रहा है। बुद्धि और हृदय-ज्ञान और भक्ति, दोनों का सन्तुलन आज अपेक्षित है।" तभी तो विज्ञान का चमत्कार अभिनंदनीय होने पर भी अपूर्ण है, मानवीय मूल्यों की स्थापना के बिना। कुछ ऐसी ही बात कुछ दिन पहले कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने एक लाख का पुरस्कार ग्रहण करते समय कही थी।

कवि सहल के प्रथम संग्रह का नाम ही 'प्रयोग' है। कवि ने प्रयोग किये हैं—अनेकविध, पर उन प्रयोगों में प्रयोगवाद की कहीं धूमिलता नहीं आई है। कवि मेघाच्छन्न आकाश में विचरण नहीं करता, उसकी विहार–भूमि टॉर्च की रोशनी से नहीं, रवि-प्रभा से ज्वलंत है। स्व० श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने भी 'प्रगति और प्रयोग से परे' उनके भाव द्रव्यों के मिश्रण की प्रशंसा की है। डॉ० रामकुमार वर्मा की आशा है कि यह प्रयोगवाद का मार्ग-दर्शन करेंगी। आज की बहुत सी कविता-अकविता कम कहती है, अधिक छिपाती है और जो कहती भी है, वह अनमने से-अटपटे भाव से। उस चक्रव्यूह से कभी-कभी कवि स्वयं ही नहीं निकल पाता। कवि सहल के मुक्तकों में ऐसी कोई दुरभिसन्धि नहीं। वे किसी सम्प्रदाय के नहीं, सब सम्प्रदाय उनके हैं। उनकी कविता व्याख्यात्मक नहीं, सूत्ररूपा है, इसलिए प्रायः सर्वत्र अभिधा काव्य से बहुत ऊपर उठ कर चलने वाली है। साथ ही लाक्षणिक वक्रता और अनूठी व्यंजकता ने उसका प्रायः साथ नहीं छोड़ा है।

कविताओं में विस्मयबोधक चिन्हों का (एक नहीं, दो, तीन का भी) इतना अधिक प्रयोग हुआ है कि उसका प्रभाव जैसे क्षीण हो गया है। भाषा में कहीं कहीं

प्रान्तीयता मिलती है जैसे—

स्वतंत्रता का महल अनोखा
भव्य, उन्हीं पर
चिना गया था।

'बहुजन हिताय' में 'दुःख हमारे दूर भग गये' यह पंक्ति लचर-सी लगती है। 'सब दुःख हमारे दूर भगे' यह सम्भवतः अधिक समीचीन है। इसी तरह 'अगणित बरस व्यतीत हो गये' में बरस भी खपता नहीं। अगणित, व्यतीत सब संस्कृत, फिर 'वर्ष' क्यों नहीं ?

कवि सहल के काव्य में कोई 'रहस' नहीं, रस अवश्य है, यद्यपि रूप है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः' वाला परिपुष्ट रस नहीं। इन लघु कविताओं में यह संभव भी नहीं था। फिर भी रस इसलिए कि इनमें मन रम पाता है, यद्यपि अनेक जगह Fancy के कारण चमत्कृत अधिक होता है। अलंकार छंदादि के मर्मज्ञ कवि सहल से यह आशा करना क्या दुराशामात्र होगी कि नयी बोतल में—एक नहीं अनेकों में—वे पुरानी मदिरा उँड़ेलें। कवि नया हो तो पुराने छंद भी चाल बदल कर आते हैं। भाव-भाषा आज की पर कोई प्रवहमान काव्य-शृंखला भी हो, केवल बिखरे फुटकर मुक्तक ही नहीं, ऐसी शृंखला जो आगे पीछे तोड़े यों टूटे नहीं।

•••

डॉ. कन्हैयालाल सहल :

व्यक्तित्व

और

कृतित्व



ललित निबन्ध एवं भाषा-शास्त्र खण्ड

ललित निबंधकार डॉ० सहल

• डॉ० अरविन्दकुमार देसाई

गद्य को कवियों की कसौटी कहने वाले आचार्य के मन में गद्य का निबंध-रूप ही प्रधानतः रमता रहा होगा, इसमें कोई शक नहीं है। वस्तुतः निबंध ही श्रेष्ठ गद्य रूप है, तथापि अद्यावधि निबंध का कोई निश्चित आदर्श नहीं बन पाया है। इतना ही नहीं, अभी तक हम निबंध, लेख, रचना, प्रस्ताव, प्रबंध आदि में योग्य भेद भी नहीं कर पाये हैं। अनेक निबंधों को, जिन्हें उनके लेखक निबंध कहते हैं, पढ़ते हुए हमें विचार करना पड़ता है कि इसे निबंध कहें या लेख कहें। हिन्दी के अनेक विद्वान् तो आज भी लेख और निबन्ध को पर्यायवाची ही मानते हैं। बाबू गुलाबराय ने लिखा है, "...... इस अभाव की पूर्ति आचार्य शुक्ल के निबन्धों ने की। उन्होंने मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक दोनों प्रकार के लेख लिखे।"[1] इससे भी आगे बढ़कर एक अन्य विद्वान् ने लिखा है, "लेख जब तक पत्र-पत्रिकाओं में सामयिक साहित्य के रूप में रहता है, लेख है, परन्तु जब वही लेख किसी पुस्तक में संगृहीत किया जाता है तो 'निबन्ध' की संज्ञा पाता है।"[2] बहरहाल 'दृष्टिकोण' में संगृहीत लेखों को यदि कोई निबन्ध संज्ञा से अभिहित करे तो अन्य को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यद्यपि लेखक ने इन्हें 'लेख' ही कहा है और कविवर सियाराम शरण गुप्त ने इन्हें 'छोटे निबन्ध' नाम दिया है।

निबन्ध शब्द बड़ा लचीला है। शब्द के धात्वर्थ के अनुसार निबन्ध उस रचना को कहा जायगा, जिसमें किसी विचार या भाव को बाँधा अथवा गूँथा गया हो। हिन्दी का यह शब्द लैटिन के 'एग्जीजियर', फ्रेंच के 'एसाई' तथा अंग्रेजी के 'ऐसे' का पर्याय है। ये तीनों ही शब्द लघु अथवा समर्याद दीर्घ कलेवर की उस

१. हिन्दी गद्य का विकास, पृ० १६

२. द्विवेदी-युगीन निबन्ध-साहित्य, पृ० ११।

अनवस्थित गद्य-रचना के लिए प्रयुक्त होता है, जिसमें लेखक आत्मीयता या अनात्मीयता, वैयक्तिकता या निर्वैयक्तिकता के साथ किसी एक विषय या उसके किन्हीं अंशों अथवा प्रसंगों पर अपनी निजी भाषा-शैली में भाव या विचार प्रकट करता है। इस पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि वस्तुतः 'निवन्ध' अपने शाब्दिक अर्थ के सर्वथा विपरीत वन्धनहीन गद्य विधा है। इसीलिए तो सुप्रसिद्ध कोशकार डॉक्टर जॉनसन ने इसे 'मन की विशृंखल विचार-तरंग तथा अनियमित और अपच' रचना कहा है। यह गद्य-रचना ही ऐसी निर्वन्ध है कि सदियों के प्रयास के वाद भी इसे सर्वसम्मत परिभाषा में नहीं वाँधा जा सका है। इसीलिए 'दृष्टिकोण' के निवन्धों की सरलता दिखाते हुए सियारामशरणजी लिखते हैं, "प्राध्यापक सहल को इन निवन्धो में मित्र-गोष्ठी में वैठे वात करते हुए पाते हैं।" लेखक हमें वात-वात में ही अनेक अनुभूत और ज्ञानपूर्ण वातें कहकर मन और वुद्धि को संतुष्ट कर देते हैं।

इस संग्रह में विविध विषयों से सम्वन्धित छोटे-वड़े २३ निवन्धों का समावेश किया गया है। इसमें कई निवन्ध तो इतने छोटे हैं कि जिन्हें सामान्य पाठक भी पाँच-सात मिनट में ही पढ़कर उनका रसास्वाद पा सकता है। साथ ही सियाराम-शरण गुप्त के साथ उसे भी 'सन्तोष होता है, लेखक हमारे समय का भी मूल्य जानता है।' कुछ निवन्ध पाँच-सात पृष्ठों में भो विस्तृत होकर समासीन हुए हैं। लेखक ने इनकी काया के विस्तार या संकोच के वारे में किसी प्रकार का आग्रह नहीं रखा है। विषय-वैविध्य तथा गोष्ठी-शैली के कारण पाठक को 'लेखक की ओर से छुट्टी रही है, जितनी देर रहना हो, रहो। वीच में भी उठकर जा सकते हो और मन हो तो फिर लौटकर आ जाओ।' इन निवन्धों को पढ़ते हुए कहानी का-सा ही आनन्द आता है और लेखक की ओर से छुट्टी होते हुए भी वीच में छोड़कर जाने को मन नहीं करता।

इस संग्रह में सवसे अधिक संख्या मनोवैज्ञानिक निवन्धों की है। इनमें वर्णित लेखक का मनोविज्ञान कोरा वौद्धिक मनोविज्ञान न होकर व्यावहारिक मनोविज्ञान वन पाया है। आचार्य शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निवन्धों के सम्वन्ध में अनेक विद्वानों ने आक्षेप किया है कि वे वौद्धिक अधिक हैं, कलात्मक कम। लेकिन इन मनोवैज्ञानिक निवन्धों पर ऐसा कोई दोषारोपण किया जा सकना सम्भव नहीं है। इनमें इतनी सरलता, स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिक तथ्यों का वर्णन उदाहरण सहित किया गया है कि पूरा निवन्ध पढ़ लेने के वाद ही पाठक को ज्ञान होता है कि लेखक ने कितना वड़ा मनोवैज्ञानिक सिद्धांत समझा दिया है। अपने प्रथम निवन्ध 'टन् टन् टन्' में गाँधी जी की आत्मकथा में वर्णित दुर्वलताओं की चर्चा करते हुए लेखक ने कहा है, "सच्चा आदमी अपने अतीत की वुराइयों को भी जन-समाज के समक्ष रख

सकता है। ऐसा करने से लोग यही तो समझेंगे न कि इतना समुन्नत व्यक्ति भी किसी समय इतना दुर्बल था। समझें, उसकी बला से—किन्तु साथ-साथ वे यह भी तो समझ सकते हैं कि जो व्यक्ति इतना दुर्बल था, वह इतना सबल हो गया।" (पृ० ३) इस बात को समझ लेने के बाद यदि मनुष्य चाहे तो अपने जीवन को भी उन्नत बना सकता है। लेखक ने गहराई से इस प्रश्न पर विचार किया है। इसी प्रकार 'चेतावनी' शीर्षक निबन्ध में बाल-मनोविज्ञान का विस्तार से परिचय दिया गया है। लेखक ने विविध घटनाओं के वर्णन के द्वारा अपनी बात को पुष्ट किया है। अन्त में वे लिखते हैं, "बचपन से ही बच्चे में सचाई तथा आत्मविश्वास जैसी अच्छी आदतें डाली जानी चाहिए जिससे वह भविष्य में पूर्ण मनुष्य बन सके, क्योंकि 'बच्चा ही तो मनुष्य का पिता है।' (पृष्ठ ४४) यहाँ पर भी लेखक का मनोविज्ञान संपूर्णतः व्यावहारिक मनोविज्ञान बनकर ही उपस्थित हुआ है। 'बुड्ढे बच्चे', 'प्रतिभा', 'टैक्ट' 'मृत्युतत्त्व', 'हीन भावना' आदि इसी प्रकार के सुन्दर निबन्ध हैं। 'बहुभाषिता' निबन्ध में निबन्धकार ने बहुत बोलने वाले व्यक्तियों का मनोविश्लेषण किया है। इसके अनेक कारणों का उल्लेख करते हुए भारतीय आयु-विज्ञान का उल्लेख करते हुए कहा गया है, "वातप्रकृति वाला मनुष्य हवा से बात करता है, हवा बाँधता है, इतना ही नहीं, वह हवा से लड़ता भी है।" (पृ० ६१)

लेखक ने कुछ निबन्धों में सैद्धान्तिक मनोविज्ञान की तात्विक चर्चा भी की है। 'हीन-भावना' शीर्षक निबन्ध में मानव-जीवन में उत्पन्न होने वाली हीन-भावना के विविध कारणों पर प्रकाश डालते हुए उन्हें दूर करने के उपायों का भी वर्णन किया है। वे लिखते हैं, "हीन-भाव को दूर करने की रामबाण औषध यह है कि हम अपनी सीमाओं को समझें। आसमान के तारे तोड़ना हमारे लिये संभव न हो तो इस पृथ्वी पर ही दौड़-धूपकर हम अपनी हविस पूरी कर लें; असंभव के पीछे दौड़कर तो हम अपने रोग की वृद्धि ही करेंगे।" (पृ० २८) इसी प्रकार 'मानसिक स्वास्थ्य' और 'मन की करतूत' भी सैद्धान्तिक मनोविज्ञान के सुन्दर निबन्ध हैं। इन निबन्धों में जहाँ अनेक पाश्चात्य विद्वानों के कथन एवं घटनाओं के उद्धरण दिये गये हैं, वहाँ श्रीमद्भगवद् गीता, तुलसीदास, जायसी, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद आदि के कथनों को भी यथास्थान उद्धृत करके भारतीय साहित्य के प्रति अपने ज्ञान तथा अपनी श्रद्धा का परिचय दिया है।

'दृष्टिकोण' के निबन्धों में मनोवैज्ञानिकता के बाद पाठक का ध्यान आकर्षित करने वाला दूसरा तत्त्व ऐतिहासिकता का है। यों तो अधिकांश निबन्धों में इतिहास के उदाहरण देकर लेखक ने अपने इतिहास-ज्ञान का परिचय दिया है। ग्रीक, रोम, इंग्लैंड, फ्रांस, रूस, मिश्र, आदि देशों का उसका इतिहास-ज्ञान उल्लेखनीय है। इसके साथ ही कुछ निबन्ध तो ऐतिहासिक विषयों पर ही लिखे गये हैं। इनमें लेखक

का अपना स्वतंत्र चिंतन विशेष रूप से उभर कर आया है, इसलिए ये पाठक को विशेष आकर्षित करते हैं। "कालो भूपस्य कारणम्" में महाभारत की 'राजा कालस्य कारणम्' उक्ति को लेकर उसके विरुद्ध ऐतिहासिक प्रमाण देकर अपने व्यक्तिगत चिंतन के द्वारा अपना मत प्रदर्शित किया है। उनका यह कथन सर्वथा उचित है कि परिस्थितियाँ यदि व्यक्ति को प्रभावित करती हैं तो एक विशिष्ट व्यक्ति भी परिस्थितियों पर अपना प्रभाव डालता है। मनुष्य को परिस्थिति का दास मानने वाले आज के हिन्दी पाठक के लिए इस प्रकार के विचार अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक हैं। 'प्राचीन भारत में शिक्षा की व्यवस्था' भी ऐतिहासिक कोटि का ही निबन्ध है। इसमें लेखक ने वैदिक-युग, उपनिषद्-युग, सूत्र-युग, विश्वविद्यालय-युग आदि विविध युगों की शिक्षा-पद्धतियों का परिचय देते हुए उनकी विशेषताओं का वर्णन किया है। इनसे लेखक के विशद इतिहास-ज्ञान का परिचय मिल जाता है।

इस संग्रह के कुछ उत्तम निबन्ध वे हैं, जिनमें लेखक ने विविध विषयों की तात्त्विक चर्चा की है। 'चतुर्वर्ग', पंचकोश', 'मृत्यु-तत्त्व', 'सभ्यता और संस्कृति', 'बाउल संत और उनकी साधना', आदि इसी कोटि के विचारात्मक निबन्ध हैं। 'चतुर्वर्ग' में उन्होंने बताया है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में मनुष्य की सभी एषणाओं का समावेश हो जाता है। अर्थ का सम्बन्ध शरीर से, धर्म का बुद्धि से, काम का मन से और मोक्ष का लोकहित से है। 'पचकोश' में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोशों का सरल और बुद्धिगम्य वर्णन किया गया है। 'मृत्युतत्त्व' में लेखक ने एक दार्शनिक की भाँति कहा है, "मरण जीवन का अन्त नहीं है। वह तो माता के एक स्तन को छोड़कर दूसरे स्तन से लगने के समान है।" इसमें प्राचीन विचारकों और दार्शनिकों के उद्धरण देकर मृत्यु का तात्त्विक एवं रोमांचक वर्णन किया है। 'सभ्यता और सस्कृति' में दोनों के तात्त्विक अन्तर को दिखाते हुए कहा गया है, 'सभ्यता का सम्बन्ध बाह्य उपकरणों से है और संस्कृति है एक आन्तरिक वस्तु। सभ्यता यदि देह है तो संस्कृति है देह के भीतर रहने वाला प्राण।' (पृ० ७७) 'बाउल संत और उनकी साधना' मे बाउल संतों को सहज और स्वाभाविक धर्म के उपासक तथा 'मनेर मानुष' कहा है। साधना के क्षेत्र में वे सहज मार्ग के उपासक है। लेखक के इन विचारों का हम स्वागत करते हैं कि सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिए इन संतों के गीतों का राष्ट्रभाषा में अनुवाद होना चाहिए।

इन निबन्धों को पढ़ते हुए इनकी सबसे प्रधान विशेषता यह प्रतीत होती है कि लेखक के अपने विचार जितने स्पष्ट और सुलझे हुए हैं, उन्हें उसी रूप में अभिव्यक्त करने की कला भी लेखक के लिए सहजसाध्य है। इन्हें पढ़ते हुए लेखक के विचारों या भावों के साथ साधारणीकरण कर सकने में पाठक को कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। विविध प्रकार की कथा-कहानियों के उदाहरण देकर वे इतने

सहज ढंग से अपने विचारों के साथ हमारा तादात्म्य जोड़ लेते हैं कि हमें इसके लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। उदाहरणार्थ 'चतुर्वर्ग' निबन्ध के प्रारम्भ में ही भोजन, वस्त्र तथा निवास जैसी अर्थ-साध्य आवश्यकताओं के समान ही जीवन में काम की अनिवार्यता दिखाते हुए कहा है, "ब्रह्मा जब सृष्टि-निर्माण में संलग्न हुए तो जितने ठोस पदार्थ उनके पास थे, वे सब पुरुष के निर्माण में ही खर्च हो गये। इसलिए उन्होंने कमल से कोमलता, वज्र से कठोरता, चन्द्रमा से शीतलता, सूर्य से दाहकता, कोकिल से उसका स्वर, शुक से टें टें, काक से धूर्तता, सारस से वफादारी आदि लेकर स्त्री का निर्माण किया और उसे पुरुष को सौंप दिया।' (पृ० ५२) फिर लेखक ने धर्म से अविरुद्ध काम को भगवान का रूप कहकर काम की पवित्रता सिद्ध की है। इसी प्रकार के मिथों के द्वारा तथा धर्म-ग्रंथों के उद्धरणों के द्वारा अपने भावों और विचारों को सहजगम्य बनाकर प्रस्तुत किया है।

इन निबन्धों में लेखक के विविध क्षेत्र से सम्बन्धित विशाल ज्ञान का भी पाठक को परिचय मिल जाता है। 'उपनिषद् और उनका वर्गीकरण' में लेखक के वैदिक साहित्यविषयक गूढ़ ज्ञान का उदाहरण मिल जाता है। उसके मनोवैज्ञानिक निबन्धों में पाश्चात्य साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन को हम देख पाते हैं। साथ ही उनका इतिहास, आयुर्वेद, दर्शनशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, भाषाविज्ञान, मनोविज्ञान आदि विषयों का विशिष्ट ज्ञान भी अत्र-तत्र-सर्वत्र झाँकता हुआ दिखाई दे जाता है। वर्तमान युग में बहुप्रचलित शब्द, 'बायकाट' के सम्बन्ध में मेरी ही भाँति अनेक पाठकों ने सम्भवतः प्रथम बार ही पढ़ा होगा, "बायकाट, बायकाट हम सभी चिल्लाते हैं किन्तु कितने व्यक्तियों को पता है कि १८ वीं शताब्दी में बायकाट नामक एक व्यक्ति के साथ सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया गया था, जिससे बायकाट शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है।" (पृ. ७०) एक अच्छे निबन्धकार के लिए जिस प्रकार के बहुविध ज्ञान की आवश्यकता मानी गई है, उससे सर्वथा संपूर्ण होने के कारण सहलजी के ये निबन्ध पठनीय एवं उपादेय बन पड़े हैं।

व्यक्तित्व-दर्शन को निबन्ध का प्राणतत्त्व माना गया है। व्यक्ति-भेद से ही निबन्ध की टेकनीक में अन्तर आ जाता है। निबन्ध विधा के जन्मदाता फ्रांसीसी विद्वान मॉन्टेन ने वैयक्तिकता और आत्मनिवेदन को ही निबन्ध का आधार मानते हुए लिखा था : I am the subject of my essays because I myself am the only person whom I know thoroughly. अन्य भी सभी आचार्यों ने निबन्धों में व्यक्तित्व को अनिवार्य तत्त्व माना है। 'दृष्टिकोण' के निबन्धों में लेखक श्री कन्हैयालाल सहल का व्यक्तित्व सर्वत्र स्पष्ट दिखाई दे रहा है। प्रारंभ में ही उन्होंने विदेशी खेलों के प्रति अपना रोष दिखाया है तो साथ ही अपनी समय की पाबंदी का और प्रातः सायं नियमित भ्रमण के लिए जाने का भी वर्णन किया है।

अपने अनेक निबन्धों में किसी विषय का वर्णन करते-करते "किन्तु एक बात हम अवश्य कहेंगे" के द्वारा वे प्रचलित और रूढ़िगत बातों का विरोध करते हैं और इस प्रकार अपने स्वतंत्र चिंतन का दर्शन कराते हैं। जिस किसी विषय का भी सूक्ष्म और इस प्रकार अपने तलावगाही अध्ययन करना लेखक का एक स्वाभाविक गुण है। यही गुण उनके पांडित्यपूर्ण व्यक्तित्व का मुख्य आधार है।

सहलजी की राष्ट्रीय भावना तथा देशभक्ति का परिचय भी पाठक को इन निबन्धों के द्वारा हो जाता है। आज के अधिकांश भारतीय विद्वानों में पाश्चात्य विचारों को ही श्रेष्ठ मानने की एक रुग्ण मनोवृत्ति पाई जाती है, इसके विरुद्ध हमारे विद्वान् लेखक ने निष्पक्ष रहकर पाश्चात्य विचारकों के विचारों को ग्रहण करते हुए भी भारतीय विचारधारा को ही अधिक महत्त्व दिया है। इतना ही नहीं, उन्होंने 'सत्य-पुरुष-गाँधी' निबन्ध में उस युग-पुरुष के प्रति अपनी भक्तिपूर्ण श्रद्धांजलि उचित रूप में ही अभिव्यक्त की है। 'भारतीय संस्कृति का समन्वयात्मक रूप' में भारतीय संस्कृति को विशाल समुद्र का रूपक देते हुए अन्य सब संस्कृतियों को नद-नदी कहकर अपनी राष्ट्रीय भावना को ही व्यक्त किया है। "नैतिक और वैज्ञानिक-दृष्टिकोण" में भी लेखक ने अधिकारप्राप्त भारतीयों को स्वार्थ से अलिप्त रह कर लोक-हित की भावना से कार्य करने का आग्रह किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इन निबन्धों को पढ़ते हुए लेखक की राष्ट्रभक्ति हमारे सम्मुख सर्वत्र ही उपस्थित रही है।

इन निबन्धों की सहज, स्वाभाविक और बोल-चाल की-सी सरल भाषा-शैली ने इन्हें रोचक बनाने में अत्यधिक सहायता पहुँचाई है। माध्यम के रूप में आपने स्थान-स्थान पर कथात्मकता, आत्मगत अनुभूतियों और व्यक्तित्वमयी सात्त्विक भाव-भूमि को ही आधार बनाया है। लेखक के व्यक्तित्व के समान ही, उनकी भाषा भी सर्वत्र सरल और प्रसादगुणयुक्त बन पाई है। भाषा पर उनका पूर्ण प्रभुत्व है, इसी-लिए आवश्यकतानुसार नये-नये शब्द भी उन्होंने गढ़ लिये हैं। बुढ़ाना, ज़िदना, सठि-याना, पोपलाजाना, बूढ़ा-बच्चा आदि कुछ सुन्दर नये शब्द हैं। विचारों की स्पष्टता के लिए और रसीली शैली के लिए स्थान-स्थान पर सरल तथा प्रचलित मुहावरों का यथास्थान प्रयोग किया गया है। इससे भाषा में गतिशीलता के साथ-साथ आकर्षकता भी आ गई है। 'कुम्हड़ बतिया समझना' जैसे आंचलिक मुहावरों के प्रयोग ने भाषा को अधिक रसमय बना दिया है। इन निबन्धों की शैली सहज और व्यक्तित्वपूर्ण होने के कारण इन्हें पढ़ते हुए कथा-कहानी का-सा आनन्द आता है। इसीलिए तो सियारामशरण गुप्त के इस कथन से हम भी पूर्ण सहमति प्रकट करते हैं 'मैंने ये सब निबन्ध प्रसन्नता से पढ़े हैं। पढ़कर ज्ञान में वृद्धि हुई है।' हम अन्य साहित्य-प्रेमियों से भी यह आग्रह करना चाहेंगे कि वे 'दृष्टिकोण' के इन निबन्धों को एक बार अवश्य पढ़ें। •

दृष्टिकोण : एक अनुशीलन

• डॉ० राधेश्याम शर्मा

'दृष्टिकोण' डॉ० सहल के ललित निबन्धों का एक लघु संग्रह है जो विविध विषयों के प्रति लेखक की अनेकमुखी दृष्टि को प्रस्तुत करने के कारण अपने नामकरण की सार्थकता को प्रकट करता है। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से इसके निबन्धों को मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, समाजशास्त्रीय, सांस्कृतिक आदि विभिन्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, पर कुछ लेखों को छोड़ कर सभी में लेखक का उद्देश्य मानसिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण है—मनोवैज्ञानिक कहे जाने वाले निबन्धों में वे प्रवृत्तियाँ व्यष्टिगत हैं तो अन्य निबन्धों में समष्टिगत। इस रूप में विविध विषयों से सम्बद्ध होते हुए भी ये लेख मनोविज्ञान के अधिक निकट हैं। वैसे संख्या की दृष्टि से भी संग्रह में मनोवैज्ञानिक निबन्ध ही सबसे अधिक हैं। कदाचित् इसीलिए लेखक ने इन निबन्धों को समग्र रूप में 'कुछ मानसिक प्रवृत्तियाँ' कहना उपयुक्त समझा है।

संग्रह के नामकरण तथा उसमें समाविष्ट लेखों को दी गयी अभिधा में परस्पर विरोधाभास प्रतीत होता है। 'दृष्टिकोण' शब्द इस बात का द्योतक है कि इन निबन्धों में लेखक के निजी दृष्टिकोण की प्रमुखता है। अतः उनमें व्यक्तिनिष्ठता के तत्वों की अधिकता होनी चाहिए। उधर 'मानसिक प्रवृत्तियाँ' कहने से यह संकेत मिलता है कि लेखों का प्रमुख आधार प्रवृत्तियों का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण है जो कि अधिकाधिक निर्वैयक्तिक होने की अपेक्षा रखता है। ऐसी स्थिति में सहज ही यह प्रश्न उठता है कि ये निबन्ध विषयिप्रधान हैं या विषयप्रधान? यदि विषयिप्रधान हैं तो उन्हें 'कुछ मानसिक प्रवृत्तियाँ' कहना कहाँ तक ठीक है और यदि विषयप्रधान हैं तो 'दृष्टिकोण' नामकरण का औचित्य किस सीमा तक है?

स्वरूप—निर्णय

इन प्रश्नों के उत्तर में इन निबन्धों का स्वरूपात्मक परिचय निहित है, अतः

यहाँ इन पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। इसके लिए पहले विषयिप्रधान (व्यक्तिनिष्ठ) तथा विषयप्रधान (वस्तुनिष्ठ) निबन्धों की विशेषताओं पर दृष्टिपात कर लेना अपेक्षित है। पहले व्यक्तिनिष्ठ निबन्धों को ही लें। इस प्रकार के निबन्धों में लेखक का प्रमुख उद्देश्य अपनी वैयक्तिक घटनाओं, परिस्थितियों, प्रवृत्तियों एवं रुचियों को प्रदर्शित करना होता है, किसी विचार या भाव-सत्य को प्रस्तुत करना नहीं। उनमें यदि विचार-पक्ष होता भी है तो अत्यंत क्षीण, इतना क्षीण कि पाठक का मन उस ओर जम नहीं पाता और शीघ्र ही विचार-पक्ष से कूद कर लेखक की वैयक्तिक परिधि में घूमने लगता है। यों कहिए कि वहाँ लेखक के व्यक्तित्व का पक्ष इतना सबल होता है कि पाठक उसकी पकड़ से मुक्त नहीं हो पाता। विचारों की ओर उसका मन टिकता भी है तो 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' की तरह आनुषंगिक रूप मे। क्योंकि वहाँ जो तथ्य प्रकट किये जाते हैं, वे निर्वैयक्तिक नहीं होते। अतः उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नगण्य-सा होता है। यह उन निबन्धों की सबसे बड़ी सीमा है और शक्ति भी। सीमा इसलिए कि वैचारिक दृष्टि से तथ्यों की तटस्थ प्रभा क्षीण हो जाती है और शक्ति इसलिए कि व्यक्तित्व के संस्पर्श से वर्ण्यविषय मार्मिक और प्रभावोत्पादक हो उठता है। वस्तुतः लेखक के व्यक्तित्व की इतनी सन्निकटता ही उन्हें व्यक्तिनिष्ठ निबन्ध बना पाती है। हिन्दी में बाबू गुलाबराय के ललित निबन्ध व डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'अशोक के फूल' में संग्रहीत अधिकांश निबन्ध इसी कोटि के हैं।

दूसरे प्रकार के निबन्ध वस्तुनिष्ठ होते हैं। उनकी वस्तुनिष्ठता का तात्पर्य लेखक के व्यक्तित्व का अत्यंताभाव नहीं है। साहित्यिक निबन्धों में—चाहे वे साहित्यिक विषय पर लिखे गये हों या साहित्येतर विषय पर—रचयिता के व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव दुष्कर ही नहीं, असंभव है। क्योंकि और भी नहीं तो कम से कम शैली के रूप में उसका व्यक्तित्व अनिवार्यतः रहता ही है। पर शैलीतत्त्व तो सभी प्रकार के निबन्धों में रहता है। ऐसी स्थिति में निबन्धों का इसे व्यावर्तक तत्त्व नहीं कहा जा सकता। शैली की बात यदि छोड़ भी दी जाए तो एक अन्य रूप में भी इन निबन्धों में रचनाकार का व्यक्तित्व रहता है। उनमें उसके भाव एवं संवेदनाएँ विचारों के साथ गुँथी चलती हैं। कोई भी लेखक अपने भावों और संवेदनाओं से निरपेक्ष होकर साहित्यिक निबन्ध नहीं लिख सकता। यदि वह ऐसा कर सकता है तो उसके निबन्ध साहित्य के दरबार में प्रवेश न पा सकेंगे, अन्यत्र भले ही समादृत हों। अभिप्राय यह है कि साहित्येतर विषयों को आधार बनाकर लिखे गये रचनात्मक कोटि के साहित्यिक निबन्धों में लेखक के व्यक्तित्व का होना ही उनके साहित्यिक होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। इतना अवश्य है कि यहाँ लेखक का व्यक्तित्व विषयवस्तु पर हावी होकर इतना नहीं छा जाता कि उसके समस्त तथ्यों की वस्तुनिष्ठता फीकी पड़ जाय। इसके विपरीत होता

यह है कि लेखक के व्यक्तित्व के हल्के संस्पर्श से विषय की वस्तुगत प्रभा और अधिक चमक जाती है। एक शब्द में यहाँ लेखक के व्यक्तित्व का आरोप शैलीगत होता है, विषयगत नहीं। 'चिन्तामणि' में संग्रहीत शुक्लजी के निबन्ध इसी कोटिक्रम में आते हैं।

उक्त दोनों प्रकार के निबन्धों की विशेषताओं को देखते हुए 'दृष्टिकोण' के निबन्ध विषयप्रधान निबन्धों की श्रेणी में आते हैं। उनमें व्यक्ति की प्रधानता न होकर विचारों या भावों की ही प्रमुखता है। यहाँ लेखक का लक्ष्य अपने व्यक्तित्व के दायरे में आने वाले तथ्यों को दर्शाना नहीं है। जहाँ कहीं उसने अपने व्यक्तित्व के संदर्भ दिये हैं, वहाँ वे साधनभूत हैं, साध्य नहीं। उनके द्वारा विषय का स्पष्टीकरण ही अभीष्ट है। छोटे से छोटा विषय भी लेखक के आकर्षक व्यक्तित्व की लपेट में आकर महिमायित हो उठता है—इस तथ्य से लेखक भली भाँति परिचित है। उसकी मान्यता है कि "जिस निबन्ध में वर्ण्य-विषय तो हो किन्तु व्यक्ति नदारद हो, वह सच्चे अर्थों में निबन्ध ही नहीं। क्योंकि कहने वाले के कारण ही विषय में दिलचस्पी पैदा होती है।"[१] इस प्रकार लेखक की दृष्टि में विषय से भी अधिक महत्त्व लेखक का है। यही कारण है कि 'दृष्टिकोण' के निबन्धों में उत्तम पुरुष सर्वनाम का प्रयोग बहुलता से हुआ है। यों कहिए, तथ्यों के प्रस्तुतीकरण में लेखक का व्यक्तित्व एक आवश्यक भूमिका को निभा रहा है। पर इस बात के आधार पर इन निबन्धों को व्यक्तिगत निबन्धों में वर्गबद्ध करना साहित्यिक (विषयगत) निबन्धों की सहज प्रकृति की उपेक्षा करना होगा। यहाँ लेखक का व्यक्ति निश्चय ही जागरूक है, पर निबन्धों में वह सेवक ही है, सेव्य नहीं।

'दृष्टिकोण' के निबन्धों के वर्ण्य-विषय पर नजर दौड़ाने से यह तथ्य और भी उजागर हो जाता है। अन्तिम निबन्ध को छोड़कर सभी निबन्धों के शीर्षक विषय की वस्तुपरता के संकेतक हैं। 'बुड्ढे बच्चे', 'प्रतिभा', 'मृत्युतत्त्व' 'हीन भावना', 'मानसिक स्वास्थ्य' आदि निबन्धों में तथ्यों का विश्लेषण वस्तुनिष्ठ दृष्टि से किया गया है। ऐसी स्थिति में ये निबन्ध विषयप्रधान ही ठहरते हैं।

इस प्रसंग में यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि निबन्धों के जो उपर्युक्त दो वर्ग किये गये हैं, वे अंग्रेजी साहित्य के निबन्धों के आधार पर हैं। हिन्दी के निबन्धों का यह वर्गीकरण सटीक प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः हिन्दी में वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ निबन्धों का समन्वयात्मक रूप ही मिलता है। इसीलिए हिन्दी निबन्धों को शुद्ध व्यक्तिनिष्ठ या वस्तुनिष्ठ निबन्धों के रूप में नहीं छाँटा जा सकता। दृष्टिकोण के निबन्धों पर भी यही बात लागू होती है। वे मुख्यरूप से वस्तुनिष्ठ हैं, किन्तु व्यक्तिनिष्ठ भी, क्योंकि गौण रूप में वहाँ लेखक

१. समीक्षायण : पृष्ठ, ११५।

का व्यक्ति भी विद्यमान है। इस कथन से 'दृष्टिकोण' के निबन्धों का उपर्युक्त वर्गीकरण बाधित नहीं होता है। विषयप्रधानता एक सापेक्ष शब्द है जिसके साथ किसी अन्य तत्त्व (व्यक्ति) की गौणता स्वतः जुड़ी हुई ध्वनित होती है। इस दृष्टि से 'दृष्टिकोण' के नामकरण तथा उसके प्रतिपाद्य में जो विरोधाभास दिखाई देता था, उसका भी परिहार हो जाता है। लेखों में विषय की प्रधानता है पर उनके विश्लेषण में लेखक भी अपनी दृष्टि के रूप में विद्यमान है।

साहित्यिकता

इसी विशेषता के कारण ये निबन्ध विज्ञानक्षेत्रीय वस्तुनिष्ठ निबन्धों से अपना स्वरूप-भेद प्रकट करते हैं। यदि ये निबन्ध लेखक की दृष्टि को साथ लेकर साहित्यिक शैली में नहीं लिखे गये होते तो वे शुद्ध दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय आदि निबन्धों में अपना स्थान बना पाते, साहित्यिक निबन्धों में नहीं। यहाँ लेखक ने तथ्यों या भावसत्यों को इस रूप में प्रस्तुत किया है कि वे साहित्यिक हो गये हैं। विज्ञानपक्षीय सिद्धांत-निरूपण और साहित्यिक निबन्धों में एक मौलिक अन्तर होता है। एक में लेखक की दृष्टि सर्वथा तटस्थ और निरपेक्ष होती है। फलतः तथ्यों का विश्लेषण पूर्णतया बौद्धिक होता है। दूसरे में यह वर्णन संवेदनात्मक और प्रभावात्मक होता है। साहित्यकार वैज्ञानिक तथ्यों को अपनी संवेदना या भावना के रस में डुबो कर प्रस्तुत करता है, जिससे उनमें सरसता व आत्मीयता आजाती है। यही उनके प्रभावात्मक होने का हेतु है। वैज्ञानिक निबन्धों में मात्र बौद्धिक आयास होता है; अतः प्रयोगवादी कवियों के तथाकथित बौद्धिक रस की बात छोड़ दी जाए तो कहा जा सकता है कि विज्ञानक्षेत्रीय निबन्ध सरस नहीं होते। अवश्य ही उनमें कुतूहल, चमत्कार आदि के उत्कण्ठावर्धक तत्त्व रह सकते हैं पर रसात्मकता नहीं जो कि साहित्यिक निबन्धों की अनन्य विशेषता है।

'दृष्टिकोण' के निबन्ध साहित्येतर विषयों पर लिखे होने पर भी इसलिए साहित्यिक हैं कि उनमें लेखक का व्यक्तित्व मौजूद है। वर्ण्य-विषय पर नवीन प्रकाश उसके अनुभवों के ज्योतिपुञ्ज से आता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है। निबन्ध पढ़ते समय ऐसा लगता है जैसे "एक जिन्दादिल मजेदार व्यक्ति अपने मनोरंजक अनुभव सुना रहा हो।" इन निबन्धों का विषय चाहे किसी भी विज्ञान से सम्बन्ध रखता हो पर उनमें लेखक की प्रतिपत्तियाँ संवेदनात्मक हैं। यही विशेषता उन्हें साहित्यिक बना देती है। इस दृष्टि से इन निबन्धों को मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक आदि केवल इस अर्थ में कहा जा सकता है कि उनमें जो कुछ कहा गया है, उसका सम्बन्ध किसी न किसी विज्ञान या शास्त्र से है। वस्तुतः वे शुद्ध वैज्ञानिक निबन्धों की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते। उनकी शास्त्रीयता के विरोध में तथा साहित्यिकता के समर्थन में कुछ उद्धरणों पर विचार किया जा सकता है।

प्रथम निबन्ध में इस बात का रहस्य खोलते हुए बताया गया है कि गाँधी जी आत्म-कथा में अपनी दुर्बलताओं का निस्संकोच उल्लेख क्यों कर सके—

"अपनी जिन दुर्बलताओं का महात्मा जी ने अपनी आत्मकथा में उल्लेख किया है, उनसे वे बहुत ऊँचे उठ चुके थे, इसलिए उन दुर्बलताओं के साथ वे खिलवाड़ कर सकते थे।" (पृ० २)

इसी प्रकार अन्यत्र लिखा है—

"आप उतने ही जवान हैं जितनी आपकी आस्था और निष्ठा, उतने ही बुड्ढे हैं जितना आपका शक और संशय। × × × जब आपके दिल के तार ढीले पड़ जाते हैं और जब आपकी चेतना पर निराशा और क्लैव्य की पपड़ी जम जाती है, तब आपका जीवन जड़वत् और निरा यांत्रिक बन जाता है, तब आप वास्तव में बुड्ढे हो जाते हैं।" (पृ० १४-१५)

आगे 'मानसिक स्वास्थ्य' की विवेचना करते हुए लिखा है—

"भय और क्रोध दो ऐसे मनोवेग हैं जो हमारे मानसिक स्वास्थ्य को आघात पहुँचाते हैं।" (पृ० ३१)

मनोवैज्ञानिक निबन्धों में से लिए गये इन उद्धरणों की शब्दावली तथा शैली स्पष्ट बता रही है कि ये साहित्यिक हैं। तीसरे उदाहरण से तो और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि वे शब्द और विचार किसी ऐसे साहित्यकार के हैं जो मनोविज्ञान की शास्त्रीयता से बँधा हुआ नहीं है। यदि आज का मनोविश्लेषण-वादी मनोवैज्ञानिक इस तथ्य को प्रस्तुत करता तो अचेतन मन, भग्नाशा, कुण्ठा तथा तज्जन्य प्रतिक्रिया आदि की शब्दावली में बोलता। वस्तुतः देखा जाए तो लेखक यहाँ भारतीय दर्शन के अधिक निकट पहुँच गया है। उसका ध्यान विषय के शास्त्रीय पक्ष पर उतना नहीं है जितना कि व्यावहारिक पक्ष पर।

सार यह है कि 'दृष्टिकोण' के निबन्ध साहित्येतर विविध विषयों पर लिखे गये रचनात्मक साहित्यिक निबन्ध ही कहलायेंगे।

विषय-वैविध्य

इन निबन्धों की एक प्रमुख विशेषता विषय की विविधता है। लेखक ने विभिन्न क्षेत्रों से जीवनोपयोगी विषयों का चुनाव कर अलग-अलग जायके की सामग्री पाठकों के समक्ष रखी है। कुछ निबन्धों में मानसिक दुर्बलताओं का विश्लेषण किया गया है तो कुछ में बौद्धिक दृष्टि से विचारोत्तेजक सामग्री दी है, तो कुछ में देश के साहित्य और संस्कृति के गौरव की ओर संकेत कर सांस्कृतिक उत्थान की कामना

की गयी है। जितने विषयों से निबन्धों की सामग्री का सम्बन्ध है, उन्हें देख कर यह आसानी से समझा जा सकता है कि कितने व्यापक क्षेत्र से विषयों का चयन किया गया है। संग्रह में कुल २३ निबन्ध हैं जिनमें पाँचवें निबन्ध को छोड़ कर प्रारम्भिक दस निबन्ध मनोवैज्ञानिक हैं। ग्यारहवाँ निबन्ध 'कालो भूपस्य कारणम्' समाज-शास्त्रीय दृष्टि से लिखा गया है, जिसमें व्यक्ति (संस्कार) की अपेक्षा परिस्थितियों का अधिक महत्त्व बता कर समाज-शास्त्रीय सिद्धांत का संकेत किया गया है। अन्त में क्रिया-प्रतिक्रिया के सिद्धान्त में व्यक्ति और परिस्थितियों का समान महत्त्व स्वीकार कर उनके समन्वयात्मक रूप का परिचय दिया है। 'बहुभाषिता' में वातप्रधान मनुष्यों की प्रकृति पर विचार व्यक्त किये गये हैं। मानव-प्रकृति से सम्बद्ध होने के कारण इस निबन्ध को मनोवैज्ञानिक कहा जा सकता है, पर यहाँ लेखक का दृष्टिकोण आयुर्वेदशास्त्र पर आधारित है। अतः इसे आयुर्वेदिक विश्लेषण-प्रधान निबन्ध कहना ही अधिक समीचीन है। 'मृत्यु-तत्त्व', 'चतुर्वर्ग', 'पञ्चकोश' और 'सदाचार का प्रारम्भ'—ये चार निबन्ध दार्शनिक हैं, यद्यपि उनके भीतर मनोवैज्ञानिक पुट भी कम नहीं है। 'भाषा का चमत्कार' एक मात्र भाषावैज्ञानिक निबन्ध है जिसमें कुछ शब्दों की उत्पत्ति पर नवीन विचार प्रकट हुए हैं। सतरहवें निबन्ध का सम्बन्ध जीवन के आचार-पक्ष से है। अतः इसे आचारशास्त्रीय (एथिकल) निबन्ध की अभिधा दी जा सकती है। अठारह से बाईस संख्या तक के निबन्ध भारतीय शिक्षा, संस्कृति और साहित्य को आधार बना कर लिखे गये हैं, अतः स्थूल रूप में इन्हें सांस्कृतिक निबन्ध कहना अनुपयुक्त न होगा। अन्तिम निबन्ध 'सत्य पुरुष गाँधी' आख्यानात्मक है, पर उसे भी एक प्रकार से सांस्कृतिक निबन्ध कहा जा सकता है क्योंकि सत्य पुरुष के रूप में गान्धी जी के स्तवन में भारतीय संस्कृति के ही एक पक्ष का उल्लेख हुआ है।

यह ध्यान देने योग्य है कि इन निबन्धों में विषय के शास्त्रीय पक्ष का उद्घाटन उतना नहीं है जितना कि व्यावहारिक पक्ष का। इसीलिए उनमें आकर्षण अधिक उत्पन्न हो गया है। मात्र विषय की विविधता ही किसी निबन्ध की रोचकता का हेतु नहीं हो सकती। उसके लिए और बातें भी आवश्यक हैं। वे हैं—लेखक की दृष्टि और शैली। 'दृष्टिकोण' के निबन्धों के विषय सामान्य ही हैं, कुछ तो घिसे-पिटे भी, पर लेखक की प्रतिभा के प्रसाद से वे नवीन रूप में चमक उठे हैं। ये निबन्ध इस तथ्य का जीवित प्रमाण उपस्थित करते हैं कि निबन्धों में विषय का उतना महत्त्व नहीं, जितना कि लेखक की अभिनव दृष्टि व प्रतिपादन-शैली का। इन तीनों तत्त्वों में से कुछ लेखकों के निबन्धों में एक तत्त्व मिलता है तो कुछ में दो। तीनों का युगपद् सन्निवेश दुर्लभ ही है। पर 'दृष्टिकोण' में तीनों तत्त्व इस संतुलन से आ मिले हैं कि निबन्धों में तिहरा आकर्षण उत्पन्न हो गया है।

मानवतावाद

'दृष्टिकोण' के निबन्धों की विषय-सम्बन्धी अनेकता के बीच भी एकता का सूत्र विद्यमान है। लेखक का मानवतावादी दृष्टिकोण सभी में अन्तर्ग्रथित है। मानवतावाद सम्पूर्णतम मनुष्य को मनुष्य का प्रतिमान मानता है। वह एक ओर मानवोपरि दिव्य सत्ता का निषेध करता है, दूसरी ओर मानव के प्रति अमानुषीय व्यवहार का विरोध। मानव के ऊपर किसी अतिमानवीय सत्ता को मानना तथा उसे किसी वर्ग विशेष की स्वार्थमय यंत्रणा में पिसना—दोनों ही बातें उसकी पूर्णता में बाधक हैं। मानवतावाद की शास्त्रीय गहराई में न जा कर यहाँ सीधे-सादे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मानवतावाद अपने मूल रूप में मानव प्रेमवाद है जो मनुष्य-मनुष्य के बीच दिखने वाले बाहरी भेदभाव को भुलाकर एक-दूसरे से प्रेम करने में विश्वास करता है। यों कहिए, मानव-मात्र से प्रेम करना ही मानवतावाद का मूल मंत्र है।

'दृष्टिकोण' के निबन्धों में इस मानवतावाद की अभिव्यक्ति शास्त्रीय रूप में नहीं हुई है अर्थात् उसमें प्रत्यक्षतः कहीं भी मानवोपरि दिव्य सत्ता का निषेध कर मानव को पूर्णतम रूप में देखने की बात नहीं कही गयी है और न नवमानवतावादी नास्तिक मार्क्सवादियों की तरह श्रमिकों के प्रति सहानुभूति का नारा लगाया गया है। हाँ, मानवतावाद को उसकी मूल भावना के रूप में अवश्य अभिव्यक्ति मिली है। साहित्य की प्रकृति के अनुसार ऐसा ही सम्भव था। बात यह है कि साहित्य में किसी वाद या सिद्धान्त की ज्यों की त्यों उद्धरणी वाञ्छनीय नहीं है। साहित्य कोई शास्त्र (अलंकार-शास्त्र की बात छोड़िए) तो है नहीं, उसमें तो सिद्धान्त-कथन भाव-रूप में ही हो सकता है और होना भी चाहिए। 'दृष्टिकोण' में भी यही हुआ है। यहाँ उसकी अभिव्यक्ति मानव-प्रेम के रूप में हुई है।

यह अभिव्यक्ति दो तरह से हुई है—१. अभिधात्मक रूप में २. ध्वन्यात्मक रूप में। प्रथम रूप में लेखक स्पष्ट शब्दों में मानव-मानव के बीच प्रतीयमान समस्त भेदों की उपेक्षा कर मानव-मात्र से प्रेम करने की बात कहता है—

"भारत भी सभ्यता की ऊपरी चकाचौंध के फेर में न पड़ कर संस्कृति की ओर ही उन्मुख होगा, तभी वह मानव-धर्म का सच्चा आदर्श विश्व के सामने रख सकेगा।" (पृ०, ८०)

एक स्थान पर तो मानवतावाद का सिद्धान्त और भी स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त हुआ है। लेखक ने महाभारत की प्रसिद्ध पंक्ति—'नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्'—उद्धृत करते हुए मनुष्य की श्रेष्ठता का समर्थन किया है। यह बात उसने बाउल सन्तों की साधना के प्रसंग में कही है। बाउल सन्तों से लेखक इसलिए विशेष

प्रभावित है कि वे 'मानव के उपासक' हैं। मानवप्रेम ही उनकी साधना का प्रमुख लक्ष्य है। हिन्दी में बाउल सन्तों पर लेख लिखने की पहल लेखक ने उनकी मानवतावादी दृष्टि से प्रभावित होकर ही की है। बाउल सन्तों के विषय में वह लिखता है—

"बाउल 'मनेर मनुष्य' अर्थात् मन के मानव के उपासक। मानव के इस महत्त्व का संकेत पुरुष-सूक्त में भी मिलता है।" (पृ०, ८९)

ध्वन्यात्मक रूप में भी लेखक का झुकाव मानवतावाद की ओर प्रतीत होता है। मनोवैज्ञानिक निबन्धों के भीतर मानवप्रेम की भावना निहित है। वहाँ लेखक का प्रमुख लक्ष्य मनोवैज्ञानिक तथ्यों को प्रस्तुत करना नहीं है प्रत्युत उनके द्वारा मानव-मन का परिष्कार अभीष्ट है। वह चाहता है कि मनुष्य जिन मानसिक दुर्बलताओं के कारण मानव-समाज का श्रेष्ठ व्यक्ति नहीं हो सकता, उनका निराकरण अत्यंत आवश्यक है। दार्शनिक और सांस्कृतिक निबन्धों द्वारा वह समाज को बौद्धिक व सांस्कृतिक उत्थान का दिशा-संकेत देता है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक निबन्धों द्वारा मानव का मानसिक, दार्शनिक निबन्धों द्वारा बौद्धिक और सांस्कृतिक निबन्धों द्वारा सांस्कृतिक अभ्युत्थान लेखक का अभिप्रेत है। भारतीय संस्कृति के समन्वयात्मक स्वरूप के परिचय में मानवतावादी दृष्टि का ही उन्मेष है। इस प्रकार सभी निबन्धों के भीतर से मानवतावाद की झंकार सुनायी देती है।

हास्य-व्यंग्य

'दृष्टिकोण' के निबन्धों में हास्य-व्यंग्य का प्रयोग भी हुआ है, पर अत्यंत विरल। दो-तीन निबन्धों को छोड़ किसी में हास्य का प्रयोग नहीं मिलता। चिन्तन की गहराइयों में उतर कर नवीन तथ्यों के विश्लेषण का प्रधान लक्ष्य लेकर चलने के कारण लेखक को हास्य के प्रसार का अवकाश नहीं मिला है। हास्य के अभाव की बहुत कुछ कमी को लेखक की रोचक शैली ने भी पूरा कर दिया है। कदाचित् इसलिए भी लेखक ने हास्य की आवश्यकता न समझी हो; अन्यथा जितने-से रूप में हास्य-व्यंग्य का प्रयोग निबन्धों में हुआ है, उसे देख कर इस क्षेत्र में लेखक की दक्षता का अनुमान लगाया जा सकता है।

हास्य-व्यंग्य का प्रयोग कुछ मनोवैज्ञानिक निबन्धों तक ही सीमित है। आचार्यों ने बताया है कि वाणी, रूप आदि के विकारों को देखने पर हास्य उत्पन्न होता है। इन निबन्धों में लेखक ने वाणी व रूप की विकृति को तो नहीं देखा है पर मानसिक विकृतियों को अवश्य देखा है। स्वभावतः ऐसे अवसर पर लेखक की हास्य-प्रवृत्ति ने उभर कर पाठकों के लिए भी हास्य की अच्छी खासी सामग्री दे दी है। पश्चिमी आचार्यों ने जो हास्य के प्रकार बताये हैं, उनमें व्यंग्य का प्रयोग ही मुख्य रूप से किया गया है, उसके साथ कहीं-कहीं स्मित (ह्यूमर) भी लिपटा हुआ

आ गया है। व्यंग्य को ही अपनाने का प्रमुख कारण लेखक का सामाजिक दृष्टिकोण है जो अन्ततः मानवतावाद का ही पोषक है। व्यंग्यकार एक प्रकार से समाज-सुधारक होता है। वह समाज के दोषों व विकृतियों का उपहास कर उसे ठीक रास्ते पर लाना चाहता है। व्यंग्य एक सोद्देश्य हास्य है जो कि समाज के परिष्कार की भावना से अनुप्रेरित होता है। 'दृष्टिकोण' के लेखक ने भी व्यंग्य का प्रयोग इसी उद्देश्य से किया है। समाज-सुधार की शुभेच्छा से प्रेरित होने के कारण उसका व्यंग्य तीखा होते हुए भी कटु नहीं है। स्मित के योग से वह और भी मधुर हो गया है। उदाहरणार्थ—

"ग्रीस के सुकरात ने तो न जाने कौन-से दार्शनिक अर्थ में कहा था—अपने आपको जानो, किंतु मैं चाहता हूँ कि ये 'बुड्ढे बच्चे' यदि यह जान लें कि बचपन उनके साथ चिपटा हुआ आ रहा है, तो क्या यह इनके लिए 'आत्मज्ञान' से किसी कदर कम है?" (पृ० ६)

"मेरे एक मित्र हैं जिनमें कष्ट झेलने का माद्दा है ही नहीं। जरा-सी कहीं चोट आ जाय तो दूसरों को दिखाते फिरेंगे। कहीं खरौंच लग जाय तो भी आप चाहेंगे कि दूसरे उनके साथ सहानुभूति प्रदर्शित करें। × × × अँगुली अच्छी हो गयी, तब भी आप उसके कुछ दिनों तक केवल इसलिए पट्टी बाँधे रहे कि ऐसे अभिनय से आपको अपने मित्रों की सहानुभूति अनायास मिल जायेगी।" (पृ० ५)

"बुड्ढी बच्चियाँ हों अथवा बुड्ढे बच्चे, दोनों ही भयावह हैं और इनसे तो भगवान् ही बचाए!" (पृ० १०)

इन उदाहरणों में मानसिक विकृतियों से ग्रस्त मनुष्यों का उपहास किया गया है। इनमें स्मित के माधुर्य ने व्यंग्य की कटुता को ढक दिया है।

भाषा-शैली

इन निबन्धों की भाषा अत्यन्त सरल और मुहावरेदार है। उसमें उर्दू, फारसी, अरबी, अंग्रेजी व संस्कृत भाषाओं के उपयुक्त और बहुप्रचलित शब्दों का यथास्थान प्रयोग हुआ है। लेखक का लक्ष्य सर्वत्र विषय के स्पष्टीकरण की ओर रहा है जिससे भाषा दुरूह नहीं हो पायी है। हिन्दी के साथ संस्कृत के विद्वान् होने पर भी लेखक ने हिन्दी को संस्कृत-शब्दों की प्रचुरता से बोझिल नहीं होने दिया है। अन्य भाषाओं के शब्दों को उसी रूप में ग्रहण किया है जिस रूप में कि वे हिन्दी की प्रकृति में घुलमिल गये हैं। ऐसा लगता है कि विचारों को प्रकट करने के लिए लेखक को भाषा की ओर देखना नहीं पड़ता, शब्द स्वतः उसके मनोनुकूल भाव को प्रकट करने के लिए उपस्थित हो जाते हैं। लेखक का भाषा पर अधिकार होने के कारण उसमें शब्दाडम्बर नहीं है। उसमें सहज प्रवाह सर्वत्र बना हुआ है। भाषा सर्वत्र स्फीत और अनाविल है।

भाषा की इस विशेषता का कारण लेखक की शैली भी है। लेखक ने निवन्ध लिखते समय यह ध्यान रखा है कि पाठक उसके सामने बैठा है और वह उसे अपने मनोरंजक अनुभव सुना रहा है। लेखक के अनुसार निवन्ध 'जिन्दादिल मजेदार व्यक्ति का भोजनोत्तर एकांत संभाषण' ही तो है। अतः इन निवन्धों में हम "प्राध्यापक सहल को मित्र-गोष्ठी में बैठे बात करते हुए पाते हैं।"[1] अभिप्राय यह है कि ये निवन्ध बातचीत की तरह लगते हैं। बातचीत भी ऐसी जैसी कि भोजन के बाद हल्के-फुल्के ढंग से बड़े आराम के साथ चलती रहती है, वार्तालाप-शैली की सरलता व सरसता इन निवन्धों में सर्वत्र व्याप्त है।

संग्रह के निवन्धों में एक या दो शैलियाँ मिलती हैं। सारे निवन्धों की एक या दो शैलियाँ सामान्य रूप से निर्दिष्ट नहीं की जा सकतीं। प्रत्येक निवन्ध में शैली की कुछ न कुछ नवीनता मिलती है। कहीं लेखक ने पहले सैद्धान्तिक बात कह कर अनेक उदाहरणों द्वारा उसे स्पष्ट किया है तो कहीं विषय को सामान्य रूप में उठा कर अनेक युक्तियों व उदाहरणों द्वारा उसे विकसित कर अन्त में निष्कर्ष दिया है। इस प्रकार कहीं निगमन-आगमन शैली को अपनाया है तो कहीं व्यास व समास शैलियों को। लेखक का ध्यान सर्वत्र विवेचना की ओर हो रहा है, अतः समग्र रूप में उसकी शैली को विवेचनात्मक कहना उपयुक्त होगा।

अन्त में, यह कहा जा सकता है कि इस संग्रह के निवन्धों के वर्ण्य-विषय को प्रभावोत्पादक बनाने में शैली का प्रमुख हाथ है। ये निवन्ध लेखक के प्रारम्भिक काल की रचना है, अतः उनमें शैली का वह गांभीर्य नहीं मिलता जो कि उसकी प्रौढ़ काल की रचनाओं में मिलता है। फिर भी, वह यहाँ विषय-सम्बन्धी भावों, विचारों एवं परिस्थितियों का संयोजन कर अभिमत प्रभाव को उपस्थित करने में असमर्थ नहीं रही है।

•••

डॉ० सहल के निबन्धों में व्यंग्य

• डॉ० हरगुलाल

'व्यंग्य' शब्द अंग्रेजी के 'सैटायर' शब्द के आधार पर निर्मित है।[1] सर्टरस नामक विचित्र प्रकार के जन्तु के आधार पर 'सैटायर' शब्द की व्युत्पत्ति हुई है।[2] हँसी, दिल्लगी, अंग्रेजी का पैरोडी और हिन्दी में भारतेन्दु का दिया गया नाम आभास, स्यापा, भड़ौवे आदि शब्द बहुत-कुछ व्यंग्य से मिलते-जुलते हैं और उसी के समानार्थक हैं। उर्दू में इसके लिए 'हजो' शब्द प्रयुक्त होता है। 'हजो' के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह घृणित और तिरस्कार-योग्य वस्तु से सम्बन्वित होनी चाहिए, पूर्वजों से सम्बन्धित नहीं होनी चाहिए तथा सरलता से बोधगम्य होने वाली होनी चाहिए। ए० निकल ने सैटायर अथवा व्यंग्य के प्रयोजन को अधिकाधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि व्यंग्य में दया, करुणा, उदारता के लिए गुंजाइश नहीं होती, मनुष्य की शारीरिक असम्बद्धता, चारित्रिक असम्बद्धता एवं सामाजिक असम्बद्धता पर यह निर्ममता से प्रहार करता है।[3] निश्चय ही दुर्बलताओं के आक्षेपपरक चित्रण, समाज-सुधार एवं बोधगम्यता के त्रिकोण में व्यंग्य के सभी रूप समाहृत हो जाते हैं।

मेरीडिथ ने एक स्थान पर हास्य और व्यंग्य में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि अगर आप हास्यास्पद का इतना मजाक उड़ाते हैं कि उसमें आपकी दयालुता समाप्त हो जाय तो आपका हास्य व्यंग्य की कोटि में आ जाएगा।[4] स्थूल रूप में यह कहा जा सकता है कि व्यंग्य एक प्रकार से हास्य का भी हास्य है। हास्य में एक

---

१. 'हिन्दी साहित्य कोश', भाग १, पृष्ठ ८०४
२. डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी, 'हिन्दी साहित्य में हास्य रस', पृ० ४१
३. ए० निकल, 'एन इन्ट्रोडक्शन टू ड्रैमेटिक थ्योरी'
४. मेरीडिथ, 'आइडिया आफ कामेडी', पृ० ७६

प्रकार की विस्तृति होती है और व्यंग्य में अधिक तीखापन, चुभन तथा गहराई होती है। व्यंग्य में हास्य इतना कठोर हो जाता है कि कभी-कभी वह हास्य की सीमा से बाहर निकल जाता है। हास्य जब मनोरंजन या विशुद्ध आनन्द की भावना को छोड़कर प्रयोजन-निष्ठ हो जाता है, तब उसे व्यंग्य नाम से अभिहित किया जाता है। व्यंग्य में अधिकांशतः मानव-चरित्र की दुर्बलताओं पर विचार किया जाता है। सुतरां, सुधार अथवा समाज-हित व्यंग्य का मुख्य स्वर है। इसके अतिरिक्त व्यंग्य में सामाजिक कुरीतियों, व्यवहारों या रूढ़िमुक्त परम्पराओं को हेय तथा हास्यास्पद रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

यों तो व्यंग्यप्रधान रचनाओं का कभी अभाव नहीं रहा है, परन्तु इनका प्रारम्भिक प्रयोग दृश्यकाव्य में हुआ है। व्यंग्यात्मक आवेश वेदों में भी मिलते हैं। कबीर ने समान वाणी से खुदा के बहरेपन और मूर्ति-पूजा की निरर्थकता पर व्यंग्यात्मक शैली में अपने उपदेश की मिठास और कड़ुवाहट समाज में वितरित की, तुलसी ने अनियारे व्यंग्य बाणों की बौछार में विन्ध्य के उदासी तपोव्रतधारियों को घसीटकर अपने मर्यादावाद को नयी परिभाषा दी और सूर ने सिसकती विरह-विदग्धा गोपियों को व्यंग्य का आश्रय प्रदान करके ज्ञान-गौरव के महारथी उद्धव को परास्त कर प्रेम का अनुपम प्रतिमान प्रस्थापित किया। हास्य की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य इतना समृद्ध नहीं है, पर व्यंग्यात्मक रचनाओं के प्रखरतम रूप को लेकर उसे दिवालिया करार नहीं दिया जा सकता। जैसे अलीमुहिब खां की खटमल बाईसी, बेनी के भड़ौए, एवं भारतेन्दु का स्यापा। आलसियों, खुशामदियों, पियक्कड़ों पर करारे व्यंग्य करके उन्होंने समाज के परिष्कार को नया 'जामा' पहनाया। प्रगतिवादी धारा के अन्तर्गत राष्ट्रीय चेतना के नये आलोक में पूँजीपतियों और जमींदारों पर व्यंग्य का प्रहार करते हुए कवि का स्वर अत्यन्त तीखा हो गया—

> विद्युत की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोती है।
> अरी, हृदय को थाम महल के लिए झोंपड़ी बलि होती है॥
> देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय शोणित की धारं।
> बनती ही उन पर जाती हैं वैभव की ऊँची दीवारें॥

उग्रजी की वाणी ने समाज की नग्नता के रूप में उसके व्यापक भ्रष्टाचार और अनाचार-कर्दम में कुलबुलाते पाप के भयंकरतम कीटाणुओं को जिस खूबी के साथ उजागर किया, वह प्रत्येक दृष्टि से प्रशंसनीय है। बाबू गुलाबराय ने आत्मपरक निबन्धों की परिखा में व्यंग्य को एक प्रकार की सजीवता प्रदान की है और शुक्ल जी ने झलमलाते व्यंग्य-बिन्दुओं के माध्यम से अपने गहन, गम्भीर और तथ्यान्वेषी निबन्धों को प्रभावकता के सभी कोणों से सम्पृक्त कर दिया है। डॉ० कन्हैयालाल

सहल के निवन्धों में व्यंग्य जहाँ एक ओर सरलता और बोधगम्यता के सभी प्रारूपों की संसृष्टि करता है, वहाँ दूसरी ओर 'दृष्टिकोण' के कुछ निवन्धों में चारित्रिक असम्बद्धताओं एवं अधकचरी बौद्धिक स्थितियों को उरेहने में योग देकर निश्चय ही जन-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है। अब हम यहाँ उनके निवन्धों में व्यंग्य की स्थिति पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

सहल जी के सम्पूर्ण निवन्धों को सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—१. सामान्य निवन्ध, २. साहित्यिक निवन्ध और ३. सैद्धान्तिक निवन्ध। 'दृष्टिकोण' के लगभग सभी निवन्धों को प्रथम कोटि में रखा जा सकता है। 'समीक्षायण' में 'हास्य-विज्ञान' जैसे निबन्धों को भी प्रथम कोटि में रखना उचित होगा। इन निबन्धों में निवन्धकार की स्वतन्त्र प्रतिभा उन्मुक्त रूप से प्रवहमान रही है। इनमें बुद्धि-तत्त्व और रागतत्त्व का सम्मिश्रण सर्वत्र देखने को मिलता है। व्यंग्यपूर्ण निबन्ध निश्चय ही रागतत्त्व के आतिशयिक प्रतिविम्ब से अनुरंजित हैं और इनमें निवन्धकार की कल्पना को हँसने-खेलने का पर्याप्त अवसर मिला है। एक स्थान पर लेखक ने हास्य को विशिष्ट और उदारतम रेखाओं में घेरते हुए अपना मन्तव्य इस तरह स्पष्ट किया है—'हास्य मानव-जाति के लिए विभु का एक विशिष्ट वरदान है। पीड़ा के समय पशु-पक्षी भी चीखते-चिल्लाते हैं, किन्तु वे हँस नहीं सकते। अवस्था बढ़ने पर चेहरे पर झुरियाँ पड़ जाती हैं, किन्तु दिल और दिमाग पर यदि झुरियाँ न पड़ें तो अवस्था-जन्य झुरियों को भी पास आते डर लगेगा। पुराने जमाने में विदूषक रखने की जो प्रथा थी, उसका स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बड़ा महत्त्व समझिए। दिल और दिमाग पर झुरियाँ न पड़ें, इसके लिए हास्य की शरण लेनी चाहिए।' (समीक्षायण, पृष्ठ ५३) आनुपातिक दृष्टि से सहल जी के निवन्धों में व्यंग्य की स्थिति बड़ी उजागर और महत्त्वपूर्ण है। इन निवन्धों में चारित्रिक और सामाजिक असम्वद्धताओं को लेकर ऐसे व्यंग्य की उद्‌गति हुई है जो प्रभाव में सरल होते हुए भी, जीवन के सभी कगारों को छूता हुआ जहाँ एक ओर हलके-फुलके वातावरण की सृष्टि करता है, वहाँ दूसरी ओर मनुष्य को नाना प्रकार की समृद्धियों से भर देता है।

'दृष्टिकोण' में शारीरिक असम्बद्धताओं से सम्बन्धित कई व्यंग्यात्मक निबन्ध हैं। 'बुड्ढे बच्चे', 'उतार फेंक इस कूबड़ को' आदि निवन्ध इसी प्रकार के हैं। 'बुड्ढे बच्चे' निवन्ध में अधिक संवेदनशील व्यक्ति का सुन्दर व्यंग्यपरक चित्र प्रस्तुत करते हुए लेखक कहता है—'कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो वयस्क होने पर भी बुढ़ापा साथ लिये फिरते हैं। मेरे एक मित्र हैं जिनमें कष्ट झेलने का माद्दा है ही नहीं। जरा-सी कहीं चोट आ जाय तो दूसरों को दिखलाते फिरेंगे, कहीं खरोंच भी लग जाय तो भी

आप चाहेंगे कि दूसरे उनके साथ सहानुभूति प्रदर्शित करें। यदि कहीं से सहानुभूति-सूचक पत्र अथवा तार मिल जाय तब तो आप बाँसों उछल पड़ेंगे। एक बार हज़रत सिल्ली पर उस्तरे की धार बना रहे थे। आपका ध्यान कहीं दूसरी ओर था, उस्तरा अनामिका के बीच से निकल गया। लोहू की धार वह निकली। वैद्य डाक्टरों को घर पर इकट्ठा कर लिया। महीने भर उंगली का इलाज चलता रहा। उंगली अच्छी हो गई, तब भी आप उसे कुछ दिनों तक केवल इसलिए पट्टी बांधते रहे कि ऐसे अभिनय से आपको अपने मित्रों की सहानुभूति अनायास मिल जायगी।............ आपकी अवस्था तीस से ऊपर हो चुकी है किन्तु फिर भी बच्चे की तरह सारी जिम्मेवारी आप दूसरों पर डाल देते हैं।............जब मैं कहता हूँ कि यार बड़े भाग्यशाली हो, तुम्हें न जाने क्यों कर सबकी सहायता अथवा सहानुभूति मिल जाती है, तब तो आपका रोम-रोम खिल उठता है, किन्तु जब 'बुड्ढा बच्चा' कहकर मैं उनको बनाने लगता हूँ, तब आप आँख दिखाने लगते हैं। (पृ० ५-६) 'बुड्ढा बच्चा' का यह चित्र वास्तविकता से बिल्कुल परे नहीं है। लेखक ने अपनी सक्षम और आकर्षक शैली के माध्यम से अधकचरी बौद्धिक स्थिति और निर्बल इच्छा-शक्ति के धनी व्यक्ति का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। बुड्ढे बच्चे अपने बचपन को लम्बा कर लेते हैं। लेखक की पैनी दृष्टि कितनी तेजी से अपना वार कर रही है, यह द्रष्टव्य है—'सिक्योरिटी सुख-शांति और उन्नति की सब बातों का असली मतलब यह है कि मानव का बचपन लम्बा हो जाता है। जो जितना सभ्य है, उसकी बचपन की अवस्था उतनी ही लम्बी है।............पशुओं में बचपन एक साल का होता है, हद से हद दो साल का। ....हम लोग इतने सभ्य हो गये हैं कि अब तीस-तीस साल के बुड्ढे बच्चे दिखलायी पड़ने लगे हैं। (पृ० ६) दूसरी ओर लेखक ने 'बच्चे बुड्ढे' का भी सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है—कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो एकदम छलांग मार कर बाल्यावस्था से वृद्धावस्था में पहुँच जाते हैं। युवावस्था उन्हें आती ही नहीं। यौवन की रंगरेलियाँ और अठखेलियाँ उनके लिए अपरिचित-सी रह जाती हैं। अस्सी-अस्सी वर्ष के 'बुड्ढे बच्चों' की मृत्यु होती देखी गयी है। (पृ० ७) आगे लेखक ने अपनी ही बात को प्रामाणिक मानने वाले 'बच्चा विद्वान्' व्यक्ति पर व्यंग्य किया है—मेरे एक मित्र हैं, जो विद्वान् हैं, अध्ययनशील हैं, मौलिक विचारक हैं, नित्य नवीन कल्पनाओं के उद्भावक हैं, किन्तु बच्चे की तरह इस बात की आशा रखते हैं कि जो कुछ कहें, उसे ब्रह्मवाक्य मान लिया जाय, जो उनके विरुद्ध बोलने की कोशिश करता है, उसके साथ वे जूझ पड़ते हैं।............कभी-कभी तो वे बच्चों की-सी दलील देने लगते हैं। (पृ० ७) जार्ज बर्नर्डशा ने एक बार लिखा था कि यदि कोई पुरुष या स्त्री सामान्य ढंग से पैदा न होकर अंग फोड़कर बाहर निकले तो वह इस कार्यव्यस्त जगत को देखकर चकित हो जायेगा।............हममें से बहुत से ऐसे हैं जो बचपन को साथ

लेकर आगे बढ़ रहे हैं। मैं पूछता हूँ—यह सब क्या तमाशा हो रहा है? काश कि हम जान पाते! (पृ० ६) अन्तिम वाक्य में लेखक ने व्यंग्य की परिणति बड़े प्रभावक ढंग से प्रस्तुत की है। स्पष्टतः उसकी वाणी 'काश कि हम जान पाते' के रूप में 'बुड्ढे-बच्चों' की सारी करामात जानने के लिए उत्सुक है। लेखक प्रसंग बदल कर व्यंग्य की निर्मिति में अत्यधिक पटु है, देखिए, कितने हलके-फुलके शब्दों के योग से व्यंग्य के विभिन्न रंग बिखेरे गये है—हाँ, क्या स्त्रियों में बुड्ढी बच्चियाँ नहीं होतीं? अवश्य होती होंगी। नववधू जब घर में आती है, तब भी सास अपने पुत्र से यही आशा रखती है कि वह पूर्ववत् उससे ही सर्वाधिक प्रेम करता रहे।............हर एक बच्चे की सामान्यतः यही इच्छा देखी जाती है कि उसके माता-पिता अथवा गुरुजनों के प्रेम का एकाधिकारी वही बना रह जाय।...........बुड्ढी बच्चियाँ हों अथवा बुढ्ढे बच्चे, दोनों ही भयावह हैं और इनसे तो भगवान् ही बचाए! (पृ० १०)

'उतार फेंक इस कूबड़ को' निबन्ध में शारीरिक असम्बद्धता के साथ-साथ हीन भावना को त्यागने के सम्बन्ध में लेखक ने अनेक झलमलाते व्यंग्यपरक वाणों के योग से अनुत्साह-वन को जलाकर राख कर डालने की भरसक चेष्टा की है। 'संसार में और कुछ चाहे सत्य हो या न हो, श्रद्धा अवश्य सत्य है। तब फिर पहाड़ों को चूर-चूर कर डालने वाले और आकाश को हिला देने वाले युवक! बुढ़ापे का भार पीठ पर लाद कर कुबड़े की तरह क्यों चलते हो? उतार फेंक इस कूबड़ को।' असमय वृद्धत्व को लेखक ने व्यंग्य की रेखाओं में घेर कर सजीव-सा कर दिया है—'मुझे तो ऐसा लगता है जैसे वर्षों की संख्या से अवस्था का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं। यदि ऐसा होता तो क्यों एक ७५ वर्ष का बुड्ढा भी अपने को युवा अनुभव करता और क्यों २५–३० का युवक वृद्धत्व का बोझ अपनी पीठ पर लाद कर युवावस्था की कमर तोड़ डालता? (पृ० १२)

लेखक ने मनोवृत्तियों के बदलते रंगों और रूपों का अध्ययन चारित्रिक असम्बद्धता के रूप में व्यंग्य के सहारे बड़े व्यापक धरातल पर किया है। किसी सज्जन के यह पूछने पर कि महात्मा जी ने अपनी आत्मकथा में अपनी दुर्बलताओं, यहाँ तक कि अपनी विषय-लोलुपता का जो उल्लेख किया है, ऐसा वे क्यों कर सके? लेखक ने इस बात का उत्तर बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से दिया है और इसमें एक प्रकार की चारित्रिक दुर्बलता अथवा सबलता का अन्वेषण किया है। उसका विचार है कि सत्याग्रही के लिए विश्व की प्रयोगशाला में अपने किसी सत्य पर आवरण डालना अच्छा नहीं, इसी के साथ-साथ महात्माजी दुर्बलताओं से इतना ऊंचा उठ गये थे कि उन्हें अपनी दुर्बलताओं से खिलवाड़ करना एक प्रकार की शक्ति देता था। इसके विपरीत असत्याग्रही और दुर्बल व्यक्ति हीन भावना के कारण अपनी असफल-

ताओं को जिस चातुर्य से छिपाता है, उसका पर्दाफाश लेखक ने बड़ी निर्ममता से किया है—'जो मनुष्य झूठा है, वह झूठ को समाज के सामने नहीं रखना चाहता, जो कमजोर है, वह कमजोरी को छिपाना चाहता है। ऐसा करना हीनता की ग्रन्थि का परिणाम हो सकता है। इसके विरुद्ध सच्चा आदमी अपने अतीत की बुराइयों को भी जन-समाज के समक्ष रख सकता है। ऐसा करने से लोग यही तो समझेंगे न कि इतना समुन्नत व्यक्ति भी किसी समय इतना दुर्बल था। समझें, उसकी बला से—किन्तु साथ-साथ वे यह भी तो समझ सकते हैं कि जो व्यक्ति इतना दुर्बल था, वह इतना सबल हो गया। (पृ० २) हीन भावना से ग्रस्त व्यक्तियों की चुटकी काटते हुए लेखक उनके विकास के लिए हर प्रकार से तत्पर दिखलायी पड़ता है—"आसमान के तारे तोड़ना हमारे लिए सम्भव न हो तो इस पृथ्वी पर ही दौड़-धूप कर हम अपनी हविस पूरी कर लें। असम्भव के पीछे दौड़कर तो हम अपने रोग की वृद्धि ही करेंगे।..........केवल मन की जाली फेंक कर चाँद को धरती पर तो नहीं उतारा जा सकता। और फिर एक मनुष्य के पास हर एक वस्तु आयेगी भी कहां से और कैसे ? (पृ० २८-२९)

सहलजी बीच-बीच में हल्के-फुल्के व्यंग्य-वाक्यों की संसृष्टि करके वातावरण में एक प्रकार की सजीवता और सरसता भर देते हैं, जैसे—भगवान् का भजन करो, अलस्सुबह ही कैसा प्रश्न ? (पृ० १), सुनते नहीं, कॉलेज की घंटी टन्-टन्-टन् बजा रही है, (पृ० ४) किसी-किसी की आँखें बीस वर्ष में ही सठिया जाती हैं (पृ० ११) तथा वात प्रकृति वाला मनुष्य हवा से बात करता है, हवा बाँधता है, इतना ही नहीं, वह हवा से लड़ता भी है। (पृ० ६१) कहीं-कहीं देखते ही देखते लेखक व्यंग्य के माध्यम से बड़ी गहरी तीखी बात कह देता है। हमारे सभी सत्य अर्धसत्य मात्र हैं, इसकी पुष्टि के लिए वह आज के स्वातन्त्र्यशील युग में प्रजा की मनः स्थिति का विश्लेषण करते हुए 'यथा राजा तथा प्रजा' के स्थान पर 'यथा प्रजा तथा राजा' कहना अधिक उपयुक्त और न्यायसंगत मानता है। (पृ० ५०-५१) स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हमारे देश में जीवन के प्रतिमान जिस तेजी से बदल रहे हैं, उसे देखते हुए तो यही लगता है कि राजा अथवा अधिकारी होना भी कम खतरे से खाली नहीं है। यही निहायत सादी बात सहलजी ने व्यंग्य के संतरणशील कोणों के बीच में रखकर जिस प्रभावक ढंग से कही है, वह कम प्रशंसनीय नहीं है।

कहीं-कहीं सहल जी के निबन्धों में शैलीगत व्यंग्य के दर्शन होते हैं। शैलीगत व्यंग्य से मेरा अभिप्राय नितान्त स्पष्ट है और वह यह है कि व्यंग्य करते-करते व्यंग्यात्मक वाक्यों का प्रयोग सहलजी का स्वभाव बन गया है, वह उनकी नस-नस में समा गया है और अवसर पाते ही चाहे जिधर से फूट निकला है। एक समय था

जब छायावाद की हर तरफ से आलोचना हो रही थी। 'छायावाद की चालढाल' निबन्ध में सहलजी छायावाद की किस तरह खबर लेते हैं, यह उन्हीं के शब्दों में सुनिए—'जिन दिनों छायावाद का आन्दोलन चला था, उन दिनों इस काव्यधारा की रेखाएँ वट-वृक्ष की जड़ों की तरह उलझी हुई थीं, तर्कजाल की तरह बिखरी हुई थीं। (समीक्षायण, पृ० ४०) काव्य के दोष गिनाते-गिनाते प्रभाव की दृष्टि से लेखक ने उनकी समानता जिस ढंग से शारीरिक दोषों से की है, वह कम द्रष्टव्य नहीं है—शारीरिक अंगों में दोष होने से शरीर विकृत हो जाता है। काने, खोड़े, कूवड़े को कुचाली ही नहीं कहा गया है, लोक-व्यवहार में ये अपशकुन अथवा अमंगलसूचक भी मान लिये गये हैं। काव्यांग भी विकृत न होने पाए, इसका ध्यान कवि को रखना ही होगा। भला विकलांग होने पर कविता-कामिनी किसे आकर्षित कर सकेगी? (समीक्षायण, पृ० १३४)

'मूल्यांकन' में 'साहित्य-मूल्यांकन के नये मान' निबन्ध महत्त्व की दृष्टि से सैद्धान्तिक निबन्ध कहा जा सकता है। इस निबन्ध में लेखक ने नयी कविता की निर्मिति से लेकर उसकी स्थापनाओं, थोथे शब्दाडम्बर और नये कवि की अहंता पर बहुत करारे व्यंग्य किये हैं, यहाँ पर कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१. ···· ·······किन्तु अनेक कवि ऐसे भी हैं जो नयी कविता के नाम पर इस प्रकार की कविता करने लगे हैं जिसके दोनों ओर के सिरे कटे होते हैं, तीन पंक्तियाँ इस प्रकार लिख दी जाती हैं मानों वे १३ पंक्तियां हों।···········आज का कवि तो लय से भी पिंड छुड़ा रहा है। (मूल्यांकन', पृ० ६)

२. धूल भरे छंदों के जाले बुहार कर आज काव्य-पथ को शीशे जैसा साफ किया जा रहा है। आज का कवि यद्यपि छंदों से विदा ले रहा है, तथापि अपनी अभिव्यक्ति को सशक्त बनाने के लिए आड़ी-तिरछी पंक्तियों, मोटे-पतले टाइपों तथा उल्टे चिह्नों आदि का प्रयोग कर रहा है। नये-नये प्रयोगों का किया जाना तो एक शुभ लक्षण है, किन्तु हर नये प्रयोग के मूल में अनुकरण-वृत्ति वांछनीय नहीं, जूठी पत्तल चाटकर कोई कब तक जी सकेगा? (मूल्यांकन, पृ० ७)

३. कुछ प्रयोगवादी समीक्षक बुद्धि-रस जैसे शब्द का भी प्रयोग करने लगे हैं।···········बौद्धिकता में रस लेने वालों की संख्या विरल होती है क्योंकि उसमें हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क का व्यायाम अपेक्षित होता है। काव्य द्वारा रागों का ही व्यायाम और परिष्कार होता है और भविष्य में भी तब तक ऐसा ही होता रहेगा जब तक मानव जाति के मूल संवित् में ही कोई तात्त्विक परिवर्तन न हो जाय। (मूल्यांकन, पृ० ७)

४. जीवन की कठोर यथार्थताओं के चित्रण का अर्थ अपनी कुंठाओं और विकृतियों को उँड़ेल देना अथवा उनका वमन कर देना नहीं है। (मूल्यांकन, पृ० ६)

५. साथ ही यह भी सच है कि बहुत-सा कूड़ा कर्कट भी साहित्य के प्रांगण में बिखर गया है जिसे काल समय पाते ही बुहार ले जाएगा। साहित्य अपने मूलभूत गुणों से जीवित रहता है, किसी की वकालत-मात्र से नहीं। (वही, पृ० ११)

मेरे विचार से अपनी कुंठित भावनाओं और रुग्ण परम्पराओं को क्लिष्टता, दुर्बोधता और अस्पष्टता के साँचे में ढालकर नवीनता की दुहाई देना किसी भी दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं है। नयी कविता में से यदि इसी तरह भावसम्प्रेषण क्षरण होता रहा तो एक दिन बुद्धि का अकाल पड़ जाएगा और शेष रह जाएगा नये कवि का अपने को महान् मानने का फुफकारता अहं। लेखक ने इसी तथ्य का अन्वेषण बहुत बारीकी के साथ किया है।

समग्रतः सहलजी के व्यंग्य में एक प्रकार की विस्तृति पायी जाती है। उसमें न तो किसी के प्रति कटुता की अभिव्यक्ति हुई है और न उसकी सरलता तथा बोधगम्यता ही विलुप्त हुई है। बीच-बीच में हल्के-फुल्के व्यंग्य की संसृष्टि करके उन्होंने रोचकता के सभी कोणों को अभिवृद्ध किया है और हास्य का सतरंगी इन्द्र-धनुप अपने झलमलाते बिन्दुओं से बौद्धिक असम्बद्धताओं और चारित्रिक अपूर्णताओं का प्रतिफलन अभिव्यंजित करके मानव-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है। निश्चय ही, व्यंग्य-साहित्य में सहलजी का स्थान अप्रतिम है, आगे आने वाली पीढ़ी ऐसा अनुभव करेगी और गर्व के साथ उनके व्यंग्य का मूल्यांकन करेगी।

●●●

मरहूम मौलाना आजाद साहब से पत्र-व्यवहार

जब मैं राजस्थानी कहावतों पर अपना शोध-प्रबन्ध लिख रहा था, मैंने एक बार काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष आचार्य केशवप्रसादजी मिश्र से भेंट की और उनसे जानना चाहा कि 'कहावत' शब्द को किस प्रकार व्युत्पन्न किया जाय। आचार्य ने उत्तर दिया कि हिन्दी की 'कह्' धातु के आगे अरबी 'वत' प्रत्यय लगने से 'कहावत' शब्द बना है। मैं स्वयं 'कथा-वार्त्ता' से इस शब्द को व्युत्पन्न करने के पक्ष में था। मैंने इस सम्बन्ध में मौलाना आजाद के विचार जानने चाहे और इस विषय को लेकर एक पत्र मैंने उन्हें लिख दिया। मौलाना आजाद ने मेरे पत्र का जो उत्तर दिया, उसे मैं यहाँ अविकल उद्धृत कर रहा हूँ :—

New Delhi,
17th August, 1953

Dear Sir

Your letter of 13th August 1953 about 'Kahawat.'

You may say that kahawat is from the verb kahna as has previously been suggested to you.

'Wat' or 't' is not an Arabic suffix in 'Kahawat'. It is entirely beside the mark.

'Wat or Bat' as you have written in your letter as meaning a thing seems to be too far-fetched. Grammar comes later in the history of literature, and therefore we cannot judge every word according to rules of later origin. You may simply say that

kahawat has come to mean "a saying or proverb," just as kahani has, by common usage, come to mean a story.

In "Musahibat" or "Kitabat" etc. "t" is not a suffix in Arabic language.

Kahawat originally comes from kahna but it cannot be said that it is equal to kah and Bat. It is simply a word which has grown from Kahna, without any conscious attempt to co-ordinate it with any fixed rule of grammar, and has, by long usage, come to mean as it does at present.

मौलाना आजाद के उक्त पत्र से स्पष्ट है कि वे 'कहावत' शब्द में किसी भी प्रकार का कोई अरबी प्रत्यय स्वीकार नहीं करते।

मौलाना आजाद 'कहावत' शब्द के द्विधा विभाजन के पक्ष में नहीं थे। उनकी मान्यता थी कि 'कहावत' शब्द 'कहना' से निकला है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि 'कहावत' शब्द कह+वात, इन दो टुकड़ों में विभक्त है। कहावत के 'वत' या 'वत' का अर्थ वात नहीं है। वात के अर्थ में 'वत' की कल्पना निरी कष्ट-कल्पना होगी। साहित्य के इतिहास में व्याकरण वाद में आता है, इसलिए वाद में वने हुए नियमों के आधार पर हम प्रत्येक शब्द का निर्णय नहीं कर सकते। हम केवल इतना कह सकते हैं कि जिस प्रकार 'कहानी' शब्द सर्व-साधारण द्वारा प्रयुक्त होने पर 'कथा' के अर्थ में रूढ़ हो गया है, उसी प्रकार 'कहावत' शब्द भी 'उक्ति या प्रवाद' के अर्थ में प्रचलित हो गया है। इस शब्द का विकास अवश्य 'कहना' से हुआ है किन्तु वर्तमान समय में यह शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, वह अर्थ इस शब्द को प्रयोग या रूढ़ि के कारण प्राप्त हुआ है, ऐसा नहीं हुआ है कि किसी ने जान-बूझकर उसे व्याकरण के किसी निर्दिष्ट नियम से सम्बद्ध करने का प्रयास किया हो और तव यह कोई विशिष्ट अर्थ देने लगा है।

मौलाना आजाद का जब यह पत्र मुझे मिला, तब मैंने उन्हें लिखा कि 'कहावत' शब्द 'कहना' से यदि विना किसी प्रत्यय के ही बन गया हैं तो यह अवश्य ही सादृश्य (Analogy) के आधार पर बना शब्द होगा।

इस सम्बन्ध में मौलाना का फिर कोई दूसरा पत्र मुझे नहीं मिला।

शब्दों के निर्माण का इतिहास बड़ा मनोरंजक होता है। योरोपीय भाषा के विश्लेषणात्मक रूप धारण करने से पहले उसमें पूर्णतः वने-वनाए शब्द ही थे। ये शब्द अलग-अलग अंशों के सम्मिलित रूप हैं, इस धारणा की कोई गंध भी न थी।

बोलने वाले भी बने-बनाए शब्दों के आधार पर ही बोलते थे। उनके पास प्रकृति और प्रत्ययों का कोई अलग-अलग जत्था नहीं था कि प्रकृति और प्रत्यय को मिलाकर गढ़-गढ़ कर वे शब्दों का प्रयोग करते। किन्तु इसका आशय यह भी नहीं है कि बोलने वाले जिन-जिन शब्दों का प्रयोग करते थे, वे सब-के-सब या तो उनके सुने हुये होते थे अथवा ऐसे शब्द होते थे जिन्होंने उनकी स्मृति में चिर स्थायित्व प्राप्त कर लिया था, शब्दों के गढ़ने की शक्ति उनमें थी किन्तु जो शब्द गढ़े जाते थे, वे पहले के सीखे हुये बने-बनाये शब्दों के सादृश्य पर ही गढ़े जाते थे।*

सम्भव है, जैसा कि मौलाना आजाद के विचारों से प्रकट है, कहावत भी एक ऐसा शब्द हो जिसे व्याकरण के निश्चित नियमानुसार प्रकृति-प्रत्ययों द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता न हो। इतना तो मौलाना ने भी स्वीकार किया था कि यह शब्द 'कहना' से ही निकला है और प्रयोग के कारण लोकोक्ति के अर्थ में रूढ़ हो गया है। प्रश्न यह है कि यदि यह एकात्मक शब्द है तो उस शब्द का पता लगना चाहिए जिसके सादृश्य पर यह गढ़ा गया है।

डा० बाबूराम सक्सेना के मत से हिन्दी 'कहावत' शब्द का सम्बन्ध संस्कृत 'कथावार्त्ता' से है किन्तु 'कहावत' का अर्थ 'कथा-वार्त्ता' से भिन्न है और यहाँ अर्थादेश स्पष्ट है।

जिस अर्थादेश की चर्चा डॉ. सक्सेना ने की है, उसकी सम्भावना यहाँ की जा सकती है क्योंकि एक भाषा जब दूसरी भाषा से शब्द-ग्रहण करती है तो अनेक बार अर्थादेश हो जाया करता है। घड़ी के अर्थ में प्रयुक्त अंग्रेजी का Clock शब्द बम्बई की तरफ एक कलाक, दो कलाक (एक घण्टा, दो घण्टे) के अर्थ में आज भी व्यवहृत हो रहा है।

●●●

*सादृश्यनुं स्वरूप (डा. हरिवल्लभ भायाणी, भारतीय विद्या, वर्ष ३, अंक १)

श्री घनश्यामदासजी बिड़ला के साथ शब्द-चर्चा

मान्यवर,

राजस्थानी भाषा में 'संपत' शब्द एकता अथवा मेल के अर्थ में व्यवहृत होता है। इस शब्द के सम्बन्ध में निम्नलिखित राजस्थानी लोक-कथा उल्लेखनीय है—

'धनासाह नामका एक सेठ था। भरा-पूरा परिवार था, सातों सुख सुलभ थे; परिवार के सभी सदस्य 'एक डोर के हिलाए हिलते थे।' एक दिन सेठ को स्वप्न में लक्ष्मीजी के दर्शन हुए। नख से शिख तक सुसज्जित रमझम-रमझम करती हुई लक्ष्मी सेठ के सामने आकर खड़ी हो गई। सेठ ने पूछा—'आप कौन हैं?' उत्तर मिला—'मैं हूँ महालक्ष्मी।' सेठ ने कहा—'आज्ञा दीजिए।' लक्ष्मी ने कहा—'तुम्हारे यहाँ मैं बहुत दिनों रही, अब जा रही हूँ; सोचा, जाते समय तुमसे मिलकर जाऊँ। तुम्हें जो माँगना हो, मुझसे माँग लो।' सेठ को असमंजस में पड़ा हुआ देखकर लक्ष्मी ने कहा—'आज न सही, कल तक सोच-विचार कर जो माँगना हो, माँग लेना।''

दूसरे दिन सेठ ने अपने परिवार के सभी सदस्यों के सामने लक्ष्मी के पदार्पण करने और वरदान की चर्चा चलायी। घर वालों में से किसी ने धन-दौलत, हीरा-मोती, किसी ने यशस्वी संतान, किसी ने कुछ, और किसी ने कुछ, अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार माँगने की सलाह दी। आखिरकार छोटे बेटे की बहू ने कहा—'आप तो स्वयं बहुत अनुभवी और समझदार हैं, आपके सम्मुख अपनी ओर से कुछ कहना मेरी धृष्टता मात्र होगी किन्तु मेरी तुच्छ बुद्धि के अनुसार मुझे तो यही समझ पड़ता है कि लक्ष्मीजी यदि कल जा रही हों तो भले ही आज चली जाएँ, किसी को भी बाँधकर नहीं रखा जा सकता, लक्ष्मीजी तो क्या, बैल भी सदा बाँधे हुए नहीं रखे जा सकते, इसलिए आप तो यह माँगें कि हमारे घर में जो 'संपत' (मेल-जोल) आज

है, इससे सवाई बधे, कभी गृह-कलह न हो। यह वरदान आप अवश्य माँग लें।' सेठजी को भी बहू की सलाह सबसे अधिक पसन्द आयी।

दूसरे दिन रात को फिर सेठजी को लक्ष्मी के दर्शन हुए। सेठ ने कहा—'आप जा रही हैं, तो कोई बात नहीं, भले ही जाएं किन्तु हमारे परिवार में जो हेत, मुहब्बत, छोटे-बड़े की मर्यादा आज है, वह दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़े। ऐसा दिन कभी न उगे जब हमारे घर में कलह के बीज बो दिये जाएँ। मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि हम सभी 'संपत' से रहें।' यह सुनकर लक्ष्मी ने कहा—'अगर यह बात है तो मुझे अपना इरादा बदलना होगा, उस हालत में तो धक्का मार-मारकर भी यदि कोई मुझे निकालना चाहे तो मैं तुम्हारा घर छोड़कर कहीं नहीं जा सकती।[1]

उक्त कथा से स्पष्ट है कि परस्पर 'संपत' (मेलजोल) हो तो घर में लक्ष्मी का निवास भी सदा बना रहता है। एकता के अर्थ में 'संपत' का प्रयोग व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी ग्राह्य है। राजस्थानी 'संपत' शब्द निश्चय ही संस्कृत के 'संपत्' शब्द से आया है। यह सच है कि प्रयोग की दृष्टि से संस्कृत का 'संपत्' शब्द लक्ष्मी के अर्थ में व्यवहृत होता है किन्तु यदि संस्कृत के 'संपत्' शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ पर हम विचार करें तो कहा जा सकता है कि 'संभूय पदनं गमनम् इति सम्पत् पद् गतौ।' 'पद्' धातु जाने के अर्थ में प्रयुक्त है, इसलिए 'सम्पत्' का अर्थ होगा 'मिलकर चलना।'

राजस्थानी का 'संपत' शब्द व्युत्पत्ति और प्रयोग दोनों की दृष्टि से एक ही अर्थ देता है, जब कि संस्कृत 'सम्पत्' आज व्यवहार में मुख्यतः लक्ष्मी का वाचक रह गया है। किन्तु जिन्होंने भाषा-विज्ञान के अर्थ-परिवर्तन (Semantics) का अध्ययन किया है, उनके लिए इस प्रकार के प्रयोग कोई आश्चर्य की वस्तु नहीं। कारण भी अनेक बार कार्य का अर्थ देने लगता है। 'संभूय पदन' अर्थात् एकता द्वारा साध्य होने के कारण लक्ष्मी को भी 'संपत्' कहना उचित ही कहा जाएगा।[2] संस्कृत का 'कौपीन' शब्द इस प्रवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण स्वरूप रखा जा सकता है। 'कौपीन' शब्द के पाप, गुह्यांग और आच्छादक वस्त्र (काछा) आदि अनेक अर्थ वैयाकरणों ने दिये हैं।[3]

---

१. द्रष्टव्य—श्री भँवरलाल नाहटा द्वारा लिखित 'संपत में लिछमीरो वासो' शीर्षक लोक-कथा (मरुवाणी, कार्तिक २०१०)

२. संभूयपदनसाध्यत्वाल्लक्ष्मीरपि सम्पत्।

३. शालीन कौपीने अधृष्टकार्ययोः ५-२-२० कूपपतनमर्हतीति कौपीनं पापम्, तत्साधनत्वात् तद्वत् गोप्यत्वाद्वा पुरुषलिंगमपि, तत्सम्बन्धात् तदाच्छादनमपि कौपीनम् (सिद्धान्तकौमुदी)

इस प्रकार ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि 'संपत' अर्थात् एकता ही वास्तव में 'संपत्' अर्थात् लक्ष्मी है।

राजस्थानी भाषा में एक कहावत है "सँप होय तो कुत्ता भी गंगाजी न्हायावैं।" अर्थात् परस्पर मेल हो तो कुत्ते भी गंगा-स्नान कर आएँ। यहाँ भी 'सँप' शब्द 'संपत्' अर्थात् मेल के अर्थ में ही प्रयुक्त है।

हेमानन्द कृत 'जीभ-दाँत-संवाद' के निम्नलिखित दोहे में 'संप' शब्द मेल अथवा एकता के अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है :—

> दसण रसण सन्तोष करि, वसिया एकणि पास।
> तिम जगि सहूयइ संप करि, पूरउ मनकी आस॥

'संपत्' में अंतिम व्यंजन 'त्' का लोप होकर 'संप' ही रह गया है, जो अन्त्य व्यंजन-लोप का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

राजस्थानी 'संपत' शब्द की उक्त व्युत्पत्ति से आप सहमत हैं क्या ? इस सम्बन्ध में आप अपने विचार प्रकट करेंगे तो बड़ा अनुगृहीत रहूँगा। राजस्थानी शब्दों के आप मर्मज्ञ हैं, यह लिखने की आवश्यकता नहीं।

स्नेहास्पद—
कन्हैयालाल सहल

श्रीयुत बा. घनश्यामदासजी बिड़ला ने उक्त पत्र का निम्नलिखित उत्तर भेजा—

बिड़ला हाउस
नई दिल्ली
दिनांक १२-१०-५६

प्रिय कन्हैयालाल,

मुझे कोई शक नहीं है कि 'सम्पत' शब्द 'सम्पत्ति' से ही बना है। उर्दू में अकसर लोग कहते हैं—"मैं गनीमत हूँ।" 'गनीमत' का अर्थ असल में है 'लूट का माल' मगर अब अर्थ हो गया है 'मैं अच्छा हूँ।' इसी तरह से 'सम्पत्' शब्द की उत्पत्ति हुई मालूम होती है।

तुम्हारा
(ह०) घनश्यामदास

इस पर मैंने अपने दूसरे पत्र में मान्यवर श्री बिड़लाजी को लिखा कि "मैं गनीमत हूँ" इस प्रकार का प्रयोग मेरे पढ़ने में नहीं आया। क्या बोलचाल में

सचमुच ऐसा प्रयोग होता है ? इस पर आपका निम्नलिखित पत्र प्राप्त हुआ—

८, रायल एक्सचेंज प्लेस
कलकत्ता
दिनांक ६ नवम्बर, ५६

प्रिय सहल,

दिवाली की शुभ कामनाओं के लिए अनेक धन्यवाद। मेरे पत्र-व्यवहार को प्रकाशित करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

"मैं गनीमत हूँ" का प्रयोग मैंने अच्छे लोगों से सुना भी है।

तुम्हारा
(ह०) घनश्यामदास

मान्यवर,

राजस्थान में भोजन करने के अर्थ में 'जीमना' क्रिया का प्रयोग होता है। संस्कृत में भोजनार्थक अनेक धातुएं हैं जिनमें से एक धातु है 'जमु', 'जिमि' अथवा 'जिमु'।* इसी जिमि (जिम्) धातु से 'जीमना' राजस्थानी भाषा में प्रयुक्त होने लगा है। इसी धातु से बना हुआ तत्सम 'जेमन' शब्द राजस्थानी में 'जीमण' के रूप में व्यवहृत होता हैं। 'नैषधीयचरित' में 'जिमु' धातु से बने हुये हेत्वर्थ कृदन्त 'जेमितुम्' का प्रयोग हुआ है। यथा—

अराधि यन्मीनमृगाजपत्रिजैः
पलैर्मृदु स्वादु सुगन्धि तेमनम्।
अशाकि लोकैः कुत एव जेमितुं
न तत्तु संख्यातुमपि स्म शक्यते॥

(१६ सर्ग, श्लोक ८७)

मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' में 'खाई है' के अर्थ में 'जेईं' क्रिया का प्रयोग हुआ है जिसका सम्बन्ध निश्चय ही संस्कृत की उक्त 'जिमि' धातु से है।

उदाहरणार्थ :—

तुम्ह अबहीं जेईं घर पोईं।
कंवल न वैठि वैठ हहु कोईं॥

(प्रेमखण्ड, १२३-२)

अर्थात् तुमने अब तक घर की पोई हुई रोटियाँ खाई हैं। तुम उस भौंरे के समान हो जो कुमुदिनी पर बैठा है, कमल पर नहीं।

---

* चमु छमु जमु झमु अदने। जिमि (अदने) केचित् पठन्ति। यदुक्तं तत्वबोधिन्यां दण्डिना 'जेमनं ब्राह्मणानाम्' इति।

इसी क्रिया से बने हुए 'जेंवत' 'जेवनार' आदि अनेक रूपों का प्रयोग रामचरितमानस में भी हुआ है। यथा,—

गारीं मधुर स्वर देहि सुन्दरि व्यंग्य वचन सुनावहीं।
भोजन करहिं सुर अति विलंबु विनोदु सुनि सचु पावहीं॥
जेवंत जो बढ्यो अनंदु सो मुख कोटि हूँ न परै कह्यो।
अचवांइ दीन्हे पान गवने वास जहँ जाको रह्यो।

० ० ० ० ०

सो जेवनार कि जाइ बखानी
बसहिं भवन जेहि मातु भवानी॥
(बालकाण्ड, शिव-विवाह-वर्णन)

(मराठी में भी 'जेमण' शब्द भोजन के अर्थ में प्रचलित है।)

२. थाली—

"थाली" शब्द काँसे या पीतल के उस बड़े छिछले बरतन के लिए प्रयुक्त होता है जिसमें खाने के लिये भोजन रखा जाता है। यह शब्द संस्कृत के 'स्थाली' शब्द से राजस्थानी तथा हिन्दी आदि भाषाओं में आया है, किन्तु यहाँ द्रष्टव्य यह है कि संस्कृत का 'स्थाली' शब्द 'बटलोई' के अर्थ में प्रयुक्त होता है जो 'थाली' से भिन्न अर्थ का बोधक है। 'स्थाली पुलाक न्याय' का स्थाली शब्द भी इसी ओर इङ्गित करता है।

अर्थ-परिवर्तन (Semantics) का सम्बन्ध भाषा-विज्ञान की उस शाखा से है जिसे अर्थातिशय कहते हैं। शब्दों में अर्थ-परिवर्तन का अध्ययन करने वाले भाषा-वैज्ञानिकों का कथन है कि जब एक भाषा दूसरी भाषा से शब्द-ग्रहण करती है तो कभी-कभी शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। 'नदी' के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला फारसी का 'दरिया' शब्द गुजराती आदि अनेक भाषाओं में 'समुद्र के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। इसी प्रकार घड़ी-बोधक अंग्रेजी का Clock शब्द गुजराती में 'एक कलाक' 'दो कलाक' के रूप में 'एक घण्टे', 'दो घण्टे' के अर्थ में आज भी प्रयुक्त हो रहा है। बम्बई आदि की ओर से लौटकर आये हुए राजस्थानी भी 'एक घण्टे' के अर्थ में 'एक कलाक' का प्रयोग धड़ल्ले से करते हुए देखे जाते हैं।

इसी प्रकार "यह कम आश्चर्य का विषय नहीं कि 'जुलाब' शब्द मूलतः 'गुलाब' ही है। फारसी में 'गुल' शब्द सामान्य फूल का वाचक न होकर 'गुलाब' के फूल का वाचक था और इसीलिए गुलाब (गुल का आब) का अर्थ था 'गुलाब का जल।' गुलाब (गुलाब-जल) का प्रयोग वहाँ दस्तावर दवा के रूप में भी होता था।

इस प्रकार गुलाब (गुलाबजल) जुलाब का काम करता था। 'गुलाब' शब्द को फारस से अरब वालों ने लिया तो 'ग' ध्वनि का 'ज' में परिवर्तन हो गया और इस प्रकार फारसी का 'गुलाब' अरबी में 'जुलाब' हो गया और वहीं से इस शब्द का प्रचार यूरोप, फारस तथा भारत में हुआ। मजे की बात तो यह है कि मूलत: फारसी शब्द होते हुए भी यह फारस में 'दस्तावर दवा' के अर्थ में 'जुलाब' रूप में ही प्रचलित है। हिन्दी, मराठी तथा गुजराती आदि में इसे 'जुलाब', पर नेपाली में 'जुलाफ' या 'जुलाप' कहते हैं। यूरोप की अंग्रेजी तथा जर्मनी आदि भाषाओं में इसका रूप 'जूलेप' हो गया है। वहाँ दवा के अतिरिक्त एक विशेष प्रकार के सुगन्धित अच्छे पेय को भी 'जूलेप' कहते हैं।"*

राजस्थानी तथा हिन्दी का थाली (थाली) शब्द भी इसी प्रकार संस्कृत 'स्थाली' से भिन्न अर्थ देने लग गया है। भारत की विभिन्न भाषाओं में 'थाली' शब्द निम्नलिखित रूपों में उपलब्ध है—

कश्मीरी—	थ्रज़ू
पंजाबी—	थाळी
नेपाली—	थालि
बँगला—	थालि
सिन्धी—	थारी
गुजराती—	थाली
मराठी—	थाली

३. कचौला—

श्री बेचरदास जीवराज दोशी के मतानुसार 'कचोला शब्द का मूल देश्य 'कच्चोलय' में उपलब्ध है। यह शब्द अत्यन्त प्राचीन है। आठवीं शताब्दी में रचित 'कुवलयमाला' के प्रारम्भ में जिसका उल्लेख है, उस 'पउमचरिय' जैसे प्राचीन ग्रन्थ में यह शब्द प्राप्त होता है। अर्थ को देखते हुए इस शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की जा सकती है—काच + पुटक=काचपुटक–काचपुड़य–कचाउलय–काचोलय–कच्चोलय। बारहवीं शताब्दी के 'सुपासनाहचरिय' में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है—'कच्चोलय-मुहमेत्त' (सुपास. च. पृ. २०१–गा. ६५) इस व्युत्पत्ति को देखते हुए कांच से बने हुए बरतनों की उत्पत्ति का इतिहास विशेष प्राचीन जान पड़ता हैं।†

किन्तु अधिक संभव शायद यह है कि 'कचोला' शब्द संस्कृत कांस्य हिन्दी

*द्रष्टव्य 'ज्ञानोदय' सितम्बर, १९५६ में प्रकाशित श्री गोपालनाथ तिवारी का 'शब्द जिन्हें समझ कर समझें' शीर्षक लेख। (पृ० ८१)

†द्रष्टव्य गुजराती भाषानी उत्क्रान्ति, पृ० ४२१-२२

काँसा+ओरा प्रत्यय से आया हो। काँसा+ओरा–कांसोरा–कांछोरा–कांचोरा–कचोरा–कचोला। राजस्थानी में अनेक बार 'स' के स्थान में 'छ' देखने को मिलता है, जैसे 'तुलसी' के स्थान में 'तुलछी'।

४. तींवण (तींमण)

राजस्थानी में 'तींवरण' शब्द शाक के अर्थ में प्रयुक्त होता है। एक प्रसिद्ध राजस्थानी कहावत है–'बीगड़्योड़ा तींवरण कोनी सुधरै' अर्थात् बिगड़े हुए शाक नहीं सुधरते।

यह तो इस कहावत का अभिधेयार्थ है, व्यंग्यार्थ यह है कि बिगड़े हुए बालक नहीं सुधर पाते। 'जीमना' शब्द के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए 'नैषधीयचरित' के जिस श्लोक का उद्धरण ऊपर दिया गया है, उसमें 'तेमनम्' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। 'तेमनम्' की व्याख्या करते हुए टीकाकारने कहा है—"तेमनाख्यं व्यंजनम्' अर्थात् 'तेमन' से तात्पर्य है 'तेमन' नामक व्यंजन से।

राजस्थानी भाषा में ऐसे बहुत से शब्दों का प्रयोग आज भी हो रहा है जो शुद्ध संस्कृत के शब्द हैं, किन्तु थोड़ा-बहुत ध्वनि-परिवर्तन जिनमें हो गया है। 'तींवरण' भी एक ऐसा ही शब्द है जो वस्तुतः संस्कृत का 'तेमन' शब्द ही है, ऐसा लगता है। जैसे यह शब्द अन्य प्रादेशिक भाषाओं में सुरक्षित न रहकर राजस्थानी भाषा में सुरक्षित रह गया है।

उक्त चारों शब्दों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है ? विशेषतः आपकी प्रेरणा से ही व्युत्पत्तिशास्त्र की ओर मैं आकृष्ट हुआ हूँ, इसीलिए 'शब्द-चर्चा' को लेकर समय-समय पर आपको कष्ट देता रहता हूँ। आशा है, उत्तर देकर अनुगृहीत करेंगे।

स्नेहास्पद
कन्हैयालाल सहल

श्री बिड़लाजी ने उक्त पत्र का निम्नलिखित उत्तर भिजवाया—

Birla House,
New Delhi,
दि. १७–१०–५६

प्रिय सहल,

'जीमना' के सम्बन्ध में जो प्रमाण तुमने दिये हैं, वे सही मालूम होते हैं। 'थाली' अवश्य 'स्थाली' से बना है। 'स्थाली' का अर्थ बटलोया है सही, पर 'स्थाली' का अर्थ कोष में दिया है 'थाली'। लेकिन 'कचोला' और 'तींवरण' के सम्बन्ध में तुम्हारा निर्णय कुछ पूरा बैठता नहीं।

मूँगधरणा' का अर्थ 'लकड़ी' कैसे बना ?

तुम्हारा
(ह.) घनश्यामदास

(टिप्पणी डा. सहल की ओर से—

मैंने अपने पत्र में 'कचोला' शब्द की जो व्युत्पत्ति दी थी, उससे श्री विड़लाजी का ही समाधान न हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। भाषा-शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डा. हरिवल्लभ भायाणी ने भी 'कचोला' सम्बन्धी मेरी व्युत्पत्ति से असहमति प्रकट की है। उन्हीं के शब्दों में "पउमचरिय" जैसे तीसरी शताब्दी के पूर्व ग्रंथ में जब 'कच्चोलय' मिलता है तब उसका सं. कांस्य, प्राकृत कंस, अपभ्रंश कांस–ऐसा विकासक्रम है और हिन्दी 'कचोरा' में 'ओरा' कोई प्रत्यय नहीं है। जहाँ तक हिन्दी 'र' के स्थान पर गुजराती में ळ (ल्) होता है, वहाँ ळ (ल्) मूल में ल् सूचित करता है। स् छ् च् ऐसी प्रक्रिया तीसरी शताब्दी के लिए तो असम्भव-सी है। 'कच्चोलय' का मूल कांच पुटक होना भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पुटक से ओलय बनने का और कोई असंदिग्ध उदाहरण मिले तब उसका समर्थन हम कर सकें। नियम से तो काच+पुटक से कच्चोडय हो सकता है।")

मान्यवर,

आपका १७–१०–५६ का पत्र मिला, बड़ी प्रसन्नता हुई। संस्कृत में 'स्थाल' और 'स्थाली' दो शब्द हैं। अमरकोश में उद्धरण दिया गया है 'स्थालं' भाजनभेदेपि स्थाली स्यात्पाटलोखयोः' "इतिमेदिनी,' 'स्थाल' पात्र-विशेष को कहते हैं। 'स्थाल' से 'थाल' बना और उसके छोटे रूप को 'थाली' कहने लगे। यह मेरा अनुमान है।

जहाँ तक संस्कृत 'स्थाली' का सम्बन्ध है, वह 'ओदनादि पचन-पात्र' (पकाने के वर्तन) के अर्थ में प्रयुक्त शब्द है। आयुर्वेद-ग्रन्थों में 'पुटपाक' के प्रसंग में एक स्थाली के ऊपर दूसरी स्थाली रखने का उल्लेख हुआ है। वहाँ भी 'स्थाली' पचन-पात्र ही है। कड़ाही या हाँड़ी के अर्थ में 'स्थाली' शब्द का प्रयोग आयुर्वेद में हुआ है।

नागरीप्रचारिणी के कोश में 'थाली' को सं० स्थाली : बटलोई से व्युत्पन्न बतलाकर अर्थ किया गया है 'बड़ी तश्तरी'। उस हालत में संस्कृत 'स्थाली' का हिन्दी में अर्थ-परिवर्तन हो गया है, ऐसा माना जा सकता है। मेरा कहना तो केवल यह है कि संस्कृत में 'स्थाली' शब्द का प्रयोग सर्वत्र, जहाँ तक मेरी जानकारी है, पकाने के वर्तन के अर्थ में ही हुआ है। संस्कृत का 'स्थाल' अवश्य वर्तन-विशेष का द्योतक होने के कारण 'थाली' का भी अर्थ दे सकता है।

'तींवन' का संस्कृत रूप 'तेमन' अमरकोश में भी उद्धृत हुआ है। 'तेमनं व्यंजनेक्लेदे तेमनी चुल्लिभिद्यपि' इति हेमचन्द्रः। 'तेमन' संस्कृत में व्यंजन के अर्थ में

प्रयुक्त शब्द है। सम्भव है, राजस्थानी का 'तींवण' संस्कृत के 'तेमन' से आया हो। इस सम्बन्ध में भी मेरा कोई आग्रह नही है, अन्वेषण जारी रखूँगा।

आयुर्वेद-ग्रन्थों में एक 'कटोरिका' शब्द आता है। क्या आपको दृष्टि में 'कचोली' शब्द 'कटोरिका' से आया है ?

'मूँगधणा' विवाह जैसे मांगलिक अवसर पर लाई हुई हरी लकड़ी के लिए प्रयुक्त शब्द है। उस दिन लकड़ी लाने वाले को मूँग या धान कुछ दिया जाता है क्या ? अथवा घर में मूँग-धान बनाये जाते हैं ? 'चावल-मूँगों का तो जोड़ा है ही।

एक कष्ट-कल्पना और कर रहा हूं। संस्कृत में 'इन्धनकम्' शब्द बनता है। 'इंधन' के आगे स्वार्थ में 'क' प्रत्यय लग सकता है। व्यत्यय द्वारा जैसे "हिंस" शब्द से 'सिंह' बन जाता है', 'इन्धनकम्' का 'मुगधनं' 'मूँगधणा' बन सकता है लेकिन इससे संतोष नहीं होता। इस विषय में जानकारी बढ़ाऊँगा, तब आपको पत्र लिखूँगा। आपके पत्रों से मुझे विशेष अध्ययन की प्रेरणा मिलती है। संकोच इतना ही होता है कि आपका इतना समय मैं ले लेता हूँ।

स्नेहास्पद

(ह०) कन्हैयालाल सहल

मान्यवर,

एक पत्र कल मैंने आपको दिया था जिसमें मैंने लिखा था कि मांगलिक अवसर पर लाई जाने वाली लकड़ी को 'मूँगधणा' कहते हैं। यदि मंगल इन्धन, इन दो शब्दों को लेकर विचार किया जाय तो मंगलेन्धनः मंग एन्धन मंगेधन मंगधन मूँगधन मूँगधण मूँगधणा इस प्रकार इस शब्द तक पहुँचा जा सकता है। डिंगल साहित्य में एक 'चींधण' शब्द का प्रयोग मिलता है जिसका अर्थ है 'मुर्दे को आग में फेंकने की लकड़ी' जैसे—

चींधण चालवियांह, खह मांही खंखोरियाँ।
राणा ! राख थयांह वीसरसो जद वाघने।

चिवण काष्ठ द्योतक इस 'चींधण' शब्द से बचने के लिए भी 'मंगलेन्धन' की कल्पना की जा सकती है।

किन्तु सर्वत्र 'मूँगधणा' शब्द मांगलिक काष्ठ के अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं होता। जयपुर में रहते हुए मैंने सामान्य जलाने की लकड़ी के अर्थ में 'मूँगधणा' का प्रयोग होते अनेक बार सुना है। बहियों में २५ रु० का मूँगधणा इस प्रकार लिखा देखा है। उस हालत में 'इन्धनकम्' से 'मूँगधणा' बन सकता है। 'क' के स्थान में 'ग' प्रायः देखा जाता है जैसे 'प्रकट' के स्थान में 'प्रगट' आता है।

शब्दों में व्यत्यय (metathesis) उलट-जाने की एक प्रवृत्ति देखी जाती है जैसे 'लखनऊ' के लिए 'नखलेऊ' 'मतलब' के लिए 'मतबल' आदि। यहां 'लब' 'बल' में परिवर्तित हो गया। 'इन्धकम्' का 'कम्' 'मक' हो जाय, 'मक' का 'मुग' हो जाय, धन का धन रह जाय, प्रारम्भ के इकारका लोप हो जाय तो 'मूँगधणा' बन सकता है। 'मंगलेन्धन' से ही इस शब्द को व्युत्पन्न करना हो तो यह भी हो सकता है कि प्रारम्भ में यह शब्द मांगलिक काष्ठ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो, बाद में सामान्यतः काष्ठ के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा हो। यह भी सम्भव है कि यह 'देशज' शब्द हो और किसी संस्कृत शब्द से सिद्ध न किया जा सके।

किन्तु इतना लिखने पर भी मेरा समाधान नहीं होता और मैं समझता हूँ, आप भी इन व्युत्पत्तियों से सन्तुष्ट नहीं होंगे। इस शब्द की व्युत्पत्ति का सही पता लगाने के लिए अभी विशेष खोज करनी होगी।

स्नेहास्पद

(ह०) कन्हैयालाल सहल

प्रिय सहल,

तुम्हारा अनुमान सही है कि 'स्थाली' शब्द का अर्थ बटलोई है। मेरा ख़याल था कि 'थाली' शायद 'स्थाल' से बनी होगी।

'तींवणा' और 'कटोरिका' के सम्बध में मेरे पास कोई राय नहीं है।

'मूँगधणा' का मूँग या धान से कोई सम्बन्ध नहीं लगता। 'इन्धनकम्' से 'मूँगधणा' बन सकता है।

तुम्हारा

(ह०) घनश्याम दास

(टिप्पणी डा. सहल की ओर से)—

'मूँगधणा' के सम्बन्ध में मैंने भारतीय विद्याभवन, बम्बई के प्रसिद्ध भाषाविद् डा. हरिवल्लभ भायाणी से पत्र-व्यवहार किया। उनके मतानुसार मूँगधणा (इन्धन, मांगलिक इन्धन) का उत्तरांश संस्कृत 'इन्धन' से निष्पन्न हो सकता है। अगले अंश का सम्बन्ध वैसे तो सं. मुद्ग प्रा. मुग्ग हिन्दी मूँग के साथ होने की संभावना होने पर भी अर्थ-दृष्टि से सम्बन्ध नहीं जुड़ता। जब तक 'मूँगधणा' का कोई पूर्व-रूप साहित्य में प्राप्त न हो तब तक कोई निश्चय नहीं किया जा सकता। संस्कृत मंगल से मूँग अंश सिद्ध नहीं हो सकता।"

●●●

व्युत्पत्तिकार डॉ० सहल

• डॉ० भोलानाथ तिवारी

हिन्दी में व्युत्पत्तिविपयक कार्य वहुत ही कम हुआ है। इस दिशा में पहला ठोस कदम प्लैट्स ने अपने कोश में उठाया था। वाद के कोशों में यह कार्य आगे नहीं वढ़ पाया। वल्कि कुछ पीछे ही हटता गया। हिन्दी में प्रकाशित कोशों-जैसे हिन्दी शव्द सागर, (सभा), प्रामाणिक हिन्दी कोश (श्री रामचन्द्र वर्मा) तथा मानक हिन्दी कोश (श्री रामचन्द्र वर्मा) आदि में प्लैट्स आदि से सहायता जैसे ली ही नहीं गई और इन कोशों के व्युत्पत्ति-संवंधी अंश वहुत ही असंतोपजनक हैं। टर्नर ने अपने नेपाली कोश में तुलनात्मक ढंग से हिन्दी को भी लिया। डा० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी हिन्दी व्युत्पत्ति के कार्य को आगे वढ़ाया। विशेपतः डॉ० अग्रवाल ने अपनी अनेकानेक पुस्तकों एवं लेखों में हिंदी शव्दों की व्युत्पत्ति-विपयक काफी सामग्री दी है, दुःख है कि वह संकलित रूप में हमारे समक्ष नहीं है।

प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक भी इस दिशा में १९५० से कार्य करता रहा है। दशाधिक लेखों तथा 'शव्दों का जीवन' एवं 'शव्दों का अव्ययन' इन दो पुस्तकों में हिंदी के लगभग पांच सौ शव्दों की व्युत्पत्ति देने का प्रयास किया गया है।

डा० कन्हैयालाल सहल की भी व्युत्पत्तियों में प्रशंसनीय रुचि रही है। अपनी पुस्तक 'विमर्श और व्युत्पत्ति' में आपने ८४ शव्दों की व्युत्पत्तियाँ दी हैं। ८४ संख्या हमारे यहां परंपरागत रूप से अनेक प्रसंगों में प्रयुक्त होती रही है। ८४ लाख योनियां, ८४ आसन, कहीं-कहीं ६४ के स्थान पर ८४ कलाओं का भी उल्लेख मिलता है। कदाचित् इसी परंपरा में डॉ० सहल ने यह संख्या चुनी है। इन शव्दों में काफी तो ऐसे हैं जो ठेठ राजस्थानी साहित्य या राजस्थानी की विभिन्न वोलियों के हैं। ठाकुर, मुलतान, दोहा, नखरा, मत, आदि कुछ ऐसे शव्द हैं जिनका सम्वंध सामान्य रूप से हिन्दी या भारतीय भापाओं से है।

डॉ० सहल ने इन शब्दों की व्युत्पत्ति देने में काफी परिश्रम किया है तथा अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति हिन्दी संसार के समक्ष उन्होंने प्रथम बार रखी है जिसके लिए वे निश्चय ही बधाई के पात्र हैं। कुछ शब्दों जैसे 'मक्खन' के प्रसंग में उन्होंने शब्द सागर आदि में दी गई व्युत्पत्तियों की अशुद्धियों की ओर संकेत करते हुए नयी व्युत्पत्ति का सुझाव दिया है। डॉ० सहल की विद्वत्ता जीवंत है. उन्हें इस बात का आग्रह नहीं है कि अमुक बात उन्होंने अन्तिम रूप से कही है। इसी कारण कई स्थानों पर व्युत्पत्ति देने के साथ-साथ उन्होंने यह भी संकेत कर दिया है कि अमुक शब्द (जैसे चोल) की व्युत्पत्ति शोध-सापेक्ष है।

वस्तुतः व्युत्पत्ति का विषय 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' को चरितार्थ करने वाला है। इसी कारण इस पर काम करने में मूल स्रोत तक पहुँच पाना अनेक शब्दों में सर्वथा स्वाभाविक है। इस ग्रंथ में भी कुछ इस प्रकार की बातें हैं। उदाहरण के लिए ठाकुर को सिल्वांलेवी, सुनीतिकुमार चटर्जी आदि से सहमति प्रकट करते हुए कहा गया है कि यह मूलतः तुर्की शब्द 'तोगिन' है। मैं जिन दिनों तुर्की में था, अनेक शब्दों के बारे में वहां के भाषाशास्त्रियों से चर्चा करने का अवसर मिला और पता चला कि 'तोगिन' मूलतः तुर्की न होकर मंगोल भाषा का है। एक बात की ओर संकेत करूँगा। 'मत' जैसे कई शब्द इसमें ऐसे हैं जिनकी व्युत्पत्ति पर विचार न कर केवल अर्थ दे दिया गया है। ऐसे शब्दों को 'अर्थ' या 'शुद्ध अर्थ' शीर्षक के अन्तर्गत अलग वर्ग में देना कदाचित् अधिक अच्छा रहता। इन एक दो कमियों के बावजूद डॉ० सहल का यह व्युत्पत्तिविषयक कार्य अच्छा बन पड़ा है, विशेषतः हिन्दी में, जहाँ ऐसे क्षेत्रों में काम करने के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं बन पाया है, इतना कर पाना भी बहुत श्लाघ्य है।

***

"कहावतें लौकिक सिक्के हैं जो अनुभव की टकसाल में ढलते रहते हैं।"

—डॉ० कन्हैयालाल सहल

डॉ० सहल की भाषावैज्ञानिक उपलब्धियाँ

• डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया

डॉ० सहल की बहुमुखी उपलब्धियाँ हैं। यहाँ हमारा विवेच्य विषय उनकी भाषा-विज्ञान-संबंधी उपलब्धियाँ हैं। भाषाशास्त्र की विविध शाखाओं में आपने कार्य किया है। सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य 'कहावतों' पर है जो भाषा-विज्ञान और लोक-साहित्य दोनों की सीमारेखा से सम्बद्ध विषय है। इस प्रकार डॉ० सहल की बहुमुखी प्रतिभा भी इन दोनों क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है।

लोक-साहित्य के अध्ययन के अन्तर्गत लोकगीत, लोक-कथाओं तथा लोक-गाथाओं के साथ लोकोक्तियों का अध्ययन भी किया जाता है। इस प्रकार लोकोक्ति तथा कहावतों का अध्ययन जहाँ एक ओर लोकजीवन को स्पर्श करता है, वहाँ दूसरी ओर भाषाशास्त्र को। 'लोक-उक्ति' लोक में प्रचलित कोई उक्ति विशेष ही 'लोकोक्ति' की परिधि में आती है। कुछ क्षेत्रों में लोकोक्ति कहावतों का पर्यायवाची माना जाता है जबकि अन्य क्षेत्रों में भिन्न। डॉ० कस्तूरचन्द जैन के अनुसार 'लोकोक्ति' अथवा अहाने को कहावत, कैनात अथवा कैवात का पर्यायवाची नहीं समझा जा सकता। विलिंग्स तथा हावेल के मतानुसार संक्षिप्तता, सारगर्भिता तथा सप्राणता (चटपटापन) गुणों को लोकोक्ति के तीन अनिवार्य लक्षणों के रूप में ग्रहण किया गया है। कहावत की व्युत्पत्ति पर सर्वाधिक विस्तार से डॉ० सहल ने ही विचार किया है, अनेक विद्वानों द्वारा—वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा, महावीर प्रसाद पोद्दार, मौलाना आजाद, डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, हरिवल्लभ भायाणी, मुनि जिनविजय, राहुल, डॉ० बाबूराम सक्सेना आदि—प्रस्तुत मतमतान्तरों को प्रस्तुत करते हुए एक दर्जन व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। यहाँ एक व्युत्पत्ति द्रष्टव्य है :

" 'बनना' से 'आव' प्रत्यय जोड़ने पर जैसे 'बनाव' बनता है, उसी प्रकार कहना (कह) से 'आव' प्रत्यय जोड़ने पर 'कहाव' बन सकता है। अरबी में

जिस प्रकार 'त' प्रत्यय जोड़ने पर 'मुसाफिरत' और 'मुसाहबत' शब्द बनते हैं, उसी प्रकार 'कहाव' के आगे 'त' प्रत्यय लगने से 'कहावत' बन सकता है जिसका अर्थ है कहने की दशा, कही हुई स्थिति अर्थात् उक्ति।''

राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन, पृष्ठ ४

कहावतों के क्षेत्र में सबसे अधिक प्रामाणिक तथा विस्तृत अध्ययन डॉ० सहल ने 'राजस्थानी कहावतें' : एक अध्ययन[1] में प्रस्तुत किया है। डॉ० सहल का यह अध्ययन सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से भारतीय भाषाओं में संभवतः प्रथम प्रयास है, जिसकी सभी विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। इस क्षेत्र के मर्मज्ञ विद्वान् तथा मनीषी डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि 'राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन' पुस्तक की महती सामग्री देखकर चित्त प्रसन्न हुआ। लेखक ने इस विषय के अध्ययन की आधार-शिला ही रख दी है।..........मेरा विचार है कि 'इस आकर-ग्रन्थ से प्रेरणा पाकर अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के कार्यकर्त्ता भी अपनी प्रादेशिक सामग्री को इस पद्धति से छापने का प्रयत्न करेंगे।'

यह शोधग्रन्थ लेखक के दीर्घ परिश्रम का परिणाम है। शोध-ग्रन्थ की भूमिका में लेखक ने स्वीकार किया है कि इस अध्ययन के पूर्व 'श्री लक्ष्मीनिवास जी बिड़ला की प्रेरणा से मैंने करीब तीन हजार कहावतें अर्थ और टिप्पणी सहित सम्पादित कर बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता के समक्ष प्रस्तुत कीं। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति पर सन् १९४५ में मण्डल[2] ने मुझे पुरस्कृत भी किया।' आगे इस भूमिका में ही पृष्ठ 'ग' पर यह सूचित किया गया है कि 'विषय से प्रत्यक्ष संबध न रहने के कारण कहावतों के ऐतिहासिक[3] तथा तुलनात्मक अध्ययन का ग्रन्थ में समावेश नहीं किया जा रहा है।'

---

१. डॉ० कन्हैयालाल सहल—राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन
भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली, १९५७, मू० ८. ५०।

२. यह पुरस्कृत ग्रन्थ ही 'राजस्थानी कहावतें' शीर्षक से शोध-प्रबन्ध के पश्चात् सं० २०१७ (सन् १९६१ ई०) में बंगाल हिन्दी मण्डल कलकत्ता द्वारा प्रकाशित हुआ है जिसमें २१०९ राजस्थानी कहावतें संकलित हैं तथा परिशिष्ट १ में सिरोही की २२५ कहावतें तथा परिशिष्ट दो में अधूरा पूरा तथा कहावती पद्य (१०१ संख्या) संकलित हैं।

३. संभवतः यह ऐतिहासिक अध्ययन ही बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित 'राजस्थानी कहावतें' शीर्षक पुस्तक की भूमिका के रूप में पृष्ठ संख्या १-६२ सम्मिलित कर लिया गया है।

इस अध्ययन की पृष्ठभूमि के रूप में प्रारम्भिक दो अध्यायों में 'कहावत का पर्यालोचन तथा उद्भव और विकास' प्रस्तुत किया गया है। मूल ग्रन्थ 'राजस्थानी कहावतों का वर्गीकरण' के अन्तर्गत रूपात्मक (तुक, छन्द, अलंकार, अध्याहार, कथात्मक कहावतों के विविध रूप, संवाद, लौकिक न्याय, व्यक्ति, संख्या आदि) विषयानुसार वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है।

परिशिष्ट में प्रदेशों की तुलनात्मक कहावतों के अन्तर्गत कश्मीरी, गुजराती, बंगला, मराठी, पंजाबी, भोजपुरी, तेलुगु, तमिल आदि की कहावतें संकलित हैं।

'राजस्थानी कहावतें' शीर्षक ग्रन्थ में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत संस्कृत वाङ्मय—वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, इतिहास और पुराण—रामायण, महाभारत, योगवासिष्ठ, स्मृतियों की कहावतें, नीति वाङ्मय, पालि भाषा की कहावतें, प्राकृत की कहावतें, अपभ्रंश की कहावतें—पुष्पदन्त, धनपाल, मुनि रामसिंह, हेमचन्द्र, अब्दुल रहमान आदि की कहावतें संकलित हैं। संभवतः इस क्रम को ही डॉ० सहल ने आगे बढ़ाया और उदयपुर से प्रकाशित 'शोध पत्रिका' में गोरख की सब्दियों में कहावतें, 'गाथा सप्तशती और कहावतें', 'दोहाकोश और लोकोक्तियाँ', 'दसम लीला' 'ओहाणक स्तोत्र', 'आभाणशतक', 'कवि जुगलेश', 'शाह बरकतउल्ला', 'ब्यौहार सार में कहावतों' पर आलोचनात्मक अध्ययन प्रकाशित किया।

विदेशी कहावतों के इतिहास के साथ कहावतों का तुलनात्मक अध्ययन भी 'राजस्थानी कहावतें' में विवेचित है।

इन दोनों ग्रन्थों के प्रकाशन के बाद भी डॉ० सहल निरन्तर कहावतों के अध्ययन में रत हैं, यह बात अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित आपके शोधपरक निबंधों से सिद्ध होती है, जिनमें से कुछ उल्लेखनीय इस प्रकार हैं :

रुक्मिणि मंगल में राज० कहावतें	—विशाल राजस्थान, साहित्य-संस्कृति विशेषांक १९६०
समयसुन्दर और राज० कहावतें	—लोकवाणी, दीपावली विशेषांक
दो कहावतें	—वसुन्धरा, १९ जुलाई १९४७
राजस्थान की स्वास्थ्य-संबंधी कहावतें	—आज, ३० अक्टूबर १९६०
राजवंशों से संबंधित कुछ राज० लोकोक्तियाँ—	विशाल राजस्थान, दीपावली, विशेषांक १९५७
राजस्थान की स्थानीय कहावतें	—राजस्थान, दीपावली विशेषांक
राजस्थान की कुछ ऐतिहासिक अनुश्रुतियाँ—	लोकवाणी, नववर्षांक, अप्रैल १९४८।
राजस्थान की कृषि-संबंधी कहावतें	—लोकवाणी, दीपावली विशेषांक।

नीतिशास्त्र का मक्खन लोकवाणी, दीपावली विशेषांक।

चाणक्य-सूत्र—

राजस्थानी कहावतों के पश्चात् कृष्णानन्द गुप्त का 'बुन्देली कहावत कोश' चन्द्रलाल वर्मा का 'कुमाउँनी भाषा की कहावतें', बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् का 'कहावत कोश' डॉ० सत्येन्द्र का 'ब्रजभाषा की कहावतें' भी प्रकाशित हो चुकी हैं। अध्ययन की दृष्टि से डॉ० कस्तूरचन्द जैन ने 'बुन्देली लोकोक्तियों' का अध्ययन किया है। आशा है, शीघ्र ही लोक में प्रचलित सभी कहावतें संकलित हो जाएंगी। इधर हिन्दी-मलयालम, हिन्दी-तेलुगु, हिन्दी-कन्नड़ आदि तुलनात्मक अध्ययन भी प्रारम्भ हो चुके हैं। कहावतों का एक बृहद् कोश भी यंत्रस्थ है।

कहावतों के बाद 'व्युत्पत्तिपरक अध्ययन' दूसरा क्षेत्र है जिसमें डॉ० सहल का महत्त्वपूर्ण योगदान है। आप साहित्यिक लेखों में भी आवश्यकतानुसार व्युत्पत्ति देते चलते हैं, उदाहरणार्थ 'मूल्यांकन' पृष्ठ २७३–२७४ में संकलित 'ईश्वरदास और उनका देवियाण' लेख लिया जा सकता है। व्युत्पत्ति देते समय आप विभिन्न क्षेत्रीय रूपों की ओर भी ध्यान रखते हैं जैसे,

पवाड़ा। कीर्तिगाथा, चरितकाव्य। वीरगीत

ब्रज रूप — पमारा

मालवा — पवाड़ो

मध्य प्र० — पंवारा

महाराष्ट्र — पवाड़ा—पोवाड़ा

डॉ० सहल राजस्थान की प्रमुख शोधपत्रिका 'मरु भारती' में किसी न किसी शब्द की व्युत्पत्ति पर नियमित रूप से लिखते थे और उसमें प्रकाशित व्युत्पत्तियाँ ही 'विमर्श और व्युत्पत्ति' (चिन्मय प्रकाशन, जयपुर) में संकलित हुई हैं। इसमें कुल ८४ शब्दों की व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं:

१. राठौड़, २. केकाण, ३. हम्मीर, ४. ठाकुर, ५. नांगल, ६. सुलतान, ७. दोहा, ८. संपत, ९. झाड़शाही, १०. सहलो, ११. अहलो, १२. उणियारो, १३. दायजो, १४. छावा, १५. अलवर, १६. मारवाड़, १७. मायत, १८. हांडणो, १९. माहुटि, २०. परोजन, २१. पालो, २२. जीमना, २३. थाली, २४. कचोला, २५. तींवण, २६. चंदनामा, २७. ओढणा, २८. ओठी, २९. नेर, ३०. छेह, ३१. वदि और सुदि, ३२. मिणसणो, ३३. ओलंगियो, ३४. देवली, ३५. पुनीत, ३६. खड़ी बोली, ३७. उर्दू, ३८. ओजणो, ३९. हिमारणी, ४०. कटवां शब्द, ४१. दर्पण, ४२. आलम, ४३. बूडा-ठेरा, ४४. आरोगना, ४५. तावड़ा, ४६. आथ न साथ, ४७. उडीकना, ४८. कामड़ो, ४९. होरां, ५०. ब्यालू, ५१. पोत, ५२. उभाणा,

५३. नखरा, ५४. हुंसेर, ५५. कोनी, ५६. कनै, ५७. साढू, ५८. हियाली ५९. संथा, ६०. बीरवानी, ६१. पांगरणो, ६२. नंदना, ६३. महमहण, ६४. पाधरो ६५ कोडीधज, ६६. चित्राम, ६७. अचपलो ६८. ऊमस, ६९. निवायो, ७०. छूछक ७१. पालो, ७२. मोवी, ७३. पिराचट, ७४. ऐन्द्र महाभिषेक, ७५. चोल, ७६. चरना ७७. मत, ७८. ग्रोखाणा, ७९. मक्खन, ८०. जौहर, ८१. शतरंज, ८२. क्लाक, ८३. बाराही देवी, ८४. आवड़ना।

इनमें से सहलो, अहलो, उणियारो दायजो, छावा, ओठी, देवली, पुनीत, ओजणो, हिमारणी तावड़ा, उडीकना, व्यालू, ऊमस, निवायो आदि की व्युत्पत्तियां अत्यन्त संक्षिप्त हैं।

'हम्मीर' की व्युत्पत्ति में प्रयोगों की तो चर्चा है पर अन्त में व्युत्पत्ति पर विचार नहीं किया गया है। 'ठाकुर' के संबंध में यह मत 'बहुत संभव है, तुर्की भाषा के 'तोगिन' से आया हो' अधिक सटीक नहीं। काफी व्युत्पत्तियाँ शब्दसागर की व्युत्पत्तियों से भिन्न हैं, जैसे दोहा, पैदल आदि। अलवर, मारवाड़ आदि स्थानवाची शब्द भी लिये गये हैं। कटवाँ शब्दों की भी चर्चा है; राजस्थानी के पता, जगा, भीमा आदि शब्दों को कटवाँ में कैसे रखा गया है, यह स्पष्ट नहीं हो पाया। 'ऐन्द्र महाभिषेक' के संबंध में तो डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का पत्र-मात्र उद्धृत है। कुछ व्युत्पत्तियों में दिशा-निर्देश मात्र है, भविष्य में विस्तार से चर्चा अपेक्षित है, जैसे 'चोल'।

भाषाविज्ञान के ऐतिहासिक तथा वर्णनात्मक पक्ष पर भी आप कभी-कभी लिखते रहे हैं। इस दिशा में 'विमर्श और व्युत्पत्ति' में आपके दो निबंध उल्लेखनीय हैं :

१. भाषा के भेदक तत्त्व

२. यूरोपीय भाषाओं और भारत की आर्यभाषाओं का अभिन्न संबंध

वर्णनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में आपने 'डिंगल के संबंधसूचक परसर्ग' पर अच्छा अध्ययन प्रस्तुत किया है (मूल्यांकन पृष्ठ १९७–२०५)।

विद्वान् लेखक ने सभी रूपों को विभिन्न क्षेत्रों से एकत्र किया है और उन रूपों का ऐतिहासिक विकास भी ढूंढने की चेष्टा की है। इन विविध रूपों को कई वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

१. 'तणौ', 'तणा', 'तणी', 'तणै'

तेस्सितोरी, हेमचन्द्र, बेचरदास जीवराज दोशी, आदि विद्वानों के मत उद्धृत किये गये हैं और दोशी जी के विचार का समर्थन किया गया है। यहां यह उल्लेखनीय है कि संदेश रासक में 'तणि' रूप भी मिलता है।

२. कउ। सं० कृतः।
३. केरउ, केरइ।
४. केरा, केरी, केरे
५. संदइ, संदी, संदियां, संदउ

इस वर्ग की व्युत्पत्ति नहीं दी गई है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि १४-१५ वीं शताब्दी के ग्रन्थ 'कुतुबशतक' में 'हंदा' 'हंदे' रूप मिलते है।

डॉ० सहल ने 'बोली-विज्ञान' के क्षेत्र में भी शोधपरक लेख लिखे हैं, जो मेरी दृष्टि में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। डॉ० सहल के पास बोलीविज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि विद्यमान है। यदि वे इस क्षेत्र में ही आगे कुछ शोधकार्य अपने निर्देशन में कराएँ तो भाषाशास्त्र में विशेष योगदान होगा। इस दिशा में आपके दो निबंध 'मूल्यांकन' में संकलित हैं :

जयपुर क्षेत्र की बोलियाँ (पृष्ठ २०६ से २१२)
आबू सिरोही क्षेत्र की भाषा (पृष्ठ सं० २१३ से २२१)

जयपुर क्षेत्र की बोलियाँ

सन् १८९८ में जयपुर महाराज ने रेवरेण्ड मैकालिस्टर द्वारा रियासत की बोलियों का सर्वेक्षण करवाया था। उस समय १३ बोलियों की स्थिति स्पष्ट हुई थी। जयपुर क्षेत्र की बोलियाँ जयपुर, टोंक, सीकर, झुंझुनू, सवाई माधोपुर, अलवर जिलों में बोली जाती हैं जिसके अन्तर्गत ढूँढाड़ी, शेखावटी, तोरावटी, राजावटी, डाँगभाँग तथा मेवाती आती हैं। शेखावटी पर तो डॉ० कैलाशचन्द्र अग्रवाल ने विस्तार से कार्य किया है, शेष बोलियों पर अब भी शोधकार्य अपेक्षित है। पृथक्-पृथक् कार्य होने पर शेखावटी और ढूँढाड़ी की तुलना की जा सकती है। मेवाती के भी कई क्षेत्रीय रूप मिलते हैं—आदर्श, राठी, वहैडा, कठेर आदि।

आबू-सिरोही क्षेत्र की भाषा

विवेच्य क्षेत्र गुजरात तथा राजस्थान की सीमा पर स्थित है। दो भाषाओं की संधिस्थलीय भाषा का अध्ययन बड़ा रोचक तथा महत्त्वपूर्ण होता है। इस दृष्टि से इस क्षेत्र की भाषा का अध्ययन अपेक्षित है। डॉ० सहल ने विविध रूपों की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत करके निष्कर्ष निकाला है कि यह 'गुजराती मिश्रित मारवाड़ी' है और गुजराती की अपेक्षा राजस्थानी के अधिक अनुरूप है।

इस प्रकार कहावतों के विविध प्रकार के अध्ययन के साथ डॉ० सहल का व्युत्पत्ति-विज्ञान तथा बोली-विज्ञान के क्षेत्र में विशेष योगदान है।

●●●

डॉ० सहल और भाषा-शास्त्र

• डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

किसी मनीषी एवं विचारक के विचारों के क्षितिज का विस्तार साहित्य के क्षेत्र में भाषा-विवेचन के रूप में भी प्रकट होता है। साहित्य और भाषा के समीक्षक एवं विश्लेषक के रूप में जब डॉ० कन्हैयालाल सहल का साहित्यकार बहिर्मुखी हुआ; तब उसकी लेखनी से समीक्षायण, समीक्षांजलि, विवेचन, मूल्यांकन, राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन और विमर्श और व्युत्पति नाम के ग्रन्थों की भी सृष्टि हुई। इन ग्रन्थों में डॉ० सहल की भाषावैज्ञानिक दृष्टि की विशालता का आभास प्रत्येक पाठक को मिल जाता है। ध्वनि, रूप, वाक्य, अर्थ और व्युत्पत्ति के क्षेत्रों में से प्रमुख रूप से डॉ० सहल की मनीषा की चिन्तना ने अर्थ और व्युत्पत्ति के क्षेत्र में नयी दिशाएँ और नये मार्ग आलोकित किये हैं। उनकी इन उपलब्धियों के लिए भाषावैज्ञानिक जगत् उन्हें सदा वर्धापन देता रहेगा।

'राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन' में डॉ० सहल ने भारतीय लोक-जीवन की संस्कृति एवं आस्था-परम्परा को ऐसे विद्वत्तापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है कि हमारे प्राचीन संस्कृत-साहित्य, प्राकृत-साहित्य, हिन्दी-साहित्य और राजस्थानी लोक-साहित्य की एक शृंखलाबद्ध संचेतना की सूत्रमयी धारा का स्पष्ट दर्शन हो जाता है। लोकोक्तियों से लोक-मानस का युगानुभव जिस सूत्रमयी सूक्तिशैली में व्यक्त होता है, उसमें हमारी सचेतना और दृष्टि का भी पता लगता है। उस दृष्टि के आलोक में हम भारतीय संस्कृति के स्वरूप का दर्शन भी कर सकते हैं। राजस्थानी कहावतों पर एक विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करके शब्द और अर्थ के क्षेत्र में डॉ० सहल ने वस्तुतः अभिनन्दनीय उपलब्धि की है। इस महनीय कृति से हिन्दी और राजस्थानी भाषाएँ ही नहीं, अपितु हिन्दी से मिलती-जुलती अन्य भाषाओं को भी मार्ग-दर्शन प्राप्त होगा।

विश्व में जितनी भी साहित्यिक भाषाएँ हैं, वे एक साथ आकाश से पृथ्वी पर नहीं उतर पड़ीं। निश्चित ही उन सबका किसी न किसी अपनी जनबोली से शनैः शनैः विकास हुआ है। प्रत्येक साहित्यिक भाषा तभी प्राणवान् और सम्पन्न बनती है जब वह अबाध गति से अपनी जननी लोक-भाषा से शब्द-राशि, मुहावरे और लोकोक्तियाँ प्राप्त करती रहती है। जिस दिन साहित्यिक भाषा अपनी लोकभाषा से सम्बन्ध-विच्छेद कर देगी, उसी दिन उस साहित्यिक भाषा में प्राणशक्ति का ह्रास हो जाएगा और फिर निश्चित रूप से वह एक दिन मृत हो जाएगी। साहित्य और लोक के इस सम्बन्ध को हमारे कवियों ने अच्छी तरह समझ लिया था। कबीर, तुलसी, भारतेन्दु, रत्नाकर आदि के काव्यों में लोकोक्तिपरक कथनों पर दृष्टि डालने पर उक्त कथन की सार्थकता सिद्ध हो जाती है। डॉ० सहल ने 'कबीर की साखियों में राजस्थानी कहावतों की गूँज' शीर्षक लेख के माध्यम से सिद्ध कर दिया है कि शब्द और अर्थ के धरातल पर कबीर राजस्थानी कहावतों से प्रभावित थे।

एक राजस्थानी कहावत इस प्रकार प्रचलित है—

"गुरू चेलो लालची, दोनूँ खेलैं दाव।
दोनूँ कदेक डूबसी, बैठ पथर की नाव।"

इसी भावधारा के प्रकाश में कबीर कहते हैं—

"नाँ गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या दाव।
दून्यूं बूड़े धार में, चढ़ि पाथर की नाव॥"

इतना ही नहीं, डॉ० सहल ने उक्त शीर्षक वाले लेख में कबीर द्वारा प्रयुक्त कुछ लोकोक्तियों की पृष्ठभूमि के रूप में उपनिषदों के वाक्यों से भी सम्बन्ध-सूत्र जोड़ दिया है। मुंडकोपनिषत् तथा कठोपनिषत् में उपमा के रूप में एक वाक्य आया है—"अंधेनैव नीयमानाः यथांधाः।" उसी विचार-परंपरा के आलोक में कबीर कहते हैं—

"अन्धै अंधा ठेलिया, दून्यूँ कूप पड़न्त।"

डॉ० सहल लिखते हैं कि "कबीर की उक्त साखी में आते-आते इस उपमा ने कहावती उक्ति का रूप धारण कर लिया।" डॉ० सहल के इस निर्णयात्मक वाक्य में उनकी गहरी पकड़ दृष्टिगोचर होती है। वे अच्छी तरह समझते हैं कि कविता के कलेवर में 'कहावत' और 'कहावती उक्ति' में क्या अन्तर होता है? वास्तव में 'लोकोक्ति' और 'लोकोक्तिपरक उक्ति' में अन्तर है। जब किसी कवि के द्वारा कोई लोकोक्ति अक्षुण्ण रूप में शब्दशः प्रयुक्त होती है, तब 'लोकोक्ति' कहाती है। यदि उस लोकोक्ति को कुछ परिवर्तित करके कवि अपने कुछ शब्दों का कलेवर प्रदान करता है, तब उस कथन को लोकोक्ति न कहकर 'लोकोक्तिपरक उक्ति' ही कहेंगे।

इस सूक्ष्म अन्तर को डॉ० सहल ने सबसे पहले समझा है और भाषा-शास्त्र के अध्येताओं को समझाया है।

'भाषा के भेदक तत्त्व' शीर्षक लेख में डॉ० सहल ने स्पष्ट कर दिया है कि भाषानिर्णायक तत्त्व शब्द नहीं, अपितु शब्द की पदमयी स्वरूपावस्था है, जिसमें विभक्ति प्रत्यय, परसर्ग और क्रियारूप प्रमुख हैं। "मैंने पुलिस में जाकर रिपोर्ट लिखवाई" वाक्य में यद्यपि 'पुलिस' और 'रिपोर्ट' अंगरेजी के शब्द हैं, फिर भी यह उक्त वाक्य हिन्दी भाषा का ही माना जाएगा; क्योंकि इसमें 'ने', 'में' 'जाकर', 'लिखवाई' हिन्दी के ही परसर्ग और क्रियापद हैं। डेनमार्क के प्रसिद्ध भाषाविद् श्री रास्क महोदय ने भी भाषा-निर्णय के लिए उक्त तत्त्वों की ही ओर संकेत किया है।

आज संस्कृत और हिन्दी में सैकड़ों शब्द हैं जिनका आगमन ग्रीक, लैटिन, अंगरेजी, पुर्तगाली, तुर्की, अरबी, फारसी आदि भाषाओं से हुआ है। हिन्दी के विदेशी शब्दों का अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि कहाँ-कहाँ से शब्द-राशि गृहीत करके हिन्दी ने अपने को सम्पन्न बनाया है। हिन्दी की इस उदारमना प्रवृत्ति ने ही हिन्दी को समृद्ध किया है और आगे भी इसी तरह यह उत्तरोत्तर समृद्धतर से समृद्धतम बनती रहेगी।

डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मतानुसार कहा जा सकता है कि संस्कृत भाषा के ज्योतिष शास्त्र में 'होड़ा' और 'केन्द्र' शब्द यूनानी (ग्रीक) भाषा से गृहीत हैं। हिन्दी में प्रयुक्त 'सुरंग' शब्द कुछ रूप-रंग बदल कर यूनान से ही आया था। यूनानी में यह 'सिरिंक्स' बोला जाता है।

वैदिक भाषा, संस्कृत, अवेस्ता, फारसी, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं में बहुत-से शब्द ऐसे हैं जिनमें थोड़े-से ही ध्वनि-परिवर्तन पाये जाते हैं। उनपर दृष्टि डालने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि उक्त सब भाषाओं की जन्मदात्री भाषा कोई एक भाषा ही होगी। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ शब्द प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

संस्कृत		अवेस्ता		फारसी		ग्रीक		लैटिन
अस्ति	—	अस्ति	—	अस्त	—	एस्ति	—	एस्त्
मातर्	—	मातर	—	मादर	—	मेतरे	—	मातेर
पितर्	—	पितर	—	पिदर	—	पतरे	—	पतेर

वैदिक भाषा में 'नमः सोमाय' अवेस्ता में 'नेमो हओमाइ' बोला जाता है। इससे इन दोनों भाषाओं के सम्बन्ध-सूत्र का पता सुगमता से लग जाता है।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने 'हिन्दी भाषा का इतिहास' नामक ग्रंथ में हिन्दी में प्रचलित विदेशी शब्दों की एक लम्बी सूची दी है। उसके आधार पर कहा जा सकता

है कि **कैंची, चाकू, कुली, गलीचा** और **मशालची** शब्द हिन्दी में तुर्की से आये हैं। **अलमारी, अचार, पीपा, फीता** और **संतरा** आदि शब्द पुर्तगाली भाषा से आये हैं। **कार्तूस** और **कूपन** फ्रांसीसी भाषा से और **तुरुप** तथा **बम** (गाड़ी का) डच भाषा से आये हैं।

दीन, दुनिया, कत्ल आदि अरबी शब्द फारसी के माध्यम से हिन्दी में गृहीत हुए हैं। **ज़मीन, मर्द, परिन्दा** आदि फारसी भाषा से आये हुए हैं। **कलक्टर, इन्सपेक्टर, इंच, कोट, पैंट, प्रिंसिपल, हैडमास्टर** आदि सैकड़ों शब्द अंगरेज़ी से हिन्दी ने लिये हैं।

इसी प्रकार के अनेक शब्दों की ध्वनियों पर विचार करते हुए, डॉ० सहल ने यूरोपीय भाषाओं और भारत की आर्य भाषाओं का अभिन्न सम्बन्ध सिद्ध किया है। भारोपीय परिवार की भाषाओं की प्रकृति एवं विशेषताओं का उल्लेख करते हुए डॉ० सहल ने अपश्रुति अर्थात् अब्लाउत के तीन रूपों—वीक, स्ट्रांग और लेंग्थिन्ड—को स्पष्ट किया है और लिखा है कि इन्हें ही संस्कृत में गुण, वृद्धि और संप्रसारण नाम से व्यक्त किया जाता है।

किसी शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ हमारे सारस्वत ज्ञान का तीसरा नेत्र खोल देता है। जब हमें यह पता चलता है कि हिन्दी का **'दराँत'** शब्द वैदिक काल में जन्मा था और इसकी जन्मकुंडली ऋग्वेद के पन्नों पर लिखी गयी थी, तब हमारे मन में एक विचित्र प्रकार का हर्ष, उल्लास और श्रद्धा जगती है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है—"हस्ते **दात्रं** च नाददे।" अर्थात् हे अग्निदेव! मैं आपका नाम लेकर इस दराँत को अपने हाथ में लेता हूँ। यास्क ने 'निरुक्त' के नैगमकाण्ड में लिखा है कि पूरब के लोग जिसे **'दाति'** कहते हैं, उसे ही उत्तर के **'दात्र'** कहते हैं—"दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु।" (निरुक्त)। ऋग्वेद काल का **'दात्र'** शब्द ही हिन्दी में **'दराँत'** होकर आ गया है।

हिन्दी में **'गूल'** उस नाली को कहते हैं जिसके माध्यम से बम्बे, नहर आदि का पानी खेतों में पहुँचाया जाता है। यह **'गूल'** शब्द वैदिक कालीन **'कुल्या'** शब्द का विकसित रूप है। यास्क ने अपने 'निघंटु' में नदी के पर्यायवाची नामों में एक नाम **'कुल्या'** भी दिया है। कालान्तर में **'कुल्या'** के अर्थ में हेठा भाव आ गया और ध्वनि-परिवर्तन भी हुआ। अतः **'कुल्या'** से ही **'गूल'** शब्द का विकास हुआ है। ऐसे हज़ारों शब्द हिन्दी में मिलेंगे, जिनका मूल वैदिक भाषा और संस्कृत भाषा में है। हिन्दी के ऐसे शब्द 'तद्भव' कहाते हैं। राजस्थानी भाषा के ऐसे चौरासी शब्दों की व्युत्पत्तियों पर डॉ० सहल ने अपनी पुस्तक 'विमर्श और व्युत्पत्ति' में विचार किया है। व्युत्पत्तिशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र में डॉ० सहल की यह महत्त्वपूर्ण देन मानी जाएगी।

'दोहा' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुए डॉ० सहल ने लिखा है कि इसकी वैज्ञानिक व्युत्पत्ति सं० द्विपथक से ज्ञात होती है। सं० द्विपथक > दुवग्रह > दुवहग्र > दोहा। 'दुवहग्र' रूप 'वृत्तजातिसमुच्चय' और 'स्वयंभू छंद' आदि ग्रंथों में मिलता भी है। 'दोहा' शब्द की यह व्युत्पत्ति संगत और शास्त्रीय प्रतीत होती है।

राजस्थानी में 'नहीं' (निषेधात्मक अव्यय) के अर्थ में 'कोनी' शब्द प्रचलित है। 'विमर्श और व्युत्पत्ति' नामक पुस्तक में डॉ० सहल ने इस शब्द की निरुक्ति पर ध्वनि-परिवर्तन के नियमों के आधार पर सुसंगत एवं शास्त्रपरक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि 'कोनी' शब्द की निरुक्ति निम्नांकित ढंग से की जा सकती है—

सं० कोऽपि न > कोवि न > कोइ न > कोनइ > कोनी।

ऐसे अनेक शब्द हैं जिनकी शास्त्रीय एवं प्रामाणिक व्युत्पत्तियों पर विद्वान् लेखक ने विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। इस क्षेत्र में उनका अध्ययन विस्तृत और गहन भी रहा है। व्युत्पत्तिशास्त्र के क्षितिज को विस्तार देने में डॉ० सहल की ये उपलब्धियाँ निस्संदेह प्रशंसनीय एवं स्मरणीय रहेंगी।

●●●

आपकी 'राजस्थानी कहावतें: एक अध्ययन' देखकर मैं विशेष प्रमुदित हुआ हूँ।.......ठीक इसी प्रकार की पुस्तक बुंदेली कहावतों के सम्बन्ध में लिखना चाहता था। पर मैं सोचता ही रह गया। आप बाजी मार ले गये। आप से मुझे ईर्ष्या है।

गरौठा, १२-११-६६

—कृष्णानन्द गुप्त

डॉ० कन्हैयालाल सहल :

व्यक्तित्व

और

कृतित्व



समीक्षा खण्ड

समालोचक सहलजी

• डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

साहित्य-समालोचना को मैं समीक्षक की नैसर्गिक सृजन-प्रेरणा का परिणाम मानता हूं। कविता, नाटक, उपन्यास आदि मौलिक कृति-साहित्य के सृजन में जिस प्रकार का आत्माभिव्यंजन-सुख रचनाकार को प्राप्त होता है, लगभग वैसा ही सुख समीक्षक को भी निस्संग एवं नीरक्षीरविवेक-सम्मत समीक्षा लिखने पर मिलता है। मेरे इस कथन को कृतिकार शायद स्वीकार न करें किन्तु इसका प्रमाण तो समीक्षक का अन्तःकरण ही हो सकता है। किसी ग्रंथ, सिद्धांत या वाद की विवेचनात्मक समीक्षा लिखते समय समीक्षक केवल खरे-खोटे की जाँच-पड़ताल में ही लीन नहीं रहता वरन् वह उन तथ्यों के अन्तराल में पैठकर विचार-सूत्रों की ऊहापोह से निष्कर्षों एवं मन्तव्यों की सृष्टि भी करता है। मन्तव्य और निष्कर्ष के माध्यम से उसे आत्माभिव्यंजन का पूर्ण अवसर मिलता है और यही आलोचक का सृजन-सुख है।

प्रायः ऐसा देखा गया है कि श्रेष्ठ आलोचक भी प्रारम्भ में ललित कृति-साहित्य की पगडंडी से ही साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि किसी भी रुचिकर विधा को वे प्रारम्भ में स्वीकार करते रहे हैं और धीरे-धीरे उसी गली से वे आलोचना के प्रशस्त राजमार्ग पर आये हैं। डॉ० कन्हैयालाल सहल के कृतित्व में यद्यपि आलोचना का ही प्राधान्य है किन्तु हम उन्हें ललित साहित्य से दूर नहीं पाते। कविता के क्षेत्र में तो उनके 'प्रयोग' प्रकाशित भी हुए हैं, किन्तु उनकी समीक्षाएं अपने अन्तर में कृतित्व के अनेक मनोरम संदर्भ छिपाये हुए हैं, जिन्हें पढ़कर, लगता है कि यह समीक्षक कहीं न कहीं मौलिक रचनाकार भी है। मौलिक रचनाकार जिस प्रकार इतिहास, पुराण, कल्पना और चिन्तन से किसी साहित्यिक कृति को रूप-सज्जा प्रदान करता है, समर्थ समीक्षक भी उसी प्रकार आलोच्य कृतियों, सिद्धांतों और वादों के आलोड़न द्वारा नवनीत तैयार कर

पाठक को अर्पित करता है। यह समस्त प्रक्रिया वस्तुनिष्ठता के मध्य होकर आत्मनिष्ठ निष्कर्षों की ओर ले जाने वाली है। डॉ० सहल जी की आलोचनाओं में हम स्पष्ट देखते हैं कि किसी ग्रंथ-विशेष या सिद्धांत को मेरुदंड बनाकर उसका विश्लेषण-विवेचन करते समय वे अपने आत्मचिन्तन को सतत जाग्रत रखते हैं और उन्हीं जाग्रत विवेक-प्रसूत निष्कर्षों का नवनीत पाठक को देते हैं।

आलोचना की सही कसौटी और आलोचक के सर्वमान्य गुणों का निरूपण भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-समीक्षा में प्रभूत मात्रा में हुआ है। प्रायः दोनों देशों के विद्वान् आलोचक के ऊपर अनेक दायित्वों का बोझ डाल कर उसे एक ऐसी सीमा-परिधि में बांध रखना चाहते हैं कि वह तटस्थ और निष्पक्ष मूल्यांकन के बाहर एक कदम भी न जाय। किन्तु सर्जक-आलोचक ने कभी इस कठोर सीमा-मर्यादा का पालन नहीं किया। यह ठीक है कि आलोचक कृति और कृतिकार को समझने में पाठक की सहायता करता है, आलोच्य कृति या सिद्धांत को विशिष्ट संदर्भों में स्पष्ट करता है अर्थात् रचनाकार को निर्माण की दिशा का संकेत करना भी आलोचक का कर्तव्य-कर्म है। किन्तु इन दायित्वों से भी बढ़कर मैं आलोचना को रचना की पूरक कृति मानता हूँ—अर्थात् रचनाकार, कृति और सहृदय पाठक के त्रिभुज को जोड़कर उनमें एक भावात्मक सम्बन्ध स्थापित कराने में आलोचना बड़ा योग देती है। डॉ० सहल की प्रायः सभी समीक्षात्मक रचनाएं इस गुण का श्रेष्ठ निदर्शन हैं। 'साकेत' और 'कामायनी' के अध्येता भली भांति जानते हैं कि सहल जी की इन काव्यकृतियों के विशिष्ट संदर्भों पर लिखी गई लघु आलोचनाओं ने किस प्रकार इस त्रिभुज के निर्माण में योग दिया है। इन काव्य-कृतियों के रसास्वादन में पाठक को सही दिशा-बोध का योग देने वालों में डॉ० सहल अन्यतम हैं।

डॉ० सहल ने आज से लगभग तीस-पैंतीस वर्ष पहले आलोचना के क्षेत्र में पदार्पण किया था। हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में वह शुक्लोत्तर समीक्षा-युग माना जाता है। उस युग में बाबू गुलाबराय, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० सत्येन्द्र आदि मुख्यतः व्यावहारिक तथा गौणतः सैद्धांतिक समीक्षाएं लिख रहे थे। डॉ० सहल ने बिना किसी धूमधाम या समारोह के मौन साधक के रूप में सरस्वती के मन्दिर में प्रवेश किया और अपना पूजा-अर्घ्य सारस्वत अनुष्ठान के निमित्त चढ़ाया। जिन पुष्पों को उन्होंने अपना नैवेद्य बनाया था, उनमें एक ऐसी मोहक भीनी सुरभि थी, जो सारस्वत प्रदेश में धीरे-धीरे व्याप्त हुई और मौन साधक कन्हैयालाल सहल को विद्वन्मंडली पहचानने लगी। मुझे भली भांति स्मरण है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व जिन मनीषी समीक्षकों की हिन्दी में मौलिक चिन्तक के रूप में गणना होती थी, डॉ० सहल भी उनमें अन्यतम थे।

जैसा कि मैंने पहले संकेत किया कि आलोचक के लिए जो आचार-संहिता साहित्य-शास्त्र में तैयार की गई है, उसे पढ़कर शायद ही कोई आलोचक आलोचना लिखता हो। प्रत्येक आलोचक स्व-रुचि और स्व-विवेक से अपनी संहिता स्वयं निर्मित कर और उसकी परिधि में रहकर लेखन-व्यापार करता है। यों शास्त्रीय स्तर पर तो आलोचक का कर्म अत्यन्त कठोर माना गया है। उसका पहला दायित्व यही है कि वह कलाकार की रचना-प्रक्रिया तथा रचना-उद्देश्य के मूल बीज का संधान करे। उसे झूठे अर्थवादों से बचकर चलना होता है, प्रशंसापरक प्रचार से भी दूर रहना होता है। किसी परम्पराभुक्त जड़ शास्त्रवाद का पल्ला पकड़े रहना भी उसके लिए अनुचित है और शास्त्र-मर्यादा को सर्वथा ठुकरा देना भी उसके हित में नहीं है। डॉ० सहल की व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक दोनों प्रकार की समीक्षाओं में हम इन अनुबंधों का अक्षरशः पालन देखते हैं। डॉ० सहल शास्त्रवेत्ता पंडित हैं, परम्पराओं का उन्हें पूर्ण ज्ञान है, किन्तु आश्चर्य यह है कि शास्त्र की जड़ता ने उन्हें कहीं रंच मात्र भी जकड़ा नहीं है। उनकी नई-पुरानी सभी समीक्षाओं में युक्ति, तर्क, प्रमाण का परिपोष है। उनका मन स्वयं प्रश्न-संकुल रहा है और उत्थित प्रश्नों के आलोक में उन्होंने समाधान खोजने का प्रयास किया है। मैंने उनकी सैद्धांतिक (साहित्य-सिद्धांत, वाद, मत-विवेचन) समीक्षाओं में कहीं भी उस पुकार को नहीं सुना जो भरत मुनि से पंडितराज जगन्नाथ तक और अरस्तू से इलियट तक लगाई जाती है। प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों के मत उनकी समीक्षाओं में सहज रूप से गृहीत अवश्य हुए हैं किन्तु केवल वैदुष्य-प्रदर्शन की स्पृहा के कारण उनको उद्धृत नहीं किया गया है। संस्कृत तथा अंग्रेजी के विद्वान् होने के कारण इन दोनों भाषाओं के जो उद्धरण इनकी समीक्षा में अनायास आ जाते हैं, उनका भार उठाने की सामर्थ्य सहल जी में है; इसलिए वे समस्त उद्धरण सहज और शोभन प्रतीत होते हैं।

वस्तुतः आलोचक को स्वमन्तव्य-स्थापन के समय अतिरिक्त जागरूकता इसलिए भी अपेक्षित होती है कि उसके मन्तव्यों से कभी-कभी भ्रान्ति को भी जन्म मिलने की संभावना हो जाती है। छायावाद के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा से प्रारम्भ में हिन्दी-साहित्य-जगत् में कुछ भ्रम अवश्य उत्पन्न हुआ था। मेरा अपना विचार है कि शुक्ल जी उस लेखन-काल में अपेक्षित जागरूकता से वंचित रहे होंगे। यदि वे अध्ययन-अनुशीलन के साथ छायावादी काव्य के अन्तरंग में सहृदयतापूर्वक पैठने का प्रयत्न करते तो इस प्रकार की अधूरी समीक्षा वे न लिखते। छायावादी काव्य का पुनर्मूल्यांकन करने वाले सभी समीक्षकों ने इस त्रुटि का परिहार किया है। डॉ० सहल ने भी छायावादी काव्य तथा काव्य-सिद्धांत पर पर्याप्त आलोचनाएं लिखी हैं किन्तु उनके लेखन में न तो सहृदयता का अभाव है और न अतिरिक्त भावावेश या उच्छ्वास ही है। सन्तुलन, जो समीक्षा का मेरुदंड

है, सहलजी के आलोचनात्मक लेखों का प्राण है। कहीं-कहीं तो फूँक-फूँक कर कदम रखने की सतर्कता उनमें लक्षित होती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यथार्थ समीक्षा के लिए आलोचक को कृति के उन गुह्य स्तरों में भी झांकना होता है जहां सत्य के आवरण में असत्य, शिव के बाने में अशिव और सुन्दर की भूमिका में असुन्दर छिपा बैठा है। यह प्रक्रिया छिद्रान्वेषणपरक न होकर तत्वाभिनिवेश की सात्विक वृत्ति के साथ होनी चाहिए। डॉ० सहल ने अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में सर्वत्र तत्वाभिनिवेश को ही ध्यान में रखा है, एक भी स्थल ऐसा नहीं मिलेगा जहां छिद्रान्वेषण द्वारा किसी लेखक के सिद्धांत पर प्रहार किया गया हो। कौनसी ऐसी रचना या मतवाद है जिसमें त्रुटि या दोष नहीं है? किन्तु त्रुटियों के उजागर करने की साधु शैली भी है, जिसके अपनाने पर त्रुटि तो विदित हो जाती है किन्तु समीक्षक की उदार दृष्टि पर आँच नहीं आती। 'विमर्श और व्युत्पत्ति' निबंध-संकलन में 'कला कला के लिए' शीर्षक निबंध में कलावादी समीक्षकों और लेखकों की त्रुटि का संकेत करने पर भी सहल जी ने एक भी कटु-कठोर शब्द नहीं लिखा है। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने निष्कर्ष में यही दुहराया है कि—कला कला के सिद्धान्त को उचित रूप में समझने का प्रयत्न करना चाहिए। यह सत्य है कि इस सिद्धांत को समझने में अनेक भ्रान्तियां हुई हैं तथा इसका दुरुपयोग भी बहुत हुआ है। डॉ० सहल की दृष्टि में समन्वय-भावना का प्राधान्य रहता है। अतः खंडनात्मक कठोर शैली वे कभी नहीं स्वीकार करते।

डॉ० कन्हैयालाल सहल के आलोचनात्मक लेखों में एक वैशिष्ट्य यह लक्षित होता है कि वे प्राचीन साहित्य की मान्यताओं को पाठक के स्मृति-पटल पर उभारते चलते हैं। उनका आग्रह यह नहीं होता कि पाठक उनकी बात को ज्यों की त्यों मान ही ले, किन्तु आगम, निगम, गीता, स्मृति, पुराण आदि के उद्धरणों द्वारा भारतीय तत्व-दृष्टि को उद्दीप्त करना उनका लक्ष्य अवश्य होता है। पाश्चात्य देशों के वैज्ञानिक आविष्कारों के आलोक में पदार्थ को देखने-समझने की दृष्टि आज हमारे पास है, किन्तु अध्यात्म-दर्शन के लिए आज का पाठक भौतिक विज्ञान से क्या जुटा सकेगा? फलतः जो बाह्येन्द्रियों से गोचर नहीं है, उसकी भी प्रतीति तो अपेक्षित है, अतः गोचरता-इतर को अन्तःकरण से बोधगम्य बनाने की प्रक्रिया उनके अनेक लेखों में दृष्टिगत होती है। अपने एक लेख में 'सत् और असत् का विवेक' करते हुए उन्होंने गीता, ब्राह्मण, ऋग्वेद, रामायण आदि को उदाहृत किया है। उनकी दृष्टि मूलतः तात्विक है, इसलिए प्राचीन शास्त्रों के उद्धरणों की ओर गई है। किन्तु देखना यह है कि सत् और असत् का यह विवेचन पाठक को कौन-सी दृष्टि प्रदान करता है। सत् के साथ युक्त होने से व्यक्ति के अच्छे संस्कार बन जाते हैं और असत्-

चिन्तन से दुष्ट प्रवृत्तियां उसे अभिभूत कर लेती हैं। यह साधारण-सा निष्कर्ष रावण के चरित्र से स्पष्ट किया गया है और प्रमाण में वाल्मीकि रामायण के सुन्दर कांड का श्लोक उद्धृत किया गया है। इस विवेक का फलितार्थ वही है जिसकी ओर मैंने ऊपर की पंक्तियों में संकेत किया है, अर्थात् प्राचीन शास्त्र का, ग्रंथ का प्रमाण प्रस्तुत करके भी पांडित्य की छाप न डालना और विषय को स्पष्ट करना।

प्राचीन तथा नवीन काव्यकृतियों पर सहल जी की समीक्षाएं सन्तुलन एवं समन्वय का आदर्श प्रस्तुत करने वाली हैं। मुख्यतः राजस्थानी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में सहल जी ने समीक्षात्मक दृष्टि से जो कार्य किया है, वह अनेक पहलुओं से उपयोगी बन गया है। राजस्थानी काव्यकृतियों का मूल्यांकन करने के लिए नवीन दृष्टि तथा नवीन भावबोध की जो सम्पदा डॉ० सहल के पास है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। लोक-कथा तथा राजस्थानी कहावतों पर तो सहलजी का कार्य बेजोड़ है। लोक-कथाओं की प्ररूढ़ियों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने जो रोचक कथा-संदर्भ अपनी पुस्तक में जुटाये हैं, वे अनुसंधान के निदर्शन हैं। अनुसंधान की व्यापक दृष्टि का उन्मेष उनके शोध-प्रबंध में तो लक्षित होता ही है, उनके समीक्षापरक लेखों में भी यह शोध-दृष्टि सर्वत्र व्याप्त रहती है। उनका नवीन निबंध-संकलन 'अनुसंधान और आलोचना' मेरे इस कथन का प्रमाण है। इस संकलन को लेखक ने दो खंडों में विभाजित किया है। प्रथम खंड में २३ छोटे लेख हैं जो मुख्यतः राजस्थानी साहित्य से सम्बन्ध रखते हैं। प्रारम्भ के पांच लेख मेरे इस कथन के अपवाद हैं। प्रथम लेख 'सांख्य दर्शन का आख्यायिकाध्याय' है, जिसमें विद्वान् लेखक ने सांख्य-दर्शन के आख्यायिका-सूत्रों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। सांख्य-दर्शन के ये कथात्मक सूत्र संस्कृत-साहित्य में कतिपय न्यायों के रूप में ग्रहण किए जा चुके हैं किन्तु हिन्दी जगत् में इतने विस्तार से इन्हें पल्लवित रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय डॉ० सहल को है। कथाओं के मूल अभिप्राय में सन्निविष्ट 'अद्भुत तत्व' पर भी सारगर्भित लेख लिख कर डॉ० सहल ने अपनी अनुशीलन-वृत्ति का अच्छा परिचय दिया है। इस ग्रंथ के दूसरे खंड के निबंधों में नये-पुराने सभी प्रकार के विषयों का सकलन है, इसीलिए लेखों के स्तर में भी पर्याप्त भेद लक्षित होता है। कुछ लेख केवल टिप्पणी-सदृश संक्षिप्त हैं और विचार-कण को लिपिबद्ध करने के उद्देश्य से लिखे गये हैं।

डॉ० सहल ने पिछले तीस-पैंतीस वर्षों में विपुल साहित्य-सृजन किया है। समीक्षात्मक लेखों के अतिरिक्त शोध और तत्व-दृष्टि उनका प्रिय क्षेत्र रहा है। प्राचीन तथा नवीन दोनों प्रकार के साहित्य में उनकी गहरी पैठ है। वे विद्या-व्यसनी अध्येता हैं। जीविका या वृत्ति से अध्यापक होने के कारण ही वे अध्ययन करते

हैं—ऐसा नहीं है। वे स्वाध्यायी वृत्ति के मनीषी व्यक्ति हैं। हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी आदि भाषाओं पर समान अधिकार होने के कारण उनका अध्ययन-क्षेत्र विस्तृत है। अद्यतनतम साहित्य से सम्पर्क बनाये रखने के कारण उनके लेखन में नवीन तत्व-चिन्तन की झलक सर्वत्र विद्यमान रहती है। आधुनिक बोध का दम्भ न करने पर भी वे आधुनिक और समसामयिक से जीवन्त सम्पर्क बनाये हुए हैं। प्राचीन साहित्य का अध्ययन वे काव्यशास्त्र-विनोद मात्र के लिए नहीं, परम्परा-बोध के लिए भी करते हैं। वेदान्त, योग, सांख्य आदि दार्शनिक मतवादों पर वे अपने विचार लेखों द्वारा व्यक्त करते रहते हैं। पाश्चात्य चिन्तन-सरणि को वे अपने साथ रखते हैं ताकि अतीत के साथ आज को जोड़ सकें। यह विशिष्टता नवीन समीक्षकों के पास नहीं है।

डॉ० सहल हिन्दी के सफल समीक्षकों में हैं। शताधिक लेख लिखकर उन्होंने अपना जो स्थान हिन्दी समीक्षा-जगत् में बनाया है, वह किसी दलबन्दी के साथ जुड़ा नहीं है। स्वतंत्र चिन्तक गठजोड़ा किये बिना भी, विचार के जगत् में अपना स्थान बना सकता है, इसका ज्वलन्त प्रमाण है डॉ० सहल। अपने नाम के अनुरूप अपनी अभिव्यंजना को भी उन्होंने प्रांजल, परिमार्जित तथा सरल ही रखा है। अभिव्यक्ति की स्पष्टता, विचार और चिन्तन की स्पष्टता का ही प्रतिरूप है। यों अध्यापक की अभिव्यंजना में स्वच्छता, स्पष्टता तथा प्रांजलता का होना अनिवार्य है। डॉ० सहल के लेखन में ये सभी गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। हिन्दी-निबंध-साहित्य में समीक्षक के रूप में डॉ० सहल का स्थान उल्लेख्य बन गया है।

•••

'राजस्थानी कहावतें—'एक अध्ययन' डॉ० कन्हैयालाल सहल की एक श्रेष्ठ कृति है। यों कहने को यह ग्रंथ राजस्थानी कहावतों पर अध्ययन है, किन्तु एक तो यह अध्ययन हिन्दी में लिखा गया है, दूसरे इसे समझने वालों में यह ग्रंथ भौगोलिक सीमा अवश्य लांघ जाएगा।·········यह ग्रंथ दिमागी ऐयाशी नहीं है, भाषा की सच्ची सेवा है।·········

'राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन' का मैं नम्र पाठक होना चाहता हूँ। ऐसी पुस्तकें अध्ययन को ही नहीं, जीवन को भी बल देती हैं—व्यक्ति के जीवन को भी और समष्टि के जीवन और जीवन-दर्शन को भी।

—स्व० माखनलाल चतुर्वेदी

कृतित्व : एक समन्वित व्यक्तित्व का

• कलानाथ शास्त्री

राजस्थान में तीन-चार शताब्दियों से संस्कृत-वैदुष्य की परंपरा इस प्रकार अक्षुण्ण रही है कि इस कालावधि में अखिल भारतीय क्षितिज पर जिन विद्वानों ने अपना नाम रोशन किया है, उनमें राजस्थान के संस्कृत विद्वानों का अनुपात संतोष-जनक पाया जाएगा। पिछले दिनों एक विचारगोष्ठी में यह औपचारिक चर्चा चल पड़ी थी कि आधुनिक हिन्दी के उत्थान में जितना योगदान उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश का रहा, उतना अन्य हिन्दी-भाषी राज्यों का नहीं, और आज भी हिन्दी के कृती साहित्यकार इन्हीं दो क्षेत्रों में अधिक हैं ; अन्य राज्यों ने हिन्दी-भाषी होते हुए भी किसी वरिष्ठ प्रतिभा को जन्म नहीं दिया। इस उक्ति की सचाई परखने की न तो आवश्यकता है, न इस दृष्टि से वांछनीय ही है क्योंकि उत्तर प्रदेश या मध्य प्रदेश की जनसंख्या, उसका सांस्कृतिक इतिहास और राजस्थान की स्थितियां विभिन्न हैं और इनके साहित्यकारों की जनगणना से या क्षेत्रीय स्पर्धा से कुछ बनता-बिगड़ता भी नहीं। वैसे हम तो यह मानते ही हैं कि "राजस्थानी" हिन्दी की नानी है क्योंकि संस्कृत से अपभ्रंश और फिर राजस्थानी, गुजराती आदि भाषाएं निकलीं, उनसे 'पुरानी हिन्दी' और फिर 'खड़ी बोली'। इस प्रकार की स्थापना राजस्थान के ही एक वरिष्ठ एवं हिन्दी जगत् के ख्यातनामा विद्वान् पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने की थी। लेरी जी जैसे इने-गिने ही विद्वान् राजस्थान ने पैदा किये हैं जिन्होंने हिन्दी क्षेत्र में अपना मूर्धन्य स्थान बनाया। इस तथ्य को ईमानदारी के साथ हमें मान लेना चाहिए, यह बात अवश्य समझ में आती है।

राजस्थान की साहित्यिक प्रतिभाओं में से कुछ का विशेष ध्यान संस्कृत, राजस्थानी आदि की ओर रहा, कुछ राजनैतिक स्थितियाँ इस प्रकार की रहीं कि यहां की सर्जक प्रतिभाओं को राष्ट्रीय मूल्यांकन नहीं मिल पाया, या कुछ अन्य

कारण भी इसके रहे हों किन्तु उपर्युक्त कथन में विचारणीय सत्यांश अवश्य है। हिन्दी-साहित्य के मध्यकालीन इतिहास में राजस्थान के या तो संत कवियों का नाम स्पष्टरूप से चमकता है। (जैसे मीरा, दादू दयाल, चरणदास, सहजो बाई) या चारणों आदि का जैसे चन्दवरदायी, सूर्यमल्ल मिश्रण, श्यामलदास आदि। वैसे सूदन, बिहारी, पद्माकर, टैसीटोरी और ग्रियर्सन को भी हम राजस्थानी मान सकते हैं किन्तु आधुनिक काल में गुलेरीजी (जो पहाड़ी होते हुए भी राजस्थानी माने जाएँगे) जैसे दो-चार साहित्यकारों का ही नाम साहित्य के इतिहास में स्थान ले पाया है, नई पीढ़ी में चाहे डॉ० रांगेय राघव से लेकर यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र तक का नाम गिना दिया जाए।

कर्मठ साहित्यकार :

इन सबके कारण भी स्पष्ट हैं। इन दिनों, बहुत कम ही ऐसे भाग्यशाली व्यक्ति थे जो अनेक संकटों और असुविधाओं के बावजूद काया को कष्ट देकर गहन अध्ययन कर पाए, उनमें से भी कुछ ही हिन्दी क्षेत्रों में आना चाहते थे, उनमें भी विरले ही ऐसे हो सकते थे जिनमें लेखन का चाव हो, फिर उनमें से भी बहुत कम को ऐसे सुयोग मिलते थे कि उनका पढ़ा-लिखा प्रकाश में आये। जब यह सब कुछ हो तो फिर कृतियों के मूल्यांकन का अवसर मिले, और तब जाकर कहीं अन्तः प्रान्तीय क्षितिज तक साहित्यकार की मान्यता पहुँचे। यह उल्लेखनीय बात है कि इस परिस्थिति की पृष्ठभूमि में डॉ० कन्हैयालाल सहल एक इस प्रकार के साहित्यकार हैं, जो मूलतः और शुद्धतः राजस्थानी हैं, जिन्हें अध्ययन का व्यापक क्षेत्र मिला है, लेखन के बहुमुखी सूत्र मिले हैं और इन सबसे बढ़कर प्रकाशन के देशव्यापी साधन भी प्राप्त हुए हैं। इन सबके कारण ही ये हिन्दी-जगत् में अपना प्रमुख स्थान बनाकर राजस्थान को गौरवान्वित कर रहे हैं। इनकी कृतियों के प्रकाशकों का क्षेत्र, विस्तार तथा व्यापक वैविध्य भी एक उल्लेखनीय वस्तु है। राजस्थान के रमेश बुक डिपो, राजस्थान पुस्तक मन्दिर, 'वानर प्रकाशन' चिन्मय प्रकाशन आदि से लेकर राम-प्रसाद एण्ड सन्स आगरा, एस० चांद एण्ड कम्पनी, आत्माराम एण्ड सन्स, साहनी प्रकाशन (दिल्ली) किताब महल इलाहबाद, साहित्य-सदन चिरगांव, झांसी आदि हिन्दी भाषी क्षेत्रों में ही नहीं, बंगाल हिन्दी मंडल 'कलकत्ता' तक के विभिन्न क्षेत्रीय प्रकाशकों के यहां से ये छपे हैं। बहुत से लेखकों की दृष्टि में तो प्रकाशकों की मात्रा और संख्या भी लेखक की प्रतिष्ठा और मूल्य का एक बड़ा मानदण्ड होती है। इन प्रकाशन-संस्थानों से इनके ३० से अधिक प्रकाशित ग्रन्थ प्राप्य हैं और बहुचर्चित हैं। यह वस्तुतः देखने की बात है कि राजस्थान के कितने लेखकों को इस प्रकार प्रकाशन का व्यापक क्षेत्र-सत्कार मिल पाया है? और कितनों ने राजस्थानी लोक-कथाओं

और कहावतों—जैसे विषयों से लेकर भाषा-विज्ञान, काव्यशास्त्र, साहित्यालोचन, संस्कृत-अंग्रेजी-साहित्य-समीक्षा आदि विविध क्षेत्रों की रचनाओं के साथ कविताएँ और निबन्ध भी लिखे हैं, तथा पत्रिकाओं का संपादन भी किया है ?

कृतित्व का यह वैविध्य ही डॉ० सहल के व्यक्तित्व की एक विशेषता है जो मुझे सर्वाधिक उल्लेखयोग्य लगती है। इनके व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है विविध पक्षों का समानुपाती समन्वय। डॉ० सहल का कृतित्व एक अध्यापक, एक आलोचक, एक अन्वेषक, एक निबन्धकार, एक कवि और एक संपादक के व्यक्तित्वों का संगम है।

वैसे बहुत से विद्वानों में, कमोबेश, इनमें से कुछ पहलू पाये जा सकते हैं, पर उनका इस प्रकार का समन्वय अधिक संख्या में नहीं मिल सकेगा। इनके अध्ययन के क्षितिज भी वैविध्यपूर्ण रहे हैं। संस्कृत और हिन्दी, दोनों इनके अध्ययन के प्रमुख विषय रहे हैं। दोनों में इन्होंने स्नातकोत्तर उपाधि भी प्राप्त की, और उसके बाद अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया। इसका परिणाम जो हो सकता था, वही हुआ—इन तीनों साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन करने की दिशा में प्रवृत्ति।

अध्येता के इस व्यक्तित्व के बाद ही अध्यापक का कार्य भी आता है। लगभग ३० वर्ष तक अध्यापन का अनवरत कार्य इन्होंने कॉलेजों में किया। सन् १९४९ से स्नातकोत्तर कक्षाएँ पढ़ाते रहे और १९५५ से शोधकार्य का मार्गदर्शन करते रहे हैं। अन्वेषक के रूप में मुख्यतः राजस्थानी कहावतों व लोक-कथाओं पर कार्य किया और अन्य विविध विषयों पर भी शोधात्मक आलेख लिखे। अन्वेषक के इस कार्य में अध्यापक के व्यक्तित्व का और इन दोनों में लेखक और कवि के व्यक्तित्व का योगदान है और इन सबका समन्वय उनके संपादक-स्वरूप में हुआ है। डॉ० सहल के कृतित्व में उनके विभिन्न व्यक्तित्व-पक्षों का समन्वय स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। यह संगमधर्मी कृतित्व 'राजस्थान की हिन्दी जगत् को देन' का मूल्यांकन करते समय इतिहासकार के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय सिद्ध होगा।

मूल्यांकन का महत्त्व :

राजस्थान में हिन्दी-साहित्य के विकास का इतिहास चाहे कभी भी लिखा लिया जाए, किन्तु उसके लिए सामग्री संगठित करने हेतु, इस प्रकार के विद्वानों के कृतित्व का मूल्यांकन मुझे बहुत आवश्यक जान पड़ता है, जिनकी कलम साहित्य के विविध पक्षों पर चली है, बड़ी मात्रा में चली है, वह सब कुछ पर्याप्त मात्रा में छपा भी है और उसमें से अधिकांश स्थायी महत्त्व का है। खेद

की बात है कि ऐसे विद्वान् व्यक्तिगत मूल्यांकन और प्रचार के प्रति उदासीन[1] रहते हैं और फिर अन्य विद्वानों को इस प्रकार के कार्य के लिए फुर्सत ही कहां रहती है ? सत्ताधारियों के मूल्यांकन में ही पर्याप्त समय बीत जाता है, शुद्ध 'विद्वान्' की कदर कौन करे, कब करे, और क्यों करे ? जो मूल्यांकन होते हैं या अभिनन्दन-ग्रन्थ निकलते हैं, सबका उद्देश्य सुविदित है, यहां लिखना पिष्टपेषण ही होगा । कुछ ही दिन पहले की बात है, हमारे एक मित्र मेरे पास यह कहते हुए आये कि वे एक अन्य मित्र का (जो किसी अच्छे पद पर हैं) 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' निकालना चाहते हैं और उसकी तैयारियां कर रहे हैं । वे ऐसा क्यों कर रहे थे, यह पूछने की तो आवश्यकता नहीं थी किन्तु उन सुहृद्वर में 'अभिनन्दनीय' वस्तु क्या है, यह मैंने अवश्य पूछा । मालूम हुआ कि ले-देकर उन्होंने कुछ कविताएँ लिखी थीं जिनमें कुछ छुपा ली थीं और कुछ को एकाध प्रकाशक ने किसी उद्देश्य विशेष से छाप दिया था । 'बस' ? 'बस', उन्होंने कहा "पर इतना भी राजस्थान में कितने लोग कर पाये हैं, यह तो देखो । और फिर यह करते-करते उन्हें पचास बरस होने को आये । आखिर साहित्यकार को कोई रिकग्नीशन कभी तो मिलना ही चाहिए", वे बोले ।

इस पर टिप्पण देना व्यर्थ है । साहित्यकार को रिकग्नीशन मिलना चाहिए पर कितने से और किस प्रकार के साहित्यकारों को वह मिल पाता है ? सबसे पहले इस प्रकार के विद्वानों का मूल्यांकन आवश्यक है जिनका कृतित्व वस्तुतः विपुल है और जिसके द्वारा भावी साहित्यकार को प्रेरणा और मार्गदर्शन मिल सकता है । सहलजी के छात्र-जीवन से मैं अति निकट रूप से परिचित नहीं रहा हूं । हमारे परिवार के कुछ वरिष्ठ सदस्य उनके परिवार से निकट से परिचित हैं । वे बतलाया करते हैं कि सहल-परिवार एक सामान्य मध्यवित्त परिवार था किन्तु इसके नवयुवकों ने (विशेषतः कन्हैयालालजी की समकालीन पीढ़ी ने) जितने जी-तोड़ परिश्रम से विद्याध्ययन किया और इस दिशा में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त कर इस परिवार का नाम शिक्षा-जगत् में सुविदित कर दिया, वह छात्र-वर्ग के लिए एक प्रेरणादायक बात है । प्रतिभा और परिश्रम का समन्वय सहल-परिवार में पर्याप्त मात्रा में है । डॉ० कन्हैयालालजी ने इस परिश्रम और प्रतिभा का विविध क्षेत्र के साहित्यानुशीलन की दिशा में एकनिष्ठ प्रवर्तन कर और उसकी निरन्तर साधना करके अपने

---

१. उदाहरणार्थः डॉ० सहल के ही इतने ग्रन्थों में कहीं भी मुझे इनका जीवन-परिचय या चित्र उपलब्ध नहीं हुआ जबकि किसी प्रकाशन की जाकिट में या फ्लैप पर, या भूमिका में आजकल लेखक का कुछ परिचय मिल ही जाया करता है । पिछली पीढ़ी की यह आत्मप्रकाशन पराङ्मुखता शायद उनकी संस्कृति का एक अपरिहार्य अंग थी ।

आप में एक अनुकरणीय सामंजस्य स्थापित किया है। विद्वान्, कवि, लेखक, अध्यापक आदि होने के साथ-साथ अब वे प्रशासक भी हैं। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, उत्तर प्रदेश शासन, राजस्थान विश्वविद्यालय, बंगाल हिन्दी मंडल आदि क्षेत्रों से पारितोषिक और सम्मान के रूप में तथा आकाशवाणी, राजस्थान पाठ्य-पुस्तक राष्ट्रीयकरण मंडल, लोक सेवा आयोग, आदि में वरिष्ठ एवं संमान्य स्थान के रूप में इन्हें 'रिकग्नीशन' देकर समाज ने अपना कर्त्तव्य भी पूरा किया है किन्तु इनके व्यक्तित्व के विविध पक्षों का समन्वय इनके कृतित्व में किस प्रकार हुआ है, इसका मूल्यांकन राजस्थान और देश के भावी अध्येता के लिए कितना मूल्यवान् होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

वैयक्तिक सतहों पर :

डॉ० सहल को मैंने सर्वप्रथम एक ऐसे सन्दर्भ में देखा था, जिस प्रकार के प्रसंगों में आज का प्रवुद्ध साहित्यकार या प्राध्यापक संभवतः बहुत कम दिखलायी देता है। बात भारत को स्वतन्त्रता-प्राप्ति के वर्ष की या उसके आस-पास की होगी। मैं उन दिनों निरा बालक था और जयपुर के महाराजा संस्कृत कालेज में उच्चतर माध्यमिक कक्षा का छात्र था। मेरे पिता (अब स्वर्गत) कविशिरोमणि भट्ट मथुरानाथ शास्त्री संस्कृत कॉलेज के साहित्य-विभागाध्यक्ष पद से कुछ वर्ष पूर्व सेवा-निवृत्त हो चुके थे और उन दिनों भी साहित्य-सेवा, संस्कृत पत्रिकाओं के सम्पादन और ग्रन्थ-लेखन में व्यस्त रहते थे। उन्हीं दिनों अचानक रिमझिम बरसात में एक अधेड़ उम्र के सज्जन छाता लगाये हुए घर पर आये और पिताजी को पूछने लगे। मैंने उन्हें सूचित किया। इन सज्जन के हाथ में बड़ी सावधानी से बरसात से सुरक्षित की हुई एक मोटी पुस्तक थी। पिताजी ने इन्हें देखते ही स्नेह से स्वागत किया और इन सज्जन ने उनके चरण छुए। ऐसा लगा कि इन सज्जन ने पहले से ही जयपुर आकर उनसे मिलने का कार्यक्रम निश्चित कर रखा था। थोड़े औपचारिक वार्तालाप के बाद दोनों ने उस पुस्तक का गम्भीर अध्ययन आरंभ कर दिया। यह अध्ययन कोई १५-२० दिन तक निरन्तर चलता रहा।

मुझे पिताजी ने बतलाया कि ये सज्जन कन्हैयालालजी सहल हैं जो पिलानी में हिन्दी के प्रोफेसर हैं। महाराजा कॉलेज में ये पिताजी के विद्यार्थी रहे थे और तब से उन पर श्रद्धाभाव रखते हैं। वर्षों से राजस्थान के निवासी इस परिवार से पूर्व-परिचित होने के कारण तथा इन सभी भाइयों के अद्भुत प्रतिभाशाली होने के कारण इन सभी पर पिताजी प्रगाढ़ स्नेह व आदर तो रखते ही थे, इस परिवार के सभी सदस्यों की स्वभाव-सुलभ अध्ययन व जिज्ञासा की प्रवृत्ति में जितना योगदान हो सके, वे करना चाहते थे, ऐसा उन्होंने मुझे बतलाया। कन्हैयालालजी शायद उन

दिनों भारतीय काव्यशास्त्र का विशेष अध्ययन कर रहे होंगे। उन्हीं दिनों आचार्य अभिनव गुप्त की 'अभिनवभारती' टीका की, जो उन्होंने भरत के नाट्य शास्त्र पर लिखी है तथा जिसमें भरत के प्रसिद्ध सूत्र "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्र-सनिष्पत्तिः" (जो नाट्य-शास्त्र का ही है तथा रस-सिद्धान्त का जन्मदाता होने के कारण काव्य-शास्त्रियों में 'कलमा' का-सा आदर पाता है।) पर अभिनवगुप्त की व्याख्या (जो काव्य-शास्त्र में शताब्दियों से प्रमुख रसविवेचना-सरणि मानी जाती रही है) समाहित है, साहित्य-जगत् में बड़ी चर्चा थी। यह अभिनवभारती टीका वर्षों से अनुपलब्ध थी। बड़ौदा संस्कृत सिरीज़ द्वारा ज्यों ही यह प्रकाशित हुई और विद्वज्जनों को सुलभ हुई, त्यों ही इसकी सभी प्रतियाँ (जो वहां की परम्परा के अनुसार सीमित संख्या में ही छपती हैं) खप गईं और यह अलभ्य (आउट आफ प्रिंट) हो गई। डॉ० साहब इसे शायद खरीदना चाहते होंगे किन्तु यह नहीं मिली। यहां तक कि राजस्थान में किसी पुस्तकालय में भी यह उन्हें नहीं मिल पाई (यदि कहीं होगी भी तो इन्हें जानकारी नहीं होगी या इश्यूड होगी या उपलब्ध नहीं हुई होगी, ऐसा कुछ उन्होंने बतलाया था) जब कि इसके उद्धरण तथा समीक्षाएं देखकर इस मूलग्रन्थ को संपूर्ण पढ़ जाने की उनकी इच्छा अदम्य हो गई और उन्होंने बड़े प्रयत्नों के फलस्वरूप इसे इम्पीरियल (नेशनल) लायब्रेरी, कलकत्ता से कुछ डिपाजिट्स भेज कर मंगवाया। इस टीका के कुछ स्थल या तो स्पष्ट नहीं हुए या उन पर कुछ विशद अध्ययन, मनन या मीमांसन करने की इच्छा इन्हें हुई और उसके फलस्वरूप पिताजी से (जो राजस्थान में संस्कृत साहित्य-शास्त्र पर अधिकारी विद्वान् माने जाते थे) इसके कुछ स्थलों पर विमर्श का उन्होंने समय चाहा।

इसी विमर्श-हेतु ये घर आये थे। बरसात हो रही होने के बावजूद छाते में तथा अन्य उपकरणों से सुरक्षित कर लाई गई यह पुस्तक वही 'अभिनवभारती' थी। बरसात के बावजूद छाता लेकर आने का कारण शायद निर्धारित समय रहा हो। इसमें रससिद्धान्त-संबंधी कुछ स्थलों का अध्ययन व विमर्श उन्होंने अभिनवगुप्त की अन्य कृतियों (जैसे ध्वन्यालोक पर 'लोचन' नामक भाष्य) के संदर्भ में कुछ दिनों तक जयपुर रह कर पिताजी के साथ किया, यह मुझे आज भी स्पष्ट याद है। बाल-सुलभ कुतूहलवश प्रतिदिन तीसरे पहर यथासमय आने वाले इन सज्जन से मैं परिचित हुआ इस भूमिका के साथ। यद्यपि इस विमर्श के समय तथा हमारे यहां उपलब्ध काव्य-शास्त्र के बहुत से अन्य ग्रन्थों को निकाल-निकाल कर खोले व देखे जाते समय मैं उपस्थित रहता, था पर उस समय इतना विवाद अभ्यास में नहीं कर पाया कि जो स्थल विमृष्ट हुए, वे क्या थे और उनसे पिताजी ने या डॉ० साहब ने आसन्न भविष्य में क्या लाभ उठाया (शायद डॉ० साहब को यह ज्ञात हो, वैसे नाटक

में तीन यूनिटीज़ के सिद्धान्त को जिसे डॉ० साहब ने 'संकलन' और 'अन्विति' दोनों ही नामों से अभिहित किया है, अभिनवभारती के माध्यम से ही उन्होंने नाट्य-शास्त्र में पाया हो, यह संभव है, साधारणीकरण और रस-विघ्नों आदि विषयों पर उन्होंने अभिनवभारती के आधार पर बहुत कुछ लिखा ही है) किन्तु यह घटना मुझे बड़ी स्फीतता के साथ याद है। इस घटना की उस समय मेरे किशोर मन पर जो तात्कालिक प्रतिक्रिया हुई, उसे आज मैं कुछ इस प्रकार अभिलिखित कर सकता हूँ।

पहली बात तो यह कि ये सज्जन स्वयं प्रोफेसर होकर किसी से पढ़ने क्यों आते हैं? दूसरी यह कि जब ये हिन्दी के प्रोफेसर हैं ही, तो संस्कृत इतनी बारीकी से क्यों पढ़ते हैं? तीसरी यह कि मंझोले उम्र के होने पर भी तथा स्वयं प्रोफेसर होने पर भी ये "गुरु" का चरण छू कर इतना आदर क्यों करते हैं? चौथी यह कि इस पुस्तक को कलकत्ता से मँगवाने की जो कथा इन्होंने सुनाई तथा उसे पूरा पढ़ जाने की व कुछ स्थलों का किसी अन्य प्राचीन संस्कृत विद्वान् से विमर्श करने की इच्छा जो व्यक्त की, उससे इनकी "पढ़ाकू" प्रवृत्ति पर क्या प्रकाश पड़ता है। पांचवीं यह कि पिलानी से ये केवल इसी काम के लिए जयपुर आये हैं क्या? (शायद और कोई काम भी रहा हो या नहीं, यह मुझे स्पष्ट याद नहीं है।)

नम्र और निष्ठावान् :

आज जब मैं सुनता हूं कि मेरे एक मित्र प्राध्यापक, डॉ० सहल पर एक अध्ययनात्मक ग्रन्थ का संपादन कर रहे हैं तो मेरे स्मृतिकक्ष में आज बीस-बाईस वर्ष पूर्व का यह एक क्षण-चित्र बरबस कौंध जाता है, जहां से मैंने इन्हें पहली बार देखा था। आज डॉ० सहल एक लब्धप्रतिष्ठ रचनाकार, राजस्थान-क्षेत्र के प्रमुख विद्वानों में से एक, बिड़ला शिक्षा संकाय के एक महत्त्वपूर्ण स्तंभ, वरिष्ठ, वर्षिष्ठ और घनिष्ठ हैं और संभवतः उनकी ये वैयक्तिक व्यवहार-प्रकृतियां तथा जिज्ञासु भावनाएं किसी कदर आज तक उनमें विद्यमान हैं और कुछ नई निसर्ग-प्रवृत्तियां भी विकसित हुई हों जिनसे मैं इन दिनों घनिष्ठ रूप से परिचित नहीं रहा होऊं। किन्तु मैं वर्षों पहले के इस स्मृतिचित्र के आधार पर ही उनके कुछ नैसर्गिक पहलुओं का विश्लेषण कर सकता हूं। "एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिमन्यते" की पुरानी परंपरा के अनुसार चाहे आज के प्रबुद्ध विद्वान् अपने प्रत्येक गुरु पर इतनी श्रद्धा नहीं रखते हों किन्तु कन्हैयालालजी में, बल्कि यों कहें कि सारे सहल-परिवार में, विद्यादाता गुरु के प्रति एक सहज निष्ठा तथा गहरी विनय-भावना प्रेरणाप्रद मात्रा में विद्यमान है। डॉ० नागरमल सहल (अंग्रेजी के प्राध्यापक, वर्तमान में जोधपुर विश्वविद्यालय में अंग्रेजी विभागाध्यक्ष), प्रो० मक्खनलाल सहल (अंग्रेजी विभागाध्यक्ष डूंगर कालेज, बीकानेर), श्री फूलचन्दजी सहल आदि सभी भाइयों में, जो शिक्षा-

क्षेत्र में प्रतिष्ठित स्थान रखते हैं और जिनमें से आदिम दो मेरे स्वर्गीय पिताजी पर गुरुभाव रखते थे, गुरुजनों के प्रति ऐसी श्रद्धा मैंने सदा से देखी है।

काव्य-शास्त्र के अध्ययन के प्रति, विशेपतः मूल 'आकर-ग्रन्थों' के तलस्पर्शी विवेचन तथा शब्दशः उनका अध्ययन कर एक प्रकार का इतमीनान प्राप्त करने के प्रति इनकी उत्सुकता भी इससे स्पष्ट है। प्राच्य और पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के समन्वित आलोक में हिन्दी काव्य-शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन इसीलिए डॉ० सहल कर सके हैं। डॉ० साहब ने एक पत्र में मुझे लिखा था "मैं तो संस्कृत और अंग्रेजी के बल पर ही हिन्दी का प्रोफेसर बन गया था।"

अध्ययन-अध्यापन और शोध के लिए की जाने वाली मेहनत के प्रति ईमानदारी और गुरु का चरण छूने जैसी "कनावड़ा" बना देने वाली क्रिया के बावजूद सच्ची सहजता के साथ अपनी जिज्ञासा के प्रति वफादारी एक अध्येता विद्वान् का आत्म-विश्वास ही व्यक्त करती हैं। लगता है, आज की नई पीढ़ी में ये प्रवृत्तियां विरल होती जा रही हैं। एक और प्रवृत्ति जो सहलजी में दिखाई देती है, वह है "कान खुले रखने की आदत"। अर्थात् प्रत्येक वस्तु, घटना, शब्द, प्रवाद, परंपरा या लोक-रचना के प्रति सजग रह कर उस पर मनन करना शुरू कर देने की सहज आदत विद्वान् को रखनी चाहिए, यह पुराने लोग कहा करते थे। लोक-व्यवहार में कोई शब्द सुना या कथा सुनी, उसे नोट कर, उसका मूल खोजना, व्युत्पत्ति निकालना अथवा उस पर एक प्रकार का आटोमेटिक चिन्तन आरंभ हो जाना, शोधार्थी की, विशेपकर भाषा-शास्त्री तथा लोक-साहित्य के अध्येता की, एक आवश्यक अर्हता है। शब्दों पर इस प्रकार का जो विमर्श डॉ० सहल के "शब्द-चर्चा" स्तंभ में ("मरु भारती" शोध त्रैमासिकी का क्रमिक स्तंभ) मिलता है, वह इसी प्रकार की प्रवृत्ति का परिणाम लगता है। "राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवादों" का श्रृंखलाबद्ध संग्रह भी इसी प्रकार की आदत का फल प्रतीत होता है। इनके प्रमुख शोध-विषय "राजस्थानी कहावतों" के लिए तो उन्हें कागज-कलम लेकर बिखरे जीवनों और क्षेत्रों में से लोकोक्तियों का संग्रह करना पड़ा ही होगा।

गहन चिन्तन :

ऐसा भी लगता है कि कक्षा में पढ़ाते समय किसी पाठ्यग्रन्थ में किसी विषय-विशेष की जिज्ञासा के दिमाग में कौंध जाने पर उस पर चिन्तन आरंभ कर देने की कुछ घटनाएं इनके जीवन में घटी हों और उन पर कुछ तथ्य पाने के लिए इन्हें स्वयं उस ग्रन्थ के लेखक या अन्य वरिष्ठ विद्वानों से खतो-किताबत भी करनी पड़ी हो। प्रसादजी के नियतिवाद पर इन्होंने मैथिलीशरण गुप्त तथा राय कृष्णदासजी से पत्र द्वारा जो कुछ जानकारियां चाहीं, वे इसी प्रकार की जिज्ञासा की परिणति प्रतीत

होती हैं। "साकेत" का गहन अध्ययन इन्होंने किया है और उस पर बहुत कुछ लिखा है, उसी बीच ऊर्मिला के विरह-वर्णन में भावनाओं के उदात्तीकरण और विश्वजनीन औदार्यवृत्ति व हित-भाव के संयोजन में जब इन्हें गुप्त जी की एक विशेष उद्भावना नई-सी बात लगी तो इन्होंने पत्र लिखकर गुप्तजी से इस पर उनके विचार जानने चाहे जो उन्होंने सविस्तार इन्हें लिखे। जिज्ञासा-शान्ति के लिए मूल तक पैठ कर खोज करने की यह प्रवृत्ति है।

गद्यकार :

इसके अतिरिक्त, गंभीर चिन्तक होने का एक और पक्ष इनमें उभरा है। वह है दार्शनिक अध्ययन की रुचि। प्रत्येक मार्मिक विद्वान् में दर्शन के प्रति निष्ठा व जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती है। डॉ० सहल के काव्यशास्त्रीय अध्ययनों में तो मार्क्सवादी दर्शन, अद्वैत दर्शन, शैव दर्शन आदि के सिद्धान्तों का निर्वचन समाहित है ही। उन्होंने शुद्ध दार्शनिक चिन्तन पर आधृत कुछ निबन्ध भी लिखे हैं जो उनकी इस जिज्ञासा के परिचायक हैं।

गीता के दर्शन पर, सत् और असत् के विवेक पर, मृत्यु-तत्त्व पर, सभ्यता और संस्कृति पर और उपनिषदों पर उन्होंने संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित निबन्ध लिखे हैं।

"दृष्टिकोण"[१] का निबंधकार एक गद्यकार है। इसके कुछ "पर्सनल एसेज़" को पढ़ते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वे वैयक्तिक अनुभव, एकान्त चिन्तन और जीवन की कड़वी मीठी छोटी-छोटी घटनाओं से उद्भूत हुए हैं। "मन की करतूत" "टैक्ट" "हीन भावना", "बुड्ढे बच्चे" "उतार फेंक इस कूबड़ को" आदि कुछ निबंध इस प्रकार के चिन्तन के परिणाम हैं। 'मन की आराम कुर्सी पर बैठे-बैठे अनायास ही जो प्रयास बन गया' उसे उन्होंने निबन्धों के रूप में अभिलिखित कर दिया और इनका संकलन ही "दृष्टिकोण" में छपा है।

"योग और वेदान्त" शीर्षक से योग की मनस्तात्त्विक पृष्ठभूमि पर, पाश्चात्य दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए एक निबन्ध इन्होंने हाल ही में लिखा है। इस प्रकार के दार्शनिक अनुचिन्तन के लिए ये आजकल भी विविध प्रबन्धात्मक कार्यों से कुछ समय निकाल ही लेते हैं।

अन्वेषक :

डॉ० सहल के शोधात्मक अध्ययन का प्रमुख विषय "राजस्थानी कहावतें" रहा है। आनुषंगिक रूप से उन्होंने राजस्थान के ऐतिहासिक[२] प्रवादों, राजस्थान[३]

---

१. आत्माराम एण्ड सन्स द्वारा प्रकाशित।

२. "मरुभारती" में क्रमिक स्तंभ के रूप में।

३. जयपुर क्षेत्र की बोलियां: "मूल्यांकन" पृ० २०६, आबू-सिरोही क्षेत्र की भाषा : वही, पृ० २१३।

की भाषाओं तथा प्राचीन राजस्थानी साहित्य एवं कुछ देशी शब्दों[1] की व्युत्पत्ति तथा उनके संभावित मूल उद्गम-शब्दों पर भी लिखा है। इन शोध-क्षेत्रों में पर्याप्त अध्ययन कर इनके समग्र पक्षों पर लिखते रहना एक शोध-विद्वान् का गुरुतर कार्य है जो उन्होंने किया है। हिन्दी के प्राध्यापक और आलोचक होने के नाते साहित्य-समालोचना की परंपरा के अनुरूप प्रसाद के नाटकों की आलोचना अथवा साकेत का गंभीर आलोचनात्मक[2] अध्ययन जैसी समीक्षाएं भी उन्होंने प्रस्तुत की हैं। इसमें यदि कट्टर अन्वेषकों की सी दुर्लभ तथ्यान्वेषण-तत्परता कहीं-कहीं पाई जाती है तो वह उनकी मर्मस्पर्शिनी मीमांसा-पद्धति की परिचायक है। साधारणीकरण और रस-विघ्नों पर, नाट्य शास्त्र की[3] अन्वितियों (यूनिटीज़) पर तथा हिन्दी-साहित्य के विविध वादों पर उन्होंने जो निबन्ध लिखे हैं, वे भी पर्याप्त शोधप्रकृतिक हैं। इससे भी परे, इनमें सच्चे अन्वेषक की एक और खूबी दृष्टिगत होती है। वह है अपने मुख्य शोध-विषय तथा अध्ययन-अध्यापन के विषयों के अतिरिक्त भी जहां कोई विवेचन-सापेक्ष बिन्दु दिखलाई दिया, उस पर शोधात्मक अध्ययन कर नये तथ्यों के क्षितिज उद्घाटित करना।

पुराने रिसर्च इंस्टीट्यूशन के पारंपरिक खोजियों की भांति कुछेक विषयों पर उन्होंने अच्छे मौलिक शोध प्रस्तुत किये हैं जो अपने विषय के रिसर्च मोनोग्राफ्स के रूप में उल्लेखनीय हैं। प्रसादजी के नियतिवाद पर लिखते हुए अपनी सभी कृतियां में शैवागमों व अन्य हिन्दू दर्शनों के आलोक में नियतिवाद का विश्लेषण एव पाश्चात्य डिटर्मिनिज्म आदि से उसकी तुलना उन्होंने की है। डॉ० सहल ने नियतिवाद को ही एक शोध-बिन्दु बनाकर "नियति का स्वरूप"[4] नामक एक मोनोग्राफ भी प्रस्तुत किया है जिसमें नियति की व्युत्पत्ति, परिभाषा तथा प्रयोग देते हुए योगवासिष्ठ की नियति (प्रकृति नटी) Rational Mysticism की Law Governing Universe, पाश्चात्यों की शुद्ध भाग्यवादी नियति, भारतीयों द्वारा स्थापित नियति और पुरुषार्थ का समन्वय इत्यादि पक्षों पर लिख कर जैनदर्शन-कार मक्खलि गोशाल के नियतिवाद की भी व्याख्या प्रस्तुत की है। क्या नियतिवाद पाश्चात्यों के The Law Governing the Universe, teleology तथा भारतीयों के कर्मवाद के बीच की एक व्याख्या प्रस्तुत करता है? इस पर गुण रत्नसूरि, सिद्धसेन दिवाकर

---

१. शब्द-चर्चा, मरु भारती का क्रमिक स्तंभ, तथा "विमर्श और व्युत्पत्ति" का "व्युत्पत्ति" खंड (चिन्मय प्रकाशन, जयपुर, १९६३)।
२. दे. "आलोचना के पथ पर"।
३. दे. "विवेचन" संस्कृत के नाट्याचार्य और नाटक की तीन अन्वितियां, पृ० ८८।
४. दे. "विमर्श और व्युत्पत्ति, पृ० ५७।

आदि आचार्यों के उद्धरणों के साथ ही गीता के सिद्धान्तों का भी समन्वय करते हुए डॉ० सहल ने विचार की अच्छी सामग्री प्रदान की है।

भाषा शास्त्र में शब्द-सादृश्य, अर्थ-सादृश्य आदि के आधार पर शब्दों को गढ़ने का जो "सादृश्य सिद्धान्त"[१] है, जैसे पिंगल की तरह "डिंगल", कुंवर की तरह "भंवर" "तंवर" अथवा 'Aryan' की तरह 'Banyan' तथा "भेदीकरण"[२] के आधार पर अर्थ-भेद कैसे हो जाते हैं, इस पर भी दो छोटे निबन्ध डॉ० सहल ने लिखे हैं। इनमें कुछ स्थलों पर लेखक की मौलिक उद्भावनाएं प्रकट हैं। भाषा-शास्त्र[३] के कुछ अन्य बिन्दुओं पर भी उनके लेख मिलते हैं।

"हिन्दी पत्रों के सवा सौ वर्ष" नामक निबन्ध में डॉ० साहब ने विभिन्न सूत्रों से तथ्य संकलन कर "उदंत मार्तण्ड" (कलकत्ते से सन् १८२६ में प्रकाशित) पत्र से लेकर स्वतन्त्रता के पहले तक के हिन्दी पत्रों का संक्षिप्त वर्णनात्मक इतिहास प्रस्तुत किया है जिसमें आधार-सामग्री तथा सांख्यिकी-सूचनाओं के साथ-साथ इतिहासकार की सी व्यापक दृष्टि भी समाहित है।[४]

लोक-कथाओं के "मोटीफ्स" को लेकर उनके वर्गीकरण, विभिन्न संस्कृतियों की लोक-कथा प्ररूढ़ियों के तुलनात्मक अध्ययन, राजस्थानी लोक-कथाओं में उनके समन्वय तथा देशी-विदेशी मूल अभिप्रायों के उद्गम की खोज पर भी इन्होंने पर्याप्त लिखा है। "लोक कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियां" (राम प्रसाद एण्ड सन्स, आगरा १९६१) "राजस्थानी लोक कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय" तथा "लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तन्तु" (किताब महल, १९६५) इस प्रकार के ग्रन्थ हैं जिनमें इस विषय का व्यापक विवेचन उपलब्ध है। "Motif" शब्द की अर्थ-छाया को द्योतित करने के लिए "मूल अभिप्राय", "रूढ़ तन्तु" "प्ररूढ़ि", "कथानक रूढ़ि", रूढ़ घटना आदि अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिससे यह लगता है कि लेखक को ज्यों-ज्यों अधिक "समर्थ" शब्द मिलते गये, वह उनमें "इंप्रूवमेंट" करता गया।

वैदिक पुरूखा और उर्वशी का आख्यान एक ऐसी लोक-कथा है जिसमें विभिन्न प्रकार की प्ररूढ़ियां खोजी जा सकती हैं और खोजी गई हैं। विश्व की प्राचीनतम

---

१. देखें "विवेचन", पृ० ९७।
२. वही, पृ० १०२।
३. देखें, विमर्श और व्युत्पत्ति "भाषा के भेदक तत्त्व, पृ० १२८, यूरोपीय भाषाओं और भारत की आर्य-भाषाओं का अभिन्न संबंध, पृ० १८४, "डिंगल के संबंध-सूचक परसर्ग", मूल्यांकन, पृ० १९७।
४. देखें, विमर्श और व्युत्पत्ति, पृ० १३०।

लिपिबद्ध लोक-कथा होने के कारण इसका महत्त्व स्पष्ट है। डॉ० सहल ने इस लोक-कथा में हंसकुमारी (Swan Maiden) का मूल अभिप्राय पाया है, स्वर्गीय बाला नाम भी उसे दिया जा सकता है। किसी दिव्य स्त्री का मर्त्य-पुरुष के साथ संबंध और अवधि व्यतीत होने पर उसे छोड़कर चला जाना एक तन्तु है। किसी अन्य लोक की स्त्री का किन्हीं शर्तों पर अन्य लोक के पुरुष के साथ संबंध और उस शर्त का उल्लंघन होने पर अदृश्य हो जाना भी इसका एक आंशिक तन्तु है। इस प्रकार के तत्त्वों का अन्वेषण व्रज लोक-साहित्य के अन्वेपक डॉ० सत्येन्द्र ने भी किया है।

"सतसई[1] की परंपरा" पर भी विहारी की समीक्षा के प्रसंग में एक शोधात्मक निबंध इन्होंने लिखा है जिसमें संस्कृत-साहित्य की सप्तशती परंपरा (विशेपतः प्राकृत की सप्तशतियों के आधार पर) से लेकर आधुनिक काल तक की सतसइयों का स्पर्श किया गया है। इस दिशा में और भी अध्ययन संभव है। "सिरस नीति सतसई" ॰ शिवरत्न शुक्ल "सिरस" द्वारा कुछ वर्षों पूर्व ही लिखी गई थी।[2] आधुनिक काल तक यह परंपरा चलती रही है। अब तो, युगानुरूप, इस प्रवृत्ति में परिवर्तन स्वाभाविक ही है। सतसई की तरह "दससई" भी लिखी जाने लगी थी। हमारे पूर्वज, प्रसिद्ध व्रजभापा कवि श्री द्वारकानाथ भट्ट "वानी" कवि की लिखी एक "दससई" हाल ही में प्राप्त हुई है। वानी कवि ईसा की अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए थे (सन् १७२०-१८०० के बीच) और जयपुर राजवंश के मान्य कवि रहे थे।

कहना न होगा कि शोध-कार्य में डॉ० सहल की अविच्छिन्न गति का एक प्रमुख कारण है उनका संस्कृत एवं अंग्रेजी का अध्ययन तथा बंगला, मराठी व गुजराती भाषाओं का परिज्ञान। वस्तुतः अन्वेपक के लिए विविध भाषाओं का, विशेपकर हिन्दी के शोधार्थी के लिए संस्कृत और अंग्रेजी का पूर्ण परिज्ञान आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। अंग्रेजी जैसी भाषा में भी विद्वानों की यह उक्ति प्रसिद्ध है "What does he know of English who only English knows.?" फिर, ईमानदारी के साथ देखें तो हिन्दी-साहित्य विशेष कर हिन्दी का "साहित्य-शास्त्र" है ही क्या ? संस्कृत और अंग्रेजी काव्य-शास्त्रों का समन्वय ही तो ! व्रजभापा व अवधी के काव्य-ग्रन्थों और संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों से इसका मध्यकालीन साहित्य बना तथा इसका आधुनिक साहित्य, अंग्रेजी साहित्य की विविध विधाओं तथा प्रवृत्तियों का स्पष्ट प्रतिफलन है। इसीलिए संस्कृत व अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन के बिना हिन्दी का अध्ययन पूर्ण हो ही नहीं सकता। केवल मातृभाषा का ज्ञान,

---

१, "विहारी और सतसई की अविच्छिन्न परंपरा" (विवेचन)।
२. रायबरेली से १९३६ प्रकाशित।

इसीलिए, भाषा का वैदुष्य नहीं कहा जाता। अतएव हिन्दी के लिए ऊपर उद्धृत अंग्रेजी कहावत शत प्रतिशत चरितार्थ होती है कि जो केवल "हिन्दी" का विद्वान् है, वह हिन्दी जान ही नहीं सकता। डॉ० सहल में संस्कृत व अंग्रेजी के विद्वान् व प्रादेशिक भाषाओं के परिज्ञाता होने के कारण हिन्दी के सही अर्थों में "विद्वान्" होने का एक आदर्श-स्वरूप परिलक्षित होता है।

कविः—

आलोचक, अन्वेषक, प्राध्यापक तथा संपादक के साथ-साथ डॉ० सहल के व्यक्तित्व का एक पक्ष है उनका कवि। उनकी कविताएं पढ़ने से एक सामान्य पाठक में (मेरा तात्पर्य प्रबुद्ध पाठक से है, अशिक्षित या अर्धशिक्षित पाठक इन कविताओं के मर्म तक पहुंच नहीं पा सकता शायद) सामान्यतः तीन प्रकार की प्रतिक्रियाएं होती हैं—एक तो यह कि इनकी कविता बुद्धि-कक्ष से प्रसूत है—प्रत्येक कविता में कोई तर्कशुद्ध विचार-विन्दु या बौद्धिक लहर है, मात्र संवेग या संवेदना नहीं है। उनसे यह स्पष्ट होता है कि वे एक विचारक और बुद्धिवादी की कविताएं हैं, गायक या भावुक की नहीं। दूसरी यह कि कविता 'हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां' समूह-मात्र नहीं है, कविता लिखने के उद्देश्य से लिखी गई कविताएं नहीं हैं बल्कि किसी विचार के अकस्मात् कौंध जाने पर उसे किसी भी प्रकार अभिव्यक्ति देने की उद्दाम इच्छा के तहत अभिलिखित तर्कों व टिप्पणों का संप्रेषण हैं। वे वर्ड्सवर्थ की परिभाषा 'Overflow of powerful feelings' पर तो सही उतरती हैं पर 'emotion recollected in tranquillity' में 'emotion' के स्थान पर 'idea' शब्द स्थापित करने की अभिलाषा भी जगाती हैं। 'Feeling' को 'idea' या 'thought' के रूप में व्याख्यात करना उचित जान पड़ेगा, उनके संदर्भ में। बुद्धिवादी कविता आज तो आम बात हो गई है, टी. एस. एलियट के जमाने से उसका चलन बढ़ा था किन्तु हिन्दी जगत् में जिन दिनों इसका चलन शुरू हो रहा था, उन दिनों की कृति होने के कारण इनका अपना ऐतिहासिक महत्त्व भी है और कलात्मक महत्त्व भी। तीसरी उल्लेखनीय बात है, इनमें से प्रत्येक पर रचनाकार के चेतन या अवचेतन मन पर जमी हुई अध्ययन की परतों के स्पष्ट प्रतिबिम्बों का होना। पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के निबन्धों की तरह, जिनके प्रत्येक वाक्य में संस्कृत और हिन्दी वाङ्मय के बहुत से सन्दर्भ अनायास ही, हल्के-से संकेत द्वारा, जुड़े हुए मिलते थे और जिनके कारण उनके निबन्धों को रामचन्द्र शुक्लजी ने 'बहुश्रुत पाठक' के लिए ही बोधगम्य बतलाया था, डा० सहल की कविताओं में भी कुछ संदर्भ छिपे हैं। अन्तर इतना ही है कि उन्हें पूर्णतः समझे बिना कविता ही समझ में न आये, सो बात नहीं है। कविता का केन्द्रीय विचार स्पष्टतः बुद्धिगम्य है, पर अन्तः कथाएं या निहित संदर्भ समझ लेने पर वे निम्नलिखित श्लोक की परिभाषा को चरितार्थ करने लगती हैं—

"संगीतमथसाहित्यं सरस्वत्याः स्तनद्वयम् ।
एकमापातमधुरमन्यदालोचनाऽमृतम् ॥"

सभी बुद्धिवादी कविताएं "आलोचनामृत" होती हैं, आपातमधुर चाहे हों या न हों। गीत तो आपातमधुर होते ही हैं। तभी तो कहा है—

"अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम् ।
अनधिगतपरिमलाऽपिहि हरति दृशं मालतीमाला ।"

(सुबन्धुः वासवदत्ता)

टी. एस. एलियट की कविताएं तब तक समझ में ही नहीं आ सकतीं जब तक उनके निहित संदर्भ न समझ लिये जाएं। वे केवल 'आलोचनामृत' हैं।

'प्रयोग' और 'क्षणों के धागे' की कविताएं किसी एक बौद्धिक संदर्भ की अभिव्यक्ति हैं। समाज, संस्कृति, राष्ट्र, जीवन आदि अमूर्त विषयों पर चिन्तन के कुछ क्षणों को उन्होंने वाणी दी है। वे भूमिका में कहते हैं—

"कबीर को किसी मध्ययुग में हँसी आई थी—मैं आपको सच कहता हूँ, आज भी यह सोचकर मेरी हँसी नहीं रुकती"—

"पानी बिच मीन पियासी, मोहि सुनि सुनि आवत हाँसी।" चिन्तन के ऐसे ही कुछ क्षणों को मैंने पद्यों में बांध देने का प्रयास किया है।

प्रयोग की कविताओं के कुछ शीर्षकों को देखते ही यह स्पष्ट होता है कि वे बहुश्रुत लेखक की कृति हैं—कोई शीर्षक संस्कृत व्याकरण का स्मरण कराता है, कोई दर्शन का। उदाहरणार्थ एक शीर्षक है 'मयूरव्यंसक'। संस्कृत व्याकरण से नितान्त अनभिज्ञ पाठक को 'व्यंसक' के लिए कोष तो देखना ही पड़ेगा, वह चकरायेगा भी कि मयूर को व्यंसक कहते उसने आज ही और डॉ० सहल को ही सुना है। बात सही है, किसी अन्य कवि ने ऐसा नहीं कहा होगा। पाणिनि ने पहले ऐसा अवश्य कहा था। उनका एक सूत्र है 'मयूरव्यंसकादयश्च' (२.१.७२) अर्थात् 'मयूर जो कि धूर्त है' अर्थ में मयूर और व्यंसक शब्दों का समास हो जाता है। संस्कृत व्याकरण पढ़ने वालों को 'मयूरव्यंसकादिसमास' का प्रकार सुपरिचित होता है। 'व्यंसक' शब्द कैसे बना, कोई नहीं जानता। बाल मनोरमाकार वासुदेवदीक्षित ने लिखा है, 'व्यंसको धूर्तः। अत्र कोशो मृग्यः।'

संस्कृत के अध्येता सहलजी को मयूर शब्द के साथ पूर्वाधीत 'मयूर व्यंसक' शब्द याद आया होगा और उन्होंने अनायास आये इस शब्द को कविता में भी पिरो दिया होगा। मुझे तो इसकी जेनेसिस यही लगती है।[1] वे लिखते हैं—

---

१. लगता है, कवि को 'मयूर' प्रतीक भाया है। तीन कविताएं मयूर को ही लेकर लिखी गई हैं।

"ओ रे मयूर
सुन्दर मयूर
व्यंसक मयूर
एक बात पूछूं
उत्तर दोगे ?
शहरों में तुम रहे नहीं
फिर क्यों कर तुमने
बाहर से कमनीय कलेवर
अन्दर से छलिया बन कर के
सीख लिया विषधर का खाना।"

शीर्षक संस्कृत व्याकरण का है, आइडिया आधुनिक शहरियों की स्थितियों पर व्यंग्य करने की इच्छा से उद्भूत है। इसी प्रकार सांप को लक्ष्य कर कही गई 'अज्ञेय' की यह कविता भी प्रसिद्ध है—

"सांप तुम सभ्य तो हुए नहीं
शहर में बसना भी तुम्हें नहीं आया
एक बात पूछूं ?
उत्तर दोगे ?
कहां सीखा डसना ?
कहां विष पाया ?

संदर्भ–बहुलता इन सभी कविताओं की विशेषता है।

"ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः" कविता में जीभ को संबोधित कर दांत उत्तर देते हैं:—

"जानती क्या तू नहीं, युद्ध का कारण अरी
क्यों महाभारत हुआ ? "अन्ध सुत भी अन्ध हैं"
शक्ति तेरी थी जगी, पंख तेरे थे उगे
\+ \+ \+
डर हमें लगता यहीं, तू तुड़ायेगी हमें
पाठ हम करते यही, ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः
(प्रयोग)

अन्ध–सुत (धृतराष्ट्र–पुत्र) दुर्योधन को लक्ष्य करके द्रौपदी आदि का ताना ही महाभारत का कारण बना था (राजसूय यज्ञ में) यह संकेतित है। (इससे अगली ही कविता में राजसूय का जवाब "प्रजासूय यह यज्ञ कि जिसमें जन जन की कल्याणी"

द्वारा दिया गया लगता है)[1] ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः से टी. एस. एलियट की कविता 'लन्दन ब्रिज' भी समाप्त होती है। सहलजी की कविताओं में तन्त्र, पुराण और बौद्ध साहित्य के भी संदर्भ निहित हैं। कुछ कविताओं का जन्म विचार-विशेष के कौंधने से हुआ है, यह स्पष्ट होता है 'प्रयोग' की "नहीं पहचान पाया मैं अरे आवाज अपनी ही" (ध्वनि मुद्रित वाणी सुनने का आइडिया) क्षणों के धागे की "नाम अंकित किया चन्द्रमा पर" "क्या ये पलकें भी कृत्रिम हैं ?" आदि कविताओं से।

इनके अनुशीलन से स्पष्ट है कि सहलजी का कवि संस्कृत वाङ्मय, (पुराण, कथाएँ, साहित्य, दर्शन), अंग्रेजी साहित्य के आधुनिक कवि (विशेषकर[2] टी. एस. एलियट), बदलते समाज की बदलती मान्यताएँ, विज्ञान की चमत्कृतियाँ (जो मानव की सहजता को निगल जाने की धमकी दे रही हैं, अतः कवि को प्रिय नहीं हैं) आदि विभिन्न प्रभावों के समन्वित संघात में ढला है। वह प्रमुखतः चिन्तक है।

कविताओं में संदर्भों के बीच मूल संस्कृत उद्धरण, राजस्थानी, गुजराती व हिन्दी उक्तियाँ या वैदिक ऋचाएं उसी प्रकार निविष्ट हैं जैसे एलियट की कविताओं मे ग्रीक व संस्कृत से लेकर स्विस जुवान तक के उद्धरण उपलब्ध होते हैं।[3]

इन कविताओं पर कुछ लिखना उचित व आवश्यक दोनों नहीं है। वे स्वयं पठनीय हैं। विचारोत्तेजक हैं। छोटे-छोटे विचार-सूत्र हैं। 'प्रयोग' व 'क्षणों के धागे' दोनों की लेखकीय भूमिकाएं भी उसी प्रकार पठनीय हैं। डॉ० बच्चन को 'क्षणों के धागे' की भूमिका बड़ी पसन्द आई। भूमिका बहुत सारगर्भित है। मैथिलीशरणजी ने लिखा है "आपके क्षणों के धागे स्थायी होते दिखते हैं।"

सहलजी ने १५ अगस्त, २६ जनवरी व ३० जनवरी ('सत्य पुरुष' गांधी का स्मृति दिवस) पर तो लिखा ही है, ३० मार्च पर भी लिखा है, जिस दिन देशी रिया-

---

१. "धरती धन्य धन्य हम जानी"

२. 'विडम्बना' (क्षणों के धागे, १८), पुरानी बोतल में नयी शराब (प्रयोग, पृ० २७) आदि पर एलियट के 'डिसइल्यूजनमेंट' की-सी छाप लगती है।

३. सहस्र शीर्षाः पुरुषः सहस्रपात्, माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः आदि वैदिक उद्धरण, 'न जातु कामः कामानाम्' जैसे श्लोक व श्लोकांश तथा गुजराती 'ओ नवो माणस कोण छे' (एक कविता का शीर्षक, 'प्रयोग' में) एवं "लिखित सुधाकर लिखिगा राहू" जैसे अवधी आदि के उद्धरण द्रष्टव्य हैं।

तन्त्रः शिव में से प्राणरूप 'इकार' के निकल जाने से 'शव' रह जाने का सिद्धान्त 'बात यह खटक गई' (प्रयोग पृ० ११) में, पुराणः ययाति को पुरु का यौवन-दान 'कालगणित' (प्रयोग) आदि कविताओं में बौद्ध साहित्यः 'चातुर्याम संवार सवाद' प्रज्ञापारमिता 'वाले प्रवचन, नागार्जुन का शून्यवाद आदि' में हूं पांच हजार वर्ष का' '(क्षणों के धागे)' कविता के अधिकांश में उपलब्ध हैं।

सतों के संघों का एकीकरण होकर राजस्थान राज्य पुनर्गठित हुआ था। इस दिन का ऐतिहासिक महत्त्व चाहे भारत की अधिकांश जनता को पूर्णतः ज्ञात न हो किन्तु राजस्थानवासियों तथा इतिहासकारों की दृष्टि में इस दिन का महत्त्व कितना होना चाहिए, सहज ही अनुमेय है। राजस्थान के ही कवि इस दिन पर कुछ लिख सकते थे।

एक बुद्धिवादी, बहुश्रुत कवि की इन रचनाओं पर प्रभावों का अध्ययन या समीक्षात्मक विश्लेषण जैसी दिमागी कसरत के लिए पर्याप्त अवकाश है पर यह सब साहित्य के परवर्ती इतिहासकारों के लिए छोड़ देना उचित होगा। कवि सहल की काव्य-रचनाएं परिमाण में विपुल नहीं हैं किन्तु उनमें समसामयिक साहित्य का अनुशीलन तथा युग की बुद्धिवादी विचार-सरणि का प्रतिफलन उपलब्ध है। कवि पर प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के अतिरिक्त टी. एस. एलियट-जैसे आधुनिक अंग्रेजी कवियों तथा अज्ञेय जैसे हिन्दी कवियों का प्रभाव परिलक्षित होता है किन्तु उसने इन सभी विभिन्न प्रभावों का समन्वयात्मक संगुम्फन अपनी कविता में किया है।

सम्पादक :

डॉ० सहल के सम्पादन-कार्यों पर विस्तारपूर्वक यहाँ नहीं लिखा जा रहा। इस क्षेत्र में इनका विशेष रूप से उल्लेखनीय कार्य कुछ प्राचीन पुस्तकों का संपादन (Textual editing) तथा उन पर विद्वत्तापूर्ण भूमिका-लेखन का रहा है। 'चौबोली' शीर्षक से चार राजस्थानी लोककथाओं का संपादन इन्होंने श्री पतराम गौड़ के सहकार में किया है। इसमें कहानियों का हिन्दी पैराफ्रेज तथा उनका आलोचनात्मक अध्ययन साथ ही दिया हुआ है। कविया रामनाथजी की लिखी (राजस्थानी) 'करुण बहतरी' (अपर नाम द्रोपदी विनय) जिसका संपादन, टीका, विद्वत्तापूर्ण भूमिका तथा कवि-परिचय डॉ० साहब की विद्वत्ता का परिचायक है, बंगाल हिन्दी मंडल, कलकत्ता से प्रकाशित हुई। महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण की 'वीर सतसई' का बहुत सुन्दर संपादन इन्होंने श्री ईश्वरदान आशिया और पतरामजी गौड़ के सहकार में किया है। इसमें विद्वत्तापूर्ण भूमिका, टीका और राजस्थानी दोहों की साहित्यिक परम्परा पर विवेचन उपलब्ध है। 'निहालदे सुलतान' की लोक कथा जो ५२ पवाड़ों के रूप में प्रचलित थी, इन्होंने पद्यात्मक पवाड़ों से गद्य में परिणत कर तीन भागों में प्रकाशित की। इस प्रकार की राजस्थानी साहित्य-सेवा के लिए तो ये सुप्रसिद्ध हैं ही, 'मरु भारती' नामक शोध त्रैमासिकी का बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट से प्रकाशन व संपादन प्रारंभ कर इन्होंने अत्यन्त बहुमूल्य साहित्य-सेवा की है, जिसके लिए राजस्थान का साहित्यिक समाज इनका चिरकाल तक आभारी रहेगा।

आलोचक :

डॉ० सहल के कृतित्व का एक महत्त्वपूर्ण अंग है उनका आलोचक-पक्ष। उन्होंने हिन्दी और राजस्थानी की विभिन्न महत्त्वपूर्ण कृतियों की समीक्षा भी की है और उनका प्राच्य और पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों के आलोक में समालोचनात्मक विश्लेषण भी किया है। 'साकेत'[1] 'कामायनी'[2] 'प्रसादजी के नाटक'[3] 'लहर'[4] 'गुंजन'[5] आदि पर गंभीर आलोचनात्मक अध्ययन तो उन्होंने प्रस्तुत किये ही हैं, सियारामशरण गुप्त के 'बापू' नामक गीति-काव्य पर, प्रेमचन्दजी के 'गबन'[6] उपन्यास की औत्सुक्य-व्यंजना पर, 'हरिकृष्ण प्रेमी' के 'अनन्त के पथ पर'[7] काव्य के रहस्यवाद पर तथा इस प्रकार की अन्य कृतियों[8] के पक्ष-विशेष पर समीक्षात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। इस प्रकार उनका आलोचक एक व्यापक धरातल पर कृतियों की समीक्षा के साथ अवतरित हुआ है। 'चौबोली' 'करुण बहत्तरी' 'वीर सतसई' आदि कृतियों के सम्पादन के साथ-साथ उनकी विमर्शात्मक भूमिकाएं भी डॉ० सहल की पैनी समीक्षात्मक अन्तर्दृष्टि की परिचायिका हैं। यह हुआ उनका समीक्षक-पक्ष। इसके अतिरिक्त भी उन्होंने आलोचना-क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, वह है प्राच्य और पाश्चात्य आलोचना-सिद्धांतों का अध्ययन प्रस्तुत करना और उनमें समन्वयात्मक व्यावहारिक

---

१. 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य वैभव' उर्मिला का विरह वर्णन और गुप्तजी के साथ पत्राचारः विवेचन, साकेत में सर्गों का अनुक्रम, साकेत पर रीतिकालीन प्रभावः मूल्यांकन, साकेत में प्रधान रसः आलोचना के पथ पर आदि।

२. कामायनी-दर्शन तथा 'कामसर्ग' 'लज्जा सर्ग' आदि निबन्ध।

३. प्रसादजी के नाटकों पर नियतिवादी दृष्टि से अध्ययन विविध निबंधों में निबद्ध है, देखें विवेचन 'प्रसादजी के नाटकों में नियतिवाद' 'मूल्यांकन'।

४. 'गुंजनगरिमा' शीर्षक से गुंजन के विविध पक्षों पर १० निबंध समीक्षांजलि में संगृहीत हैं।

५. बापू विमर्शःसमीक्षांजलि पृ० १०३।

६. गबन की औत्सुक्य-योजनाः आलोचना के पथ पर पृ० २१०।

७. अनंत के पथ परः आलोचना के पथ पर पृ० २४६।

८. जैसे 'कबीर की साखियों का संपादन' 'कवि पद्मनाथ' 'ईश्वरदास और उनका देवियाण' 'देवी चन्द्रगुप्तम् का आनुमानिक कथानक' 'महादेवी के काव्य में वेदना का वैभव' 'प्रिय प्रवास के वियोग-वर्णन पर महाकवि कालिदास की छाप' राम की शक्ति-पूजा का स्रोत' आदि निबंधों द्वारा विभिन्न हिन्दी-राजस्थानी कवियों और काव्यों के किसी एक पहलू को लेकर उनका आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

संभावनाओं का पता लगाना। इस दिशा में 'आलोचना के पथ पर' मूल्यांकन 'समीक्षांजलि' 'विवेचन' जैसे ग्रन्थों द्वारा उन्होंने पर्याप्त विचारोत्तेजक निबन्ध प्रस्तुत किये हैं।[1] यह, उनका आलोचक स्वरूप कहें या काव्यशास्त्री रूप, भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

भारतीय काव्यशास्त्र :

काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का अध्ययन संस्कृत के अध्येता के रूप में और पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों का अध्ययन अंग्रेजी साहित्य के विद्यार्थी के रूप में करके हिन्दी के अध्यापक के रूप में हिन्दी कृतियों की समीक्षा में उनका समन्वय डॉ० सहल ने किस प्रकार किया है, यह उनकी कृतियों से स्पष्ट होता है। लगता है, अध्यापक के रूप में जिन ग्रन्थों का अध्यापन किया जाता रहा होगा, उनमें लेखक ने जो जो खूबियाँ पाईं, उनको एक प्रबुद्ध समीक्षक के नाते उल्लिखित कर निबन्धों का रूप बाद में दे दिया गया होगा और इस प्रकार कामायनी, साकेत, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, जनमेजय का नागयज्ञ, लहर, गुंजन, गबन आदि ग्रन्थों पर समीक्षात्मक आलेखन[2] का आरम्भ हुआ होगा। साकेत और कामायनी के अध्ययन तो पर्याप्त पूर्णता तक पहुँच गये हैं। हिन्दी में विविध वादों के स्वरूप पर भी इन्होंने काफी कुछ लिखा है 'वाद-समीक्षा' में तो छायायाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, अभिव्यंजनावाद पर उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि से लेकर प्रायोगिक पक्ष तक का संक्षिप्त समीक्षण करते हुए निबन्ध ही संगृहीत हैं।

इसके साथ ही 'रस सिद्धान्त' 'औचित्य सिद्धान्त' 'साधारणीकरण और रसास्वाद के विघ्न' 'अलंकार और मनोविज्ञान' 'कुन्तक और काव्य' 'स्वभावोक्ति का अलंकारत्व' जैसे प्राच्य काव्यशास्त्रीय विषयों पर (आलोचना के पथ पर) काव्य में विराट् भावना, 'कालरिज का कल्पना सिद्धान्त' 'लांजीनस का भावोत्कर्ष' 'कला का त्रिकोण' 'शैली और व्यक्तित्व', 'संवेदना का हेत्वाभास' आदि पाश्चात्य[3] आलोचना-सिद्धान्तों को स्पष्ट करने वाले विषयों पर तथा 'संकलनत्रय और हिन्दी एकांकी'

---

१. सामान्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों पर कुछ विवेचन एवं वर्णनात्मक निबंध जैसे 'महाकाव्य की परिभाषा' 'कहानी का तंत्र' 'कला की उत्पत्ति' 'रहस्यवाद की भारतीय परंपरा' आदि आगे सूचित विशेष काव्यशास्त्रीय बिन्दुओं पर विमर्शात्मक आलेख।

२. जगन्नाथदास रत्नाकर के 'उद्धवशतक' पर या केशव पर त्रिविक्रम भट्ट के प्रभाव पर लिखे निबंध अध्यापन के समय ध्यान में आये विषयों को बाद में विवेचनात्मक आलेख का रूप दे दिया गया हो, इस प्रकार का संकेत देते हैं।

३. देखें: विवेचन, मूल्यांकन, विमर्श और व्युत्पत्ति नामक पुस्तकें।

से, एक नहीं तो समान अवश्य रहती हैं, और देश और काल के भेद से उनमें मौलिक अन्तर नहीं आता। (सहस्राब्दियों के बीतने पर शायद मानवीय मानस की क्रियाओं की प्रकृति में अणु के लक्षांश जितना परिवर्तन भले ही संभव हो) और चूंकि रस-सिद्धांत का आधार मानसिक प्रक्रिया है और किसी भी काव्यानन्द की अनुभूति में किस प्रकार की सूक्ष्म क्रियाएँ मानव मन पर होती हैं, इसका विवेचन ही रस शास्त्र का विषेय है, अतः इस सिद्धांत को किसी भी देश और काल के काव्यास्वाद-क्रिया-विवेचन में समाहित किया जा सकता है। आई. ए. रिचर्ड्स के 'Impulses and References ; (Thought)' तथा 'Co-aenesthesia' के सिद्धांत के साथ रस-शास्त्र के तन्मयीभवन और विगलितवेद्यान्तरता के सिद्धान्त का समन्वयात्मक अध्ययन बखूबी किया जा सकता है। विचारवादी (आइडियलिस्ट) मनोदार्शनिकों के सिद्धांतों का समन्वय तो इसमें होता ही है क्योंकि यह भी विचारवादी दर्शनधारा का ही एक अग है. किन्तु अत्याधुनिक, वामपंथी मनस्तत्वज्ञों ने मनोभौतिकी (Psychophysics) नाम से जो नया मनः शास्त्र निकाला है, उसके आलोक में भी इसकी सच्चाई परखी जा सकती है, अतः द्रव्यवादी (मैटीरियलिस्ट) दार्शनिकों के सिद्धान्तों के विरुद्ध भी यह नहीं जाता, इसलिए आधुनिक 'अकविताकारों' का दावा कि 'रस-सिद्धान्त की आधुनिक परिप्रेक्ष्य में कोई सत्ता[1] नहीं,' सतही ही है, इत्यादि विवेचन का यहां न तो प्रसग ही है, न अवकाश ही।

निवेदन का आशय यह है कि प्रत्येक जीवन्त बुद्धिवादी काव्यशास्त्री को जिस प्रकार रसवाद के गहन, समन्वयात्मक अध्ययन की पिपासा रहती है, उसी प्रकार डॉ० सहल को इस विषय में पर्याप्त जिज्ञासा एवं कुतूहल रहे हैं, यह उनके कुछ[2] निबन्धों से स्पष्ट होता है। टी. एस. एलियट के एक 'टकसाली पारिभाषिक शब्द' 'Objective Correlative' का काव्यशास्त्रीय अध्ययन करते हुए इन्होंने अपने हिन्दी निबन्धों (जैसे 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता तथा रस-सिद्धान्त,' 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता तथा ध्वनि सिद्धान्त')[3] में स्पष्ट किया है कि वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता जिस भावोद्रेक प्रक्रिया के साधन के रूप में स्वीकारी गई है, उसी का विवेचन तो हमारे काव्यशास्त्रियों ने किया है। भावोद्रेक और काव्यास्वाद के लिए भाव या विभाव जिस प्रकार आधार-भूत माने गये हैं, उसी प्रकार कलाभाव (Art emotion) के उद्रेक के लिए इस

---

१. इसीलिए शायद डा० तारकनाथ वाली जैसे विद्वानों ने "बौद्धिक रस" जैसी एक नई थ्योरी को जन्म देना चाहा था।

२. "रस सिद्धांत और क्रोध" "प्रसाद जी और रस सिद्धांत" आदि कुछ निबन्ध (विवेचन) भी इस प्रकार के अध्ययन हैं।

३. देखें (अनुसंधान और आलोचना)

सिद्धान्त में, घटना-श्रृंखला तथा उसके प्रतिरूपात्मक 'Set of objects' को आवश्यक मानकर उसे मूर्त प्रतीक, प्रतिरूप या वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता कह दिया गया है।

तुलनात्मक समीक्षण :

इस प्रकार का अध्ययन तुलनात्मक काव्यशास्त्रीय विवेचन की एक सराहनीय जिज्ञासा का प्रतीक है जो डॉ० सहल के 'आलोचक' और 'काव्यशास्त्री' रूप में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। इसका वास्तविक अन्दाजा लगाने के लिए उनके इस प्रकार के निबन्धों को पढ़ते ही बनता है, उसका अन्यत्र विवेचन संभव नहीं।

इसके साथ ही एक रुझान जो डॉ० सहल में प्राप्य है, वह है कबीर, वाल्मीकि जैसे हिन्दी संस्कृत-कवियों की कृतियों में पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की योजना करना तथा शेक्सपियर के नाटकों में प्राच्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की परख। इन्होंने कवितावली के प्रसिद्ध सवैये 'दूलह श्री रघुनाथ बने' में 'Objective Correlative' का सिद्धान्त लागू किया है[1] तथा

अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।
अहो विचित्रा देवस्य गतिर्नास्ति समागमः ॥[2]

(ध्वन्यालोक में उदाहृत)

इस गुणीभूतव्यंग्य के उदाहरण में भी वस्तुनिष्ठ प्रतिमानों के विवेचन के आधार पर डॉ० सहल ने उत्तम कोटि का काव्य पाया है।

मैं यह नहीं कहता कि इस प्रकार के सभी विवेचन अन्तिम रूप से सब को मान्य होंगे या सिद्धान्ततः सत्य स्वीकार्य होंगे किन्तु व्यक्तिशः मैंने इस प्रकार के प्राच्य-पाश्चात्य अध्ययनों में बड़ी रोचक, कुतूहलपूर्ण और आनन्दजनक अध्ययन-सामग्री पाई है।

'अनुरागवती' वाले श्लोक में गुणीभूत व्यंग्य क्यों माना गया, ध्वनि-काव्य क्यों नहीं? 'मेरी दृष्टि में वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता को लक्ष्य में रखकर ध्वनि-सिद्धान्त पर पुनर्विचार अपेक्षित है' डॉ० सहल ने लिखा है। यह छोटा-सा प्रश्न भी एक छोटे से दिलचस्प विचारोत्तेजक चिन्तन को प्रेरित कर देता है।

श्लोक में बात पते की कही गई है और बड़े चुटीले ढंग से कही गई है, फिर यह मध्यमकाव्य क्यों? आज की कविता के वर्ण्य-विषय की दृष्टि से तो यह मध्यम

---

१. "वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता तथा ध्वनि-सिद्धांत" (अनुसंधान और आलोचना)।
२. संध्या में कितना अनुराग है, दिवस भी उसके आगे आगे ही चल रहा है, पर हाय किस्मत! इतना होते हुए भी, दोनों का समागम कभी नहीं हो पाता!

काव्य नहीं हैं, यह आनन्दवर्धन भी मानेंगे। मेरे विचार में तो गुणीभूत व्यंग्य को मध्यम काव्य मानने का यह तात्पर्य नहीं कि वह 'नम्बर एक' काव्य से घटिया है, 'ध्वनि' या व्यंग्यार्थ को प्रधान मानने वालों ने जहां व्यंग्यार्थ प्रधान हो, वहीं उत्तम काव्य मान लिया, उसके जरा भी अप्रधान होने पर 'मध्यम काव्य' कह दिया, यह अवश्य हुआ किन्तु गुणीभूत—व्यंग्य होते ही काव्य घटिया हो जाता हो, इस पर पुराने काव्यशास्त्रियों के हृदय भी गवाही नहीं देते थे। दरअसल बढ़िया-घटिया वाला 'डिग्रीज' का अन्तर करना काव्यास्वाद के सिलसिले में मौजूं नहीं बैठ सकता। तभी तो कम बढ़िया, ज्यादा बढ़िया का फर्क करते-करते रसगंगाधरकार जगन्नाथ पंडितराज काव्य के चार भेद कर बैठे—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम, अधम और पांचवां भेद 'अधमाधम' मानते-मानते बच गये। वे भी गुणीभूत व्यंग्य में आनन्द के कायल होकर ही उसके दो टुकड़े कर गये उत्तम, मध्यम। (उत्तमोत्तम=ध्वनिकाव्य) अस्तु, इस श्लोक को कोई समासोक्ति अलंकार का व कोई 'आक्षेप' अलंकार का उदाहरण बतलाता है। मध्यमकाव्य इसलिए माना जाता है कि उन काव्यशास्त्रियों को कवि का उद्देश्य (इस श्लोक में) इस 'फस्ट्रेशन' को बतलाना नहीं लगा कि हाय! दो प्रेमी-हृदय कितने पास हैं, फिर भी कितने दूर हैं किन्तु 'अन्दाजेबयां' का कमाल दिखलाना मात्र इसका उद्देश्य उन्हें नजर आया; संध्या में अनुराग (ललाई और प्रेम) है, दिवस उसके पुरःसर है ('सामने' और 'पहले' दोनों पुरःसर के अर्थ हैं) फिर भी दोनों मिल नहीं पाते। यह वाच्यार्थ जिनको प्रधान लगा, उनके मत में यह गुणीभूत व्यंग्य है और मध्यम काव्य है। आज के वातावरण में यदि इस व्यंग्यार्थ को, कि प्रेमी-युगल के मिलने की मजबूरी कितनी कसकभरी है, प्रधान माना जाता है तो यह ध्वनिकाव्य भी हो सकता है।

मैं तो यह मानता हूं कि काव्यों का 'ग्रेडेशन' उस समय भी कट्टर नहीं था। समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अर्थालंकार होते हुए भी (जो लक्षणों के हिसाब से अधम काव्य माने जाने चाहिए) मध्यम काव्य कहे जाते थे। 'काव्यप्रकाश' में अधम काव्य का उदाहरण 'विनिर्गतं मानदमात्मन्दिरात्०' इतना उम्दा बयान है कि आज उसे उत्तम काव्य माना जाना चाहिए—अलंकार देखते ही ध्वनिवादियों ने बेचारे को 'अधम' बतला दिया। कवि कहता है कि उस राक्षस (हयग्रीव)[2] का देवताओं पर इतना खौफ था कि उसके हवाखोरी के लिए निकलने तक की खबर

१. अर्थात् 'पते की बात' जहां ज्यादा चमत्कारजनक हो, वह ध्वनिकाव्य और उसकी बजाय उसे कहने का चुटीला ढंग मात्र चमत्कारजनक हो, वहां गुणीभूत व्यंग्य—इस प्रकार का काव्य-सिद्धान्त।

२. यह श्लोक भर्तृमेण्ठ कवि के महाकाव्य 'हयग्रीववध' का है। यह महाकाव्य प्राप्य नहीं है, कुछ श्लोकमात्र इधर-उधर उदाहृत मिलते हैं।

पाते ही इन्द्र बेचारा डर से दौड़ कर अपनी राजधानी अमरावती का सदा खुला रहने वाला सदर दरवाजा खट् से बंद कर लेता था—लगता था मानों डर कर बेचारी अमरावती पुरी ने बरबस आंख मींच ली हो।

पर इसे 'अधमकाव्य' कहा जाता है। इसी प्रकार एक गलतफहमी और होती रहती है। 'रसाभास' शब्द साहित्य में ध्वनिकाव्य के एक भेद के रूप में आता है। शब्द से लगता है गोया 'रसाभास' कोई बुरी चीज हो पर दरअसल ऐसा है नहीं। जहाँ मानव-जाति के अलावा किसी अन्य प्राणि-जाति में भावोद्रेक का चित्रण किया गया—वहां 'रसाभास' मान लिया गया। किन्तु रसाभास के उदाहरण देखिए, बड़े उच्च कोटि के काव्य हैं। कालिदास ने वसन्त का वर्णन करते हुए समस्त प्रकृति को स्नेह-रस और शृंगार के आनन्द-प्रवाह में पगी बतलाया और लिखा[1] कि "कलियों की प्याली में भ्रमर अपनी प्रियतमा के साथ एक संग अधर मिलाकर मधु पीने लगा, मृग भी अपनी प्रियतमा को प्रणय-निवेदन करने लगा और आनंद से अधमुंदे पलकों वाली मृगी को सींग से सहलाता रहा।" अच्छा वर्णन है, किन्तु भौंरे और मृग का शृंगार रस बतला दिया गया, इसलिए यह 'रसाभास' हो गया और कुछ लोगों द्वारा घटिया समझा जाने लगा। वस्तुतः 'रसाभास' कहलाने के कारण ही वह घटिया नहीं हो गया। 'आभास' कहने का कारण केवल यह है कि भौंरे या पक्षियों में वस्तुतः 'शृंगार-रस' का उद्रेक होता हो, ऐसा उन आचार्यों को निश्चित नहीं था, उनका मत था कि हमें उन्हें देखकर लगता है कि वे शृंगार-विभोर हैं क्योंकि हम अपना संवेदन उनमें प्रतिफलित पाते हैं। इसीलिए पशुपक्षियों या अचेतनों का रस 'आभास' कहा गया। यह शायद Pathetic Fallacy का ही एक रूप होगा। (जिस पर डॉ० सहल ने एक निबन्ध अलग से लिखा है और उसे 'संवेदना का हेत्वाभास'[2] नाम दिया है)। भील और भीलनी के विशुद्ध प्रेम को भी जिन्होंने रसाभास बतला दिया, वे तो 'बूजुंआ' थे ही। कहते थे, अधम जातियों का रस भी 'रसाभास' है (गोया वे भी पशुपक्षी ही हों। अस्तु, यहां इसका प्रसंग नहीं है, अतः अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं।)

मेरे निवेदन का आशय यही है कि इस प्रकार के विवेचन समीक्षक की-सी अन्तर्दृष्टि तथा विद्वान् के-से विस्तृत अध्ययन की अपेक्षा रखते हैं और ये दोनों आलोचक डॉ० सहल में विद्यमान हैं। इसीलिए तो वे इस प्रकार के लेखन में प्रवृत्त हुए।

●●●

---

१. 'कुमारसंभव' तृतीय सर्ग।

२. Ruskin के इस सिद्धान्त को जो प्रकृति के मानवीकरण वाले छायावादी सिद्धांत के समानान्तर है, भारतीय काव्यों पर लागू करते हुए डॉ० सहल ने इसी शीर्षक का एक निबन्ध लिखा है। (समीक्षांजलि)

डॉ० सहल का रस-विवेचन

• डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित

हिन्दी-समीक्षा-जगत् में डा० कन्हैयालाल सहल का नाम इतना सुख्यात है कि उनके उस व्यक्तित्व के विषय में अनेकविध दृष्टिकोणों से चर्चा की जा सकती है। वे एक सजग प्राध्यापक हैं और अनुभव-विस्तार के साथ उनमें ज्ञान-विस्तार और उसके गांभीर्य के लक्षणों का उदय इसीलिए आश्चर्यजनक नहीं है। उनके लेख इस बात के प्रमाण हैं कि अध्यापन-काल में बार-बार एक ही प्रश्न से उलझने की प्राध्यापकीय नियति को उन्होंने विवशता के रूप में ग्रहण नहीं किया है, अपितु वे ज्ञानार्जन की नवीन दिशाओं में जिज्ञासु-भाव से पैठते चले गए हैं। स्वाभाविक है कि वे परीक्षण या निरीक्षण के लिए चिन्तन की प्रक्रिया में आत्मालोचन का सहारा लेते हैं और महत्त्व-पूर्ण विषयों का पुनः पुनः व्याख्यान करते रहते हैं। आज तक उनके प्रकाशित लेख-संग्रहों से इस प्रवृत्ति का प्रमाण सहज ही मिल जाता है। मैं केवल रस-विवेचन के संदर्भ में ही यहाँ कुछ उल्लेख करना चाहूँगा।

डा० सहल की प्रकाशित पुस्तकों में से "आलोचना के पथ पर", "समीक्षायण" तथा "विमर्श और व्युत्पत्ति", यह तीन ऐसी हैं जिनमें रस-विवेचन-सम्बन्धी कई लेख संगृहीत हैं. साथ ही "साकेत का नवम सर्ग" तथा "कामायनी दर्शन" से भी उनके उस विवेचन का थोड़ा-बहुत सम्बन्ध है ही। प्रथमोल्लिखित तीनों पुस्तकों में निम्नांकित शीर्षकों में रस के सम्बन्ध में विचार किया गया है—

१. आलोचना के पथ पर— १. साधारणीकरण और रसास्वाद के विघ्न।
२. नाट्यदर्पणकार का रस-विवेचन।
३. करुण-रस की सुखात्मकता।

२. समीक्षायण— १. ट्रेजेडी पर रवीन्द्र और रिचर्ड्स के विचार।

३. विमर्श और व्युत्पत्ति— १. रस-प्रक्रिया का त्रिकोण और पाश्चात्य समीक्षक।
२. ट्रेजेडी में अहं का विगलन।
३. दुःख से सुख की समस्या।
४. ट्रेजेडी के सम्बन्ध में नूतन मानवीय दृष्टिकोण।

उक्त आठ लेखों के अतिरिक्त इस प्रसंग में "आलोचना के पथ पर" में संगृहीत लेख "साकेत में प्रधान रस" तथा "विमर्श और व्युत्पत्ति" में लिखित (i) "साकेत में वियोग-वर्णन का विशिष्ट रूप" एवं (ii) डॉ० नगेन्द्र की पुस्तक "कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ" की आलोचना में लिखा गया इसी शीर्षक का लेख प्रसंगतः उल्लेख्य हैं। साथ ही पत्रिकाओं में प्रकाशित उनके तीन लेख, (१) दुःख से सुख क्यों: कालिदासीय समाधान, (२) वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता तथा रस-सिद्धान्त तथा (३) वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता तथा ध्वनि-सिद्धान्त भी इस संदर्भ में पठनीय हैं। इस प्रकार डॉ० सहल के चौदह (१४) निबंधों का सम्बन्ध रस-विवेचन से है।

उक्त लेख-शीर्षकों पर ध्यान दें तो डॉ० सहल की रुचि मूलतः करुण रस, या ट्रेजेडी से सम्बन्धित प्रश्नों को हल करने में अधिक प्रतीत होती है। यही कारण है कि उक्त तीनों पुस्तकों के कुल लेखों में से ६ इसी विषय से सम्बंधित हैं, साथ ही "साकेत" सम्बंधी रस-विवेक का सम्बंध भी दुःखात्मक (वियोगात्मक) प्रसंग से ही है। स्पष्ट है कि डॉ० सहल को अध्यापन के समय "दुःख के प्रसंगों से रसानुभूति" (?) के प्रश्न ने बार-बार झकझोरा है, सोचने और नयी राह निकालने को विवश किया है। शोध-लेखों में से "साधारणीकरण और रसास्वाद के विघ्न" तो किन्हीं नवीन विचारणाओं को सामने नहीं लाता, विद्यार्थि-हेतुक है और "कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ" शीर्षक में केवल डॉ० नगेन्द्र द्वारा प्रतिपादित "आनन्दरस" का विचार अन्य समस्याओं के साथ स्पर्श-वृत्ति से ही गृहीत है। "विमर्श और व्युत्पत्ति" का प्रथम लेख "रस-प्रक्रिया का त्रिकोण और पाश्चात्य समीक्षक" सर्जन की समस्याओं को भी छूता है और अनुभूति को भी, अतः उल्लेख्य ही नहीं, नवीन भंगिमा के कारण विवेच्य भी है। इन लेखों में से भी "आलोचना के पथ पर" में सगृहीत "करुण-रस की सुखात्मकता" लेख में स्वयं लेखक के शब्दों में "प्रस्तुत विषय-सम्बंधी विभिन्न मतों का स्पष्टीकरण मात्र ही लेखक का इष्ट रहा है।"

अस्तु, डॉ० सहल के रस-विवेचन के संदर्भ में हमारे विवेचन का क्षेत्र दुःखात्मक प्रसंगों से रसानुभूति, आनन्दरस और सर्जन तथा अनुभूति के संदर्भ में रस-

प्रक्रिया के विचार तक ही सीमित रह जाता है। संभव और आवश्यक नहीं है कि हम यहाँ उनके प्रत्येक लेख का पृथक्तः विवेचन करें, फिर भी सुविधा की दृष्टि से हम विवेचन के समय ऐतिहासिक दृष्टिकोण का भी आश्रय लेंगे जिससे डॉ० सहल के विचारों के गतिप्रवाह को जानने में सरलता हो सके।

काव्य के करुण रस के स्थायीभाव शोक, शृंगार के विप्रलम्भ भेद और भयानक, बीभत्स तथा रौद्र के स्थायीभाव भय, जुगुप्सा तथा क्रोध की स्थिति जगत् में दुःखात्मक या चित्त-वैकल्य-कारिणी दिखाई पड़ती है, किन्तु काव्यानुभूति को पंडितों ने रसानुभूति और रस को आनन्दात्मक मानकर इसको आनन्दानुभूति ही मान लिया है। ऐसी स्थिति में, स्वाभाविक है कि शास्त्र-विवेचकों ने दुःखात्मक दृश्यों तथा दुःखान्त नाटकों से सुखानुभूति होने की कल्पना के सम्मुख प्रश्न चिह्न अंकित किया है और इसके विभिन्न समाधान भी खोज निकाले हैं। अतः इस प्रसंग में मुख्यतः दो प्रकार के प्रश्न चर्चित हुए हैं और काव्य-पाठक का ध्यान आकर्षित करते हैं—

१. दुःखात्मक प्रसंगों और कृतियों तथा दुःखान्त (ट्रेजेडी) नाटकों से आनंदानुभूति का कारण क्या है ?

२. कलाकार दुःखात्मक नाटकों की रचना क्यों करते हैं और दर्शक उन्हें क्यों देखते हैं ?

इन दोनों प्रश्नों से मिलाजुला संदर्भित तीसरा प्रश्न है—हमें ऐसे दृश्यों (कृतियों) से दुःख से दुःख की ही अनुभूति न होकर सुखानुभूति (आनन्दानुभूति) क्यों होती है ? यह प्रश्न वस्तुतः प्रथम प्रश्न में ही अन्तर्भुक्त होने पर भी कदाचित् कुछ पृथक् है, पहले प्रश्न को अभावात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करता है। प्रथम प्रश्न के अन्तर्गत विषय का विवेचन प्रायः पश्चिम और पूर्व में सहृदय की दृष्टि से ही किया गया है, किन्तु दूसरे प्रश्न के पूर्वार्द्ध में स्वयं सर्जक को भी इस प्रश्न से सम्बंधित मानकर डॉ० सहल ने दृष्टि-विस्तार का परिचय दिया है।

डॉ० सहल अपनी प्राध्यापकीय वृत्ति से परिचालित होते हैं, अतएव लेखों का प्रारम्भ, मध्य और अन्त प्रायः विद्वानों, प्राचीन आचार्यों, पश्चिमी समीक्षकों के कथनों से युक्त रहता है। इसमें भी वे मुख्यतः रवींद्र, रिचर्ड्स और आधुनिक-मनोविज्ञान से प्रभावित हैं। अतः उनके एतद्विषयक निष्कर्ष प्रायः इन विद्वानों और धारणाओं से प्रभावित हैं। अपनी बात की पुष्टि भी वे उन्हीं से करते-कराते हैं। आश्चर्य नहीं कि उनके विचारों में अदृष्ट रूप में इन्हीं का हाथ भी रहता है। साथ ही नव्यता के साथ विचारों की प्रकारान्तर-पुनरावृत्ति भी लक्षित की जा सकती है।

करुणरस, ट्रेजेडी, दुःखात्मकता के प्रश्नों के संदर्भ में डॉ० सहल ने जिन महत्त्वपूर्ण कारणों पर बल देते हुए काव्यगत आनन्दानुभूति का समर्थन किया है, वे हैं—(१) आत्म-प्रसार (२) अहं का विगलन (३) स्वस्थता या आत्म-संप्राप्ति (४) भावमग्नता या प्रबल अनुभूति (५) मानवीय शील के औदात्य द्वारा जनित सहानुभूति और (६) भावसामंजस्य।

इन छहों कारणों से ही लोकानुभूति और काव्यानुभूति (रसानुभूति) के बीच अन्तर प्रमाणित होता है। अर्थात् लोक से ही विषय-वस्तु को ग्रहण करते हुए भी काव्य अपना प्रभाव कुछ भिन्न प्रकार से अंकित करता है, दुःख से दुःख नहीं उत्पन्न करता बल्कि सुख और आनन्द में डुबो देता है। आत्म-प्रसारण ही वह पहला कारण है जिसकी ओर सहल जी का ध्यान आकर्षित हुआ है। जैसा कि स्वयं सहल जी के विवेचन से प्रकट है, आत्म-प्रसार, अहं का विगलन और स्वस्थता या आत्मसंप्राप्ति (आत्मोपलब्धि) का पारस्परिक गहरा सम्बन्ध है। आत्मप्रसार के मूल में जहाँ अपनी व्याप्ति की भावना काम करती दीखती है, वहीं अपनी स्थिति के ज्ञान की, अपने वास्तविक स्वरूप के ज्ञान की भावना भी काम करती है। अतः आत्मप्रसार आत्मसंप्राप्ति को आधार मानकर ही हो सकता है। इसी प्रकार अहं का विगलन, अपनेपन (ममत्व) का निरास एक ओर जहां अपने को घुलाकर दूसरों से एक करने और उसी में अपना प्रसार मान लेने (आत्मविस्तार) में है, वहीं दूसरी ओर वह अहंकार के विनाश द्वारा अपनी आत्मा की सत्य-स्थिति का परिचय होने से स्वस्थता और आत्मसंप्राप्ति या आत्मोपलब्धि भी है। क्रिया की दृष्टि से क्रमशः प्रसार, कुछ छूटना या कुछ की प्राप्ति के बोध से इनमें पारस्परिक भिन्नता भले ही दीख पड़ती हो, तीनों यत्किंचित् भेद से परिणाम में एक हो हैं। भेद पर ही ध्यान रखें तो अहं का विगलन तीनों में मध्यवर्ती है और प्रसार और प्राप्ति दोनों का मूलवर्ती भी। "आत्मप्रसार" और "अहं का विगलन" का सम्बंध स्वयं सहल जी के विवेचन से भी स्पष्ट हो जाता है।

"आलोचना के पथ पर" में "नाट्यदर्पणकार का रस विवेचन" शीर्षक के अंतर्गत सहल जी ने नाट्यदर्पणकार की इस त्रुटि का निर्देश करते हुए, कि उनकी दृष्टि शोक और करुणा के भेद पर नहीं गई है, कहा है कि करुणा के रूप में ही काव्य में शोक व्यक्त हुआ करता है, शुद्ध लोकानुभव (शोक) के रूप में नहीं। लौकिक शोक दुःखकारक होता है, जबकि काव्यगत करुणा का स्वरूप सुखात्मक है। करुणा किसी को दुःखी देखकर उसके प्रति सहानुभूतिशील होने से जगती है और संसार का नियम है कि दूसरे का दुःख दूर करने से सुख मिला करता है, क्योंकि वहां मनुष्य का मन स्वार्थ-भूमि पर नहीं, त्याग-भूमि पर संचरण किया करता है। स्वार्थ-त्याग

में सुख मिलता है. इसका प्रमाण यह है कि यही समझ कर प्राचीनों ने "तेन त्यक्तेन भुंजीथाः" का उपदेश दिया है। स्वार्थ का त्याग तो परार्थ की अनुभूति से उत्पन्न होता है या उस ओर प्रवृत्त करता है। यह परार्थ या स्वार्थत्याग व्यक्ति तभी करता है, जब वह अपने ममत्व के भेद से मुक्त हो जाता है। "मैं" और "हूँ" की हुंकार के स्थान पर "तू" की पुकार, जिसका उपदेश कबीर ने दिया है, जब चित्त का स्वभाव बन जाता है, तब समझिए, व्यक्ति स्वार्थत्याग की प्रक्रिया से होकर गुजर चुका है, गुजर रहा है। यही तो अहं का विगलन है, यही "अहं के कारागार से ऊपर उठकर परिधि को विस्तृत करने वाला" आत्मप्रसार भी है (सहल) और इसी को (शुक्ल जी) 'संकुचित मंडल से ऊपर" उठना कहते हैं। इसी को "आत्मा का विस्तार" भी कहा गया है जो स्वयं डॉ० सहल द्वारा "आलोचना के पथ पर" में संगृहीत "करुण रस की सुखात्मकता" शीर्षक लेख के उद्धृत अंश से स्पष्ट हो जाता है। यथा, "बाबू गुलाबराय जी के मतानुसार जिस प्रकार और कोई नाटक या काव्य हम को प्रसन्नता देते हैं, उसी प्रकार, उन्हीं कारणों से, दुःखान्त नाटक भी प्रसन्नता देते हैं। काव्य या नाटक से हमको क्यों प्रसन्नता होती है ? इसके भी कई उत्तर हो सकते हैं। उनमें से एक यह भी है कि काव्य के द्वारा हमारी आत्मा का विस्तार होता है। हम शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बंध में आते हैं। नाटक चाहे दुःखांत हो चाहे सुखान्त, उसके पात्र हमारे जैसे हाड़, मांस, चाम के पुतले होते हैं और जो हमारी तरह ही इच्छा, द्वेष और प्रयत्न कर सुख या दुःख के भागी बनते हैं। मनुष्य स्वभाव से सहानुभूतिशील है। वह अपने कुल और गोत की वृद्धि चाहता है।" (पृ० ५३-५४)

इस आत्मप्रसार का ही एक रूप आत्मोपलब्धि है। स्वयं आगे चलकर सहल जी ने कहा ही है : "प्रकृत रूप में जब मनुष्य की आत्मा का प्रसार होता है, उस समय वह अहं की शृंखला को तोड़कर संपूर्ण विश्व के साथ तादात्म्य स्थापित करने लगता है। संकीर्णता आत्मा का सहज गुण नहीं है, वह उपाधिजन्य है। मनुष्य की आत्मा है ही विभु स्वरूप और जब वह अपने उपाधिग्रस्त रूप को छोड़कर अपना असली रूप धारण करती है, तब वह आनंदित हो उठती है। अपने स्वरूप को पहचानकर सभी प्रसन्न होते हैं। "भूमा वै सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति" का भी यही अर्थ है। मनुष्य जब तक केवल अपने सुख के लिए प्रयत्न करता है, सच्चा सुख उससे दूर ही रहता है। एक ही जगह बंधा हुआ तालाब का पानी भी गँदला हो उठता है। आत्मप्रसार होने पर ही अहं की कारा से मुक्ति मिलती है और, सच कहा जाय तो, यही आत्म-साक्षात्कार का आनंद है, यही मुक्त दशा भी है।" (वही, पृ० ५४-५)

उद्धृत अंश का अंतिम वाक्य ध्यान से पढ़ें तो स्पष्ट हो जायगा कि जिस आत्मप्रसार को एक क्षण पूर्व सहल जी ने "अहं के विगलन" के द्वारा होता बताया

था, उसी को लौटकर वे "अहं के विगलन" का कारण मान लेते हैं। साथ ही इसी वाक्य में सचाई का सहारा लेते हुए वे इसी को "आत्मसाक्षात्कार का आनन्द" भी कह ही देते हैं। यहाँ आकर इस बात में संदेह नहीं रह जाता कि इन तीनों स्थितियों की परस्पर कार्यकारणता को उन्हें भी स्वीकार करना पड़ा है और वह भी इस रूप में नहीं कि तीनों अलग-अलग हों, बल्कि एक दूसरे के सहज परिणाम के रूप में अंतिम स्थिति को, वास्तविकता की, खोज ने ही उन्हें वहाँ तक पहुँचाया है।

और भी स्पष्टता के लिए डॉ० सहल की नई पुस्तक "विमर्श और व्युत्पत्ति" के अंतर्गत उनके लेख "अहं का विगलन" का उल्लेख करना ठीक होगा। यहाँ आकर उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि इस सिद्धांत की कल्पना इलियट द्वारा प्रतिपादित "अहं से मुक्ति" सिद्धांत के मेल में है (और भारतीय सिद्धांतों के मेल में भी)। सहल जी ट्रेजेडी में आनन्द का मूलकारण "अहं का विगलन" ही मानते हैं। "अहं विगलन जितना ट्रेजेडी द्वारा सम्भव है, उतना साहित्य की अन्य किसी भी विधा द्वारा सम्भव नहीं।" उनकी दृष्टि में "जीवन की एक बड़ी भारी विडम्बना है कि अनेक वर्षों तक जीवित रहने पर भी उसे (मनुष्य को) यों ही आत्मोपलब्धि नहीं होती, वह अपने स्वरूप को नहीं पहचान पाता। वह अपने स्वरूप को भूला रहता है और इस "आत्मविस्मृति" को स्मृतिपथ पर लाने के उपायों में से एक उपाय है दुःखानुभूति। रवि बाबू ने तो इसीलिए दुःख को विभु का वरदान बतलाया है क्योंकि उसके द्वारा आत्मोपलब्धि होती है।" इस दुःखानुभूति और उससे परिणमित आत्मोपलब्धि की प्राप्ति कराती है ट्रेजेडी और वह भी इस तरह कि "दुःख की लोकानुभूति कराये बिना ट्रेजेडी हमें दुःख से उत्पन्न होने वाला लाभ पहुँचा देती है और वह है "अहं के विगलन" द्वारा आत्मोपलब्धि की झलक।" (पृ० १७)। इसी आत्मोपलब्धि को वे "आत्म-स्वरूप", "आत्मभाव" और "स्वभाव" पर्यायों से भी समझाते हैं और फिर "अहं के विगलन" और "आत्मोपलब्धि" को "आत्मप्रसार" से जोड़ देते हैं—"अहं की स्थिति संकोच और अल्पत्व की स्थिति है, आत्मा का स्वरूप विभु है जिसका बहुत्व, विस्तार अथवा भूमा से सम्बंध है। अल्पत्व दुःख का कारण है और भूमा आनन्द का हेतु है" (पृ० १८)। तात्पर्य यह कि उक्त तीनों सिद्धांतों का पारस्परिक सम्बंध कुछ इतना घनिष्ठ है कि उन्हें अंतरवलंबित स्थिति में ही स्वीकार करना पड़ता है और कहा जा सकता है कि "अहं का विगलन" कारण है "आत्मोपलब्धि" एवं "आत्मप्रसार" का और "आत्मोपलब्धि" या "आत्मप्रसार" की प्राप्ति ही आनन्द की प्राप्ति है। इस रूप में यह "अहं का विगलन" भट्टनायक के निविडनिजमोहसंकटतानिवारण" का ही दूसरा नाम है जिसके माध्यम से साधारणीकरण रूप "आत्मविस्तार" होता है और

"परमभोग" अथवा अभिनव गुप्त के "आत्मगत वासनारूप स्थायी की निर्विघ्न प्रतीति" होती है, रस (आनन्द) प्राप्त होता है।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि प्राचीन आचार्यों के कथनों से जो बात स्पष्ट नहीं हो पा रही थी और बाद में, जिसका विवेचन बहुत प्रभावपूर्ण ढंग से हुआ भी नहीं, वह थी कवि का साधारणीकरण। डॉ० सहल इसे इलियट के सहारे तुलसीदास और उनके "रामचरितमानस" के उदाहरणों द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। तुलसीदास के विषय में वे कहते हैं : "अपने उपास्यदेव की कृपा से उनका "अहं" भाव दूर हो गया है, कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि तुलसी "अहं" तथा तज्जन्य मोह से आक्रांत हैं।" साथ ही "रामचरितमानस" में प्रभु-कृपा पर ही निर्भर रहने वाले हनुमान जैसे पात्र भी इसी बात की प्रतीति कराते जान पड़ते हैं। किन्तु यहाँ यह भी न भूलना चाहिए कि इस प्रश्न का समाधान एकमात्र भक्त-कवियों को उदाहृत करके नहीं किया जा सकता, अन्य कवियों के द्वारा भी इस बात का प्रमाण मिलना चाहिए और वह केवल शास्त्रीय वार्ताओं से ही उपलब्ध है, प्रत्यक्ष नहीं। जो हो, सहल जी ने कविगत "अहं के विगलन" पर ध्यान अवश्य दिया है और नये विचारों के आलोक में प्राचीन शास्त्र के कथनों को प्रमाणित भी किया है, भले ही उसी शब्दावली में न किया हो।

इस प्रसग में उल्लेखनीय है कि डॉ० सहल इस मत का प्रतिपादन करते-करते स्वस्थता तक जा पहुँचे हैं। अतः वे कहते हैं—"ट्रेजेडी देखते अथवा पढ़ते समय मनुष्य चाहे थोड़ी देर के लिए सही, स्व-स्थित अथवा स्वस्थ हो जाता है, अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है जिसमें अहं का विसर्जन है, अहं से मुक्ति है।" (वि. व्यु. पृ. १८)। इस स्वस्थता की थोड़ी-बहुत चर्चा उन्होंने अपने आरम्भिक लेख "नाट्यदर्पणकार का रस-विवेचन" में भी की है। यथा, "आनन्द का मूल कारण स्वस्थता है, परस्थता नहीं।" (आ. प. पृ. ४५)। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि दोनों स्थानों पर सहल जी एक ही बात कहकर छुट्टी पा लेते हैं, क्योंकि "आलोचना के पथ पर" में जिस स्वस्थता की चर्चा की गई है, वह न तो आत्मप्रसार-रूप "अहं का विगलन" है और न ही वह "अहं" की "संकोच" और "अल्पत्व" की स्थिति से मुक्त होने की बात कर रहे हैं। इस स्थान पर उनकी व्याख्या अभिनव गुप्त की "विश्रांति" को छूती हुई चलती है और साथ ही मनोविज्ञान के दूसरे पहलू को भी उद्घाटित करती है। वस्तुतः वे यहाँ ममत्व की भावना से मुक्ति चाहते हैं, दुःख-सुख के द्वन्द्व से मुक्ति चाहते हैं किंतु यहाँ वे शैव ढंग पर "आभास" से बचकर "विमर्श" की दशा में रसानुभूति का रहस्य ढूँढते हैं। यहाँ वे "अहं" (अहंकार) के त्याग की बात न कहकर "मोहत्याग" की बात करते

हैं और तब "विमर्श" रूप "अहं" स्वस्थता तक पहुँचते हैं, जो नितान्त विश्रांति की अवस्था है। इसी को रसना, आस्वादादि नामों से पुकारा जाता है (तथा हि—लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्तिलय-विश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते।—अभिनव-भारती, भा० १, पृ० २८०)। अभिनव गुप्त के विचार से इस "विमर्श" की दशा "अहमिति" अर्थात् "मैं" के ज्ञान से प्राप्त होती है। इस ज्ञान के न रहने पर ही जगत् का "आभास" प्रतीत होता है जो विकल्प की स्थिति है। "अहं" ज्ञान का बोधक है और ज्ञान का सम्बंध शक्ति और चित् से है। विमर्श तथा अहं एक स्थिति के द्योतक हैं। विमर्शदशा चित् या शक्ति से सम्बन्धित है। किन्तु यह शिव तथा शक्ति के अभेद के बिना सिद्ध नहीं होती, अतः यह निर्विकल्प अवस्था है। इसी अवस्था में आनन्द है, क्योंकि इस दशा में परमशिव इच्छारहित और आत्मस्थ होता है, जिसमें चित् तथा आनन्द मात्र शेष रहता है। इच्छारहित होने से उसमें द्वैतबोध नहीं रहता, अतः वह देशकाल की बाधा से भी मुक्त है। स्वतंत्रता ही आत्मस्थता या स्वस्थता (स्व + स्थता) है। स्पष्ट है कि जहां अहं = अहंकार = ममत्व से छूटकर आत्मप्रसार की सिद्धि होती है, वहाँ इस "विश्रांति" से केवल आत्मज्ञान या आत्मानुभूति की प्राप्ति होती है। आत्मप्रसार यहाँ साधारणीकरण के धरातल पर ही छूट जाता है और स्वस्थ होकर व्यक्ति आत्मोपलब्धि करता है। यही भावमग्नता है और डॉ० सहल इसी को लक्ष्य करके स्वस्थता की चर्चा करते हुए कहते हैं—

"जब तक हमारी वृत्तियाँ चंचल हैं, तब तक हम अन्तर्मुख होकर भावमग्न नहीं हो सकते और बिना भावमग्न हुए सुख नहीं मिल सकता। परमात्मा ने भी सामान्यतः मनुष्य की वृत्तियों को बहिर्मुखी बनाया है, अन्तर्मुखी नहीं। वास्तव जगत् में इसलिए सुख के साथ दुःख का स्पन्दन देखने को मिलता है। जब किसी मनुष्य पर विपत्ति आती हो तो वह प्रकृतिस्थ अथवा स्वस्थ नहीं रह सकता, वह परस्थ हो जाता है—इंद्रियों का चांचल्य उसे ग्रसित कर लेता है। इससे यह न समझिए कि शोक में ही वृत्तियाँ चंचल होती हैं। वास्तव जगत् की प्रणयानुभूति में भी चांचल्य पीछा नहीं छोड़ता। किन्तु काव्य अथवा नाटक में पाठक तथा दर्शक को जो रसानुभूति होती है, उसमें भावमग्नता के कारण वृत्तियों की चंचलता जाती रहती है और सब प्रकार के विघ्नों के तिरोहित हो जाने के कारण दर्शक स्वस्थ रहता है। भावमग्नता के कारण बाह्य घटनाएँ उसे विचलित नहीं कर पातीं। वास्तव जगत् में यदि किसी की प्रेयसी स्वर्ग सिधार जाती हो तो प्रेमी उसके विरह में रो-रोकर व्याकुल और अधीर हो उठता है। उसके दुःख एवं उसकी विह्वलता का कारण है उसकी परस्थता। किन्तु काव्य में हमारी वृत्तियाँ रसास्वादन के समय अन्तर्मुखी हो जाती हैं, वासना रूप से जो भाव हमारे हृदय में स्थित है, उन्हीं में

हम मग्न हो स्वास्थ्य-लाभ करते हैं, भावमग्न होने के लिए भावों को कहीं से उधार नहीं लाना पड़ता, वे हमारे ही भाव हैं जिनमें हम मग्न होते हैं। (आ. प., पृ. ४५-४६)। यहाँ डॉ० सहल अभिनव गुप्त का अनुमोदन करने के साथ-साथ उस धारणा को नई शब्दावली में मनोविज्ञान की अंतर्मुखता-बहिर्मुखता से भी जोड़ देते हैं।

स्पष्ट है कि यदि यह अभिनव गुप्तकृत व्याख्या का पुनरुद्धार है तो उनकी यह व्याख्या आध्यात्मिक या दार्शनिक दृष्टिकोण को ही व्यक्त करती है और मनोविज्ञान के शब्दों का प्रयोग करके भी उसका स्वरूप आध्यात्मिक ही बना रहा है। विमर्श और व्युत्पत्ति तक आते-आते डॉ० सहल के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित हो गया है कि "आज का व्यवहारवादी (Pragmatic) दार्शनिक संभवतः यही कहेगा कि मनुष्य का असली स्वभाव, अहंवाद तथा दुनिया के सुखों से संबद्ध है।" (पु० १८)। किन्तु उस दिशा में वे उत्तर की खोज में प्रवृत्त नहीं होते और अंततः उसी दार्शनिक व्याख्या के सहारे निष्कर्ष उपस्थित करते हुए कहते हैं—

"जब कामनाओं के नदी-नद मनुष्य के हृदय-समुद्र में पहुँचकर उसे विक्षुब्ध न करें, तब समझना चाहिए कि वह उच्च धरातल पर स्थित है। शांति कामनाओं की कामना में नहीं, सब प्रकार की कामनाओं के सामंजस्य में है।" (वही, पृ० १६)।

स्वस्थता से "सामंजस्य तक की इस यात्रा में सहल जी अकस्मात् ही "समीक्षायण" में लिखे गए अपने "ट्रेजेडी पर रवींद्र और रिचर्ड्स के विचार" शीर्षक लेख के पास लौटते चले गए हैं। आत्मोपलब्धि (रवींद्र की "आत्मसंप्राप्ति") और स्वस्थता की दार्शनिक पीठिका भारतीय है तो "सामंजस्य" में भी भारतीय समरसता आदि सिद्धांतों की खोज की जा सकती है, किंतु यह लेख सहल जी की अवधारणा का सहज ही रिचर्ड्स के विचारों से सम्बन्ध स्थापित करता जान पड़ता है।

उक्त लेख में रवींद्र की ओर से कहा गया है—"जो वस्तु हमारे मन पर जबरदस्त छाप छोड़ जाती है, उसका प्रभाव भी बड़ा प्रबल होता है। जिस वस्तु का हम विशेष रूप से अनुभव करते हैं, उसके द्वारा हम अपने आपको ही प्राप्त करते हैं। यह आत्मसंप्राप्ति ही आनन्द है। (समीक्षायण, पृ० ७६)।

रवीन्द्र की यह "आत्मसंप्राप्ति" सहल जी के शब्दों में ज्ञान का ही दूसरा रूप है। अध्यात्मवादी दार्शनिकों ने आत्मा को ज्ञान रूप ही माना है, अतः ज्ञान की प्राप्ति आत्म-प्राप्ति ही है। यह ज्ञान मिलता है साहित्य से, उसमें वर्णित नाना प्रकार की स्थितियों से, जिनका उसमें सामंजस्य दिखाया जाता है। अतः आत्मज्ञान का सम्बंध सामंजस्य से भी है और सामंजस्य के माध्यम से आनन्द से भी। ट्रेजेडी में

इस सामंजस्य की संभावना अधिक रहती है, अतः उससे आनन्द की कल्पना की गई है। उसके इन भावों का अनुभव क्योंकि विना उनके झंझट में पड़े उपलब्ध होता है, अतः अबाध होता है और साथ ही गहन भी। विशुद्ध अनुभूति के कारण ही इसका प्रभाव प्रबल होता है। यहीं आत्मसंप्राप्ति होती है और आनन्दोपलब्धि भी। सहल जी के शब्दों में कहें तो—"सबकी अपेक्षा दुःख की अनुभूति हमें सचेत बनाये रखती है किन्तु संसार में दुःख के साथ क्षति एवं आघात भी लगा रहता है, इसलिए हमारा प्राण-पुरुष दुःख की सम्भावना के कारण कुंठित हो उठता है। किन्तु साहित्य में जीवन-यात्रा के आघात और क्षति का अभाव होने के कारण हम विशुद्ध अनुभूति का उपभोग कर सकते हैं। गल्प में भूत के भय की अनुभूति से बच्चे पुलकित हो उठते हैं क्योंकि विना दुःख का मूल्य चुकाये उनका मन इस प्रकार की अनुभूति से परिचय प्राप्त कर लेता है। काल्पनिक भय के आघात से भूत उनके निकट वास्तव हो उठते हैं और यही वास्तव की अनुभूति भय के योग से ही आनन्दजनक होती है। इससे स्पष्ट है कि भय की अनुभूति तो हम करना चाहते हैं किन्तु भय का विना मूल्य चुकाये। साहसी लोग अकारण ही एवरेस्ट के शिखर पर चढ़ने का प्रयत्न करते हैं। उनके मन में भय नहीं, भय के कारण की सम्भावना में ही उनको निविड़ आनन्द प्राप्त होता है। हमारे मन में भय है तो हम दुर्गम पर्वत पर चढ़ने नहीं जायेंगे किन्तु दुर्गम यात्राओं के विवरण को घर बैठे पढ़ना पसन्द करेंगे, क्योंकि इससे बिना विपत्ति की आशका के स्वाद मिल जाता है। जो भ्रमण-वृत्तांत यथेष्ट भीषण नहीं है, उसे पढ़ने को जी नहीं करता। वस्तुतः प्रबल अनुभूति मात्र ही आनन्दजनक है क्योंकि उस अनुभूति के द्वारा प्रबल रूप में हम अपने आपको जान पाते हैं। साहित्य-जगत् में हम अनेक रूपों में अपने आपको जान पाते हैं और वहाँ हमारा कोई दायित्व है नहीं। साहित्य में मनुष्य के आत्म-परिचय के सहस्रों निर्झर प्रवाहित होते रहते हैं—कुछ पंकिल, कुछ स्वच्छ, कुछ क्षीण और कुछ परिपूर्णप्राय। (समीक्षायण, पृ० ८७)।

वस्तुतः स्वस्थता की बात कहते-कहते डॉ० सहल जो "सामंजस्य" में शांति का ध्यान करने लगे हैं, वह अपने इसी लेख और रिचर्ड्स की मान्यताओं के प्रचलनाधिक्य के कारण। रिचर्ड्स की बात ट्रेजेडी के प्रसगों में ही ठीक हो सकती है और इसीलिए डॉ० सहल ने भी सिद्धान्त का उल्लेख दोनों प्रसंगों में उसी के कारण किया है। इससे करुण रस और बीभत्सादि रसों से प्राप्त (आनन्द की) अनुभूति की समस्या का समाधान नहीं होता और संभवतः इसीलिए सहल जी ने जहाँ कहीं दुःख से सुख का प्रश्न उठाया है, वहाँ इस सिद्धांत का उल्लेख नहीं किया। सच तो यह है कि यह सामंजस्य-सिद्धान्त एक प्रकार से भारतीय सिद्धांत के विरोध में पड़ता है। संभवतः जाने या अनजाने सहल जी भी "विमर्श और व्युत्पत्ति" वाले

पूर्वोक्त लेख में दुःख और सुख के सामंजस्य की बात नहीं कहते, "कामनाओं के सामंजस्य" की ही कहते हैं। यों भी संसार "विषवृक्ष" हो चाहे "भवसागर", हमारे यहाँ के दार्शनिकों की दृष्टि में यह दुःख का ही कारण है, त्याज्य है। फिर भी यहाँ जो "सुख-दुःख की आँख मिचौनी" होती रहती है, वह केवल "सुख-दुःख के मधुर मिलन से जीवन की परिपूर्णता" है, एकांगिता नहीं। जीवन की संपूर्णता का वर्णन तभी हो सकता है जब दोनों का वर्णन हो। किन्तु इनका सामंजस्य क्या है? सुख और दुःख दोनों तो एक साथ कभी नहीं होते, परस्पर परिवर्तित होते रहते हैं और दुःख उठाते ही व्यक्ति सुख की कामना करने लगता है। अतः दुःख और सुख का सामंजस्य केवल इतना ही अर्थ रखता है कि दोनों की मात्रा में सामंजस्य हो, न कि दोनों के एकत्र होने में। एकत्र होने की संभावना ही नहीं है और मात्रा की समानता भी केवल इसी रूप में अर्थवती है कि उसके कारण जीवन भार नहीं बनता, अन्यथा केवल दुःख या दुःखाधिक्य दोनों ही आत्महत्या या हत्या के कारण बन जाते हैं। इस स्थिति में लोक में सामंजस्य की कल्पना न युक्तियुक्त है, न उससे आनन्द का ही सम्बन्ध है। यही कारण है कि इस संसार में ही प्रभु का विस्तार देखते हुए भी भारतीय दार्शनिक किसी अन्य की बात करता रहा है। दूसरे, ट्रेजेडी या करुणरसात्मक नाटकों में भी यह सामंजस्य भले ही लक्षित किया जा सके, विशुद्ध करुणरस की किसी रचना में जैसे टेनीसन के In Memorium में, इस सामंजस्य का अवसर नहीं रहता। वहाँ पर प्राप्त होने वाले आनन्द का उत्तर रिचर्ड्स के इस सिद्धान्त से नहीं मिल सकता। भारतीय मेधा ने तो वहाँ रस ही माना है। अतएव वहाँ स्वस्थता के अन्य पूर्वोक्त कारणों की खोज करनी चाहिए, रिचर्ड्स के सामंजस्य की नहीं। यदि बिना सामंजस्य के एक स्थान पर काम चल जाता है जहाँ दुःख की गहन अनुभूति होती है, तो जहाँ दुःख के साथ सुख या करुणा का भाव मिला रहता है, वहाँ तो उसकी सिद्धि और भी होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में रिचर्ड्स का सिद्धांत हमारे किसी काम का नहीं।

यहीं एक और बात का भी निर्णय कर लिया जाय। इसी प्रसंग में डॉ० सहल ने कहा है कि "ट्रेजेडी में न इच्छाओं के दमन के लिए अवसर है, न उनके उन्नयन के लिए" (वही, पृ० ८९)। इच्छाओं का दमन उनको स्वीकार न करना है, उन पर विजय प्राप्त करना है और उन्नयन है उन्हें किसी आदर्श या अच्छे काम में लगा देना। इसी अर्थ में ट्रेजेडी या नाटकों में इच्छाओं का दमन या उन्नयन नहीं होता. इसी अर्थ में अनिवार्यतः अभिप्रेत भी नहीं है। वस्तुतः नाटक के प्रसंग में दमन या उन्नयन का अर्थ केवल इतना हो सकता है कि जिस अनुभूति को हम ग्रहण कर रहे हैं, उसका हमारी इच्छा-अनिच्छा और हमारे अन्य सम्बंधों से कोई सम्पर्क स्थापित नहीं होता। वह विशुद्ध अनुभूति होती है साधारणीकृत, अतः सात्विक होती

है। सात्विकता ही उन्नयन है। अतः लोकार्थ में उन्नयन या दमन भले ही सम्भव न हो, भारतीय दृष्टि की सात्विकता उनका उन्नयन ही स्वीकार करती है और वही सही मार्ग भी है। यही स्वस्थता भी है। दुःख में करुणा का उदय भी उसका उन्नयन ही है।

उन्नयन एक और अर्थ में भी होता है, जिसे डॉ० सहल ने सीधे शब्दों में स्वीकार तो नहीं किया है, किन्तु वह उनके दो अन्य लेखों के विवेचन से ध्वनित है। दोनों लेख उनकी नवीनतम पुस्तक में संगृहीत हैं, अतः उनमें व्यक्त विचारों को उनके विशेष आधिकारिक या अपेक्षाकृत प्रौढ़ विचार माना जा सकता है। यह दोनों लेख हैं क्रमशः (१) दुःख से सुख की समस्या और (२) ट्रेजेडी के सम्बन्ध में नूतन मानवीय दृष्टिकोण। प्रथम लेख में सहल जी फिर ट्रेजेडी के चक्कर में पड़कर "जीवन के अन्य अभावों अथवा आवश्यकताओं की तरह यह दुःख भी एक हविस या कामना है और कामना की पूर्ति में तो सुख है ही" (पृ० ११९) कहते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि कवियों, भक्तों की दुःखाकांक्षा उनकी दृष्टि में मात्र दुःख को ओढ़ लेने की आकांक्षा है। किन्तु उन्होंने इस प्रसंग में रवींद्र की जो कविता उद्धृत की है, उसमें ध्वनित धरित्री के अनुरागाकर्षण की ओर ध्यान नहीं दिया। वस्तुतः वह दुःख इसलिए काम्य हो जाता है कि कहीं उसके पीछे अनुराग की, करुणा की लालिमा दिखाई देती है। दुःख से सुख के इस कारण की ओर इस लेख के अंत में वे स्वयं इंगित करते हुए कहते हैं—"साहित्य में हम ऐसे व्यक्ति को नहीं देखना चाहते जो सदा सुखी रहता है, तथा जो आशा-निराशा के द्वन्द्वों से कभी व्यथित नहीं होता। साहित्य वस्तुतः देवत्व को मानवत्व की चुनौती है। निराला द्वारा रचित "राम की शक्ति पूजा" का एक आकर्षण यह भी है कि राम हमारी ही तरह विपत्ति में उद्वेलित होते हैं किन्तु हिम्मत नहीं हारते—शक्ति की पूजा करते हैं और अंत में विजय का सेहरा उन्हीं के सिर बँधता है।" (पृ० १२०)। स्पष्ट है कि राम का मानसिक संतुलन ही यहाँ महत्त्वपूर्ण नहीं है, अपितु महत्त्वपूर्ण है उनके सिर विजय का सेहरा बँधना, विजय की भावना हमें उदात्तता की ओर ले जाती है, उन्नयन की ओर ले जाती है। अतः जहाँ केवल संतुलन या सामंजस्य दिखाई देता है, वहाँ भी उन्नयन होता है और जहाँ विजय होती है या किसी आदर्श की स्थापना होती है, वहाँ भी। पहला साधारणीकरण रूप है और दूसरा उदात्तता की सरल मार्ग से सिद्धि। इस उदात्तता की सिद्धि सहल जी ने दूसरे शीर्षक के अंतर्गत स्पष्टतः स्वीकार की है और वहाँ भी "राम की शक्ति पूजा" तथा स्व० लाल बहादुर शास्त्री के चरित्र की भव्यता का उल्लेख करके हमारे कथन की पुष्टि ही की है। वे कहते हैं—

(१) "संघर्ष होता है वस्तुतः त्रासदी के नायक द्वारा किये गये प्रयत्नों तथा उस शक्ति के बीच जो अपरिहार्य अथच अजेय है। नायक के प्रयत्नों में जो उदात्तता

पाई जाती है, उससे हमें मनुष्य होने के नाते एक प्रकार के गौरव का अनुभव होता है और उस गौरवानुभूति से हमें सुखोपलब्धि होती है। त्रासदी का नायक अपनी पराजय में भी महान् दिखलाई पड़ता है। जिस शक्ति से वह लोहा लेता है, वह अपराजेय किंवा अपरिहार्य भवितव्यता की वाह्य शक्ति होती है जिसकी अतुलता हमें आश्चर्यचकित तथा भयभीत कर सकती है किंतु ऐसी विराट् शक्ति के साथ भी नायक जब संघर्ष करता है तो नायक की आत्मिक शक्ति के सम्मुख हमारा मस्तक झुक जाता है, हम उसके प्रशसन-हेतु श्रद्धांजलियाँ अर्पित करने लगते हैं।"

(२) "श्लेगेल ने शायद कहा है कि जगत् का कार्य-व्यापार किसी अदृष्ट शक्ति द्वारा संचालित होता है और त्रासदी में इस शक्ति के समक्ष मानव का वल-वैभव तुच्छ प्रतीत होने लगता है। श्लेगेल का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता। इसकी अपेक्षा निकल का वह सिद्धान्त अधिक समाधानकारक लगता है जिसके अनुसार वीर के पतन में भी एक प्रकार की गरिमा होती है जो दुःख को दिव्य आभा से मंडित कर देती है।"

(३) "त्रासदी में मानवीय शील के औदात्य का उद्घोष सुनाई पड़ता है, उससे मनुष्य को वल मिलता है। शीलसंपन्न नायक के गुणों को पढ़-सुनकर अथवा अभिनीत होते हुए देखकर दर्शकों की आँखों में आँसू आ जाते हैं। आग में तपकर जैसे सोना कुंदन वन जाता है, उसी तरह त्रासदी में नायक का शील भास्वर होकर दर्शक पर गहरा प्रभाव डालता है।"

(४) "त्रासदी में सहानुभूति के कारण आत्म-विस्तार होता है, नायक के औदात्यपूर्ण शील से मानव के महत्त्व की तीव्रानुभूति होती है जिसके कारण हमें संतोष या सुख की प्रतीति हुए विना नहीं रहती। दर्शक भी तो मानव ही है, मानव की भव्यता, नायक की उदात्तता, उसे आनन्दित क्यों नहीं करेगी?"

और अन्त में 'कालिदासीय समाधान' के अन्तर्गत अन्य समाधानों के साथ वे पुनः इसी वात को दुहराते हैं कि (५) "जव दर्शक उदात्त स्वभाव वाले नायक को कष्टों की आँच में तपकर निखरता हुआ देखता है तो वह नायक के शील-स्मरण में रोमांचित हो अश्रु वहाता है और शीलजन्य सुख का अनुभव करता है।"

इससे अधिक स्पष्ट शब्दावली में उदात्तता (और प्रकारांतर से तज्जनित सात्विक उन्नयन) की स्वीकृति और क्या हो सकती है?

इस उदात्तता के कारण रसानुभूति (आनन्दानुभूति) करने वाले सहृदय को डॉ० सहल "तटस्थ द्रष्टा" की संज्ञा देते हैं और कवि को भी रसास्वादकर्ता वताते हैं। (रस का आस्वादन करता है कवि तथा तटस्थ द्रष्टा—आ० प०, पृ० ४५)।

'तटस्थ' से यदि सहल जी का तात्पर्य ममत्व-परत्वहीन स्थिति वाले व्यक्ति का है तो ठीक है किन्तु यदि वे उसे भाग न लेने वाले द्रष्टा के रूप में मानते हैं तो सर्वथा प्राचीन के, विशेषतः अभिनव गुप्त के, विरोध में जा खड़े प्रतीत होते हैं। कारण कि अभिनवगुप्त तो स्पष्टतः तटस्थता का निषेध करते हैं और इसीलिए कहते हैं कि सहृदय के चित्त में भयभीत हरिण द्वारा प्रदर्शित भय निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्य होने से साक्षात् प्रवेश करता हुआ, आँखों के सामने घूमता हुआ-सा जान पड़ता है। देशकाल आदि से असंबद्ध होने के कारण "मैं भीत हूँ, वह भीत है, अथवा यह शत्रु, मित्र या मध्यस्थ है", इस प्रकार के दुःखकारक ज्ञान की स्थिति वहां नहीं रहती। (तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितं, तत एव 'भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा' इत्यादि प्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतहानादिबुध्यंतरोदयनियमवत् तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं विपरिवर्तमान भयानको रसः। (अ० भा०, पृ० २७९)। अतः जब सहल जी "यहाँ भयानक रस की निष्पत्ति हुई है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हरिण को भयभीत देखकर दर्शक भी भयभीत हो रहा है" कहते हैं, तब उसका अर्थ यही मानना चाहिए कि उसे भय की लौकिक अनुभूति नहीं होती, रसात्मक अनुभूति होती है। लौकिक अनुभूति न होने के कारण ही उनका द्रष्टा "तटस्थद्रष्टा" है, अभिनवगुप्त के साथ उनके कथन की इसी अर्थ में संगति हो सकती है; अन्यथा भावमग्नता मानने का कोई अर्थ नहीं रह जायगा।

यहाँ 'तटस्थ' शब्द से एक बात के भ्रम की संभावना है—उसका भट्टनायक के मत में उल्लेख देखकर यह सोचने लगने की संभावना कि सहल जी उनके विरोध में भी उपस्थित हैं। वे उनके पक्ष में हों या न हों, इतना स्पष्ट है कि उनका तटस्थ-द्रष्टा रस का आस्वादन करता है और भट्टनायक ने जिस तटस्थ द्रष्टा का विरोध किया है, वह रसास्वाद नहीं करता बल्कि भट्टलोल्लट और शंकुक के मत में अनुकार्य या नट में ही रस हुआ करता है। अतएव दोनों में परस्पर भेद को ध्यान में रखना चाहिए, नाममात्र के आधार पर एकता की कल्पना करना अनुचित होगा।

तटस्थता सम्बन्धी धारणा ही डॉ० सहल के द्वारा उनके "दुःख से सुख क्यों : कालिदासीय समाधान" शीर्षक लेख में भी व्यक्त हुई है। वहाँ वह तटस्थता 'राहत' या 'कष्टों से मुक्ति' की सांस बन जाती है। उदाहरणतः वे कहते हैं :—

(१) "जब मनुष्य कोई कठिन काम कर लेता है अथवा विपत्तियों के जाल से मुक्त हो जाता है तो वह पिछली कठिनाइयों अथवा विपत्तियों के स्मरण से सुख का अनुभव करता है।"

(२) "स्मरणकर्त्ता कम-से-कम अब उन कठिनाइयों और दुःखों से मुक्त है—इसलिए इस प्रकार के स्मरण से उसे एक प्रकार की राहत मिलती है।"

इस विचार के पोषण के लिए 'दिनकर' की पंक्ति "सुख में दुःख की स्मृतियां मधुर, दुःख में सुख की स्मृतियां शूल" का आधार तो है ही, स्वयं कविकुलगुरु कालिदासकृत वर्णन भी उनकी धारणा को बल देता है।......"कहते हैं राम जब अयोध्या को लौट आये और उनका राज्याभिषेक हो गया तो उन्होंने अयोध्या के महलों की दीवारों पर दण्डक वन के चित्र लगाए थे। उन चित्रों को देखकर उन्हें इस बात का गौरव होता है कि उन्होंने भीषण राक्षसों को परास्त किया और उन पर विजय प्राप्त की। कविकुलगुरु कालिदास के शब्दों में :—"प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु, संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्।" दण्डक वन में तो उन्हें दुःख ही मिला होगा किन्तु सुख की अवस्था में उन प्राप्त दुःखों का स्मरण भी सुखदायी हो गया।"

किन्तु इस संदर्भ में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं : (१) दुःखों से यह 'राहत' स्वयं लौकिक भोक्ता में दिखाई गई है, सहृदय प्रेक्षक के अनुभव और स्मरण से इन का कोई मेल नहीं बैठाया गया है। सहृदय में उस अनुभूति की कल्पना तादात्म्यवश कर भी ली जाय तो भी स्वयं डॉ० सहल का यह कथन आड़े आता है कि "सम्भवतया इसका कारण यही है कि ऐसा करने से उनको एक प्रकार के आत्मगौरव की प्रतीति होती है।" अथवा "उन्हें इस बात का गौरव होता है कि उन्होंने भीषण राक्षसों को परास्त किया और उनपर विजय प्राप्त की।"

सहृदय में इस प्रकार के 'आत्मगौरव' की कल्पना का कोई औचित्य नहीं हो सकता। कारण कि, उसमें आचार्यवर्ग के द्वारा केवल प्रदर्शित भाव की अनुभूति की संभावना ही व्यक्त की गई है। इस प्रकार का अनुभव उसे ममत्व-परत्व-हीनता वाली तटस्थता से हटाकर आत्मगत बना देगा, और यह स्थिति मात्र एक दोष होगी, अतः रस-विघातक भी।

(२) संभवतः इसी आपत्ति से बचने के लिए डॉ० सहल ने कालिदास की उक्ति की व्याख्या के तुरन्त उपरान्त कहा है : "जब हम दुःखान्त नाटक देखते हैं तो हमारे सुख का कारण यह हो सकता है कि जो विपत्ति का पहाड़ नायक पर टूट रहा है, कम-से-कम हम तो उससे मुक्त हैं।" उनका यह प्रस्ताव भी प्राचीन धारणा के अनुसार 'ताटस्थ्यदोष' से पीड़ित है, अतएव ग्राह्य नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में यह कहना होगा कि सहल जी के 'तटस्थ द्रष्टा' की वास्तविक स्थिति का स्पष्ट पता नहीं लग पाता।

तटस्थद्रष्टा के साथ डॉ० सहल ने कवि को भी रसास्वादकर्त्ता माना है। अभिनव भारतीकार ने भी "तदेवं मूलबीजस्थानीयः कविगतो रसः" कहकर कवि-

गत रस को स्वीकृति दी है। भट्ट तौत ने "नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः" कहकर कवि, श्रोता और नायक को एक ही अनुभूति-धरातल पर प्रस्तुत किया है। तथापि संस्कृत के आचार्यों का यह विवेचन स्पष्ट नहीं है और कवि की रसानुभूति की कल्पना वहाँ कठिनाई से ही हुई है।

इसी संदर्भ में डॉ० सहल सर्जन-पक्ष से भी एक प्रश्न उपस्थित करते हैं :— "यदि वास्तव जगत् में कवि को स्वयं शोकार्त होना पड़ा हो तो क्या वह काव्य-निर्माण का आनन्द नहीं उठा सकता ?" और इसका उत्तर उनके शब्दों में होगा— टेनीसन का "इन मेमोरियम" एक घनिष्ठ मित्र के देहावसान पर लिखा गया था। एमर्सन ने अपने इकलौते पुत्र की मृत्यु पर Threnody की सृष्टि की थी। यहाँ भी यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो मृत्यु की कटुता बहुत कुछ दूर हो गई है, भावतीव्रता ने भी उस दुःखद घटना की स्मृति के रूप में परिवर्तित होकर मृदुलता धारण कर ली है। ऐसे अवसर पर कवि केवल मित्र अथवा पिता ही नहीं रह जाता, वह कलाकार भी होता है। हाँ, यह अवश्य है कि दुःख की वैयक्तिकता किसी अंश में अब भी बनी हुई है किन्तु कलाकार के लिए उसका व्यक्तिगत दुःख भी उसकी काव्य-सृष्टि के लिए उपादान कारण बन जाता है। दुःखात्मक काव्यरचना करते समय भी कवि दुःख का अनुभव नहीं करता, वह ऐसी शांति का अनुभव करता है जिसका उद्भव तो दुःख से ही हुआ है, किन्तु भावमग्नता के स्पर्श से फिर भी जो स्वय दुःख नहीं रह गई है। काव्य के पारस-स्पर्श ने दुःखरूपी लौह को सुख-स्वर्ण में परिणत कर दिया है। शायद गुप्त जी ने कहीं लिखा था कि अपने व्यक्तिगत दुःख को मैंने काव्यगत पात्रों पर ढालकर अपने जी को हलका करने का प्रयत्न किया है। वर्डस्वर्थ ने शान्ति के समय स्मृति-पथ में लाए हुए मनोवेग को जो काव्य की संज्ञा दी है, उसमें बहुत कुछ तथ्य है। जब दुःख का तूफान मन्द पड़ जाता है, तभी काव्य की सृष्टि होती है। इस दृष्टि से विचारें तो रसों के सुखात्मक होने की समस्या पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वास्तव में सभी रस सुखात्मक हैं और इसका मूल कारण है भावमग्नता।" (आ० प० पृ० ४६–७)।

इस तरह यहाँ भी दुःख से सुख-प्राप्ति का प्रश्न हल होता है उसी आत्मोपलब्धि के द्वारा, क्योंकि लौटकर चलें तो संबंध-यात्रा यों होगी :—भावमग्नता > स्वस्थता > अहं का विगलन > आत्मप्रसार > आत्मोपलब्धि।

इस प्रसंग को यहीं छोड़कर अब हम डॉ० सहल के 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता' के संदर्भ में लिखे गये लेखों पर विचार करना चाहेंगे।

टी० एस० इलियट द्वारा "हैमलेट" नाटक की आलोचना में प्रतिपादित सिद्धान्त "आब्जेक्टिव कोरिलेटिव" सिद्धान्त को ही सहल जी ने 'वस्तुनिष्ठ प्रति-

रूपता' का नाम दिया है। अभी तक हिन्दी में इसके संबंध में बहुत कम विचार किया गया है। डॉ० सहल की इस ओर प्रवृत्ति अभिनन्दनीय है।

'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता और रस-सिद्धान्त' के अन्तर्गत डॉ० सहल ने प्रतिपादित किया है कि इलियट के सैद्धान्तिक कथन "कला के रूप में भावाभिव्यक्ति की एक ही पद्धति है और वह है 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता' का सन्धान, दूसरे शब्दों में ऐसा वस्तु-समुदाय, ऐसी परिस्थिति तथा घटनाओं की ऐसी शृंखला नियोजित की जाए जो उस भाव-विशेष के सूत्र का काम दे सके ताकि ये बाह्य तथ्य, जिनकी परिणति मूर्त्त मानस अनुभव में हो, जब प्रस्तुत किए जाएं तो तत्काल भावोद्रेक हो जाय, की समानता भरत (वस्तुतः भरत और उनके व्याख्याकार दोनों को मिलाकर) के इन शब्दों से की जा सकती है कि" जब काव्य, संगीत तथा अभिनय की सहायता से विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव रंगमंच पर प्रदर्शित किए जाते हैं, तब दर्शकों के हृदय में स्थायीभाव की जागृति होती है तथा यह भाव उस चरम सीमा तक पहुँच जाता है जब, परिस्थिति के साथ संपूर्ण कल्पनात्मक सहानुभूति द्वारा, दर्शकगण व्यक्ति, काल और स्थानविषयक भेद को भूल जाते हैं और परिणामस्वरूप उनका हृदयस्थित भाव आनंदपूर्ण चैतन्य के रूप में अभिव्यक्त होता है। अर्थात् यह साम्य इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है :—

इमोशन = संस्कृत काव्यशास्त्रियों का रस।

सैट ऑव आब्जैक्ट्स = विभाव।

सिचुएशन = सांचे में ढला हुआ सुसंगठित प्रस्तुतीकरण।

चेन ऑव ईवेंट्स = न केवल प्रबन्धधारा से संबद्ध अवान्तर घटनाएं ही, बल्कि उन घटनाओं तथा अनुभाव एवं संचारी भाव आदि के प्रति पात्रों की प्रतिक्रिया भी।

साथ ही परस्पर विरोधी से प्रतीत होने वाले इलियट के कथनों को विलियमसन ने जिस प्रकार संगठित करते हुए कहा है : "यदि कवि-कर्म से तात्पर्य सामान्य मनोवेगों को काम में लेना है और उन्हें काव्यात्मक रूप देने में कवि ऐसे भावों को व्यक्त करता है जो वास्तव में मनोवेग हैं ही नहीं, तो मूलभूत मनोवेग के साथ संचरणशील भावों को संलग्न कर वह ऐसा कर सकता है जिससे नये कलात्मक मनोवेग की निष्पत्ति हो सकेगी। "उसका सीधा" साम्य-स्थापन निम्नलिखित रूप में किया गया है :—

बेसिस ऑव स्ट्रक्चरल इमोशन = स्थायीभाव।

द फ्लोटिंग फीलिंग्स = व्यभिचारीभाव और अनुभाव।

न्यू आर्ट इमोशन=स्थायीभाव, जो रस के रूप में परिणत होकर आस्वाद्य हो जाता है।

डा० सहल का यह साम्य-प्रतिपादन निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है, किन्तु आगे चलकर जब वे विवास और विण्टर्स कृत इलियट की आलोचना की साक्षी देकर इलियट के कथन में "वैज्ञानिक तथा विशद विवेचन" की न्यूनता की चर्चा करते हैं तो उनकी धारणाएं बहुत स्पष्ट नहीं हो पातीं। अवश्य ही डॉ० सहल अपने अनुभव के आधार पर "मैंने हैमलेट पढ़ते समय सदा रस का आस्वादन किया है" कहकर इलियट की धारणाओं से अपना नाता तोड़ लेते हैं, और संभावना व्यक्त करते हुए कहते हैं : "संभव है, भारतीय काव्यशास्त्रियों का इस संबंध में भिन्न मत हो और अपने काव्यसिद्धान्तों की कसौटी पर कसकर वे इसे उत्कृष्ट कोटि का नाटक ठहराएं", तथापि उनके स्वर में निश्चयात्मक दृढ़ता का अभाव खटकता है। अंत में वे इतना ही कहकर रह जाते हैं कि "देश, काल, दर्शन और संस्कृति आदि की भिन्नता के कारण यदि दोनों सिद्धान्तों में यत्र-तत्र अनिवार्य भिन्नता प्राप्य हो तो उसकी ओर दुर्लक्ष्य नहीं किया जाना चाहिए।"

डा० सहल के इन अन्तिम दोनों कथनों का महत्त्व है और इन पर सम्यक् विचार होना चाहिए। इलियट ने राबर्टसन द्वारा की गई हैमलेट नाटक की आलोचना को अखण्डनीय बताते हुए नाटक की मूल कथा-सामग्री को अदम्य कहा है और माता के अपराध के कारण पुत्र पर हुई प्रतिक्रिया की सही अभिव्यक्ति में अक्षम माना है। इस नाटक को अनेकविध रूपों में पहेलीपूर्ण और अशान्तिकारक मानते हुए इसके दृश्य एवं छन्द-विधान के प्रति असन्तोष व्यक्त किया गया है। इलियट का यह कथन इस संदर्भ में मननीय है कि "अनेक लोगों ने इस नाटक को वस्तुतः इसके द्वारा उत्पन्न रंजकता के कारण ही कलाकृति मान लिया है, कलाकृति के रूप में उसकी रंजकता पर संभवतः ध्यान ही नहीं गया है।"[1]—

इलियट के इस कथन के पीछे राबर्टसन की यह उक्ति काम कर रही है कि "नाटक में किसी माता के अपराध की अभिव्यक्ति लगभग असह्य ही होगी। हैमलेट में उसका निर्वाह करने और उस पर विशेष बल देने की आवश्यकता—किसी कलात्मक अनिवार्यता के कारण नहीं—मनोवैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत करने की

---

1. And probably more people have thought Hamlet a work of art because they found it interesting, than have found it intersting because it is a work of art.

बाध्यता के कारण हुई है।"[1] इलियट की स्पष्ट धारणा है कि विभाव—एक्सटर्नल—की पूर्ण औचिती—कम्प्लीट एडीक्वेसी—पर ही 'कलात्मक अनिवार्यता'—आर्टिस्टिक इनएवीटेबिलिटी—निर्भर होती है। हैमलेट में इसी का अभाव है। कठिनाई यह है कि हैमलेट का वह भाव अतिरेकपूर्ण है जिसके कारण उसकी अभिव्यक्ति सहज नहीं है। हैमलेट की वितृष्णा उसकी मां को आलम्बन बनाकर ही प्रकट हुई है किन्तु उसकी मां इसके लिए "उपयुक्त प्रतिमान"—एडीक्वेट इक्वीवेलेंट—नहीं है। मां पर हैमलेट की वितृष्णा छा ही नहीं जाती, उसका अतिक्रमण भी कर जाती है। 'वस्तुनिष्ठ प्रतिमानता—ओब्जैक्टिव इक्वीवेलेंस—की सिद्धि ही समस्या बन जाती है। यदि गर्ट्रूड में उस अपराध की प्रबल अभिव्यक्ति दिखाई जाय तो हैमलेट में नितान्त भिन्न समीकरण—फार्मूला—उपस्थित करना होगा। उसका गौण और अप्रतिक्रियात्मक चरित्र ही ऐसा है कि उससे जिस भाव की उत्पत्ति नाटककार ने हैमलेट में प्रदर्शित की है, उसका वह सबल आधार प्रस्तुत नहीं कर पाती। इस प्रकार के मोहक या भयप्रद मनोवेग युवावय की देन हैं और नाटक की अपेक्षा चिकित्सा के विषय हैं।

इलियट के इस विवरण से कुछ बातें स्पष्ट होने में सहायता मिलती है और उससे भारतीय दृष्टि को भी समाधान प्राप्त होता है। यथा, १–इलियट की दृष्टि में विभाव-विधान में औचित्य का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। विभाव-विधान से तात्पर्य आश्रय तथा आलंबन के परस्पराश्रय का है और इस बात का भी कि आलंबन का क्रियाकलाप, रूप-रंग इस प्रकार का हो कि आश्रय के मन में अनुकूल मात्रा में अनुकूल भाव उत्पन्न हो सके। ऐसा न हो कि पहले के क्रियाकलाप और रंग-ढंग उसकी सामाजिक स्थिति आदि के कारण किसी भाव को अपेक्षित प्रबलता के साथ उत्पन्न करने में साधक न हों और आश्रय द्वारा प्रदर्शित भाव बचकाने या असंबद्ध प्रतीत होने लगें। हैमलेट के भावों के विषय में इलियट की आपत्ति यही है कि वे असंबद्ध और अनुचित होने के साथ ही युवा—अप्रौढ़—काल की देन हैं।

इलियट की इस धारणा का संबंध भारतीय औचित्य सिद्धान्त से पूरी तौर से बैठाया जा सकता है और औचित्य का संबंध रस से बहुत गहरा है, अतएव कहा जा सकता है कि इलियट का यह सिद्धान्त रस-सिद्धान्त के मूलभूत प्रश्न, रसाभास या शुक्ल जी की मध्यम कोटिक रसानुभूति और औचित्य-निर्वाह से संबद्ध है।

दूसरे, इलियट ने कलाकृति की रंजकता और रंजक होने से किसी कृति का कलाकृति मान लिया जाना, इन दोनों स्थितियों के बीच अन्तर किया है। वह इस

1. The guilt of a mother is an almost intolerable motive for drama, but it had to be.······maintained and empasized to supply solution, or rather a hint of one."

बात का उत्तर देने के लिए पर्याप्त है कि किसी दूसरे व्यक्ति को हैमलेट नाटक, त्रुटिपूर्ण होने पर भी, एक कलाकृति क्यों जान पड़ता है। डॉ० सहल को जिस रसास्वाद का अनुभव हुआ है, उसका उत्तर या तो इस कथन से मिल सकता है या फिर वह वही है जिसकी ओर स्वयं डॉ० सहल ने उचित ही निर्देश किया है कि देश, काल, दर्शन और संस्कृति आदि के कारण ऐसा हो सकता है। अन्तर इतना ही है कि डॉ० सहल इसके कारण दोनों सिद्धान्तों की भिन्नता की संभावना करते हैं और हमारे विचार में यह केवल इलियट और डॉ० सहल के योरोपीय और भारतीय सन्दर्भों का अन्तर है।

रस-सिद्धान्तों के सन्दर्भ में ही डॉ० सहल का दूसरा लेख 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता और ध्वनि-सिद्धान्त' भी विचारणीय है। इस लेख में सहल जी ने कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित किए हैं। यथा,

१—"स्वभावोक्ति में वस्तुओं का यथावत् तथा प्रत्यक्ष वर्णन किया जाता है किन्तु फिर भी वहाँ रसोद्रेक तो है ही। इसी से स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष विम्ब भी कभी-कभी संवेदनात्मक विम्ब का रूप धारण कर लेता है।"

२—"कविता में किसी विम्ब को संवेदनात्मक शक्ति इसीलिए प्राप्त हो जाती है कि वह वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता का उदाहरण प्रस्तुत करता है और मात्र इसलिए नहीं कि प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होने के स्थान में वह परोक्ष रूप से कुछ व्यंजित करने की क्षमता रखता है।"

अतः दोनों प्रश्नों का तात्पर्य यह है कि संवेदनात्मक शक्ति उत्पन्न करने के लिए ध्वनि या व्यंजना की आवश्यकता नहीं "वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता" की सिद्धि ही पर्याप्त है।

३—"यह सच है कि रस प्रायः ध्वनि के माध्यम से व्यंग्य होता है किन्तु रस यदि काव्य की आत्मा है तो वह किसी के माध्यम से आए, उक्ति की रसात्मकता ही काव्य की अनिवार्य शर्त है, न कि उसकी ध्वनि-प्रक्रिया।"

४—अभिनवगुप्त के मतानुसार वस्तु एवं अलंकार-ध्वनि भी रस-ध्वनि में परिणत हो जाती है। "इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ध्वनि की प्रक्रिया से रस-निष्पत्ति नहीं होती, बल्कि रसोद्रेक होता है वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के कारण।"

५—उपयुक्त, स्पष्ट, निश्चित और परस्परानुमोदित वस्तुनिष्ठ प्रतिमान लाने पर गुणीभूत व्यंग्य के स्थलों पर रसात्मकता में न्यूनता नहीं माननी चाहिए।

उक्त कथनों में से प्रथम दो वस्तुतः एक-दूसरे के विस्तार-मात्र हैं, पूरक हैं। सहल जी का अभिप्राय केवल इतना है कि व्यंजना के वक्र पथ से चलकर नहीं, अपितु

वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता का पालन करते हुए स्वभावोक्ति के प्रत्यक्ष विम्व उपस्थित करने वाले मार्ग पर चलने से ही—भी—संवेदनात्मक विम्व द्वारा रसोद्रेक प्रतिफलित होता है। अतः वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता का पालन ही पर्याप्त है, व्यंजना के पीछे भटकना आवश्यक नहीं। केवल व्यंजना से तो रसोद्रेक संभव भी नहीं होता, जैसे, 'सात वज गए' कहने से।

हमारा निवेदन है कि स्वभावोक्ति के प्रत्यक्ष विम्व से संवेदनात्मक विम्व तो अवश्य उभरता है. और ऐसा होता है वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के कारण ही, किन्तु संवेदनात्मक विम्व और उससे प्रतिफलित रसोद्रेक प्रत्यक्ष कथित नहीं होते, वाच्य नहीं होते, व्यंग्य ही होते हैं। वाच्य वस्तुतः शब्दों का अर्थ होता है। रस शब्दार्थ नहीं है, अतः उसकी प्रतीति सदैव व्यंग्य रूप में ही होती है। वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता उस व्यंजना के लिए भूमि तैयार करती है, वातावरण का सृजन करती है, सम्यक् सन्दर्भों से सम्वन्ययुक्त करती है। 'सात वज गए' कहने से व्यंजना होने पर भी रसोद्रेक इसीलिए नहीं होता कि वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के माध्यम से वांछित वातावरण का सृजन नहीं होता, मात्र अर्थवहन होता है। रस अर्थ से भिन्न एक अनुभूत्यात्मक स्थिति है जो सुचारु संगठन के परिणामस्वरूप अन्तर्द्रवण के रूप में प्रकट होती है और प्रत्यक्ष शब्दावली से कथित न होकर अन्तर में ही स्पर्श उत्पन्न करती है।

इसी प्रकार स्वभावोक्ति के स्थलों पर भी यही व्यंजना काम करती है। उदा०, संस्कृत काव्यशास्त्र में 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का 'ग्रीवाभंगाभिरामम्.....' श्लोक स्वभावोक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है, किन्तु कालिदास ने जिस भंगिमा का पूर्ण विम्व तैयार किया है, उससे उद्रिक्त भयानक रस केवल सहृदय को ही अनुभूत होता है, कालिदास द्वारा कथित नहीं है।

वस्तुत: ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादकों की यह धारणा नहीं है कि व्यंजना चाहे किसी भी प्रकार की हो, वह रसोद्रेक करेगी ही। उनकी धारणा तो केवल यह है कि रसोद्रेक जव भी होगा, व्यंजित होकर ही होगा। डॉ० सहल ने इसे अपने दूसरे प्रश्न के अन्तर्गत सर्वथा अयुक्त रूप में रखते हुए 'मात्र इसलिए नहीं कि प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होने के स्थान में वह परोक्ष रूप से कुछ व्यंजित करने की क्षमता रखता है' कहकर भ्रम उत्पन्न किया है।

हमारी दृष्टि में इलियट का सिद्धान्त फलप्राप्ति तक जाकर रुक जाता है और ध्वनि-सिद्धान्त फल-प्राप्ति की प्रक्रिया को और सूक्ष्मता से विवेचन का विषय वनाता है। ऐसी स्थिति में डॉ० सहल का यह कथन भी अपना महत्त्व खो देता है कि "यह सच है कि रस प्रायः ध्वनि के माध्यम से व्यंग्य होता है किन्तु रस यदि

काव्य की आत्मा है तो वह किसी भी माध्यम से आए. उक्ति की रसात्मकता ही काव्य की अनिवार्य शर्त है, न कि उसकी ध्वनि-प्रक्रिया।" साथ ही उनका यह अगला तर्क भी कुंठित हो जाता है कि "ध्वनि-प्रक्रिया से रस-निष्पत्ति नहीं होती बल्कि रसोद्रेक होता है वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के कारण।" इस अन्तिम कथन से डॉ० सहल का तात्पर्य यदि यही है कि ध्वनि सदैव रसात्मक नहीं होती, जैसे वस्तु ध्वनि या अलंकार-ध्वनि, रसात्मक वही स्थल होता है जहाँ वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता होती है, तो इसका उत्तर हमारे सद्यः उक्त पूर्व-कथनों में मिल जायगा। साथ ही हमें इतना और कहना है कि वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता भी कथन के अत्यधिक अलंकरण या उसकी नग्नता से दब या नष्ट हो जाती है और ऐसे ही स्थलों का विवेचन प्राचीन आचार्यों ने रस-विघ्न, रस-दोष और गुणीभूत व्यंग्य के रूप में किया है। जैसा स्वयं डॉ० सहल स्वीकार करते हैं, रस को ही प्रधानभूत मानने के कारण वस्तु तथा अलंकार-ध्वनि की परिणति भी रसध्वनि में मानी गई है, उसका कारण यही है और काव्य के उत्तमादि भेदों का आधार भी यही है।

यह बात तब और भी स्पष्ट हो जाती है जब काव्यशास्त्र-प्रसिद्ध गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरण "अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः।
अहो विचित्रा दैवस्य गतिर्नास्ति समागमः।।"

को उद्धृत करते हुए डॉ० सहल आत्मविरोधी तर्क का सहारा लेते हुए प्रश्न करते हैं: "वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता की दृष्टि से यदि उक्त पद्य का विवेचन किया जाय तो कहा जा सकता है कि कवि जिस **भाव की व्यंजना** करना चाहता है, उसके लिए यहाँ जो वस्तुनिष्ठ प्रतिमान सामने लाए गए हैं, वे न केवल बहुत उपयुक्त हैं, किन्तु स्पष्ट, निश्चित तथा साहित्यिक परम्परा द्वारा अनुमोदित भी हैं। अतः व्यंग्य के गुणीभूत हो जाने के कारण ही इस पद्य की रसात्मकता कम हो जाती है, ऐसा क्यों मान लिया जाय?"

कहने की आवश्यकता नहीं कि वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के रहते भी "कवि जिस भाव की व्यंजना करना चाहता है" उसके गुणीभूत हो जाने पर रसात्मकता ही, जो भाव की परिणतावस्था है, गुणीभूत अर्थात् कम हो सकती है। अतः इसमें "मानने न मानने" का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि "भाव" का अर्थ "कथ्य" लिया जाय तो भी यदि वह गुणीभूत अर्थात् दूसरे की तुलना में कमजोर पड़ गया तो कितनी भी वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता का पालन हुआ हो, वह प्रभावशाली नहीं रह सकता। स्वाभाविक है कि ऐसे स्थलों पर रसात्मकता को हानि ही पहुँचेगी। यहाँ भी वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता अलंकार-चमत्कार की तुलना में सहृदय का ध्यान आकर्षित नहीं करती, अतः उसका रसात्मक प्रभाव न्यून हो जाता है।

इस सारे विवेचन से एक महत्त्वपूर्ण बात उपस्थित होती है, जिसकी ओर स्वयं डॉ० सहल ने अपने लेख में संकेत किया है : "वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता को लक्ष्य में रखकर ध्वनि-सिद्धान्त पर पुनर्विचार अपेक्षित है।" साथ ही उनका यह कथन भी सत्य है कि "दो सिद्धान्तों की पारस्परिक तुलना यद्यपि खतरे से खाली नहीं है तथापि इस प्रकार की तुलना की भी अपनी उपयोगिता है।" डॉ० सहल ने जिन समानताओं और विषमताओं की ओर इन लेखों में ध्यान आकर्षित किया है, वे मननीय भी हैं और विवेचनीय भी। रस-सिद्धान्त के सर्वांग का स्पर्श न करते हुए भी डॉ० सहल ने जिन प्रश्नों पर विचार किया है, वे महत्त्वपूर्ण ही नहीं हैं, बल्कि उनका विचार भी डॉ० सहल ने गंभीर अध्ययन और चिन्तन के साथ ही किया है। उनके इन समस्त लेखों में अनेक स्थलों पर नवीन दीप्ति है जो अभिनन्दनीय है। मतभेद और मत-परिष्कार कहाँ नहीं होता ?

•••

'मरु भारती' की कुछ प्रतियां मैंने देखी हैं। यह उच्च श्रेणी की शोध-पत्रिका है। इसके सब ही लेख अध्ययन के योग्य होते हैं। राजस्थान में इस प्रकार की पत्रिका की बड़ी आवश्यकता है। इसके द्वारा एतद्देशीय कला और साहित्य की समुचित सेवा हो रही है।

—डॉ० मथुरालाल शर्मा

डॉ० सहल के समीक्षा-सिद्धान्त

• डॉ० शिवनाथ

विद्वान् आलोचक कन्हैयालाल सहल ने बहुत पढ़ा है, बहुत सुना है। साहित्य की आलोचना के लिए मददगार नाना शास्त्र भी उनकी मनीषा के अनदेखे नहीं हैं। यह सब करने से साहित्य को अपनी बारीकियों में देखने की उनकी जो दृष्टि बनी है, वह निश्चय ही मार्मिक है, पारदर्शी है और ऐसे व्यक्तित्व की दृष्टि का इस तरह का होना स्वाभाविक ही है। अपनी ऐसी दृष्टि, अपनी बहुपठता और बहुश्रुतता से वे इस तत्त्व को हासिल करते हैं कि साहित्य को यदि देखना है तो उसे साहित्य की नजर से देखा जाय—साहित्य को देखने का मान साहित्य ही है; यह बात दूसरी है कि नाना शास्त्र, नाना विद्या इस मान की मदद करें। उनकी बात यों है :

> "साहित्य का मानदंड स्वतः साहित्य होना चाहिए, न कि बाहर से आरोपित राजनीतिक, सामाजिक अथवा मनोवैज्ञानिक आदर्श"।
>
> (मूल्यां०, ५०५)।

इस तरह के आदर्श साहित्य के भीतर आकर जब उस पर छाने लगते हैं या छा जाते हैं, तब किसी ऐसे वाद का जन्म होता है जिससे साहित्य का साहित्यपन नहीं रह जाता, वह वाद ही उस पर हावी हो जाता है। सहल का मत है कि किसी वाद का सहारा लेकर साहित्य-रचना में प्रधानता वाद की हो जाती है, साहित्य की अपनी बात नहीं रहती। वे कहते हैं कि कोई वाद साहित्य के मूल्यांकन का प्रतिमान नहीं दे सकता (दे० वही, पृ० २-३)। किसी वाद-विशेष का हिन्दी के कथा-साहित्य में जोरदार हो जाना हम लोग प्रायः देख पाते हैं। आजकल ज्यादातर अस्तित्ववाद का दौर चल रहा है। एक समय फ्रायड के कामविज्ञान और युंग, एडलर आदि के सिद्धान्तों का—अधिकतर फ्रायड के कामविज्ञान का—हिन्दी के कथासाहित्य पर हावी होना हम देख चुके हैं। हम यह भी देख चुके हैं

कि मार्क्सवाद एक युग में किस तरह हिन्दी की कविता और उसके कथासाहित्य पर छा गया था। इस प्रकार साहित्य में किसी वाद के प्रधान हो जाने से साहित्य का अपनापन नहीं रह जाता, साहित्य गौण बन जाता है, किसी वाद के प्रचार-प्रसार का एक औजार बन कर रह जाता है। मैं तो कहूँ कि जयशंकर 'प्रसाद' जैसे सजग कलाकार की 'कामायनी' के उत्तरार्द्ध में भी कश्मीरी शैववाद जोर से बोल रहा है। साहित्यकार अपनी रचना में जरूर कोई न कोई जीवन-दर्शन और समाज-दर्शन रखता है या रखने की कोशिश करता है। किसी साहित्यकार की रचना साहित्यकोटि की होती है और किसी की रचना में साहित्य गौण हो जाता है और कोई दर्शन या कोई वाद चिल्लाने लगता है, लगता है कि मंच से कोई उपदेश दिया जा रहा है। ऐसा क्यों होता है? इसका जवाब यह है कि किसी दर्शन, किसी वाद, किसी उपदेश की चिल्लाहट तब साहित्य में सुनाई पड़ती है जब दर्शन, वाद, उपदेश साहित्यकार के अपने जीवन का दर्शन, वाद, उपदेश बन कर, उसका अपना नहीं बन जाता, उसके जीवन में घुलमिल नहीं जाता। जब इनका घुलाव साहित्यकार के जीवन में हो जाता है, तब उसकी रचना में ये आकर साहित्य की रीति से प्रकाश पाते हैं। इस सवाल के बारे में सहल का जवाब भी इस विवेचना से भिन्न नहीं है :

> "वाद अथवा दार्शनिक विचार साहित्यकार के जीवन-दर्शन का अभिन्न अंग होकर ही साहित्य में स्थान पाने योग्य है, अन्यथा नहीं।...जीवन से सिद्धान्त उद्भूत हों, सिद्धान्तों से जीवन नहीं" (मूल्यां०, पृ० ३-४)।

सब मिलाकर जो साहित्य हमारे सामने है, उसके दो भाग साफ-साफ हम देखते हैं। उसका एक भाग है—रचित साहित्य का और दूसरा भाग है आलोचित साहित्य का। मतलब, पहले साहित्य-सर्जना होती है और तब उस सिरजे साहित्य की समालोचना की जाती है। इस तरह रचना पहले होती है और आलोचना बाद में। कुम्भकार पहले घड़ा बनाता है, तब उसकी भलाई-बुराई की छानबीन करके लोग उसका संग्रहण करते हैं। रचना के साथ ही समालोचना की बात भी की जा रही है, इसलिए कि साहित्य के मूल्यांकन की बात आने पर सहल ने कहीं-कहीं दोनों को मिलाकर विचार किया है। जहाँ साहित्य-सर्जना पर और उसके महत्त्व पर सहल की दृष्टि है, वहाँ वे अतीत से या परम्परागत शास्त्रीय नियमों से साहित्य को तौलने-मापने के खिलाफ हैं। उनकी यह खिलाफत सही इसलिए मानी जानी चाहिए कि समय बदलता है, परिस्थिति बदलती है, बदली एक नई परिस्थिति में अपने हृदय-मन को घुला-मिला कर, साहित्यकार, अपनी सर्जना को प्राण और शरीर देता है—कथ्य लेता है और उस कथ्य को रूप देता है। अब, अगर ऐसे साहित्य का

मूल्यांकन करना हो तो परम्परागत शास्त्रीय नियमों से उसकी परख कैसे की जा सकती है ? बदली परिस्थिति के साहित्यकार की साहित्य-सृष्टि के मूल्य को आँकने के लिए तो नया मान चाहिए, जो मान शायद ऐसा साहित्यकार, या ऐसे साहित्यकार की नई रचना ही देगी। सहल का यही पक्ष है :

> "....साहित्य का मूल्यांकन केवल परम्परागत शास्त्रीय नियमों के आधार पर नहीं किया जा सकता। साहित्य-सर्जना नियमों का परिणाम नहीं है, वस्तुतः साहित्यकार का कृतित्व ही नियमों को जन्म देता है, उसका समर्थ साहित्यिक व्यक्तित्व ही मूल्यांकन के नए मान भी निर्धारित कर जाता है" (वही, पृ० २)।

सहल के पक्ष का बड़ा अच्छा उदाहरण है—छायावाद-रहस्यवाद युग का प्रथम महाकाव्य 'कामायनी', जिसकी सही साहित्य-समीक्षा उसी से निकाले गए मान से करना आवश्यक हो जाता है, जिस मान की रचना में उक्त युग की गति-प्रकृति सहायक होगी। मगर, एक दूसरी जगह सहल अतीत को नकार जाना नहीं चाहते; याने वे वह बात भी कहना चाहते हैं और यह बात भी; याने वे अतीत के पक्ष में भी हैं और विपक्ष में भी। जहाँ वे अतीत के पक्ष की बात कहते हैं, वहाँ भी उनका तर्क हल्का नहीं है कि वर्तमान और भविष्य दोनों अतीत से जुड़े हैं, ऐसी हालत में अतीत को नकारा कैसे जाय ? किन्तु, उनका मत है कि अतीत के विवेकपूर्वक संग्रह और त्याग की वृत्ति को भी सजग रखना पड़ेगा, और तभी गतिशीलता की शर्त पूरी होगी और भविष्य की सम्भावना का प्रकाश भी तभी मिलेगा :

> "साहित्य के मूल्यांकन में परम्परा का क्या स्थान है,....अतीत को अपने से सर्वथा विच्छिन्न करके हम वर्तमान में नहीं जीते। परम्परा का विवेकपूर्ण त्याग और ग्रहण ही हमें वर्तमान में गतिशील बनाता है, जिसके परिणामस्वरूप उज्ज्वल भविष्य की सम्भावना प्रकट होने लगती है" (वही, पृ० ५)।

साहित्य का मूल्य आँकने के लिए सहल ने ऐसा ही मान ठीक किया है और इसी के सहारे, साहित्य की, विशेष रूप से काव्य की, समीक्षा की है। उन्होंने व्यावहारिक समीक्षा भी कम नहीं लिखी है। मगर, मुझे यहाँ मतलब है उनके द्वारा निर्धारित समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष से, जिस सैद्धान्तिक पक्ष को देखने में साहित्य का मूल्य आँकने वाली, उनके द्वारा ठीक की गई उनकी समीक्षा—सैद्धान्तिक समीक्षा-दृष्टि जरूर ही साक्षी वहन करती है। कहें कि साहित्य को देखने की उनकी ठीक नजर से हम वाकिफहाल हो गए।

साहित्य, कला, काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में सहल ने नाना जगहों पर तरह-तरह की विवेचना कर अपने निष्कर्ष कहे हैं। इन तीनों को हम एक साथ ही देख रहे हैं, क्योंकि इन्हें सहल ने और अन्य लोगों ने भी प्रायः समान मानकर देखा है। कविता भावमय, कविता अनुभूतिमय है। यह तो जानी बात है कि भाव और अनुभूति दो चीजें हैं। दोनों का एक दूसरे से सम्बन्ध जरूर है, यह इस प्रकार कि अनुभूति भाव की होती है। नाना तरह के भाव परिस्थिति के दबाव से हमारे हृदय में उठते हैं। ऐसे उठे भावों का ठीक-ठीक बोध ही अनुभूति है। वस्तुतः अनुभूति बाद की उत्पत्ति है—भावों के उदय के बाद की उत्पत्ति। सहल द्वारा निर्धारित काव्य के दो स्वरूप हम यों पाते हैं :

> "काव्य है ही आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति" (विवे०, पृ० १७४)।
> "भावों का स्वतः निःसृत उद्गार ही तो सच्ची कविता है"
> (विम०, पृ० १७३)।

सहल का यहाँ कहना यही है कि जब कवि अपने हृदय के भाव बिना किसी श्रम के-यों ही-अभिव्यक्त कर पाता है, तब सच्ची कविता का स्वरूप सामने आता है; श्रम-जनित कविता को वे सही कविता नहीं कह सकते। वैसे, श्रम से रची गई, कविता में कारीगरी मिल सकती है। कहने की जरूरत नहीं कि 'स्वतः निःसृत उद्गार' तभी सम्भव है जब हृदय के अन्तरतम में कवि को उन भावों का घना बोध हो, जिन्हें वह उद्गीरित करना चाहता है। सहल काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति मानते हैं। यदि मैंने प्रसंग को ठीक समझा है तो यहाँ 'संकल्पात्मक' का तात्पर्य है 'समग्र'। आत्मा को अगर दर्शन के क्षेत्र में न खींचा जाय तो कहें कि हृदय-मन-बुद्धि सब उसी से लगी है। ऐसी आत्मा द्वारा उपलब्ध समग्र अनुभूति की अभिव्यक्ति काव्य में होती है। एक स्थान पर काव्य में सौंदर्य का कारण बतलाते हुए काव्य का स्वरूप वे यों स्पष्ट करते हैं :

> "वस्तुतः भाव और अभिव्यक्ति दोनों का सम्मिलित चारुत्व ही काव्य-सौंदर्य का प्रमुख हेतु है" (आलो०, उपक्रम, पृ० ख)।

काव्य में भाव-सौंदर्य का मतलब इसके अलावा और क्या हो सकता है कि उस (काव्य) में निहित भाव उदात्त हों और अपनी बारीकियों के साथ ठीक-ठीक आए हों ? काव्य में अभिव्यक्ति के सौंदर्य का सम्बन्ध है काव्य-शिल्प से अर्थात् काव्य के भाव और भावों के संसर्ग में आई वस्तुओं का ऐसा अंकन कि पाठक, श्रोता की मानसी आँखों के सामने उनका रूप आ जाय, मतलब 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' (रसगंगाधर, प्रथमानन)। सहल कहेंगे कि ये दोनों सौंदर्य यदि मिलकर आएँ तो कहा जाय कि काव्य सुन्दर है।

काव्य-स्वरूप को स्थिर करते वक्त कल्पना को भी सहल ने ध्यान में रखा है। काव्य में कल्पना के लिए भी एक जगह है; मगर कल्पना के बारे में इतना विचार हुआ है कि ठीक एक बात उसके सम्बन्ध में कह डालना भीति का कारण हो सकता है। कहें, तो कहलें कि कल्पना वह अनुमान है जिसके सहारे कवि नाना भावों के बोध की स्थिति में अपने को डाल लेता है, वर्णन करते वक्त वस्तुओं के रूप को हृदय की आँखों से देख लेता है। मगर, ऐसा और ऐसा ही और कुछ करते हुए, वह यथार्थ का पल्ला नहीं छोड़ता। जहाँ यथार्थ का पल्ला छोड देता है, वह कथन या वर्णन खिलवाड़ लगता है। बात यह है कि कल्पना का सम्बन्ध काव्य-शिल्प से है। इस प्रसंग में सहल कविता का स्वरूप यों मानते हैं :

> "कल्पना के साहचर्य एवं सहयोग से कागज पर उतरा हुआ हृदय ही तो कविता है" (विवे०, पृ० ५५)।

पाठक और श्रोता के खयाल से भी कविता के स्वरूप के बारे में सहल ने विचार किया है :

> "जब तक किसी कविता से हमारी हृत्तंत्री झंकृत न हो उठे, जब तक कवितागत भाव-व्यंजना के साथ-साथ हमारा हृदय भी सामान्य भाव-भूमि पर न आ जाय, तब तक, वास्तव में देखा जाय तो, कविता सरस नहीं कही जा सकती" (वही, पृ० ५४)।

इस स्वरूप में भी बात विशेष रूप से शिल्प की ही कही गई है, अर्थात् कहा गया है कि कवि भाव को इस कौशल से अभिव्यक्त करे कि पाठक और श्रोता का हृदय भी उसी भाव की स्थिति का बोध करे जिस भाव की स्थिति में अपने को डालकर कवि ने भाव को अभिव्यंजित किया है। यदि 'सामान्य भावभूमि' का तात्पर्य यही है तो हमने ठीक ही कहा है। और, यदि इसका तात्पर्य पाठक, श्रोता का सामान्य भाव-भूमि पर आना है तो सहल यहाँ 'साधारणीकरण' की, रस के दायरे की बात कहना चाहते हैं।

सहल काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति मानते हैं और हमने आत्मा को हृदय-मन-बुद्धि की समग्रता कहा है। भाव और उसकी अभिव्यक्ति की बात पर भी उन्होंने विचार किया है। संगीत-तत्त्व को भी काव्य से दूर नहीं रखा जा सकता। गीति-काव्य में सहल इन सब कुछ का समाहार पाना चाहते हैं :

> "भाषा और भाव का यदि सामंजस्य हो, हृदय और मस्तिष्क, दर्शन और काव्य यदि कंधे से कंधा मिलाकर चल सकते हों तो ऐसा गीति-

> काव्य अवश्य ही सफल कहा जायगा (पृ० ६४)। उपयुक्त शब्द-चयन, संगीतात्मकता और प्रवाह के कारण भी गीति-काव्य का सौंदर्य बहुत कुछ बढ़ जाता है" (आलो०, पृ० ६५ और दे० समीक्षां०, पृ० १०६)। कविता के बारे में भी यही समझिए (दे० समी०, पृ० १२०)।

साहित्य, काव्य, कला के मूल्य को दृष्टि में रख कर भी सहल ने विचार किया है। उनका मत है कि कला के दो मूल्य हैं। उसका एक मूल्य है कि उसमें शिल्प-सौंदर्य हो। इसे हम उसका बाह्य मूल्य कह सकते हैं। उसका अंतर्मूल्य उसे कह सकते हैं कि जिसमें लोक-कल्याण की उदात्त भावना हो। उनका कहना है कि इन दोनों मूल्यों के एकत्र समाहार से कला को अमरता मिलती है :

> "वस्तुतः कला के मूल्य दो तरह के होते हैं—(१) कलात्मक तथा (२) कलेतर। कलात्मक मूल्यों का सम्बन्ध शब्दार्थ तथा सुन्दर अभिव्यक्ति से होता है, जबकि कलेतर मूल्य लोक-संग्रह तथा लोक-कल्याण से संबद्ध होते हैं। कलात्मक मूल्य कला को सौंदर्य प्रदान करते हैं, जब कि कलेतर मूल्य कला की व्यापकता और उपयोगिता में योग देते है। उक्त दोनों प्रकार के मूल्य-समुच्चय से ही कला को अमरता प्राप्त होती है" (विम०, पृ० १२)।

इससे स्पष्ट है कि सहल के लिए एक ओर कला के वाह्य सौंदर्य का मूल्य है, तो दूसरी ओर उसके अंतः सौंदर्य का भी मूल्य है, उसका अंतः सौंदर्य है-उसकी उदात्तता भरी उपयोगिता। और, जब दोनों एकत्र मिलते हैं तब कला का अमर चेहरा सामने आता है।

साहित्य, काव्य, कला के स्वरूप को देखने के बाद बात यह भी सामने आती है कि ये सब रचे कैसे जाते हैं, ये अस्तित्व में आते कैसे हैं; अर्थात् साहित्य की रचना-प्रक्रिया क्या है ? साहित्यकार कैसे, क्या-क्या करके बहुत से तत्त्वों को एक साथ मिलाता है और तब साहित्य अपने अस्तित्व का रूप लेता है। जो सहल मानते हैं, उसे हम भी स्वीकार करते हैं कि साहित्य-रचना बाहर से भीतर और भीतर से बाहर की प्रक्रिया है :

> "बाह्य जगत् में जो कुछ सुन्दर है, कवि उसे अपने अंतर्जगत् में बसा लेना चाहता है, किन्तु साथ ही साथ उसके अंतर्जगत् में जो कुछ है, उसे वह बहिर्जगत् को दे देना चाहता है। बाहर को अन्दर करना और अन्दर को बाहर करना—वास्तव में कला का मूल तो इसी सूत्र में निहित है" (समी०, पृ० १२७)।

मैं समझता हूँ, यहाँ सहल का 'सुन्दर' मात्र 'अच्छा' के व्यापक अर्थ में प्रयुक्त है। इसे हम और अर्थ दे दें, यदि सुन्दर के साथ शिव और सत्य भी मिला दें। कवि अपनी दृष्टि से बाहर जिसे सत्य, शिव, सुन्दर समझता है, उसे अपने भीतर ले जाता है, जिन्हें वह साहित्य-रचना के सामान्य उपकरण के रूप में व्यवहार करता है। उसके भीतर भी बहुत-सी चीजें हैं, जिन्हें वह इनके साथ मिलाता है। कल्पना, भाव-विचार, भाषा, अभिव्यक्ति आदि की तरह-तरह की शक्तियाँ उसके भीतर हैं। संक्षेप में कहें, तो कहें कि 'रचना की शक्ति' है, जिसे मैं दैवी ही मानता हूँ; क्योंकि दुनिया में अधिक लोगों को साहित्यकार होते नहीं देखा जाता। इसी शक्ति से बाहर-भीतर की सभी चीजों को सयम के साथ ठीक-ठीक मिकदार में मिलाकर साहित्य के रूप में वह बाहर करता है, अभिव्यक्त करता है।

एक प्रसंग में सहल ने साहित्य, काव्य, कला के भीतर जीवन की अनुकृति की बात भी उठाई है। वे कहते हैं :

> "जीवन की यथार्थ अनुकृति कला में सम्भव नहीं है।....जीवन की अनुकृति का व्यापक अर्थ यही है कि जो वस्तु काव्य में गृहीत होगी, वह जीवन के बाहर की नहीं होगी" (वही, पृ० १०)।

यह विचार इसलिए सही है कि साहित्य में जीवन जरूर है, मगर वह जीवन की अनुकृति नहीं है। अगर अनुकृति है तो वह फोटोग्राफी है और फोटोग्राफी है, तो कला नहीं है। कला चित्र है और साहित्य भी चित्र है। अगर साहित्य चित्र है तो उसमें यथार्थ जीवन के आधार पर कल्पना भी है, जीवन के भाव-विचार के आधार पर बने साहित्यकार के अपने भाव-विचार भी हैं, जीवन से मिली वाणी और अभिव्यक्ति के आधार पर बनी साहित्यकार की अपनी वाणी और अपनी अभिव्यक्ति भी है। साहित्य जीवन से लिए गए कच्चे माल से रची गई, कला की एक उत्कृष्ट चीज है।

हम लोग साहित्य-रचना की प्रक्रिया के प्रसंग में हैं और यह रचना भी संयम के दौर में पूरी होती है, साहित्य-रचना भी एक साधना है। साहित्य-रचना के जितने उपकरण साहित्यकार के हाथों में हैं और इन उपकरणों को अपने भीतर सँजोकर इन्हें बाहर करने—प्रकाश देने—की जितनी शक्ति उसमें है, साहित्य इस शक्ति की साधना है। सहल भी साहित्य को कुछ ऐसी ही साधना मानते हैं। वे यह भी मानते हैं कि साहित्य-रचना हृदय की योग-दशा है। योग-दशा के माने यह कि यह तल्लीनता की दशा है। 'तत्' हैं साहित्य रचना के सारे उपकरण और इन्हीं सबसे लीनता की स्थिति है मेल–योग की दशा। साहित्य-रचना इसी दशा का फल है। सहल की बातें यों हैं :

"साधनाजन्य ऐसे आवेश के क्षणों में चिरंतन साहित्य की सृष्टि होती है" (समी०, पृ० ६६)।

"कवि भी जब हृदय की योग-दशा में पहुँचता है, तभी वह सुन्दर काव्य की सृष्टि कर पाता है। इस प्रकार भाव-योग ही कवि का 'स्वास्थ्य' कहा जा सकता है"। (वही, पृ० ११६)।

साहित्य-रचना का 'आवेश का क्षण' वह कहा जा सकता है, जिसमें साहित्यकार रचना के लिए सँजोए समस्त संभार को साहित्य का रूप देने के लिए हृदय-मन-बुद्धि की एकाकारिता की स्थिति में स्फूर्ति का तीव्र बोध करता है।

फ्रायड के स्वप्न-सिद्धान्त की गवाही पर भी सहल ने साहित्य-रचना की प्रक्रिया की ओर देखा है। इस सिद्धान्त के आधार पर कहा गया है कि जैसे अतृप्त आकांक्षाएँ स्वप्न में रूप धर कर आती हैं, वैसे ही साहित्यकार की अतृप्त कामनाएँ उसके साहित्य में भी अपना रूप-ग्रहण करती हैं और उनका ऐसा रूप-ग्रहण साहित्यकार के लिए अतीव आनन्द का विषय होता है (समीक्षा, पृ० १-३)।

साहित्यकार की तटस्थता की बात कही जाती है, जिसका मतलब है कि वह जीवन और समाज के तथ्य और सत्य को तटस्थ भाव से देखता है; वह किसी वस्तु, भाव आदि में गर्क नहीं हो जाता; किसी घटना, किसी पात्र से अपने को चस्पा नहीं कर लेता। यदि ऐसा करता है तो उसका कुफल साहित्य में अपनी छाया दिखलाता है :

"नाटक के किसी एक पात्र अथवा प्रत्येक पात्र के साथ यदि नाट्यकार अपना तादात्म्य स्थापित कर ले और दूसरे पात्रों को यदि वह अपने हृदय की सहानुभूति न दे तो यह नाट्यकार की दुर्बलता ही समझिए। नाट्यकार में जिस अनासक्त दृष्टि की आवश्यकता होती है, उसका अभाव होने पर प्रचारात्मकता, उपदेशात्मकता, दार्शनिकता, सिद्धान्त-प्रियता, आदि के समावेश से नाटकीय रचना-तंत्र त्रुटिपूर्ण हो उठता है" (मूल्यां०, पृ० २२)।

इसे रचनाकार की वस्तुगत तटस्थता कहें। रचनाकार की एक भावगत तटस्थता भी हो सकती है—जब वह रचना करने बैठता है। भावगत तटस्थता से हमारा मतलब है कि रचना करने की स्थिति में भी रचनाकार का भावाधार हृदय अपने में रहता है, अपने शुद्ध रूप में रहता है, अपने पवित्र रूप में रहता है। तभी तो जिन-जिन भावों को व्यक्त करने की आवश्यकता होती है, यहाँ तक कि यदि

विरोधी भावों को भी व्यक्त करने की जरूरत होती है, प्रेम-भाव के साथ ही जुगुप्सा-भाव को भी व्यक्त करना होता है, तो क्षणों के समान दौरान में रचनाकार व्यक्त कर पाता है। रचनाकार में भावगत तटस्थता न होने पर ऐसा करना मुमकिन नहीं है। सहल इस चीज को यों कहेंगे :

> "काव्य-सृष्टि के उदात्त क्षणों में कवि राग-द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठा रहता है" (विम०, पृ० २)।

अपने 'आलोचना के पथ पर' ग्रंथ में सहल ने माना है कि सभी साहित्यालंकार मनःशास्त्र के आधार पर बने हैं और इस आधार पर इनका विवेचन भी सम्भव है। (पृ० १५) स्वभावोक्ति अलंकार पर भी काफी दूर तक इन्होंने विचार किया है। ये इसके पक्ष-विपक्ष दोनों के मतों को सामने रखते हैं और लगता है कि इसके बारे में बातें करते वक्त वामन के 'सौंदर्यमलंकारः' की ओर रुजू हैं। वे साहित्यकार के 'निरीक्षण और अभिव्यक्ति' की ताकत का उल्लेख भी स्वभावोक्ति को अलंकार मानने के पक्ष में करते हैं। अन्त में इन्होंने यह भी कहा है कि विषय विवादास्पद है, विवेच्य है। और, इसे अलंकार मानने, न मानने का सवाल बड़ा पुराना है। स्वभावोक्ति को अलंकार मान लेना श्रोता, पाठक के स्वभाव, अभ्यास पर आश्रित है। वस्तुस्थिति यह है कि जहाँ लोग स्वभावोक्ति अलंकार मानते हैं, वहाँ साधारणतः अत्यधिक लोग यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण समझते हैं, जो रस-बोध का भी एक साधन माना जा सकता है।

'निबन्ध' शब्द की व्युत्पत्ति और असल निबन्ध की गति-प्रकृति दोनों को सामने रखकर सहल ने विचार किया है। वे निबन्ध की गति-प्रकृति को मद्दे नजर रखकर उसका रूप खड़ा करना अच्छा समझते हैं। वे यह मानते हैं कि यदि निबन्ध की गति-प्रकृति को सामने रखा जाय तो :

> "निबन्ध और निर्बन्ध दोनों प्रकार की रचनाओं का समाहार 'निबन्ध' के अन्तर्गत हो सकेगा। किन्तु मेरी दृष्टि में व्युत्पत्तिनिमित्त की अपेक्षा प्रवृत्तिनिमित्त को ही विशेष महत्त्व दिया जाना चाहिए"।
>
> (मूल्यां०, पृ० ११३)।

और, सब कुछ पर विचार कर, सहल निबन्ध का समग्र रूप यों निर्धारित करते हैं :

> "निबन्ध सरस शैली में अभिव्यक्त किया हुआ लेखक का निजी दृष्टिकोण है जिसमें आकार-लघुता के साथ-साथ गद्य की कलात्मकता के भी दर्शन होते हैं"। (वही, पृ० ११४)।

इसी प्रसंग में शैली की बात भी देखी जा सकती है। शैली है—कहने का ढंग, यहाँ मतलब है—रचनाकार के कहने का ढंग, और यह एकदम सही है कि आदमी का अपना-अपना कहने का ढंग होता है, वह चाहे आला हो चाहे अदना। मगर, आला आदमी के कहने का अपना एक विशेष ढंग होता है और किसी रचनाकार को आला आदमी कैसे न कहा जाय ? वैसे प्रत्येक रचनाकार के कहने में अपनापन होता है, किन्तु शैलीकार के नाम से वे ही रचनाकार विख्यात हुए देखे जाते हैं जो रचनाकार भी हैं और चिन्तक भी; उनकी चिन्तना साहित्य, समाज, जीवन में से एक क्षेत्र की अथवा इन समस्त क्षेत्रों की भी हो सकती है। यदि कोई चिन्तक है तो उसकी अपनी दृष्टि भी है, अपनी दृष्टि से मिला उसका अपना अनुभव, बोध, ज्ञान भी है। इन सब तत्त्वों से समृद्ध चिन्तक रचनाकार अपना अन्तर जब भाषा के जरिए व्यक्त करता है, तब उसके व्यक्तीकरण में एक अपनापन, उसका अपना व्यक्तित्व, वह अपने बाहर-भीतर से जो कुछ है वह सब उसकी रचना में प्रकाश देने लगता है। ऐसा होने से उसकी भाषा और अभिव्यक्ति की समग्रता में भी एक नयापन, अनोखापन झलमलाता है। इन सब बातों को सहल यों कहना चाहेंगे :

> "शैली में प्रभविष्णुता और सजीवता इसी आत्म-तत्त्व के कारण आती है। और यह आत्म-तत्त्व स्वानुभूति के बिना नहीं आ पाता। जहाँ स्वानुभूति है, वहाँ भव्य शब्द-विन्यास भी अपने आप चला आता है"। (समी०, पृ० १२४)

शुरू में ही हमने निवेदन किया है कि सहल ने नाना शास्त्रों की परीक्षा-निरीक्षा की है, इसलिए उन्होंने साहित्य-शास्त्र को भी अच्छी तरह परखा है। इस शास्त्र का परम साध्य है—रस की गहरी छानबीन। सहल ने अपने ग्रंथों के कई लेखों में रस के सम्बन्ध में विचार किया है और कुछ अपनी बातें भी कही हैं। व्यावहारिक जीवन में सुख-दु:खात्मक भावों का बोध जिस प्रकार हम सुख-दुःख के रूप में करते हैं, उसी प्रकार रस-रूप में इनकी परिणति होने पर भी ये सुख-दुःख के रूप में ही बोध में आते हैं। ऐसा एक अति नवीन मत रामचन्द्र शुक्ल ने कायम किया है। सहल सभी तरह के भावों की रस-रूप में परिणति को आनन्दमय मानते हैं, जैसा कि पुरातन आचार्यों ने माना है। रस-दशा को जब आनन्द की दशा कहा गया, तब यह माना गया कि सुख और दुःख सापेक्षिक सत्य हैं; मतलब सुख है, तो दुःख का आना अनिवार्य है और दुःख है, तो सुख का आना भी अनिवार्य है। आनन्द निरपेक्ष सत्य है, उसमें सुख-दुःख का आवागमन नहीं रहता। ब्रह्म और उसके बोध को भी आनन्दमय या आनन्दस्वरूप कहा गया है। प्रत्येक साहित्याचार्य

दार्शनिक भी थे, इसलिए सब ने कहा है कि रस 'ब्रह्मानन्दसहोदर' है। लगता है कि ब्रह्म और उससे उपलब्ध आनन्द को ऊँचाई उनकी नजर में अमेय थी; इन दोनों तत्त्वों को वे किसी के बराबर नहीं रखना चाहते थे; इसीलिए रसोपलब्ध आनन्द को उन्होंने 'ब्रह्मानन्द' नहीं कहा, उस आनन्द का सहोदर कहा। उनके कहने का मतलब यदि यही था, जैसा कि कहा जा रहा है, तो यहाँ सहोदर का अर्थ 'छोटा भाई' भी कर सकते हैं।

एक जगह कहा है कि रस-दशा को समझने के परिप्रेक्षण में सांख्य दर्शन का सहारा लिया जा सकता है। इस सहारे को उन्होंने साफ नहीं किया है। लगता है, इस सहारे से उनका मतलब पुरुष की 'तटस्थता, कूटस्थता' से है, उसकी सुख-दुःख की परता से, उसकी मात्र आनन्द में निमग्नता से है :

> "रसदशा तन्मयता की सात्त्विक अवस्था है जिसके विशेष स्पष्टीकरण के लिए सांख्य दर्शन का आश्रय ग्रहण करना होगा। रस की दशा तन्मयता का वह पारावार है जिसमें न जाने कितने सत्-असत्, सुख तथा दुःख डूबे रहते हैं" (विवे०, पृ० १३१)।

दुःखात्मक भावों का बोध भी रस की परिपक्वावस्था में आनन्दात्मक ही क्यों होता है? इसका जवाब सहल ने अपने ढंग से देते हुए कहा है कि इसका कारण है–साहित्यकार अपने कर्म के कौशल द्वारा साहित्य के माध्यम से भावों को ऐसे पके-पकाए रूप में श्रोता, पाठक, दर्शक को देता है कि उस (साहित्य) से उस (श्रोता, पाठक, दर्शक) का आत्म-प्रसार होता है, उसकी आत्मा सुख-दुःख से बँधी नहीं रह पाती, वह व्यापक होकर मात्र आनन्द का बोध करती है। सहल शायद कहेंगे कि रस दशा आत्म-दर्शन है और आत्मा सुख-दुःख के बन्धन से परे रहे, तो वह आनन्दमय ही है—ब्रह्म की भाँति :

> "दुःखात्मक नाटकों में करुणा का भाव जागृत होने से आत्म-प्रसार का अवसर मिल जाता है और आत्म-प्रसार ही····आनन्द का मूल कारण है····(पृ० ४५)। वास्तव में सभी रस सुखात्मक हैं और इसका मूल कारण है भावमग्नता" (आलो०, पृ० ४७)।

इस आत्म-विस्तार में मानव के महत्त्व की तीव्र अनुभूति को वे सहायक मानते हैं :

> "त्रासदी में सहानुभूति के कारण आत्म-विस्तार होता है, नाटक के औदात्यपूर्ण शील से मानव के महत्त्व की तीव्रानुभूति होती है, जिसके

कारण हमें संतोष अथवा सुख की प्रतीति हुए बिना नहीं रहती"। (विम०, पृ० २०१)।

इस प्रसंग में 'सहानुभूति' और 'तीव्रानुभूति' की बात सहल सोचते हैं। मैकबेथ अपनी एक महत्त्वाकांक्षा पूरी करने के लिए सब कुछ करता है और कत्ल का काम भी नहीं छोड़ता। वह सभी साहसिक काम करता है, कर सकता है। उसके ऐसे साहस के कामों में उदात्त शील का बोध समझना साहस ही है। अलौकिक तत्त्वों को लेकर सब मौकों पर उसने भूल समझा-समझा कर जो मृत्युमय खेल खेला है, उससे उसके प्रति सहानुभूति नहीं, उस पर मात्र दया आती है। खैर, त्रासदी से अहं के विगलन द्वारा अपने को पा लेने में भी आनन्द का बोध सहल मानते हैं :

"जहाँ तक मैं समझता हूँ, ट्रेजेडी में आनन्द का मूल कारण है 'अहं का विगलन'। यह विगलन (वही पृ० १६) जितना ट्रेजेडी द्वारा सम्भव है, उतना साहित्य की अन्य किसी विधा द्वारा सम्भव नहीं (पृ० १७)।....दुःख की लोकानुभूति कराए बिना ट्रेजेडी हमें दुःख से उत्पन्न होने वाला लाभ पहुँचा देती है और वह है 'अहं के विगलन' द्वारा आत्मोपलब्धि की झलक (पृ० १७),....जिससे आनन्द प्रादुर्भूत होता है (पृ० १८)।....अहं के विगलन से मनुष्य को आत्म-स्वरूप और स्वभाव अथवा आत्म-भाव की उपलब्धि होती है।....किसी को उसका खोया हुआ स्वरूप मिल जाए तो निश्चय ही उसे अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होगी"। (वही, पृ० १८)।

आनन्दमय रस की परिपक्वता किन स्थितियों को पार होने के बाद आती है, रस आनन्दमय रूप किस प्रक्रिया से ग्रहण करता है, इसके बारे में सहल ने विचार किया है। वे इस प्रक्रिया की तीन स्थितियाँ बतलाते हैं—विषयवस्तु, विषयवस्तु को रसास्वाद्य बनाने में कवि-कर्म और तीसरी स्थिति है इन दोनों के सहयोग से रस-व्यंजना। उनका मतलब है किसी वस्तु को लेना, उसे काव्य का रूप देना और इस प्रकार ऐसे काव्य-रूप से रस का व्यंजित होना; रस-प्रक्रिया का इसे साधारण खुलासा कह सकते हैं :

"यदि विचार कर देखा जाए तो रस-प्रक्रिया की तीन स्थितियाँ हमारे सामने स्पष्ट हैं। पहली स्थिति अभिधा अथवा वर्ण्य-विषय से सम्बन्धित है, किन्तु निरी अभिधेय वस्तु काव्य का रूप धारण नहीं कर सकती। अभिधेय को आस्वाद्य बनाने के लिए कवि अथवा नाट्यकार को रस-

प्रक्रिया की दूसरी स्थिति अर्थात् कल्पना का सहारा लेना पड़ता है, जिसके द्वारा रस अभिव्यक्त अथवा व्यंजित होता है। व्यंजना को तीसरी स्थिति समझिए"। (वही, पृ० ३)।

सहल के साहित्य-सिद्धान्तों को इस तरह हमने देखा है। देखते वक्त बराबर कोशिश में रहा कि कहीं उनको गलत न समझा जाय। इस विचार के आधार पर देखा जा सकता है कि सहल ने साहित्य के, ज्यादातर काव्य के, नाना क्षेत्रों में झाँका है और उसके चरम साध्य रस पर बड़े मन से विवेचन किया है। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने जो कुछ कहा, उस पर काफी दूर तक मनन किया और तब उसे सामने रखा है। बड़ी बात यह है कि उनकी बात, उनके मत में कहीं उलझाव नहीं है।

संदर्भित ग्रंथ :

(क) आलो०=आलोचना के पथ पर, भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली, सन् १९५९ ई०।

(ख) मूल्यां०=मूल्यांकन, राजस्थान पुस्तक मंदिर, जयपुर, सन् १९६३ ई०।

(ग) विम०=विमर्श और व्युत्पत्ति, चिन्मय प्रकाशन, जयपुर, सन् १९६६ ई०।

(घ) विवे०=विवेचन, साहनी प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९५३ ई०।

(ङ) समी०=समीक्षायण, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, सन् १९५० ई०।

(च) समीक्षां०=समीक्षांजलि, रमेश बुक डिपो, जयपुर, सन् १९५५ ई०।

•••

डॉ. सहल की आलोचना-प्रणाली

• डॉ. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

हिन्दी आलोचना-जगत् में तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं— १. विशुद्ध भारतीय काव्य-शास्त्र को आधार बनाकर चलने वाली, २. पाश्चात्य जगत् में प्रचलित विभिन्न अधुनातन विज्ञानों तथा राजनैतिक मतवादों को आधार बनाकर चलने वाली और ३. भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य आलोचना-सिद्धांतों के वांछनीय समन्वय को आधार बनाकर चलने वाली। पहले प्रकार की आलोचना-प्रणाली में भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धांतों को अद्यतन विधाओं की आलोचना की कसौटी के रूप में स्वीकार किया जाता है तो दूसरे प्रकार की आलोचना-प्रणाली में यूरोप और अमेरिका में प्रचलित नित नये काव्य-शास्त्रीय सम्प्रदायों को लागू किया जाता है। ये दोनों ही अतिवादी मार्ग हैं। इनके विपरीत, तीसरे प्रकार की आलोचना-प्रणाली में एक ओर अपने देश की परम्परा और जीवन-दर्शन को ध्यान में रखा जाता है तो दूसरी ओर आयातित साहित्यिक विचार-धाराओं के आश्रय पर रचित साहित्य की दृष्टि से तद्देशीय आलोचना-सम्प्रदायों की भी सहायता ली जाती है। वस्तुतः यह तीसरी आलोचना-प्रणाली ही ग्राह्य और स्वीकार्य समझी जाती है। हिन्दी में इस प्रकार की आलोचना-प्रणाली का सूत्रपात करने वाले सर्वप्रथम आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल थे। उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र के उपयोगी तत्त्वों के आधार पर जायसी, सूर और तुलसी की आलोचनाएँ हिन्दी-जगत् को दी तो अपने निबंधों में यूरोपीय साहित्य में प्रचलित आलोचना-प्रणालियों की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की। उदाहरण के लिए 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' शीर्षक निबंध को लिया जा सकता है। यही क्यों, उन्होंने अनेक ऐसे प्रश्नों का भी समाधान प्रस्तुत किया, जिनको हम प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र के आधार पर हल नहीं कर सकते थे। इसका प्रमाण उनका 'रस-सिद्धान्त' नामक ग्रंथ है, जिसमें आचार्यों द्वारा स्वीकृत अनेक सिद्धान्तों को शंका का विषय बनाकर उन्होंने उनका समाधान आधुनिक दृष्टि

से किया है। आचार्य शुक्ल की इस परम्परा को अग्रसर करने वालों में स्व. बाबू गुलाबराय और डॉ० नगेन्द्र के नाम उल्लेखनीय हैं। बाबू गुलाबराय जहाँ पौरस्त्य एवं पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों के समन्वय के लिए उनके मूल में व्याप्त समान तत्त्वों की खोज और संगति के लिए प्रयत्नशील रहे, वहाँ डॉ० नगेन्द्र उनसे बढ़कर 'रस-सिद्धान्त को' सार्वभौम आलोचना-प्रणाली का आधार सिद्ध करने में सफल हुए। आज इसी की ओर सब का लक्ष्य है और यह उचित है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय और डॉ० नगेन्द्र के मार्ग पर चलने वाले अन्य कितने ही आलोचक हिन्दी-आलोचना-क्षेत्र में सजग रहे हैं और उनका कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किन्तु ऐसे आलोचकों की ओर अभी तक अध्येताओं का ध्यान नहीं गया है। इसका एक कारण तो हिन्दी-जगत् की आपाधापी है और दूसरा कारण ऐसे आलोचकों की अपने मौन भाव से साधना-रत रहने की प्रवृत्ति है। डॉ० कन्हैयालाल सहल इसी प्रकार के व्यक्तित्व वाले आलोचक हैं। हिन्दी-जगत् की हल-चल-भरी सीमाओं वाले क्षेत्र से अलग, राजस्थान के एक विद्या-क्षेत्र में बैठे वे लिख तभी से रहे हैं जब से कि बाबू गुलाबराय ने 'साहित्य-संदेश' का सम्पादन-भार सम्हाल कर हिन्दी में समन्वयवादी आलोचक के रूप में ख्याति अर्जित करना प्रारम्भ किया और जब से उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से डॉ० नगेन्द्र ने आचार्य शुक्ल द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण जैसे विषयों पर मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रकाश में नये विचारों को व्यक्त करना प्रारम्भ किया था। डॉ० नगेन्द्र की भाँति उनके लेख भी 'साहित्य-संदेश' में प्रकाशित होते थे और उन पर बाबू गुलाबराय की टिप्पणियाँ भी रहती थीं। अन्तर इतना ही है कि जहाँ डॉ० नगेन्द्र में पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र की गहरी पकड़ थी, वहाँ डॉ० सहल भारतीय काव्य-शास्त्र के गम्भीर अनुशीलन का परिचय देते थे। उस समय तक डॉ० नगेन्द्र संस्कृत काव्य-शास्त्र पर वह अधिकार प्राप्त नहीं कर पाए थे जो आगे चलकर उन्होंने किया और जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने कभी के मनोविश्लेषणवादी आलोचक के स्थान पर आज के रसवादी आलोचक के रूप में अखिल भारतीय ख्याति प्राप्त की। डॉ० नगेन्द्र अपनी कर्मठता और गम्भीर अध्ययन के बल पर आचार्य शुक्ल के बाद हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक के रूप में स्वीकृत हुए, जबकि डॉ० सहल की शक्तियाँ एक ओर स्फुट आलोचनाओं में व्यय हुई तो दूसरी ओर राजस्थानी साहित्य के उत्थान में भी उनका पर्याप्त समय गया। परिणामस्वरूप आलोचना के क्षेत्र में जो काम करना चाहिए था, वह वे नहीं कर सके। यही नहीं, उन्होंने जो कुछ महत्त्वपूर्ण लिखा भी, उसका भी यथोचित मूल्यांकन नहीं हो सका। इसे विधि की विडम्बना ही कहा जा सकता है। हमारा ऐसा विश्वास है कि यदि डॉ० सहल एक निश्चित दिशा लेकर आलोचना-क्षेत्र में आगे बढ़े होते तो आज हिन्दी को एक युग-निर्माता आलोचक को प्राप्त कर और भी

अधिक प्रसन्नता होती। यहाँ यह कह देना उचित ही होगा कि डॉ० सहल की आलोचनात्मक पुस्तकों में संगृहीत विभिन्न विषयों, कलाकारों और कृतियों पर लिखे निबन्धों को पढ़कर ही हमारी उक्त धारणा बनी है। सम्भव है, कुछ लोग इससे सहमत न हों। लेकिन बार-बार उनके निबन्धों को पढ़ने पर जो धारणा बनी है, उसे व्यक्त न करना भी अनुचित है। अस्तु।

डॉ० कन्हैयालाल सहल की आलोचना-प्रणाली की पहली विशेषता, जो हमारा ध्यान आकर्षित करती है, उनका गहन अध्ययन और तलस्पर्शी विवेचन है। वे चाहे रस-सिद्धान्त और उससे सम्बद्ध किसी विषय का विवेचन करें अथवा किसी काव्य, नाटक और उपन्यास का विश्लेषण करें, विवेच्य विषय से सम्बन्धित भारतीय और यूरोपीय काव्य-शास्त्र का पूरा-पूरा उपयोग करते हैं। दर्शन-शास्त्र, काव्य-ग्रन्थ एवं काव्य-शास्त्र तीनों को एक साथ आलोचना का आधार बनाकर चलने के कारण उनकी आलोचना-प्रणाली अपनी अलग विशेषता रखती है। स्वर्गीय आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने उनकी आलोचनात्मक कृति 'आलोचना के पथ पर' की भूमिका में जो कुछ लिखा था, वह आज तक की उनकी लिखी समस्त आलोचनात्मक कृतियों पर लागू होता है। हां, मात्र इतना ही और जोड़ा जा सकता है कि ज्यों-ज्यों वे प्रौढ़ होते गये हैं, उनके विचारों में स्पष्टता और शैली में स्वच्छता आती चली गयी है। आचार्य वाजपेयी ने लिखा था, "समीक्षा-कार्य करते-करते साहित्य के जिन तात्त्विक प्रश्नों और समस्याओं पर सहलजी की दृष्टि गयी है, उनकी अत्यंत सरल और सुस्पष्ट व्याख्या इन निबंधों में की गई है। कहीं किसी साहित्यिक समस्या के उपस्थित होने पर यदि तद्विषयक कोई प्राचीन उल्लेख, निर्णय या सिद्धान्त सहलजी के सम्मुख आ गया है तो उसे भी उन्होंने 'आलोचना के पथ पर' में उपयोग में लिया है। भारतीय और विदेशी दोनों ही शास्त्रीय मतों को उन्होंने अपनाया है और हम देखते हैं कि आधुनिक हिन्दी-काव्य की समीक्षा-भूमि पर उक्त दोनों मतों का अनायास समन्वय किया है।............इस प्रकार सहलजी ने साहित्यिक धरातल पर पूर्व और पश्चिम के विचार-समन्वय के उस प्रयत्न में अपना योग दिया है, जो आज भी एक साहित्यिक आवश्यकता है।"

लेकिन पूर्व और पश्चिम के विचार-समन्वय को वे आँख मूंद कर अपनी आलोचना का आधार बनाते हों, ऐसा नहीं है। उसकी परीक्षा वे दर्शन और काव्य-शास्त्र, दोनों के आधार पर करते हैं और अन्त में अपना स्वतंत्र अभिमत भी देते हैं। वह स्वतंत्र अभिमत निश्चय ही भारतीयता की ओर झुका रहता है और यह स्वाभाविक है। उनकी आलोचना-प्रणाली की इस विशेषता का बहुत अच्छा परिचय उनके उन लेखों में मिलता है जिनमें उन्होंने प्रसाद के नाटकों में उपलब्ध नियतिवाद का विश्लेषण किया है। इस प्रसंग में उन्होंने भारत और यूरोप, दोनों ही की दृष्टि से

नियतिवाद का निरूपण किया है। भारत के दृष्टिकोण को महाभारत, गीता और अरविन्द के 'दिव्य-जीवन' से उदाहरण देकर उपस्थित किया है तो यूरोप के दृष्टिकोण को ग्रीक-नाटकों, इस्लाम के 'किस्मत'—विषयक विचारों, ईसाइयों के सेंट आगस्टाइन के पूर्वनिर्दिष्टवाद, यहूदियों की स्वतंत्र इच्छा-शक्ति आदि के द्वारा दिग्दर्शित किया है। इन सबके उदाहरण देकर प्रसाद के 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' में अभिव्यक्त नियतिवादी विचारों की व्याख्या की है। निष्कर्ष यह निकला है—"प्रसाद ने जिस नियति का चित्रण किया है, उसे क्रूर कहीं नहीं दिखाया है। ग्रीस में दुःखान्त नाटक लिखे गये। उनमें नियति की क्रूरता का चित्रण हुआ है किन्तु प्रसाद की नियति शांतिमयी और रहस्यमयी है।" इसके साथ ही उसे कर्मवाद और भाग्यवाद के संदर्भ में भी देखा है और वेदों में जो 'ऋत' की कल्पना की गई है, उसे नियतिवादी विचारधारा का आदि-स्रोत माना है। अपने इस विवेचन में डॉ० सहल ने समस्त भारतीय एवं यूरोपीय चिन्तन का सार संश्लिष्ट रूप में रख दिया है, फिर भले ही वह दार्शनिक ग्रंथों में वर्णित हो अथवा काव्य-ग्रंथों में। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय पर लिखने से पूर्व उन्होंने देश-विदेश का कोई दार्शनिक अथवा महाकवि पढ़े विना नहीं छोड़ा। इस कारण प्रसाद का नियतिवाद अपने यथार्थ रूप में स्पष्ट झलक उठा है। तथ्य को गहराई से पकड़ने की यह प्रवृत्ति उनकी आलोचना-प्रणाली की ऐसी विशिष्टता है कि वे सबसे अलग खड़े दिखाई देते हैं। एक वात और—अपने अभीष्ट विषय के विवेचन के साथ विचारोत्तेजक सूत्र भी देते चलते हैं। प्रसाद के नियतिवाद के विवेचन में ही 'अजातशत्रु' के नियतिवाद का विवेचन करने के पश्चात् वे कहते हैं—"प्रसाद के नियतिवाद का अभी पूर्ण अध्ययन नहीं हुआ है। आवश्यकता इस वात की है कि उनके ग्रंथों के आधार पर नियतिवाद की विद्वानों द्वारा सम्यक् विवेचना हो, जिससे रहस्यमयी नियति का आवरण कुछ दूर किया जा सके।" "ये सूत्र एक ओर उनकी विनम्रता के सूचक हैं तो दूसरी ओर शोधार्थियों को नई दिशा में कार्य करने की प्रेरणा भी देते हैं।

डॉ० सहल की आलोचना-प्रणाली की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता व्याख्यापरक शैली है। हो सकता है कि एक कर्त्तव्य-परायण अध्यापक के नाते उन्हें अपने विद्यार्थियों की शंकाओं के समाधान एवं विषय की वास्तविक जानकारी देने के लिए ऐसा करना पड़ा हो। यह स्वाभाविक भी है। उनकी आलोचना का अधिकांश कृतियों अथवा विवादास्पद साहित्यिक विषयों की व्याख्या से परिपूर्ण है। साकेत के नवम सर्ग का काव्य-सौन्दर्य जिस लघु पुस्तिका में उद्घाटित हुआ है, वही इसका उदाहरण नहीं है प्रत्युत 'कामायनी' के 'काम' अथवा 'लज्जा' सर्ग की व्याख्या, 'साकेत' के सर्गों का अनुक्रम, 'गबन की औत्सुक्य योजना' आदि उनके ऐसे लेख हैं जिनमें उनकी

व्याख्यापरक शैली का स्वरूप निखरे रूप में हमारे समक्ष आता है। इन लेखों में डॉ० सहल इतने सहज भाव से विषय को स्पष्ट करते चलते हैं कि उनकी तीक्ष्ण दृष्टि और गहन अध्यापन के प्रति आश्चर्य-मिश्रित श्रद्धा का भाव जाग्रत होता है। इसमें अनेक नूतन उद्भावनाएँ हैं जिनका समर्थन पुरातन तथा नूतन काव्य-दृष्टि के आधार पर ही उन्होंने नहीं किया, समस्त देशी-विदेशी वाङ्मय के ग्रंथ-रत्नों की साक्षी भी उन्होंने दी है। काव्य-सृजन की प्रक्रिया और विषय-वस्तु के मूल स्रोतों की सर्वांगीण जानकारी के कारण ही यह सम्भव हुआ है।

जहाँ तक विवादास्पद साहित्यिक प्रश्नों का सम्बन्ध हैं, वे उपलब्ध सामग्री और विद्वानों के अभिमतों को पूर्व पक्ष के रूप में रखकर उत्तर पक्ष के रूप में अपना विवेचन प्रस्तुत करते हैं। यहाँ उनकी दृष्टि सारग्राहिणी रहती है। जटिल से जटिल विषय पर विद्वानों द्वारा व्यक्त विचारों का सार प्रस्तुत कर वे अपने विवेचन अथवा नूतन उद्भावना को विनम्रता से रख देते हैं, जिसमें कहीं पांडित्य का गर्व प्रदर्शित नहीं होने पाता। इसका वहुत अच्छा उदाहरण 'नाट्यदर्पणकार का रस विवेचन' शीर्षक लेख है। इस लेख में करुण रस के विषय में चर्चा की गयी है। प्रश्न यह है कि करुणरस-पूर्ण नाटकों अथवा काव्यों से दर्शक या पाठक को दुःख होता है या सुख ? साहित्य के सामान्य विद्यार्थी तक यह जानते हैं कि इस प्रश्न पर संस्कृत के महान् आचार्यों के विचारों पर प्रश्न चिन्ह लगाने वाले आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र हैं, जिन्होंने अपने नाट्यदर्पण में श्रृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त को सुखात्मक-तथा करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक को दुःखात्मक दो श्रेणियों में रखकर आश्चर्य-चकित कर दिया है। डॉ० सहल ने इस विषय पर विचार करते हुए नाट्य-दर्पण-कार के विवेचन का सार प्रस्तुत करके जो अपना मत दिया है, वह दो तथ्यों की ओर संकेत करता है। एक तो यह कि नाट्य-दर्पणकार ने शोक और करुणा, दोनों को एक मान लिया है और दूसरे दुःखात्मक नाटक अथवा काव्य के देखने अथवा पढ़ने से जो आनन्द आता है, वह भावमग्नता के कारण आता है। पहले तथ्य को स्पष्ट करते हुए जहाँ उन्होंने यह लिखा है कि दूसरे के दुःख को देखकर करुणा का भाव जाग्रत होता है और अपने दुःख को देखकर शोक का, वहाँ यह भी लिखा है कि करुणा में हमको दुःखी व्यक्ति के साथ आत्मीयता स्थापित करने का अवसर मिलता है, जिससे हम 'अहं' की संकुचित परिधि से निकलकर आत्म-प्रसार के क्षेत्र में विचरण करने लगते हैं। इससे आनन्द प्राप्त होता है। दूसरे तथ्य के विषय में उनका मत है,—"आनन्द का मूल कारण भाव-मग्नता है अथवा स्वस्थता है, परस्थता नहीं। जब तक हमारी वृत्तियाँ चंचल हैं, तव तक हम अन्तर्मुख होकर भावमग्न नहीं हो सकते और विना भावमग्न हुए सुख नहीं मिल सकता।" अपने इस मत के समर्थन में उन्होंने आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के इस मत को उद्धृत किया

है, "हृदय की मुक्तदशा होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।" इस प्रकार डॉ० सहल का यह विवेचन नितान्त मौलिक और विश्वसनीय है।

साहित्य-शास्त्र के सम्बन्ध में उन्होंने सर्वत्र इसी पद्धति पर अपने विचार प्रकट किए हैं। यह सिद्ध करना है कि उन्होंने प्रत्येक विषय पर गहन चिन्तन और पर्याप्त मनन किया है। न केवल प्राचीन विषयों पर उन्होंने ऐसा किया है, प्रत्युत नवीन विषयों पर लिखते समय भी इसी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। विशेष रूप से छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता तथा गद्य-विधाओं—कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि पर उनके विचार माननीय हैं। इन विषयों पर उन्होंने आधुनिक दार्शनिक तथा साहित्यिक सिद्धान्तों के संदर्भ में विचार किया है और अतिवाद से बचने का प्रयत्न किया है। दृष्टि उनकी यह रही है कि अपने देश की परम्परा और संस्कृति के अनुकूल तत्त्वों को महत्त्व दिया जाय और विदेश के केवल उन्हीं सिद्धान्तों को ग्रहण किया जाय, जो हमारे लिए उपयोगी हैं। इस प्रकार के निबन्धों में डॉ० सहल ने अपनी प्रतिभा का और भी अच्छा परिचय दिया है। 'हिन्दी-साहित्य के नये माध्यम,' 'कविता और किशोरमन' 'अलंकार और मनोविज्ञान,' 'आलोचना और मनोविश्लेषण,' 'निबन्ध का स्वरूप-लक्षण' आदि निबंधों में उनका आलोचक अपनी उच्चतम भूमि पर उपस्थित है। यदि उदाहरण देना ही हो तो हम उनकी निबंध की इस परिभाषा को उद्धृत करना चाहेंगे—"निबंध सरस शैली में अभिव्यक्त किया हुआ लेखक का निजी दृष्टिकोण है, जिसमें आकार की लघुता के साथ-साथ गद्य की कलात्मकता के दर्शन होते हैं।"

हिन्दी-साहित्य में आलोचना के क्षेत्र में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। राजस्थानी साहित्य को अपने शोधकार्य और विवेचन से समृद्ध करने में वे अग्रणी हैं। राजस्थानी भाषा और उसकी विविध बोलियों, छन्द और काव्य-रूप, कला और लोकोत्सव आदि पर उन्होंने साधिकार लेखनी चलाई है और कितने ही अज्ञात विषयों पर प्रकाश डाला है। आलोचना-प्रणाली यहाँ भी वही है, जो हिन्दी-साहित्य विषयक निबंधों में ग्रहीत है। अन्तर केवल इतना है कि इनमें उनका हृदय और भी खिल-खुलकर सामने आया है।

डॉ० सहल की आलोचना-प्रणाली में उनकी भाषा-शैली भी विषय-विवेचन के समान ही अत्यन्त सरल और सुबोध है। उसमें उनका आडम्बरहीन व्यक्तित्व बोलता है। कहीं भी क्लिष्ट शब्दों अथवा घुमावदार वाक्यों द्वारा व्यर्थ का वाग्विस्तार करने की चेष्टा हमें नहीं मिलती। विषय पर सीधे विचार करना और अपनी बात कह कर चुप हो जाना, यही उनका स्वभाव है। हम उनकी तुलना एक ऐसे यात्री से कर सकते हैं, जो घर से गंतव्य की ओर जाते समय न तो इधर-उधर

की वातें सोचता है और न मार्ग में मिलने वाले परिचितों-अपरिचितों से वार्तालाप में अपना समय नष्ट करता है। इसे और भी स्पष्ट रूप में यों रखा जा सकता है कि उनकी भाषा-शैली अपने विषय पर पूर्ण अधिकार रखने वाले एक सुलझे हुए अध्यापक की भाषा-शैली है, जिसे अपने छात्रों के समक्ष विषय का स्पष्टीकरण ही नहीं करना, उनके भीतर संतुलित विचार-सामर्थ्य और मौलिक उद्‌भावना-प्रेम भी जगाना है। ऐसा व्यक्ति कभी भी अस्पष्ट अथवा भ्रामक वात नहीं कहेगा और अभीष्ट विषय से वँधा रहेगा। डॉ० सहल भी इसी कोटि के आलोचक हैं और उनकी आलोचना-प्रणाली की भी यही विशेषता है।



राजस्थान के अन्तर्मानस को समझने का सुलभ साधन उसकी कहावतें हैं। जैसा डॉ० सहल ने अपने वैदुष्यपूर्ण आमुख में वतलाया है, इनमें बहुत सी कहावतें राजस्थान की नागरिक हैं, अनेक अपनी भावना में भारतीय परिवार की सदस्य हैं और अनेक कहावतें सार्वभौम हैं। राजस्थानी संस्कृति के इस निजी व्यक्तित्व, भारतीयत्व और सार्वभौमत्व को पहचानना ही राजस्थान को पहचानना है। डॉ० सहल इस उत्कृष्ट ग्रन्थ के लेखन और बङ्गाल हिन्दी मण्डल इसके सुचारु प्रकाशन के लिए अभिनन्द्य हैं।

—डॉ. दशरथ शर्मा

'राजस्थानी कहावतें' नामक ग्रन्थ संग्रह करने योग्य तथा साहित्य में रुचि वढ़ाने वाला है। इतना ही नहीं, नई दिशा खोलने वाला भी यह है। डॉ० सहल ने अपनी वैविध्यपूर्ण विद्वत्ता का परिचय इसमें दिया है।

—गोकुलभाई भट्ट

राजस्थानी कहावतों के इस संग्रह से एक खटकने वाली कमी की पूर्ति हुई है। परन्तु राजस्थानी कहावतों की संख्या बहुत वड़ी है। अतः इनके संग्रह के १-२ भाग और भी निकाले जावें तो साहित्य जगत् का वड़ा उपकार होगा।

—मनोहर शर्मा

'राजस्थानी कहावतें' वहुत परिश्रम और विद्वत्ता का ग्रन्थ है। इस दिशा में तो आप अकेले ही हैं।

—डॉ भगवतशरण उपाध्याय

डॉ० सहल की मनीषा

• डॉ० रामदत्त भारद्वाज

डॉ० कन्हैयालाल सहल विचारशील विद्वान् हैं। मुझे उनके तीन रचना-संग्रहों तथा एक स्वतन्त्र लेख को पढ़ने का अवसर मिला। मेरी धारणा है कि डॉ० सहल की मनीषा चतुर्मार्गी है—साहित्यिक, दार्शनिक, भाषाविज्ञानीय एवं काव्यशास्त्रीय।

लगभग इकतालीस साहित्यिक लेखों में डॉ० सहल ने मुख्यतः कबीर, जयशङ्कर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, महादेवी वर्मा, सुमित्रानन्दन पन्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि की कृति-परक आलोचनाएँ उपस्थित की हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि डॉ० सहल ने अपने व्यक्तित्व को सदैव पृष्ठभूमि में रखने का प्रयत्न किया है, जो उनकी विनम्रता का परिचायक है। किन्तु जब वे किसी नयी बात की ओर संकेत करते हैं अथवा उसकी कुछ शास्त्रीय चर्चा करने लगते हैं तो अनुसंधित्सु को वह व्यक्तित्व झलकने भी लगता है। निश्चित रूप से उनके लेखों में प्रायः कुछ न कुछ नवीन अथवा आवृत तथ्य विद्यमान रहते हैं; किन्तु यह नवलता प्राचीन किन्तु ठोस प्रमाणों पर आधृत रहती है, अतएव अनुपेक्ष्य है। साहित्यिक निबन्धों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—कबीर और माधुर्य, कबीर और मरण-तत्त्व, विहंगम-योग और कबीर, राम की 'शक्तिपूजा' का स्रोत, मुक्ति तथा बन्धन पर पन्त के विचार, प्रिय-प्रवास' के वियोग-वर्णन पर महाकवि कालिदास की छाप, राजस्थान की पहेलियों में वर्षा, राजस्थानी साहित्य में वीरतामूलक मानववाद, राजस्थानी भाषा के कुछ लौकिक न्याय, राजस्थानी कहावतें, प्रसादजी और रस-सिद्धान्त, प्रसादजी का नियतिवाद, 'स्कन्दगुप्त' के पदाधिकार-संबन्धी शब्द, 'कामायनी' का अद्वैत, ध्रुवस्वामिनी: एक समीक्षा।

कवि-समीक्षा में भी डॉ० सहल की प्रवणता जयशङ्कर प्रसाद की ओर है, अतएव इस यशस्वी कवि के सम्बन्ध में डॉ० सहल के कतिपय निष्कर्ष अरुचिकर न होंगे:—

"प्रसादीय विचार-धारा का सम्यक् अनुशीलन करने पर वैदिक तथा काश्मीर शैवागमों के आनन्दवाद की छाप ही उस पर स्पष्ट दिखाई पड़ती है''''प्रसादजी का नियतिवाद कर्मयोग की ओर मनुष्य को प्रेरित करता है; वह कोई निष्क्रिय, जड़-सिद्धान्त नहीं है, उसके पीछे गतिशीलता की प्रेरणा है।"[1]

"प्रसाद के नियतिवाद का अभी[2] पूर्ण अध्ययन नहीं हुआ है। आवश्यकता इस बात की है कि उनके ग्रन्थों के आधार पर नियतिवाद की विद्वानों द्वारा सम्यक् विवेचना हो, जिससे रहस्यमयी नियति का आवरण कुछ दूर किया जा सके।"[3]

" 'कहो उसे जड़ या चेतन' को लेकर यदि कोई यह प्रश्न उपस्थित करना चाहे कि प्रसाद जड़ के उपासक थे अथवा चेतन के ? तो मैं समझता हूँ, यह कहना उचित होगा कि प्रसाद, विशेषतः 'कामायनी' के प्रसाद, उस तत्त्व के उपासक थे, जिसमें जड़ और चेतन का भेद ही तिरोहित हो जाता है।"[4]

'ध्रुवस्वामिनी' की आलोचना करते समय डॉ० सहल कितने सरल और सरस हो गये हैं ? "नर्तकियों का गीत उस समय गाया जाता है जब शकराज अधी-रता-पूर्वक ध्रुवस्वामिनी के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है। अस्ताचल पर युवती-सन्ध्या की घुँघराली अलकें खुली हुई हैं। सन्ध्या-लालिमा के रूप में मानिक-मदिरा की निराली धारा अब बहने लगी है। पहाड़ियों ने झीलों की रत्नमयी प्याली इस मदिरा से भर ली है। वल्लरियों से लिपटी हुई तरु की डाली चूमने के लिए झुक चली है। मृदु प्रणय-रोष से भरा हुआ मानिनियों का हृदय अब पिघलने लगा है। ऐसे उद्दीपक वातावरण में मानवती नायिकाएँ भला कब तक अपने मान को बनाये रह सकती हैं ? मधुर हास्य के साथ वे अब दुलार-भरी मधु लहर उठाने वाली हैं। कुंजों की झुरमुट से प्रेमी-युगल अपनी प्याली को इस मादक मदिरा से भरने के लिए निकल पड़े हैं। आश्चर्य तो यह है कि इस मधुर अँधेरी में अब तक इनकी प्याली खाली कैसे रह गई ? प्यालियाँ अब उभर उठी हैं और सुमनों ने अपना सौरभ-मकरन्द मिला दिया है। कामिनियों ने अपने अनुराग-भरे अधरों से प्यालियाँ लगाली हैं। इधर वसुधा मदमाती हो गई और उधर आकाश झुकने लगा। सब अपने-अपने सुख में झूम रहे हैं, तूने क्यों बाधा डाली है?"

"यह एक प्रकार का उद्दीपन-गीत है और इसमें ऐन्द्रियता मुखर हो उठी है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं, यह गीत अवसर के अत्यन्त उपयुक्त है। हिन्दी-साहित्य

---

१. विवेचन, पृष्ठ २८-२९।

२. अभी=१९५३।

३. विवेचन, पृष्ठ ४४।

४. वही, पृष्ठ १६७।

में ऐन्द्रियता और दार्शनिकता की उद्दाम और गंभीर सरिताएँ एक साथ प्रखर वेग से प्रवाहित हुई हैं।"[1]

एक लेख में डॉ० सहल की शोध-प्रवृत्ति श्लाघनीय है। इस गंभीर शोध-पूर्ण निबन्ध के अन्त में वे लिखते हैं : "'देवीचन्द्रगुप्तम्' का जो आनुमानिक कथानक मैंने प्रस्तुत किया है, उसमें ऐतिहासिक तत्त्वों की कट्टरता नहीं है। यह विषय अध्ययन-सापेक्ष है। ध्रुवस्वामिनी को लेकर भारतीय भाषाओं में जिस साहित्य की सृष्टि हुई है, उसके तुलनात्मक अध्ययन में यह आनुमानिक कथानक सहायक होगा, ऐसी आशा है।"[2]

कवि सुमित्रानन्दन पन्त के 'गुन्जन' की आलोचना में डॉ० सहल की स्पष्ट-वादिता स्वयं स्पष्ट है : "किन्तु 'गुंजन' के भावपक्ष पर विचार करते समय हमें इस बात को ध्यान में रखना होगा कि 'पल्लव' की कविताओं में जो सहज काव्योन्मेष मिलता है, वह 'गुंजन' की कविताओं में नहीं है। 'गुंजन' में शुष्क उपदेशात्मकता और दार्शनिकता ही अधिकांश कविताओं में मिलती है जिसके कारण चिन्तन अनुभूति को दबा लेता है और कविताओं के अर्थ को हृदयंगम करने के लिए बुद्धि का व्यायाम ही अधिक करना पड़ता है। 'गुंजन' में आवेश नहीं, आयास अधिक है। 'जाने किस छल पीड़ा से' वाले गीत में भी, जिसमें कवि का आत्माभिव्यंजन है, कवि अपनी दार्शनिकता नहीं भुला सका है। 'इच्छा है जग का जीवन, मिथ्या ही बतला देती मिथ्या का रे मिथ्यापन' के दार्शनिक गोरखधन्धे को हल करने का भार पाठक वहन करना नहीं चाहता, दार्शनिकता उसकी अनुभूति में भी बाधक होने लगती है। हाँ, यह अवश्य है कि इस प्रकार की कविताओं में भी, जिनमें आत्माभिव्यंजन मिलता है, साधारणीकरण हो जाता है क्योंकि मानव-हृदय इस प्रकार की छलमयी इच्छाओं से हमेशा से पीड़ित होता आया है। इस प्रकार आश्रय की पीड़ा सबकी पीड़ा बन जाती है। किन्तु 'गुंजन' की कुछ कविताओं में भावावेश की भी कमी नहीं है। 'आती ही जाती नित लहरी, कब पास कौन किसके ठहरी ?' कौनसा मानव-हृदय है जो इन पंक्तियों के मार्मिक सत्य से प्रभावित न होगा ? अनुभूति की कैसी मार्मिक व्यंजना इन पंक्तियों में हुई है:—

'कुसुमों के जीवन का पल हँसता ही जग में देखा।
इन मलिन म्लान अधरों पर स्थिर रही न स्मिति की रेखा ! ॥'

किन्तु फिर भी, हमें यह स्वीकार करना होगा कि 'गुंजन' के कवि में (जैसा उसने स्वयं स्वीकार किया है) बौद्धिक विश्लेषण अधिक है, काव्य का सहज आवेग उसमें उतना नहीं है।"[3]

---

१. विवेचन, पृष्ठ १५७-१५८।
२. वही, पृष्ठ ९६।
३. वही, पृष्ठ १७०-१७२।

दार्शनिक क्षेत्र में भी डॉ० सहल का सुदूर प्रवेश है। 'योग और वेदान्त' नामक प्रमाण-बहुल लेख में वे निष्कर्ष-रूप से कहते हैं :

सार्त्र आदि के मानववादी दर्शनों में निराशा और संत्रास के दर्शन होते हैं, किन्तु कठोपनिषद् में जिस पुरुष के लिए कहा गया है—

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ।।

वह पुरुष निराशा और संत्रास का शिकार क्यों हो ? योग मनुष्य को स्वस्थ बनाने में सहायक होता है तथा वेदान्त पुरुष को जीवन्मुक्त-स्थिति में पहुँचाकर मानव की सर्वोच्च भूमिका प्रस्तुत करता है।[1]

'भावात्मक एकता' नाम के निबन्ध में डॉ० सहल ने ऋग्वेद, भगवद्गीता, विष्णुपुराण, पद्मपुराण तथा अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि प्राचीन काल से भारत में मूलभूत सांस्कृतिक एकता रही है। 'सत् और असत् का विवेक' नामक लेख वेद, ब्राह्मण, गीता आदि के प्रमाणों पर आधृत है और पठनीय भी है। 'अर्जुन का विषादयोग—एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण' इस लेख में 'महाभारत' तथा पश्चिमी मनोवेत्ताओं के प्रामाण्य पर यह निष्कर्ष है कि "वस्तुतः जब तक ममत्व बुद्धि बनी रहती है, तब तक आसक्ति दूर नहीं होती और सच्चा स्वास्थ्य-लाभ भी तभी होता है जब हम ममत्व और आसक्ति से ऊपर उठ जाते हैं।"[2] 'इन्द्र का वैदिक स्वरूप' में डॉ० सहल का मत है कि "वैदिक साहित्य में जो देवताओं का विभाजन किया गया है, उसके अनुसार इन्द्र अस्पष्ट, धूमिल अथवा अन्धकार-पूर्ण (Opaque) देव हैं क्योंकि उनका रूप स्पष्ट नहीं है।"[3]

'एक समाधान' में राजस्थान की एक उक्ति का समाधान महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज के द्वारा किया गया है। उक्ति है :

बहत्तर कोठा नो हैं नाड़ी
दस दरवाजा जड़ी किवाड़ी ।
पाँच मोहल्ला एक गुवाड़ी ।।
काया में करार अन्न के हैं ।
मिजमान चार दिन के हैं ।।

इस उक्ति में ७२ कोठे=७२ तत्त्व अर्थात् २४ वर्तमान के, २४ भूतकाल के और २४ भविष्यत् काल के। गुवाड़ी=महाबिन्दु, जहाँ आत्मा अपना रूप दिखाती

१. योग और वेदान्त, पृष्ठ १४।
२. विमर्श और व्युत्पत्ति, पृष्ठ १७२।
३. वही, पृष्ठ १८३।

है। नो नाड़ी=सुषुम्ना, इडा, पिंगला, वज्रा, चित्रा, ब्रह्मनाड़ी, अलम्बुषा, पुषा तथा शंखिनी। पाँच मोहल्ले=जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, और तुरीयातीत। दशद्वार=मुख, नाक, कान, आँख, पायु और उपस्थ के छिद्र।[१]

'नवीन नैतिक मूल्यों का पंचीकरण' इस विषय में डॉ० सहल का मत है कि "नैतिक मूल्यों की सापेक्षता के कारण उनमें युगानुरूप परिवर्तन होते रहते हैं। एक ओर जहां देशकाल और परिस्थितियों की भिन्नता के कारण नैतिक मूल्य नये-नये रूप धारण करते रहते हैं, वहाँ युग-पुरुषों की विशिष्ट एवं असाधारण विचार-धाराएँ भी नैतिक मूल्यों का कारण वन जाती हैं।"[२]

'संस्कृति' शीर्षक से डॉ० सहल व्यक्त करते हैं कि 'धर्म, कला, साहित्य आदि का 'संस्कृति' शब्द में अन्तर्भाव किया जाता है। इसके विरुद्ध सभ्यता शब्द के अन्तर्गत रेल, तार, जहाज, विशाल भवन आदि भौतिक उपकरणों का समावेश होता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से सभा में बैठने योग्य व्यक्ति को सभ्य कहा जाता है और आजकल सभा में बैठने की योग्यता साज-सज्जा, वेश-भूषा आदि के बल पर उपलभ्य समझी जाती है। इससे स्पष्ट है कि सभ्यता जहाँ बाह्य वस्तुओं पर निर्भर करती है, वहाँ संस्कृति आन्तरिक उपकरणों पर आश्रित है। आजकल के बुद्धिवादी वैज्ञानिक युग में धर्म शब्द का अपकर्ष दिखलाई पड़ रहा है। उसके स्थान में संस्कृति शब्द अधिक मान्य हो रहा है.......इस प्रसंग में एक विरोधाभास का उल्लेख भी आवश्यक है। यह सम्भव है कि कोई देश सभ्य हो और संस्कृत न हो, इसी प्रकार कोई देश संस्कृत हो और सभ्य न हो। कोई देश ऐसा भी हो सकता है जहाँ सभ्यता और संस्कृति उचित अनुपात में घुलमिल गई हों। यह तथ्य जैसे किसी राष्ट्र के लिए लागू है, वैसे ही व्यक्ति के लिए भी। इसके अतिरिक्त एक दूसरे महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर भी हमारा ध्यान गये बिना नहीं रहता। सभ्यता का रथ यदि एक बार चल पड़ता है तो निरन्तर गतिशील रहता है। रेल, तार, जहाज एक बार आविष्कृत हो गये तो इनकी गति अब रुकने की नहीं। किन्तु संस्कृति का रथ मन्द गति से चलता है, रेल, तार, जहाज अथवा राकेट की गति उसमें नहीं आ सकती और कभी-कभी तो उसमें गतिरोध भी आ जाता है। महावीर, बुद्ध, शंकर, गांधी जैसे महापुरुष युगों के बाद पैदा होते हैं.......रूस और अमरीका परस्पर विरोधी विचार-धाराओं से आक्रान्त होकर एक-दूसरे को नीचा दिखाने में लगे हैं। पता नहीं, इस स्पर्धा का परिणाम क्या हो?"[३]

---

१. विमर्श और व्युत्पत्ति, पृष्ठ १८७-१८८।

२. वही, पृष्ठ ६७।

३. वही, पृष्ठ ११४-११६।

'रहस्यवाद का स्वरूप' इस विषय का निरूपण करते हुए डॉ० सहल का कथन है कि "सामान्यतः रहस्यवाद के अन्तर्गत दो प्रकार की रचनाएँ आती हैं— (१) जिनमें आत्मा और परमात्मा के मिलन का दार्शनिक निरूपण किया जाता है, और (२) जिनमें जीवात्मा और परमात्मा के मिलन की अपरोक्षानुभूति का वर्णन होता है। रहस्यवाद के सैद्धान्तिक विवेचन का सम्बन्ध दर्शनशास्त्र से है और रहस्यानुभूति का सम्बन्ध मनोविज्ञान अथवा व्यक्तिगत धर्म से। यह अनिवार्यतः आवश्यक नहीं है कि रहस्य-तत्त्व का जैसा दार्शनिक विवेचन किया गया है, ठीक उसके अनुरूप ही रहस्यानुभूति का रूप भी प्रत्यक्ष होता है। मनुष्य की व्यक्तिगत अनुभूति के असंख्य प्रकार हो सकते हैं, उसकी कोई इयत्ता नहीं, उसकी किसी सीमा-रेखा का निर्धारण नहीं।"[1]

डॉ० सहल की धारणा है कि "भारतीय अद्वैतवाद और सर्ववाद का सूफी धर्म पर बड़ा भारी प्रभाव है" [2] इसकी पुष्टि में वे 'सूफीधर्म' नामक लेख में जलालुद्दीन रूमी की मसनवी से यह उद्धरण उपस्थित करते हैं :

"परमात्मा ही एक मात्र तथ्य है और वह सब प्रकार के पापों तथा परिभाषाओं से परे है। वह केवल परमसत्ता ही नहीं, वह परम सौन्दर्य भी है। सौन्दर्य स्वभावतः अपने आपको अभिव्यक्त करना चाहता है। यह नामरूपात्मक जगत् उस आकांक्षा का परिणाम है जिसके वशीभूत होकर परमात्मा कहता है 'मैं एक निधि के रूप में प्रच्छन्न था। मेरी इच्छा स्वभावतः अभिव्यक्त होने की रहती है। इसलिए मैंने प्राणियों की सृष्टि की, जिससे सब पर मैं अपना रूप प्रकट कर सकूँ। मनुष्य की आत्मा का सम्बन्ध आध्यात्मिक जगत् से है और आत्मा अपने उद्‌गमस्थल से मिलना चाहती है। शारीरिक उपाधि इसमें बाधक होती है; किन्तु 'हाल' की अवस्था में कुछ समय के लिए यह उपाधि टूट जाती है और साधक परमात्मा से सम्मिलन के आनन्द का अनुभव करता है।[3]

संजीवनी बूटी लाते समय हनुमान् जी बाण से गिर पड़े तो भरत जी बोले :

"जौ मोरे मन बच अरु काया····तौ कपि होउ बिगत श्रम सूला।"

डॉ० सहल ने 'सत्यक्रिया और रामचरितमानस' नामक लेख में ऐसी सत्यक्रिया का साक्ष्य अथर्ववेदिक 'कृणोमि सत्यम्' (४.१८.१) ऋग्वेदीय 'विश्वानि' 'सत्याङ्गिराश्चकार' (५/४५/७) तथा रामायण, महाभारत, देवी भागवत, रघुवंश आदि प्रमाणों में प्राप्त किया है।

---

१. आलोचना के पथ पर, पृष्ठ ६८।

२. वही, पृष्ठ १११।

३. वही।

डॉ० सहल की अभिरुचि भाषा-विज्ञान में भी है। 'भाषा के भेदक तत्त्व' नामक निबन्ध में वे हिन्दी और उर्दू को एक ही भाषा की दो शैलियां कहना अधिक उचित समझते हैं। 'यूरोपीय भाषाओं और भारत की आर्य भाषाओं का अभिन्न सम्बन्ध' इस शीर्षक से उन्होंने लैटिन, ग्रीक, और संस्कृत की, वैदिक संस्कृत तथा अवेस्ता की प्रत्न, फ़ारसी तथा संस्कृत की समानताओं पर कुछ सोदाहरण प्रकाश डालते हुए भारोपीय भाषाओं की चर्चा की है।

'भेदीकरण का नियम' इस शीर्षक के अन्तर्गत डॉ० सहल ने एक एक शब्द से निष्पन्न अनेक शब्दों की ओर ध्यानाकर्षण किया है, यथा तात से चाचा, ताऊ, दादा; फारसी के बाबा से बाप, बापू, बाबू। उन्होंने दया, कृपा, अनुकम्पा, अनुक्रोश, सहानुभूति, समानुभूति आदि अनेक पर्यायों के अर्थ में सूक्ष्म भेदों की ओर इंगित भी किया है। 'सादृश्य का सिद्धान्त' इस लेख में डॉ० सहल का मत है कि सादृश्य ने व्युत्पत्ति-शास्त्र को प्रभावित किया है। कँवर, तँवर, भँवर, बेफ़ायदा, बेफिजूल आदि शब्द इसी नियम के परिणाम हैं। डॉ० सहल की कल्पना है कि 'सुर' (देवता के अर्थ में) कोई अलग शब्द न था, किन्तु प्रतिकूल-सादृश्य का आश्रय लेकर इस शब्द का निर्माण कर लिया गया है। किन्तु मेरी समझ में, इस सम्बन्ध में पुनर्विचार की आवश्यकता है, क्योंकि वाल्मीकि रामायण का श्लोक है :

सुराः प्रतिग्रहाद्देवाः सुर इत्यभिविश्रुताः।
अप्रतिग्रहणात्तस्या दैतेयाश्चासुरास्तथा ॥

'विमर्श और व्युत्पत्ति' के व्युत्पत्ति-खण्ड में चौरासी शब्दों का व्युत्पत्ति-निरुक्ति-परक विचार किया गया है, जो सुन्दर एवं प्रेरक है।

डॉ० सहल ने काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में जो कार्य किया है, वह और भी अधिक मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण है। मुझे उनके केवल तेईस काव्यशास्त्रीय निबन्ध देखने का अवसर मिला है। वे हैं : कला कला के लिए, नई आलोचना, शाब्दी व्यञ्जना, कवि में अन्तःस्फूर्ति, रस प्रक्रिया का त्रिकोण और पाश्चात्य सर्वेक्षण, दुःख से सुख की समस्या, ट्रेजेडी में अहं का विगलन, ट्रेजेडी के सम्बन्ध में नूतन मानवीय दृष्टिकोण, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और प्रगतिवाद, साहित्य में स्वच्छन्दतावाद, गीतिकाव्य और उसके भेद, मानटेन शैली के निबन्ध, संकलनत्रय, रस-सिद्धान्त और कीथ, लांजीनस का भावोत्कर्ष, संस्कृत के नाट्याचार्य और नाटक की तीन अन्वितियाँ, डॉ० नगेन्द्र और उनकी भावकता, आलोचना और मनोविश्लेषण, अलङ्कार तत्त्व, साधारणीकरण और रसास्वाद के विघ्न, नाट्यदर्पणकार का रस-विवेचन, और करुणरस की सुखात्मकता।

'रस-सिद्धान्त और कीथ' नामक निबन्ध में डॉ० सहल ने ए० बी० कीथ के विकृत दृष्टिकोण को स्पष्ट कर उसका उचित प्रत्याख्यान किया है। उन्हें यह मान्य नहीं कि भारतीय कविता रसमय तो रही पर जीवन-स्पर्शी न हो सकी; रस की कल्पना को एकाङ्गी और सङ्कीर्ण नहीं कहा जा सकता। "पाश्चात्य समीक्षा भावपक्ष और कलापक्ष के समन्वय की समीक्षा में व्यस्त रही। बड़ी कठिनाइयों के बाद क्रोचे का अभिव्यंजनावाद वस्तु और रूप की एकता पर पहुँच सका, किन्तु भारतीय आचार्यों ने रस-सिद्धान्त के द्वारा रूप और वस्तु का समन्वय अधिक सुदृढ़ आधार पर किया है।"[1]

'लॉन्जीनस और भावोत्कर्ष' में डॉ० सहल को 'लांजीनस के आनन्दातिरेक' तथा मम्मट के 'विगलितवेद्यान्तर' में बहुत कुछ साम्य दिखलाई पड़ता है"...'लांजीनस मूलतः यद्यपि रीति-सिद्धान्त का अनुयायी है तथापि इस सिद्धान्त का जो मनोवैज्ञानिक स्वरूप उसने प्रस्तुत किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।"[2]

'संस्कृत के नाट्याचार्य और नाटक की तीन अन्वितियाँ' तथा 'संकलनत्रय' में डॉ० सहल ने ए० बी० कीथ की इस भ्रान्ति का निराकरण किया है कि संस्कृत नाट्यकार काल और स्थानसम्बन्धी ऐक्य के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ थे। यह लेख डॉ० सहल ने 'अभिनव भारती' के हिन्दी अनुवाद से पूर्व लिखा था, अतएव इसका महत्त्व और भी अधिक हो जाता है; दूसरे, कीथ ने अनेक भारतीय विद्वानों को इस विषय में भ्रान्त कर रखा था। डॉ० सहल ने अनेक ठोस प्रमाणों को उद्धृत कर निर्विवाद रूप से यह स्पष्ट कर दिया है कि प्राचीन भारतीय विद्वान् संकलनत्रय से सुपरिचित थे।

'डॉ० नगेन्द्र और उनकी भावकता' इस निबन्ध में डॉ० सहल ने डॉ० नगेन्द्र की आलोचनात्मक कृतियों की प्रशंसा की है और साधारणीकरण पर स्व० जयशङ्कर प्रसाद एवं डॉ० नगेन्द्र के विचारसाम्य को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है।[3] डॉ० नगेन्द्र के अनुसार साधारणीकरण का अर्थ है 'कवि की अनुभूति का साधारणीकरण'; किन्तु भट्टनायक ने भरतमुनि के रस-सूत्र के 'संयोग' का अर्थ साधारणीकरण के अर्थ में ग्रहण किया है, न कि तादात्म्य के, ऐसी धारणा डॉ० सहल की है। डॉ० नगेन्द्र का यह प्रश्न कि 'यदि उपन्यास का नायक घृणित व्यक्ति हो तो क्या आप उससे तादात्म्य कर सकेंगे?' डॉ० सहल के अनुसार, 'साधारणीकरण' को तादात्म्य के अर्थ में ग्रहण करने के कारण उठ खड़ा हुआ

१. विवेचन, पृष्ठ ७।
२. वही, पृष्ठ २१–२४।
३. वही, पृष्ठ १२८–१२९।

है ।[1] "रसानुभूति", डॉ० सहल का कथन है, "वस्तुतः तादात्म्य की स्थिति नहीं है; रस-दशा चित्त की एकाग्रता अथवा अभिनव गुप्त के शब्दों में 'संविद्विश्रान्ति' की स्थिति है...डॉ० नगेन्द्र साधारणीकरण को बहुत नीचे स्तर पर ले आते हैं...रसदशा तन्मयता की सात्त्विक अवस्था है...रस की दशा तो तन्मयता का वह पारावार है जिसमें न जाने कितने सत्-असत्, सुख तथा दुःख डूबे रहते हैं।"[2] किन्तु मेरे विचार से, डॉ० नगेन्द्र ने प्रधानतया प्राचीन परिपाटी का अनुसरण किया है और प्राचीन आचार्यों को ठीक-ठीक समझाने का अपने ढंग से, प्रयत्न भी। प्राचीनो का 'विभावादि' और डॉ० नगेन्द्र का 'कवि की अनुभूति' पर्याय से ही हैं, जिनका साधारणीकरण होता है[3], सत्त्वगुणी अवस्था में भावकत्व के कारण। परन्तु 'साधारणीकरण' का क्या अर्थ है, यह विषय अवश्य विवादग्रस्त हो सकता है, जिसकी विस्तृत चर्चा मैं अपने एक ग्रन्थ में कर चुका हूँ।[4]

'आलोचना और मनोविश्लेषण' में डॉ० सहल का निष्कर्ष है कि कवि-विशेष के मनोविश्लेषण "कविता के मर्म को समझाने में हमारी सहायता करते हैं, किन्तु किसी काव्य से कवि के आत्मचरित की सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को प्रस्तुत करने में बड़ा खतरा है। आवश्यकता इस बात की है कि मनोविश्लेषण का समुचित प्रयोग हो। अच्छा सिद्धान्त भी दुरुपयोग से बदनाम हो जाता है। सीमा का अतिक्रमण वांछनीय नहीं। जीवन से मनोविज्ञान के सिद्धान्त निकलने चाहिए, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से जीवन नहीं।[5]

डॉ० सहल ने श्लेष और शाब्दी व्यंजना का अन्तर इस प्रकार व्यक्त किया है : "श्लेष में संयोग आदि के द्वारा शब्द का अर्थ नियन्त्रित नहीं होता, दोनों ही अर्थ श्लेष में अभिधेय होते हैं जब कि शाब्दी व्यंजना में संयोग आदि के द्वारा एक अर्थ नियन्त्रित हो जाने पर दूसरा अर्थ ध्वनित होता है। प्रदीपकार ने दोनों के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है : यत्र उभयोरर्थयोस्तात्पर्यं स श्लेषः। यत्र तु एकस्मिन्नेव तत् सामग्री महिम्नातु द्वितीयार्थप्रतीतिः सा व्यंजना इति।[6]

'नई आलोचना' में डॉ० सहल का "प्रश्न यह है कि नव्यालोचन का कोई रूप क्या आज हमारे सामने है ? यदि है तो उसकी कोई विशिष्ट पद्धति (methodo-

---

१. विवेचन, पृष्ठ १३० ।

२. वही, पृष्ठ १३०–१३२ ।

३. रस-सिद्धान्त, पृष्ठ २०९–२१० ।

४. काव्यशास्त्र की रूपरेखा (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ १३२–१३६ ।

५. आलोचना के पथ पर, पृष्ठ ९ ।

६. विमर्श और व्युत्पत्ति, पृष्ठ ५६ ।

logy) है ? साथ ही यह भी विचारणीय है कि पुरालोचन और नव्यालोचन की विभेदक-रेखा कहां से प्रारम्भ होती है ?''[१]

'नाट्यदर्पणकार का रस-विवेचन' इस निबन्ध में रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र की रस-परक इन मान्यताओं की सप्रमाण मीमांसा की गई है : सब रस सुखात्मक हैं, यह अनुभवसिद्ध नहीं; सनसनी से उत्सुक होकर ही लोग करुणरसात्मक नाटक देखने के लिए प्रेरित होते हैं; दुःखानुभूति के बाद सुखानुभूति अपेक्षाकृत अधिक सुखद रूप धारण कर लेती है; यदि करुण-रस भी सुखद जान पड़े तो यह अभिनेता का दोष है। परन्तु डॉ० सहल का मत है कि "वास्तव में सभी रस सुखात्मक हैं; इसका मूल कारण है भाव-मग्नता।"[२]

किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र पर पुनर्विचार करना स्यात् समस्या-समाधान में कुछ सहायक होगा। नाट्य-दर्पण में उनका वाक्य है : सुखदुःखात्मको रसः (३,७) तथापि वे यह मानने के लिए प्रस्तुत हैं कि जिस प्रकार पानक की मधुरता दुःखास्वाद को उत्पन्न करने वाले तीक्ष्ण पदार्थ के मेल से मुख्य स्वाद को अधिक स्वादिष्ट बना देती हैं, उसी प्रकार करुणादि किसी रस में दुःख के मिश्रण से सुख की प्रतीति-सी होती है : पानक-माधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दुःखाऽऽस्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्त इव इति। यहाँ पर 'स्वदन्ते' के पश्चात् 'इव' विचारणीय है। इस 'इव' के प्रयोग से वे करुणादि रसों में 'सुख' की तो नहीं, 'सुखाभास' की स्थिति मानते हैं। उनके अनुसार शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त सुखात्मक हैं। उनके तर्क इस प्रकार हैं—प्रथमतः, करुण, भयानक आदि रसों के द्वारा सहृदयों में दुःखद दशा उत्पन्न होती है। सीता के हरण से अथवा रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या-विलाप से किसी सहृदय को सुख नहीं पहुँचता। द्वितीयतः, काव्य में लौकिक व्यवहार का यथार्थ चित्रण होता है अर्थात् सुखों का वर्णन सुख रूप में और दुःखों का दुःख रूप में होता है। यदि दुःखात्मक चित्रण से प्रेक्षण को आनन्द प्राप्त होता है तो क्या वह चित्रण वास्तविक समझा जाना चाहिए ? दुःखात्मक चित्रण से तो दुःख ही उत्पन्न होता है। तृतीयतः, रस को सुखात्मक मानने वाले ऐसा समझते हैं कि जिस प्रकार किसी दुखी व्यक्ति को अन्य दुखी व्यक्ति से मिलकर सान्त्वना मिलती है, उसी प्रकार नाटक के करुण, बीभत्स आदि रसों से सुख की प्राप्ति होती है, दुःख की नहीं। इस तर्क का खण्डन करने के निमित्त रामचन्द्र-गुणचन्द्र कहते हैं कि करुण दृश्य को देख कर प्रेक्षक की सहानुभूति दुःखपूर्ण ही होती है, तथापि सहृदय को जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, वह केवल कवि के कौशल या नट के चमत्कार से। पश्चिम में एडमंड

१ आलोचना के पथ पर, पृष्ठ ४२–४७।

२. विमर्श और व्युत्पत्ति, पृष्ठ १८१।

बर्क का सतर्क मत है कि जब भय और त्रास का अधिक दबाव पड़ता है तो वे कुछ भी मोद देने में असमर्थ रहते हैं; वे केवल भयावह होते हैं; परन्तु कुछ दूरी पर रह कर और उपान्तरित (मौडिफ़ाइड) होकर वे सुखदायी हो सकते हैं और होते भी हैं; जैसा कि हम नित्य अनुभव करते हैं। इसी प्रकार जोसिफ़ एडिसन की धारणा है कि देखने पर जो कुछ अननुकूल लगता है, वह हमें समुचित वर्णन के द्वारा सुख देता है, क्योंकि हम कभी यह सोच कर तनिक भी प्रसन्न नहीं होते कि हम उनके संकट में हैं। अपनी बात कहूँ—मेरा सप्तवर्षीय पौत्र ऐसी सभी फिल्मों और कहानियों से बचता है, जिनमें भय का तनिक भी पुट हो। क्यों ? कारण स्पष्ट है, उसमें वास्तविक और अवास्तविक परिस्थिति-विषयक भेद-भ्रान्ति है। स्यात् इसी कारण भारतीय नाट्य-शास्त्र में मृत्यु, वध आदि के अभिनय वर्जित हैं।

डॉ० सहल का, तथा कुछ अन्य आधुनिक काव्यशास्त्रियों का भी, मत है कि वास्तव में सभी रस सुखात्मक हैं[1] जो पुनर्विचार की अपेक्षा रखता है। रस को संख्या प्रदान करने अर्थात् उसके छः से ग्यारह अथवा अधिक भेद मान लेने से यह सिद्ध है कि 'रस' और 'आनन्द' पर्याय नहीं, रस से आनन्द उत्पन्न होता है। भरतमुनि ने भी रस और सिद्धि में भेद किया है।[2] जिस प्रकार सन्तरे और फालसे के शरबतों में अन्तर है, उसी प्रकार श्रृंगार और करुण के आस्वादों में भी अन्तर है। सुखद रसों का आस्वाद आनन्दप्रद होता ही है; करुण रस का आस्वाद भी कुछ न कुछ आनन्दप्रद है। परवल और करेला के स्वादों में अन्तर है। कच्चा करेला खाने में बहुत कड़वा होता है; किन्तु जब उसको नमक तथा अन्य मसालों के साथ कड़ाही में तल लेते हैं तो कुछ लोग उसे स्वाद से खाते हैं, फिर भी उसमें कुछ न कुछ कड़वाहट तो बनी ही रहती है। उसी प्रकार शोक नामक स्थायिभाव कटु होता है; किन्तु विभाव, अनुभाव तथा संचारिभावों के द्वारा भावित होकर वह ग्राह्य प्रतीत होता है।

'ट्रेजडी में अहं का विगलन' इस शीर्षक के अन्तर्गत डॉ० सहल के अनुसार "ट्रेजेडी से आनन्द क्यों मिलता है, इस सम्बन्ध में बहुत से सिद्धान्त प्रचलित हैं। ट्रेजेडी में अहं का विगलन और तज्जन्य आत्मोपलब्धि का सिद्धान्त भी समीक्षकों के विचार का विषय बन सकता है।"[3] वे अहं भाव को आत्मा का असली रूप नहीं मानते, क्योंकि प्लेटो से लेकर आधुनिक युग तक के हमारे दार्शनिकों ने भी यह बात नहीं मानी

---

१. आलोचना के पथ पर, पृष्ठ ४७।
२. सौन्दर्य तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त (डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे), पृष्ठ १२८।
३. विमर्श और व्युत्पत्ति, पृ० १९।

है ।[१] परन्तु, मेरी समझ में, यह विचारणीय है कि क्या काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर-मात्र मान लेने से हम वास्तविक जगत् को छोड़ ब्रह्मलोक में विचरण करने लगते हैं ? क्या काव्यानन्द लोकानन्द से सर्वथा भिन्न है, और यह भिन्नता गुणात्मक है या परिमाणात्मक ? आई० ए० रिचर्ड्ज़ तो काव्यानन्द को लौकिक आनन्द से तनिक भी कोई नवीन और विभिन्न पदार्थ नहीं मानते । आनन्द-भेद युक्ति-संगत भी नहीं । भरतमुनि के कुछ परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने रस को अलौकिक मान कर उसकी ऐसी परिभाषा उपस्थित की है मानों कोई भी लौकिक पदार्थ रस के समकक्ष नहीं । परन्तु यह धारणा तथ्य से बहुत दूर है । भरत मुनि का दृष्टिकोण परम वैज्ञानिक और युक्तियुक्त है । मैंने रस के स्वरूप पर अन्यत्र[२] विचार किया है, अतएव पिष्ट-पेपण अनावश्यक होगा । परन्तु इतना कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि रसानुभूति अन्य ज्ञान से, अर्थात् देशकाल एवं स्व-पर-भावना से, रहित होती है । मोटे रूप से यह कथन ठीक है, किन्तु यह कहना कि ऐसी अनुभूति में इतर ज्ञान होता ही नहीं, उचित नहीं । सभी जानते हैं कि पढ़ते-लिखते समय हमारी दिवाल-घड़ी टिक-टिक करती रहती है और हम उस टिक-टिक को नहीं सुनते, ऐसा हम प्रायः समझते हैं; किन्तु वास्तविकता यह है कि ज्यों ही घड़ी बन्द होती है, त्यों ही हमारा ध्यान उस ओर चला जाता है । कारण कि हमारा उपचेतन (सबकांशस) मन सक्रिय रहता है । रस को अखण्ड बताया गया है, ठीक है । रेल का इंजन जटिल होता है क्योंकि उसमें अनेक पुर्जे-पहिये होते हैं; किन्तु उसकी प्रत्यक्षानुभूति भी, मनोविज्ञान के अनुसार, अखण्ड (सिंगल) होती है जिसका विश्लेषण तत्पश्चात् हो सकता है । रस को स्वप्रकाशानन्द और चिन्मय माना गया है । वह स्वानुकूलवेदन एवं ज्ञान-स्वरूप है । इससे यह ध्वनित होता है कि रस में ज्ञान और संवेग दोनों होते हैं । ठीक भी है, विभावों के कारण ज्ञान की और संचारी, अनुभाव एवं स्थायिभाव के कारण संवेग की स्थिति रहती है । काव्यशास्त्री 'रस' का 'पान' करते नहीं सुने गये, उसका तो वे 'चर्वण' करते सुने गये हैं । अभिनवगुप्त ने भी 'चर्वण' शब्द का प्रयोग किया है । चर्वण में दो क्रियाएँ होती हैं—चबाना और चूसना । अतएव रस में संवेद और संवेग दोनों की स्थिति प्रधानतः पर्याय मे रहती है, यद्यपि यह पर्याय अलक्षित-सा रहता है । तो रस किस रूप में वेद्यान्तर, अखण्ड स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय आदि रहता है ? मेरी धारणा है कि ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अन्य कोई लौकिक अनुभव ।

---

१. वही, पृष्ठ १८ ।

२. काव्य-शास्त्र की रूपरेखा (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ ९४–९७ ।

"मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना," इस न्याय से मैंने विचार-वैषम्य की चर्चा कर दी। मुझे डॉ० सहल के लगभग ८३ लेख पढ़ने का अवसर मिला और उनका अनुशीलन कर मुझे बड़ा सुख मिला। उनके प्रायः सभी लेख गम्भीर, मौलिक एवं विचारोत्पादक हैं तथा उनकी मनीषा विद्वत्ता, दार्शनिकता एवं प्रतिभा की परिचायिका है। मैं भगवान् से डॉ० कन्हैयालाल सहल के दीर्घ जीवन और सपरिवार सौख्य की हार्दिक कामना करता हूँ।

●●●

'मरु भारती' का जनवरी ५६ का अंक पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई। लेख सभी सुपाठ्य और ज्ञानवर्द्धक हैं। राजस्थान तो उच्च कोटि के साहित्य की एक विस्तृत खान है। खोज-खोजकर जो रत्न ऊपर लाये जा रहे हैं, वे उसके अतीत गौरव को पुनरुज्जीवित कर रहे हैं।

—स्व० रामनरेश त्रिपाठी

डॉ० सहल की समीक्षा-उपलब्धियाँ : मूल्यांकन और नये क्षितिज

• डॉ० प्रेमकान्त टंडन

पिछले २५-३० वर्षों में जिन विद्वानों ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान दिया है, उनमें डॉ० कन्हैयालाल सहल का विशिष्ट स्थान है। डॉ० सहल का आलोचक-व्यक्तित्व एक बहु-अधीत, प्रतिभा-संपन्न आलोचक का व्यक्तित्व है। डॉ० सहल ने न केवल संस्कृत काव्यशास्त्र और अभिनव हिन्दी-आलोचना-दृष्टियों का गहन अध्ययन किया है, अपितु उन्होंने पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र की सुविस्तृत परम्परा के अतर्गत विकसित विविध आलोचना-दृष्टियों के स्थूल-सूक्ष्म पक्षों पर भो विधिवत् अध्ययन-मनन किया है। सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक आलोचना-विषयक देशी-विदेशी साहित्य के अतिरिक्त डॉ० सहल ने उधर अंग्रेजी और इधर संस्कृत, हिन्दी, बंगला और राजस्थानी भाषाओं के अद्यतन सर्जनात्मक साहित्य से भी गहरा सम्पर्क बनाए रखने की चेष्टा की है। इसके सहज परिणामस्वरूप डॉ० सहल की आलोचना-दृष्टि मात्र सैद्धान्तिक ज्ञान पर आधृत आलोचना की नीरसता, शिथिलता और एकांगिता से मुक्त होकर सहज, सम्यक् और परिपूर्ण रूप में प्रतिफलित हो सकी है।

सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में डॉ० सहल ने किसी स्वतंत्र, सम्पूर्ण-समग्र ग्रंथ का प्रणयन नहीं किया; अंग्रेजी के मूर्धन्य कवि-आलोचक टी० एस० इलियट की भाँति उनकी आलोचना-दृष्टि का परिचय उनके स्फुट आलोचनात्मक निबंधों के माध्यम से ही होता है। ये निबंध संख्या में पचास से ऊपर हैं, और उनके बहु-चर्चित निबंध-संकलनों—(१) समीक्षाञ्जलि, (२) समीक्षायण, (३) आलोचना के पथ पर, (४) विवेचन, (५) मूल्यांकन, (६) विमर्श और व्युत्पत्ति और उनके

सद्यः प्रकाशित ग्रंथ, (७) अनुसंधान और आलोचना में संकलित हैं। इन निबंधों में से अधिकांश हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ निबंध 'साहित्य संदेश' नामक आलोचना-पत्रिका में भी प्रकाशित हुए थे, जिन पर मूर्धन्य आलोचक एवं 'साहित्य संदेश' के तत्कालीन सम्पादक डॉ० गुलाबराय ने आशंसा-परक टिप्पणी देते हुए डॉ० सहल की आलोचक-प्रतिभा का समुचित आकलन किया है। डॉ० सहल के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक आलोचना-सम्बन्धी निबंधों की एक प्रमुख विशेषता उनमें निहित समन्वय-दृष्टिविषयक रही है। व्यापक अध्ययन के सुविस्तृत फलक पर डॉ० सहल ने पाश्चात्य और पौरस्त्य साहित्य और संस्कृति का सफल, सार्थक समन्वय किया है। हिन्दी के प्रायः सभी वरिष्ठ आलोचकों ने डॉ० सहल के निबंधों के इस वैशिष्ट्य को रेखांकित किया है। उदाहरण के लिए, 'समीक्षाञ्जलि' के 'दो शब्द' के अंतर्गत डॉ० गुलाबराय का कथन है : "प्रस्तुत संग्रह के निबंधों में यद्यपि पूर्व और पश्चिम के सिद्धान्तों का समावेश किया गया है तथापि उनमें प्रमुखता भारतीय सिद्धान्तों को ही दी गई है।" 'आलोचना के पथ पर' की भूमिका में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी जी का कथन है : "भारतीय और विदेशी दोनों ही शास्त्रीय मतों को उन्होंने अपनाया है और......आधुनिक हिन्दी-काव्य की समीक्षा-भूमि पर उक्त दोनों मतों का अनायास समन्वय किया है। ऐसा करते हुए उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी साहित्यिक विचारधाराओं पर अपने अधिकार-पूर्ण अध्ययन का ही परिचय नहीं दिया, 'आलोचना के पथ पर' में दोनों के समन्वय की भी सम्भावना प्रकट करदी है।"

परन्तु इस सम्बन्ध में सर्वाधिक व्यंजक टिप्पणी डॉ० नगेन्द्र की है जो डॉ० सहल के आलोचनात्मक निबंध-संकलन 'समीक्षायण' की भूमिका का एक अंश है। "इन निबंधों की परिधि अत्यन्त विस्तृत है : लेखक को प्राचीन और नवीन, पाश्चात्य और पौरस्त्य सभी के प्रति श्रद्धा है। उसके मन में रवीन्द्र और गांधी के प्रति सम्भ्रम है तो मार्क्स और रिचर्ड्स भी उसके आदर के पात्र हैं.......। भारतीय सिद्धान्तों में निष्ठा रखते हुए भी, सहलजी नवीन से नवीन सिद्धान्त के प्रति जागरूक हैं.......। वे बहु-अधीत पंडित हैं। संस्कृत-साहित्य, काव्य-शास्त्र, हिन्दी-साहित्य, हिन्दी-साहित्य-शास्त्र और अंग्रेजी साहित्य का उन्होंने सम्यक् अध्ययन किया है।"

डॉ० सहल मूलतः रसवादी आलोचक हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र की परम्परा के मेरुदण्ड रस-सिद्धान्त ने जिस प्रकार अनेक शीर्षस्थ आलोचकों को अपनी सर्वातिशायी क्षमता से अभिभूत किया, उसी प्रकार डॉ० सहल भी उससे अभिभूत रहे हैं। डॉ० सहल का निर्भ्रान्त मत है : "आलोचना के भी नये-नये प्रकार आज चल रहे हैं, मनोविश्लेषण तथा मार्क्सवाद को लेकर साहित्यिक कृतियों का समीक्षण किया

जा रहा है, समीक्षा के पुराने सिद्धान्तों की जड़ें हिल रही हैं, किन्तु इतना सब होते हुए भी, रस-सिद्धान्त अपना सिर ऊँचा किये हुए है। उसकी नित नये ढंग से व्याख्या हो रही है।·········रस-सिद्धान्त एक प्रकार से काव्यानंद का ही सिद्धान्त है। पाश्चात्य समीक्षा काव्यगत आनन्द और नीति के ऊहापोह में व्यस्त रही, किन्तु भारतीय आचार्यों ने आनन्द-पक्ष को इतनी ऊँची भूमि पर पहुँचा दिया था कि नीतिसम्बन्धी संशय के लिए इसमें स्थान ही नहीं रह गया।" (विवेचन, पृ० ६)। डॉ० सहल का समस्त काव्य-विवेचन रस-सिद्धान्त और उसकी आनन्दलक्षणीयता के परिप्रेक्ष्य में ही किया गया है। आनन्द न केवल काव्यास्वादक को मिलता है अपितु रचयिता भी तत्वतः अभिन्न आनन्द का लाभ करता है। आस्वादक-पक्ष में यह आनन्द 'काव्यानंद' है और कवि-पक्ष में 'सृजनानंद'। निस्संदेह ही, भारतीय आचार्यों ने काव्यानंद को सत्त्वोद्रेक से सम्बद्ध कर अत्यन्त उच्च धरातल पर अधिष्ठित किया है: वह 'स्वप्रकाशानंद' और 'ब्रह्मानंद सहोदर' है। साक्षात् ब्रह्मानंद से उसका कोई उल्लेख्य गुणात्मक अंतर नहीं है, मात्रात्मक अंतर है। यत्किंचित् गुणात्मक अंतर यह है कि काव्यानंद में रज और तम का ईषत् स्पर्श मात्र शेष रह जाता है, जबकि ब्रह्मानंद शुद्ध सत्त्व पर आधारित है। पर यह अंतर नगण्य-सा ही है; रसानद के गौरव का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि जिस आनन्द की सम्प्राप्ति कोई साधक अथवा योगी आत्मशुद्धिपरक साधना की सुदीर्घ प्रक्रिया से गुजर कर, कर पाता है, सहृदय प्रायः उसी आनन्द की प्राप्ति काव्य-पारायण मात्र से कर लेता है; आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया रसानंद-प्राप्ति की प्रक्रिया में अनिवार्यतः अंतर्भूत है। डॉ० सहल ने काव्यानंद की भारतीय अवधारणा को उसके सही परिप्रेक्ष्य में हृदयंगम किया है, और अपने उक्त कथन में उन्होंने इसी तथ्य का अपेक्षाकृत सरल और निर्भ्रान्त रूप में निर्वचन किया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में, इसीलिए, काव्यानंद और नीति के पारस्परिक द्वन्द्व के लिए कोई स्थान ही नहीं है। पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में काव्यानंद की अवधारणा का विकास इस रूप में नहीं हुआ, इसीलिए वहाँ आनन्द और नीति के ऊहापोह के लिए अवकाश है।

संस्कृत काव्य-शास्त्र में सृजन की अवधारणा के सम्बन्ध में कहीं स्वतंत्र चर्चा नहीं मिलती; 'काव्य-हेतु' के अंतर्गत विभिन्न आचार्यों के जो विवेचन मिलते हैं, उन्हीं के आधार पर सृजन की भारतीय अवधारणा का निर्माण किया जा सकता है। संस्कृत के आचार्यों ने प्रतिभा, अभ्यास और व्युत्पत्ति, इन तीन को काव्य-हेतुओं के रूप में स्वीकार करते हुए प्रतिभा को सर्वोपरि महत्त्व दिया है। रसवादी आचार्यों ने भी प्रतिभा को सर्वोच्च स्थान दिया है; और किसी-किसी रसवादी आचार्य ने तो प्रतिभा को ही एकमात्र काव्य-हेतु माना है। काव्य-मीमांसाकार राजशेखर का मत इस सम्बन्ध में कुछ भिन्न है, यद्यपि अन्य आचार्यों से उनका कोई तात्त्विक मतभेद

नहीं है। काव्य-मीमांसा के चतुर्थ अध्याय में राजशेखर का कथन है कि 'शक्ति' ही काव्य का एकमात्र हेतु है, और वह प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति से भिन्न है, यद्यपि शक्ति में उन दोनों का समाहार हो जाता है। परन्तु काव्य-मीमांसा के कवि-शिक्षापरक 'कवि-चर्या और राज-चर्या' शीर्षक दशम अध्याय में किसी दूसरे आचार्य का मत उद्धृत करते हुए राजशेखर ने 'कवित्व की आठ माताओं' का उल्लेख किया है, यथा—

स्वास्थ्यं प्रतिभाभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता ।
स्मृतिदार्ढ्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य ॥

अर्थात्, स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृति की दृढ़ता और उत्साह, ये आठ कवित्व की माताएँ हैं।

अनुमान किया जा सकता है कि यदि यह स्वयं राजशेखर का मत होता तो वे इन सब 'माताओं' को 'शक्ति' के अंतर्गत परिगणित और विवेचित करते। राजशेखर ने उक्त उद्धरण एतद्विषयक अपने मत के समर्थन में प्रस्तुत किया है; उनका मत है कि सुजनोपजीव्य कविसन्निधि, देशवार्ता, विदग्धों की सूक्तियाँ, देशाटन, विद्वद्गोष्ठी तथा प्राचीन कवियों के प्रबन्धों का अध्ययन—ये छह काव्य की जननी हैं (काव्यमीमांसा, दशम अध्याय)।

उक्त उद्धरण में 'स्वास्थ्य' से मूल कर्त्ता अथवा राजशेखर का चाहे जो आशय रहा हो, डॉ० सहल ने अपने एक निबंध (समीक्षायण: 'काव्य की आठ माताएँ') में 'स्वास्थ्य' शब्द की सर्वथा मौलिक और बहुत ही उपयुक्त व्याख्या की है। उनका कथन है : "इस शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को लेकर यदि हम विचार करें तो कहा जा सकता है कि काव्य के लिए सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि········कवि अपने में स्थित हो, प्रकृतिस्थ हो। 'स्वास्थ्य' शब्द का अर्थ है 'अपने में स्थित होना।'········कवि भी जब हृदय की योग-दशा में पहुँच जाता है, तभी वह सुन्दर काव्य की सृष्टि कर पाता है। इस प्रकार का भावयोग ही कवि का 'स्वास्थ्य' कहा जा सकता है।" डॉ० सहल के अनुसार यह 'भावयोग' ही काव्यानंद का कारण है। भावयोग की स्थिति में अंतर्वृत्तियों की बहिर्गामिता, उनकी चंचलता स्थगित हो जाती है और कवि लौकिक राग-द्वेषों से मुक्त होकर आनन्द-लाभ करने में समर्थ हो जाता है। अपने एक अन्य निबंध (आलोचना के पथ पर : 'नाट्य-दर्पणकार का रस-विवेचन) में डॉ० सहल ने इसी प्रसंग को अग्रसरित करते हुए कहा है : "आनंद का मूल कारण भावमग्नता अथवा स्वस्थता है, परस्थता-नहीं। जब तक हमारी वृत्तियाँ चंचल हैं, तब तक हम अन्तर्मुख होकर भाव-मग्न

नहीं हो सकते, और बिना भाव-मग्न हुए सुख नहीं मिल सकता।.......भाव-मग्नता के कारण वृत्तियों की चंचलता जाती रहती है और सब प्रकार के विघ्नों के तिरोहित हो जाने के कारण दर्शक स्वस्थ रहता है, भाव-मग्नता के कारण बाह्य घटनाएँ उसे विचलित नहीं कर पातीं।.......वास्तव में सभी रस सुखात्मक हैं और इसका मूल कारण है भाव-मग्नता।"

किसी युग-विशेष में व्यक्ति, समाज अथवा संस्कृति के विविध संदर्भों से सम्बद्ध प्रत्येक आन्दोलन सफल और सार्थक नहीं हो पाता। ज्ञान-विज्ञान के व्यापक प्रसार के फलस्वरूप जन-सामान्य में जिस बौद्धिक चेतना का त्वरित विकास हुआ, वह निश्चय ही अभिनंदनीय है। पर इस बौद्धिक विकास के अतिवादी और विगर्हणीय पक्ष भी हैं, जिनका परिणाम घातक भी हो सकता है, और होता है, क्योंकि प्रायः बौद्धिकता का उत्कर्ष 'राग' के मूल्य पर होता है। इस तथ्य का निदर्शन 'कामायनी' में बहुत अच्छे ढंग से किया गया है। बौद्धिक-चेतना के अति विकास के फलस्वरूप आज व्यक्ति एक ओर तो परम्परा मात्र के प्रति विद्रोह, अनास्था-भाव रखने के लिए विवश-सा है और दूसरी ओर यंत्र-युग में अर्थतंत्र इतना प्रधान हो गया है कि उसमें भाव और राग के लिए जैसे कोई स्थान ही नहीं रहा है। हर तथ्य, हर वस्तु, हर स्थिति में बुद्धि का, तर्क का प्रवेश है।

साहित्य के क्षेत्र में भी बौद्धिक आन्दोलन के स्वर इधर काफ़ी तेज़ी से मुखरित होने लगे हैं। काव्य को प्रमुखतः बौद्धिक व्यापार और काव्यानंद को बौद्धिक आनंद सिद्ध करने में आलोचकों का एक वर्ग विशेष रूप से सक्रिय है। एक वर्ग तो ऐसा है जो साहित्य के क्षेत्र से सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की अवधारणा को जड़-मूल से समाप्त कर देने में ही अपनी बुद्धि और सर्जनात्मकता की चरम सार्थकता देख रहा है। पर शायद यह उसका विभ्रम है, या शायद बौद्धिकता की चकाचौंध में वह ऐसा करने के लिए विवश है। जो भी हो, यह निश्चित है, कि अन्य अनेक खोखले आन्दोलनों की भाँति यह आन्दोलन भी शीघ्र ही अपनी सीमाओं का साक्षात्कार कर लेगा। डॉ० सहल ने संभवतः इसी तथ्य को लक्षित करते हुए लिखा है : "आज के इस वैज्ञानिक और बुद्धिवादी युग में रस को नये साहित्य का मापदण्ड न मानकर बौद्धिकता को साहित्यिक मान के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। कुछ प्रयोगवादी समीक्षक 'बौद्धिक रस' का भी प्रयोग करने लगे हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या बौद्धिकता को रागात्मक रूप दे दिया जाता है? वैज्ञानिक जीवन-दर्शन साहित्य का भी जीवन-दर्शन हो सकता है, शर्त केवल यह है कि साहित्य हमारी संवेदनाओं को जागृत करे, उन्हें प्रभावित करे।.......जिसमें केवल सिद्धान्त ही सिद्धान्त है, दर्द नहीं, व्यंग्य नहीं, चोट नहीं, वह कराल काल के

महा उदर में विलीन हो जायगा।……काव्य द्वारा रागों का ही व्यायाम और परिष्कार होता है और भविष्य में भी तब तक ऐसा ही होता रहेगा जब तक मानव-जाति के मूल संवित् में ही कोई तात्विक परिवर्तन न हो जाय।" (मूल्यांकन, पृ० ७)।

डॉ० नगेन्द्र ने तथाकथित बुद्धिवादी आलोचकों को 'अबोध तार्किक' की अभिधा देते हुए उन्हें 'दया के पात्र' ठहराया है। तथ्य यह है कि सृजन से आस्वादन तक की प्रत्येक स्थिति में बुद्धि-व्यापार का अनवरत योगदान रहता है। उसके योगदान को नकारा किसने है? और फिर, क्या बुद्धि और भाव में विभाजन संभव है, उनका पृथक्करण संभव है? काव्य को भावाश्रित कहने का तात्पर्य केवल यही है कि उसमें बुद्धि-पक्ष अपेक्षाकृत गौण है, अनुपस्थित नहीं। जो इतना भी नहीं समझते, उन्हें 'अबोध' के अतिरिक्त और कहा ही क्या जा सकता है। इस सम्बन्ध में डॉ० सहल का भी स्पष्ट मत है : "काव्य में जिस रागात्मक तत्त्व को अनिवार्य ठहराया जाता है, उसका बौद्धिकता से कोई विच्छेद नहीं होता……। साहित्य की सार्थकता राग और बुद्धि के साहित्य में है, राहित्य में नहीं।"—(मूल्यांकन : साहित्य मूल्यांकन के नये मान)।

परन्तु सर्जनात्मक साहित्य के नित नये रूपों से घनिष्ठ सम्पर्क बनाए रखने वाला आलोचक किसी सिद्धान्त-विशेष के प्रति दुराग्रह व्यक्त नहीं कर सकता। डॉ० सहल रस-सिद्धान्त के प्रति आस्थावान् हैं, लेकिन उनकी यह आस्था, आस्था ही है, दुराग्रह नहीं। यदि रस-सिद्धान्त किसी साहित्य-विशेष के सौन्दर्य का समुचित आकलन कर पाने में अक्षम है, तो उन्हें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। इनकी स्वीकारोक्ति है : "साहित्य का मूल्यांकन केवल परम्परागत शास्त्रीय नियमों के आधार पर नहीं किया जा सकता। साहित्य-सर्जना नियमों का परिणाम नहीं है, वस्तुतः साहित्यकार का कृतित्व ही नियमों को जन्म देता है, उसका समर्थ साहित्यिक व्यक्तित्व ही मूल्यांकन के नये मान भी निर्धारित कर जाता है।" डॉ० सहल का यह मत भी है कि "कोई भी वाद, चाहे वह कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, साहित्य के मूल्यांकन के लिए माप-दण्ड नहीं बन सकता।"—(मूल्यांकन)।

डॉ० सहल ने अपनी तत्त्वदर्शी प्रतिभा के आधार पर साहित्य के समुचित मूल्यांकन के निमित्त निम्नलिखित कतिपय नियमों का विधान किया है :—

(१) साहित्य का मूल्यांकन परम्परागत शास्त्रीय नियमों अथवा किसी वाद-विशेष के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए।

(२) परन्तु यदि कोई विशिष्टवाद अथवा दार्शनिक विचार साहित्यकार के जीवन-दर्शन का अंग बन चुका है, तो वह मूल्यांकन का उचित माप-दण्ड बन सकता है। दूसरे शब्दों में, यदि मूल्यांकन का कोई सिद्धान्त जीवन से उद्भूत हो, चाहे वह फ्रायड से लिया गया हो, चाहे मार्क्स से, तो वह मूल्यांकन का समुचित सिद्धान्त कहा जा सकता है।

(३) किसी विशिष्ट शैली अथवा किसी सर्वथा अभिनव शिल्प-विधान वाली रचनाएँ अपने मूल्यांकन के लिए स्वयं प्रतिमान बन जाती हैं, इसलिए उनका मूल्यांकन उन्हीं के आधार पर किया जाना चाहिए। "शेखर एक जीवनी जैसे आधुनिक उपन्यास में कहीं लघु-कथा, कहीं यात्रा-विवरण,.......कहीं गद्य-गीत, कहीं व्याख्यान-कथन, कहीं सिद्धान्त-कथन–सभी प्रकार की शैलियों का समावेश हुआ है। इस प्रकार के उपन्यास अपने मूल्यांकन के लिए स्वयं प्रतिमान बन जाते हैं।" —(मूल्यांकन)।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, डॉ० सहल के समीक्षात्मक निबंधों में समन्वय-दृष्टि की प्रधानता है। वे भारतीय सिद्धान्तों के प्रति आस्था रखते हुए भी, पाश्चात्य अथवा आधुनिक समीक्षा-पद्धति को स्वीकार करते हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र और संस्कृत आलोचना में सिद्ध कलाकृति पर ही बल दिया गया है, कवि-व्यक्तित्व पर नहीं; दूसरी ओर संस्कृत आलोचना सिद्धान्त-प्रधान रही है, व्यावहारिक-समीक्षा का सूत्रपात तो पाश्चात्य समीक्षा-पद्धतियों के सम्पर्क के फलस्वरूप ही हुआ है। डॉ० सहल ने (३) के अंतर्गत पाश्चात्य-समीक्षा की इस विशिष्ट दृष्टि को उदारता-पूर्वक स्वीकार किया है। उक्त उद्धरण में उनका आशय है कि किन्हीं विशिष्ट कृतियों के सन्दर्भ में कभी-कभी सर्जनात्मकता (Creativity) अपने आप में एक मूल्य बन जाती है। उस स्थिति में कृति के समुचित मूल्यांकन के लिए किसी बाह्य सिद्धान्त के आरोपण की अपेक्षा नहीं रह जाती। डॉ० सहल की उक्त विचारधारा निश्चय ही आधुनिक समीक्षा के क्षेत्र में नये क्षितिजों के उद्घाटन की सामर्थ्य रखती है। प्रस्तुत संदर्भ में सर्जनात्मकता की अवधारणा को बड़े व्यापक रूप में परिकल्पित किया जाता है : उसमें कृति की शैली, उसका शिल्प-विधान और उसकी विषय-वस्तु–सभी का विवेचन अपेक्षित होता है।

डॉ० सहल ने अपने निबंधों में विभिन्न मनोविश्लेषणात्मक आलोचना दृष्टियों (फ्रायड और एडलर के मनोविश्लेषण-शास्त्र पर आधारित) पर सुचिंतित

और तर्कपुष्ट विवेचन प्रस्तुत करते हुए उनकी शक्ति और सीमा का सर्वथा मौलिक निर्वचन किया है (द्रष्टव्यः समीक्षाञ्जलिः 'कला का त्रिकोण'; और आलोचना के पथ पर : 'आलोचना और मनोविश्लेषण')। 'कला का त्रिकोण' शीर्षक निबंध में डॉ० सहल ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि केवल फ्रायड अथवा केवल एडलर की मान्यताओं के प्रकाश में कलाकृति का समुचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उक्त दोनों मनोविश्लेषण-शास्त्रियों की मान्यताएँ अव्याप्ति दोष से दूषित हैं। मनोविश्लेषण-शास्त्र के आधार पर यदि किसी सम्यक् आलोचना-दृष्टि के विकास की संभावना हो सकती है तो वह आलोचना-दृष्टि दोनों मनोविश्लेषण-शास्त्रियों की सम्मिलित मान्यताओं के आधार पर ही विकसित हो सकती है। परन्तु चिंतन की परिपक्वता के साथ ही डॉ० सहल को अपनी उक्त मान्यता में किंचित् संशोधन करना पड़ा है। उनकी एतद्विषयक संशोधित विचारधारा का अत्यन्त निर्भ्रान्त उपस्थापन उनके दूसरे निबंध 'आलोचना और मनोविश्लेषण' में मिलता है। डॉ० सहल ने साहित्य की आलोचना में मनोविश्लेषण-शास्त्र की सार्थकता को सर्वथा नकार दिया हो, ऐसा नहीं है। उनकी स्वीकारोक्ति है : "साहित्य की आलोचना में मनोविश्लेषण का निश्चित स्थान है।........मनोविश्लेषण की मर्यादाओं को मानते हुए, विषय के स्पष्टीकरण के लिए उसका समुचित प्रयोग किया जा सकता है।........इस प्रकार के विश्लेषण कविता के मर्म को समझाने में हमारी सहायता करते हैं।"

डॉ० सहल ने मनोविश्लेषण की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए भी एक अत्यन्त मौलिक प्रश्न उठाया है : "क्या विश्व के सभी बड़े कलाकारों की कृतियाँ उनकी कुण्ठित इच्छाओं का परिणाम हैं?"—और इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है : "यह सच है कि ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जिनके विश्लेषण करने पर हम उनमें कलाकारों की दमित इच्छाओं की तृप्ति पाते हैं, किन्तु सभी रचनाओं के लिए यह कह देना काव्यकारों के साथ अन्याय करना होगा।" इसके अतिरिक्त "अनासक्त साहित्य के सम्बन्ध में मनोविश्लेषण-पद्धति का आलोचक क्या कहेगा?" इसलिए डॉ० सहल के अनुसार आलोचना की यह पद्धति अव्याप्ति-दोष से दूषित है। वास्तव में "जीवन से मनोविज्ञान के सिद्धान्त निकलने चाहिएँ, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से जीवन नहीं।" डॉ० सहल ने इस आलोचना-पद्धति की एक अन्य सीमा का भी निर्देश किया है : "इस प्रकार की आलोचना में लेखक की प्रतिभा और रचना-तंत्र पर विचार नहीं हो पाता।'

वास्तव में पश्चिम की किसी भी आलोचना-पद्धति का विकास उस रूप में नहीं हुआ जिस रूप में हमारे यहाँ रस-सिद्धान्त का विकास हुआ है। मनो-

विश्लेषणात्मक-आलोचना पद्धति की ही दोनों दृष्टियों को लीजिए : फ्रायड और एडलर दोनों के सिद्धान्तों में वासना के उदात्तीकरण पर बल दिया गया है—चाहे उसका रूप कोई भी हो। लेकिन तथ्य यह है कि वासनाएँ यहाँ उदात्तीकृत होकर भी वैयक्तिक ही रह जाती हैं। कहा जा सकता है कि कलाकार अपनी अवदमित वासनाओं अथवा अपने हीनता-भाव को अपनी कलाकृति में अपने ऊपर घटित करके अथवा अपने से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध करके नहीं, दूसरे पात्रों पर घटित करके अभिव्यक्त करता है जिससे उसका 'व्यक्तिगत रूप तिरोहित हो जाता है'। ठीक है; लेकिन इससे क्या ? इस रूप में क्या उनकी वैयक्तिकता का विसर्जन हो जाता है ? स्पष्ट ही ऐसा नहीं हो पाता, क्योंकि तब वे पात्र-विशेष से सम्बद्ध हो जाती हैं। इसलिए वैशिष्ट्य के तिरोधान के लिए इस पद्धति में कोई विधान नहीं है। रस-सिद्धान्त में जिस प्रकार व्यक्ति-संसर्ग और वैयक्तिक राग-द्वेष से मुक्ति का विधान है, उस प्रकार का कोई विधान इसमें नहीं है। इसलिए, रस-शास्त्र में काव्यानंद की अवधारणा जिस उच्चतर फलक पर अधिष्ठित है, उस उच्चतर फलक की सम्प्राप्ति के लिए इसमें कोई स्थान नहीं। रसवादी आलोचक डॉ० सहल की दृष्टि इस तथ्य पर न गई हो, ऐसा नहीं है। इसीलिए एक स्थान पर तो उन्होंने यहाँ तक कह डाला है कि "रस की सत्ता से इन्कार करना काव्य की सत्ता से ही इन्कार करने के समान है।"

डॉ० सहल ने काव्यास्वादन-पक्ष से सम्बन्धित एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर अपने एक निबन्ध में संकेत किया है। यह संकेत 'उदात्त' अथवा 'विराट्' के तात्त्विक-विवेचन के संदर्भ में किया गया है : "जिस क्षण कोई यह कहने लगे कि यह विराट् तो है किन्तु कितना विराट् है, यह मैं जानता हूँ, उसी क्षण काव्यगत भव्यता अदृश्य हो जाती है।" (समीक्षाञ्जलि : 'काव्य में विराट्-भावना')। आपाततः यह वक्तव्य बहुत सीधा और सरल प्रतीत होता है, लेकिन इसके मूल में जाकर देखिए तो काव्यास्वाद की प्रकृति का पूरा निर्वचन झलकता दिखाई देगा। उदात्त या विराट् का तत्त्व भी सौन्दर्य का एक प्रकार है। सौन्दर्य एक व्यापक अवधारणा है, बृहत्तर कॉन्सेप्ट है; रमणीय, उदात्त आदि उसके विविध प्रकार हैं, रूप हैं, उसी प्रकार, जिस प्रकार 'प्रेम' एक बृहत्तर अवधारणा है और स्नेह, वात्सल्य, प्रीति आदि उसके विविध रूप हैं। डॉ० सहल का उक्त कथन तीन तथ्यों की ओर संकेत करता है—

(१) सौन्दर्य अज्ञेय है, अनिर्वचनीय है। वह 'नेति-नेति' है। उसका केवल अनुभव ही किया जा सकता है।

(२) काव्यास्वाद अथवा सौन्दर्यानंद हृदय का व्यापार है, वह विशुद्ध अनुभूतिस्वरूप है। जहाँ उसको बुद्धि के आधार पर पकड़ने अथवा विश्लेषित करने का प्रयास किया, वहाँ सौन्दर्य का बोध ही हवा हो जाता है।

(३) वह वेद्यान्तर-सम्पर्कशून्य है। इस वेद्यान्तर-सम्पर्कशून्यता में वैयक्तिक चेतना भी समाविष्ट है। किसी भी इतर वेदना अथवा चेतना के अस्तित्व में उसका स्वयं का अस्तित्व तिरोहित हो जाता है।

यह एक तथ्य है कि काव्यास्वाद के स्वरूप की जिन तीन विशेषताओं का निदर्शन ऊपर किया गया है, वे तीनों 'रस' में भी सुलभ हैं। डॉ० सहल ने काव्यास्वादविषयक अपने उक्त कथन के माध्यम से वास्तव में 'रस' की सार्वभौमता का ही निर्देश किया है।

डॉ० सहल ने अपने एक निबंध 'अलंकार और मनोविज्ञान' में अलंकार-दर्शन का अत्यन्त सारगर्भित मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस निबंध को पढ़ने के अनंतर ऐसा लगता है कि अलंकार-दर्शन और अलंकारों के विभाजन पर डॉ० सहल द्वारा निर्दिष्ट रीति से शोध-कार्य होना चाहिए। डॉ० सहल ने अलंकारों को वामन की परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करते हुए, अलंकारों के वर्गीकरण के तीन सर्वथा मनोवैज्ञानिक आधारों का विवेचन किया है। ये आधार निम्नलिखित हैं :—

(१) सादृश्य
(२) विरोध
(३) भाव-साहचर्य

इनमें से पहले दो, अर्थात् सादृश्य और विरोध तो हमारे यहाँ परम्परा में स्वीकृत हैं। तीसरे आधार को डॉ० सहल की मौलिक उद्भावना कहा जा सकता है। उनके निबंध सर्वप्रथम 'साहित्य-संदेश' में प्रकाशित हुए थे। पत्रिका के तत्कालीन सम्पादक डॉ० गुलाबराय ने उस पर टिप्पणी देते हुए लिखा है : "लेखक ने मनोभाव और अलंकारों का सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है कि अलंकारों के मूल में कवि के हृदय का उत्साह है। उसका साधारण बात से जी न भरना उसे आलंकारिकता की ओर ले जाता है।.......जो अलंकारों को ऊपर की चीज समझते हैं, उनके लिए यह लेख नेत्रोन्मीलन का काम करेगा।"

विवेच्य निबंधों के अतिरिक्त डॉ० सहल के अन्य अनेक मौलिक निबंध हैं, जिनमें उनकी मौलिक उद्भावना-शक्ति, सूक्ष्म विश्लेषण-प्रतिभा, एवं बहु-अधीत आलोचक की अतलदर्शी मेधा के दर्शन होते हैं। निबंधों में (१) 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता और रस-सिद्धान्त', (२) 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता तथा ध्वनि-सिद्धान्त' और (३) 'ललित-कलाओं का तारतम्य'-(अनुसंधान और आलोचना); (४) 'रस-प्रक्रिया का त्रिकोण और पाश्चात्य समीक्षक', (५) 'ट्रेजेडी में अहं का विगलन'-(विमर्श और व्युत्पत्ति); (६) 'स्वभावोक्ति का अलंकारत्व' और (७) 'करुण रस की सुखात्मकता'-(आलोचना के पथ पर) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

•••

राजस्थानी कहावतों पर आपका ग्रन्थ मिला। निःसन्देह यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, जिसे आपने विधिवत् सम्पन्न किया है। कहावतों में युगान्तर की अनुभूतियाँ सूत्र रूप में सावित रहती हैं। ऐसा कार्य प्रत्येक जनपदीय भाषा के लिए होना चाहिए।

—बनारसीदास चतुर्वेदी

विमर्श और व्युत्पत्ति : एक मूल्यांकन

• आचार्य विनयमोहन शर्मा

डॉ० कन्हैयालाल सहल हिन्दी के ख्यातिलब्ध समीक्षक और चिन्तक हैं। उनका अध्ययन-क्षेत्र शिष्ट साहित्य की विशेष विधा तक ही सीमित नहीं है, उन्होंने लोक-साहित्य, दर्शन, भाषाशास्त्र आदि विषयों पर भी अध्ययन किया है जिसका प्रमाण उनका प्रस्तुत निबन्ध संग्रह है। इसके दो खण्ड हैं। विमर्श-शीर्षक प्रथम खंड में 'रस-प्रक्रिया' से लेकर 'ट्रेजेडी के सम्बन्ध में नूतन मानवीय दृष्टिकोण' तक ३५ निबन्धों का संकलन है। व्युत्पत्ति शीर्षक द्वितीय खण्ड में 'राठौड़' से लेकर 'आवड़ना' तक ८४ शब्दों की व्युत्पत्ति-चर्चा है।

"विमर्श" विमर्श के कई निबन्ध छोटे हैं पर उनमें जो गंभीर-विवेचन है, उससे 'देखन में छोटे लगत, घाव करें गंभीर' उक्ति चरितार्थ होती है। 'रस-प्रक्रिया का त्रिकोण और पाश्चात्य समीक्षक' निबन्ध में उन्होंने अभिधा, कल्पना और व्यंजना के त्रिकोण से रस-प्रक्रिया को समझाने का प्रयास किया है। अभिधा वर्ण्यविषय से संबंधित है, किन्तु निरी अभिधेय वस्तु काव्य का रूप धारण नहीं कर सकती। अभिधेय को आस्वाद्य बनाने के लिए कवि अथवा नाटककार को रस-प्रक्रिया की दूसरी स्थिति अर्थात् कल्पना का सहारा लेना पड़ता है जिसके द्वारा रस अभिव्यक्त होता है अथवा व्यंजित होता है। व्यंजना को तीसरी स्थिति समझिए, जिसे भट्ट नायक ने भावकत्व का नाम दिया है। इसी त्रिकोण को दृष्टिगत कर उन्होंने भरत-सूत्र की व्याख्या की है जिसके अनुसार 'विभावादि' के संयोग अर्थात् कल्प्य-कल्पक भाव रूप सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति अर्थात् व्यंजना होती है। लेखक का यह विचार ठीक है कि भट्ट नायक का भावकत्व-व्यापार व्यंजना के अन्तर्भुक्त नहीं हो सकता। वह तो विभावादि को

साधारणीकृत करने में सहायक होता है। उसे मन की एक प्रवृत्ति मान सकते हैं। इसी छोटे लेख में लेखक ने रस-सिद्धान्त और पाश्चात्य समीक्षा के सिद्धांतों पर भी विचार किया है, जो अधिक विस्तार चाहता था। दूसरे निबन्ध में 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त के तत्त्व को समझाने की चेष्टा की गई है। इस सिद्धान्त के प्रचारक कला में नैतिकता का निषेध करते हैं पर सभी पाश्चात्य समीक्षक इस मत के समर्थक नहीं हैं। किसी भी महान् साहित्यिक कृति के लिए नैतिक धरातल का होना आवश्यक होता है। मार्क्सवादी समीक्षा ने इस सिद्धान्त का तो टेंटुआ ही घोट दिया है। प्रत्येक कला का लक्ष्य सहृदय व्यक्ति में आनन्द का संचार करना है पर आनन्द के साथ-साथ उसमें उदात्त भावनाओं का संचार भी हो तो सोने में सुगन्ध आ जाती है। कला में अनुदात्त असामाजिकता के उन्मेप से विकृति उत्पन्न हो सकती है जो आनन्द-सर्जन की बाधक है। 'ट्रेजेडी' से आनन्द क्यों मिलता है? इसका उत्तर लेखक ने 'अहं' के विगलन के रूप में दिया है। इसे हम साधारणीकरण की अनिवार्य शर्त कह सकते हैं। साधारणीकरण की आदर्श स्थिति में विभावादि के साथ प्रमाता का भी अहं विगलित हो जाता है। "दुःख की लोकानुभूति कराये बिना ट्रेजेडी दुःख से उत्पन्न होने वाला लाभ पहुँचा देती है और वह है अहं के विगलन द्वारा आत्मोपलब्धि की झलक। "कबीर और मरणतत्व" में कबीर ने मरण को त्यौहार के रूप में किस तरह स्वीकार किया है, इसकी विवेचना है। पर कबीर उसी मृत्यु को श्लाघ्य समझते हैं जो जीवनमुक्ति का रूप धारण करे-मुक्ति प्रदायिनी हो। वासनाओं का मरण ही कबीर को इष्ट था। वही उनके लिए काव्य था। 'राम की शक्ति—पूजा के स्रोत' के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है। देवीभागवत में राम द्वारा देवी की उपासना के प्रसंग का सविस्तार वर्णन है पर 'निराला' ने बँगला की कृतिवास-रामायण से अधिक प्रेरणा ली है। इसे लेखक ने सोदाहरण निर्दिष्ट किया है। नव साहित्यकार भारतीय समीक्षा-सिद्धान्त, विशेष कर रस-सिद्धान्त के प्रति उदासीन ही नहीं, उसे अव्यावहारिक मानता है। आज के साहित्य के मूल्यांकन में उसे असमर्थ मानता है। नई कविता में बिम्ब और प्रतीकों का अधिक प्रयोग हो रहा है और शब्दों में नवीन अर्थ भरे जा रहे हैं। अतः नई समीक्षा में इन्हीं का विश्लेषण अपेक्षित है। पाश्चात्य समीक्षक काव्य में बुद्धि, कल्पना और भावना-तत्त्वों का अन्वेषण करते रहे हैं ,पर आज प्रतीक और बिम्बों की प्रधानता होने से इन्हीं पर समीक्षक की दृष्टि जाती है। ईलियट काव्य में व्यक्तिवाद का समर्थक नहीं है। क्योंकि उसमें कवि अपना ही दुःख व्यक्त करता है और परम्परा से दूर हट जाता है। ईलियट के इस कथन में भारतीय काव्यशास्त्र का साधारणीकरण का सिद्धान्त ध्वनित है। कवि की अभिव्यक्ति ऐसी हो जो उसकी अपनी न हो, सबकी हो। लेखक ने इसे ही प्रतिपादित किया है। नई कविता जब तक निर्वैयक्तिक नहीं बनेगी, सामाजिक के लिए आस्वाद्य नहीं बन पायेगी।

पुस्तक में अन्तिम निबन्ध त्रासदी सम्बन्धी है। त्रासदी से सुख क्यों मिलता है? इसका उत्तर अरस्तू के रेचन-सिद्धान्त में मिल जाता है। इस सम्बन्ध में लेखक का मत विचारणीय है। नायक संघर्ष करता है। उसके प्रयत्नों में जो उदात्तता पाई जाती है, उससे हमें मनुष्य होने के नाते एक प्रकार के गौरव का अनुभव होता है और उस गौरवानुभूति से हमें सुखोपलब्धि होती है। त्रासदी का नायक अपनी पराजय में भी महान् दिखाई देता है। त्रासदी में सहानुभूति के कारण आत्म-विस्तार होता है। नायक के औदात्यपूर्ण शील से मानव के महत्त्व की तीव्रानुभूति होती है जिसके कारण हमें सन्तोष अथवा सुख की प्रतीति हुए विना नहीं रहती। इस खण्ड में साहित्य-सिद्धान्तों के विवेचन के अतिरिक्त संस्कृति-सभ्यता, राजस्थानी लोक-साहित्य, गीता आदि सम्बन्धी लघु निबन्ध भी हैं। 'हिन्दी पत्रों के सवा सौ वर्ष' लेख में हिन्दी पत्रों पर केवल विहंगम, दृष्टि डाली गई है जिसमें कई समाविस्थ पत्र भी उल्लिखित हैं। सहारनपुर का 'नया जीवन' पुस्तक-पत्र न होकर नियमित मासिक पत्र है।

द्वितीय खण्ड में अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति हो नहीं, उनमें कई का ऐतिहासिक विवेचन भी है। कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति का अनुमान ही लगाया जा सकता है। उदाहरणार्थ तुर्की भाषा का तेगिन ठाकुर कैसे बन गया, यह समझ में नहीं आया। साढू की व्युत्पत्ति सांड या सांढ से खोजना डॉ० शर्मा की रोचक सूझ कही जा सकती है। शब्द बड़े सैलानी होते हैं। जहां जाते हैं वहां की प्रकृति ग्रहण कर अपने जन्मार्थ को खोकर नया अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। लेखक ने कई शब्दों का बड़ा रोचक परिचय दिया है। लेखक का यह संग्रह उसकी विद्वत्ता और विदग्धता का परिचायक है। इसमें उनका व्यापक, स्वतंत्र चिन्तन भी अभिव्यक्त हुआ है। इसकी ओर मैं प्रारम्भ ही में संकेत कर आया हूँ। हिन्दी के समीक्षात्मक और विचारात्मक निबन्ध-साहित्य में इस संग्रह का विशेष मूल्य है। इसमें लेखक के कई विषयों पर मत विचारोत्तेजक हैं, जिन पर साहित्यकारों को विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है।

●●●

एक प्रबुद्ध समीक्षक

• डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र

सहलजी ने सन् १९४० के लगभग हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में प्रवेश किया था और तब से अब तक आप अनवरत रूप से इस क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। साहित्य-सिद्धान्तों एवं प्रयोगात्मक समीक्षा के विभिन्न सामयिक एवं शाश्वत प्रश्नों पर यह विद्वान् समीक्षक पिछले प्रायः तीन दशकों से विचार कर रहे हैं। आपके ये विचार अधिकांशतः छोटे-बड़े निबन्धों के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। सहलजी के आलोचक-रूप के प्रेरणा-स्रोतों के कुछ प्रमुख रूपों का विवेचन हो सकता है। यह निर्विवाद है कि सहलजी प्रमुखतः अध्यापक-आलोचक हैं। अध्यापन के लिए तैयार की गई अधिकांश सामग्री नहीं, तो कम से कम इस प्रसंग में उठे हुए मौलिक प्रश्न तो निबन्धों का रूप धारण करते ही गये हैं। जिस समय सहलजी ने हिन्दी-साहित्य का अध्यापन प्रारम्भ किया था, उस समय कवियों, काव्य-धाराओं और साहित्य-ग्रन्थों पर समीक्षाएँ प्रायः विरल ही थीं। अतः प्रत्येक प्रवुद्ध चिन्तक एवं सफल अध्यापक के लिए यह भी एक अनिवार्यता थी कि वह एक सजग आलोचक भी रहे। मैं समझता हूँ कि अध्यापक की यदि इस चेतना को ही सहलजी को मूलतः आलोचक बनाने का पूर्ण श्रेय नहीं है तो कम से कम इससे उनके आलोचक-रूप को विकसित होने एवं विशेष दिशा में बढ़ाने की एक महती प्रेरणा अवश्य मिली है। मुझे स्मरण है कि 'गुंजन', 'पन्तजी', 'उर्मिला के विरह वर्णन' आदि पर लिखे गये उनके बहुत से महत्त्वपूर्ण निबन्धों का गठन उनके उन विचारों से हुआ है जो उनको कक्षा में पढ़ाते समय अकस्मात् प्रतिभात हुए थे। इनमें उनके मनन, चिन्तन एवं अध्ययन का मिश्रण भी हो गया है पर इन निबन्धों की मूल आधार-भूमि वे विचार ही हैं जो कक्षा में पढ़ाते समय वे व्यक्त करते रहे हैं। प्रबुद्ध अध्यापक कक्षा में ही अचानक अत्यन्त मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण बात कह जाते हैं। उनको पल्लवित

करने से मौलिक निबन्ध बन जाते हैं, यही सहलजी के साथ भी है। साहित्य-क्षेत्र का यह परम सौभाग्य है कि उनके विचार लिखित रूप से लेकर एक छोटी-सी कक्षा की सीमाओं में बँधे नहीं रहे अपितु हिन्दी-जगत् के सभी पाठकों के लिए उपलब्ध हो गये। इस प्रकार इन निबन्धों के द्वारा सहलजी के आलोचक एवं अध्यापक, दोनों रूपों का ही बहुत सुन्दर प्रसार और विकास हुआ है।

सहलजी के आलोचक-रूप को साहित्य-क्षेत्र में उठे हुए महत्त्वपूर्ण विवादों से प्रेरणा प्राप्त हुई। सहलजी समय-समय पर उठे हुए साहित्यिक विवादों और प्रश्नों के प्रति पूर्णतः उदासीन तथा उनके मूक द्रष्टा मात्र नहीं रहे। वे अपने विचार निबन्धों अथवा पत्रों के द्वारा बराबर व्यक्त करते रहे हैं। यह उनके समीक्षक-रूप का दूसरा प्रेरणा-स्रोत रहा। तीसरा स्रोत है हिन्दी के कतिपय प्रमुख आलोचकों, कवियों एवं साहित्य के मनीषियों से साहित्य-सम्बन्धी प्रश्नों पर पत्र-व्यवहार। यह पत्र-व्यवहार समीक्षा-सम्बन्धी विवादों के प्रसंग में भी हुआ पर अनेक अवसर ऐसे भी आये हैं जब सहलजी ने अनेक तत्त्वों के स्पष्टीकरण, अपने विचारों की पुष्टि तथा अपनी शंकाओं के समाधान के लिए भी पत्र-व्यवहार किया है। पर यह कहना भी ठीक है कि सहलजी के अधिकांश आलोचनात्मक निबन्धों का मूल प्रेरक उनका अध्यापक-रूप ही रहा है।

इन प्रेरणाओं का ही परिणाम है कि जहाँ सहलजी के 'गुंजन', 'बापू', 'कामायनी' आदि पर लिखे गये निबन्ध विस्तृत एवं प्रायः सर्वाङ्गीण समीक्षा के उदाहरण कहे जा सकते हैं, वहाँ 'कबीर और माधुर्य' 'नियतिवाद और अजातशत्रु' 'कामायनी का अद्वैत' जैसे निबन्ध केवल एक विशेष दृष्टिकोण का प्रतिपादन-मात्र करने वाले हैं। साहित्य के सिद्धान्तों पर लिखे गये अधिकांश निबन्धों में उनके सर्वाङ्गीण विवेचन की अपेक्षा सिद्धान्त के किसी एक पक्ष का सूक्ष्म विवेचन अधिक हुआ है। यह निबन्ध की विधा एवं सहलजी की मनोवृत्ति दोनों के ही अनुरूप है। साहित्य-सिद्धान्तों पर व्यापक एवं सर्वाङ्गीण विवेचन तो विभिन्न समीक्षा-ग्रन्थों में उपलब्ध होता ही है। उनकी पुनरावृत्ति में तो सहलजी जैसे व्यक्ति का मन विशेष रम नहीं सकता था। अतः उनके किसी पूर्णतः अथवा प्रायः उपेक्षित पक्ष का उद्घाटन ही सहलजी को अधिक समीचीन प्रतीत हुआ। सिद्धान्तों के ऐसे उपेक्षित-प्रायः अथवा गूढ़ एवं अन्तर्भूत पक्षों पर सहलजी की दृष्टि भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तन की तुलना की प्रवृत्ति के कारण अधिक नई है। उदाहरणार्थ 'संस्कृत के नाट्याचार्य और नाटक की तीन अन्वितियाँ' नामक निबन्ध में उन्होंने अभिनव गुप्त की उन पंक्तियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जिनसे तीन 'अन्वितियों' का संकेत मिलता है। इसी प्रकार सहलजी ने वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता (Objective Correla-

tion) के सिद्धान्त की तुलना भारतीय ध्वनि-सिद्धान्त और रस-सिद्धान्त से की है। इस प्रकार की तुलनात्मक दृष्टि समीक्षक की एक प्रमुख प्रवृत्ति ही है। सहलजी के द्वारा की गई ये तुलनाएँ दुरारूढ़ कल्पना के दोष से तो सर्वथा मुक्त हैं ही, पर इनमें प्रायः हल्के सादृश्य की ही झलक मिल पाई है। पाश्चात्य एवं भारतीय सिद्धान्तों में जो पारस्परिक सूक्ष्म अन्तर है, वह सर्वत्र उभर कर सामने नहीं आया है। यह शायद निबन्ध की सीमाओं के कारण अधिक हुआ है। वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के सिद्धान्त का जो विवेचन विद्वान् समीक्षक ने किया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिद्धान्त प्रधानतः उस सामग्री का विवेचन करता है जिसका अन्तर्भाव विभाव, अनुभाव और अप्रस्तुत विधान में होता है पर ध्वनि वह प्रक्रिया और उस प्रक्रिया से प्राप्त मनःस्थिति है जिसके लिए इस सामग्री का उपयोग होता है। उक्त निबन्ध में इस सारे अन्तर की ध्वनि, ध्वनि-मात्र हो पाई है।

सहलजी ने अनेक स्थानों पर काव्य-सिद्धान्तों की गहराई में पैठकर उनकी आत्मा का साक्षात्कार किया है और उनकी सूक्ष्म एवं मौलिक व्याख्या की है। औचित्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए उन्होंने कहा है 'यह समग्र-औचित्य' शब्दार्थ के चारु सम्मेलन में है, कल्पना की रमणीयता में है, बुद्धि और भावना के प्राति-भासिक विरोध-परिहार में है, रसनिष्पत्तिगम्य आनन्द में है अथवा आवेगों के सन्तुलन-जन्य सूक्ष्म की प्रतिष्ठा में है, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है किन्तु काव्य या साहित्य में समग्र औचित्य जैसी कोई वस्तु है।' औचित्य काव्य का प्राण है। वह सम्पूर्ण काव्य में व्याप्त रहता है। प्रत्येक अंग की सचेतनता के साथ ही सम्पूर्ण शरीर की भी एक सचेतनता है। वह प्राण का एक समग्ररूप है। शरीर की सचेतनता अपने आप में एक स्वतन्त्र इकाई है। आत्मा की सापेक्षता में तो उसकी रमणीयता है ही, इसके साथ ही उसकी अपनी भी रमणीयता है। वैसे ही औचित्य की रस की सापेक्षता में रहने वाली रमणीयता और इकाई के अतिरिक्त अपनी एक स्वतन्त्र इकाई और रमणीयता भी है। इसी तथ्य की ओर सहलजी का ध्यान गया है। औचित्य को प्राण मानने से निकलने वाली एक ध्वनि को सहलजी की सूक्ष्म दृष्टि एवं मौलिक चिन्तन ने पल्लवित कर दिया है। सहलजी के 'विवेचन' में ऐसे आभास कई जगह मिलते हैं। उन्होंने भारतीय ही नहीं, अपितु पाश्चात्य-काव्य सिद्धान्त का भी प्रामाणिक-विवेचन किया है। 'कला का त्रिकोण' 'काव्य में विराट भावना', 'संवेदना का हेत्वाभास' जैसे निबन्धों में उन्होंने पाश्चात्य समीक्षा-तत्त्वों का अच्छा परिचय देते हुए, भारतीय साहित्य के मूल्यांकन के लिए एक सफल मान दण्ड के रूप में उनके प्रयोग की क्षमता का संकेत किया है। इस प्रकार का चिन्तन समन्वयवादी मानदण्ड के निर्माण में बहुत अधिक सहायक होता है।

जिस समय सहलजी ने समीक्षा-क्षेत्र में प्रवेश किया था, उस समय तक हिन्दी ने समीक्षा की अपनी एक शैली निर्मित करली थी। उसने कतिपय मानदण्डों और पद्धतियों को स्वीकृति भी दे दी थी। शुक्लजी को नीति और रस पर आधारित प्रबन्धकाव्योचित समीक्षा-शैली तथा प्रधानतः छायावादी काव्य के लिए उपयुक्त स्वच्छन्दतावादी एवं सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। मार्क्स-वादी और मनोविश्लेषणवादी समीक्षा-शैलियों ने भी अपना व्यवस्थित कार्य प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार सहलजी को ये सभी शैलियाँ तथा इनके मानदण्ड एक प्रकार से विरासत के रूप में प्राप्त हो गये। सहलजी पर इन सबका प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। सहलजी का व्यक्तित्व पूर्वाग्रहों से मुक्त, सहृदय, सजग, तार्किक एवं गुणग्राही है। अतः उनकी सारग्राहिणी बुद्धि ने इन सभी समीक्षा-पद्धतियों के साथ संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला से भी मुक्त हृदय से समीक्षा तत्त्व-स्वीकार किये हैं। यही कारण है कि उनकी समीक्षाओं में इन सभी स्रोतों से आये हुए तत्त्वों के दर्शन होते हैं। सहलजी की समीक्षाओं में यथावसर इन सबका मिश्रण और समन्वय मिलता है। सहलजी वादों के कठघरों में कवियों को बन्द करना पसन्द नहीं करते। वास्तव में देखा जाय तो किसी भी स्वतन्त्रचेता कवि को किसी एक वाद से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार स्वतन्त्रचेता समीक्षक को भी किसी वाद या सम्प्रदाय में बाँध कर नहीं देखा जा सकता। यह बात सहलजी के लिए भी लागू है। उनको भी किसी वाद या सम्प्रदाय-विशेष का समीक्षक नहीं कहा जा सकता। पर फिर भी प्रामाणिक विवेचन के लिए पारिभाषिक शब्दों के घेरे में तो बाँधना ही पड़ता है। सहलजी उस शुक्लोत्तर समीक्षा-पद्धति के समीक्षक हैं जिसमें शुक्ल एवं स्वच्छंदता-वादी दोनों पद्धतियों का मिश्रण हो गया है और जिसको हम प्राध्यापकीय समीक्षा कह सकते हैं। हाँ, सहलजी में स्वच्छंदतावादी चेतना का अंश अधिक माना जा सकता है।

सहलजी ने आलोच्य रचना या कवि के काव्य-सौन्दर्य पर विचार करने के साथ ही उसके विचार-दर्शन, कवि की मनःस्थिति, तत्कालीन परिस्थितियों के प्रभाव आदि पर भी पर्याप्त विचार किया है। उन्होंने पाश्चात्य एवं भारतीय, दोनों ही काव्य-शास्त्रों के तत्त्वों के आधार पर कृतियों का मूल्यांकन किया है। उन्होंने 'कामायनी के महाकाव्यत्व, रूपक-तत्त्व, दर्शन, नियतिवाद' आदि कई पक्षों का संक्षिप्त पर सम्यक् परिचय दिया है। महाकाव्यत्व पर विचार करते समय सहलजी के समक्ष परम्परावादी दृष्टिकोण था, पर उससे बँधकर वे नहीं चलना चाहते थे, इसीलिए उनके समीक्षक ने महाकाव्य-सम्बन्धी नवीन एवं स्वच्छन्दतावादी धारणा का प्रश्रय लिया है। सहलजी की समीक्षा में महाकाव्य की तरह आलोचना के अन्य तत्त्वों में भी भारतीय और पाश्चात्य दोनों दृष्टियों का मिश्रण है। सहलजी पर

पाश्चात्य समीक्षकों का पर्याप्त प्रभाव है। इसी से सहलजी भी काव्य-सौष्ठव की अपेक्षा कवि के विचारों एवं प्रत्ययों का अधिक परिचय देते हैं। अनेक स्थानों पर तो ये निबन्ध काव्य की प्रकृत समीक्षा के स्थान पर जीवन का विश्लेषण अधिक हो जाते हैं। अतः इनमें काव्येतर तत्त्वों पर अधिक विचार हुआ है, यह कहना असमीचीन नहीं है। नियतिवाद-सम्बन्धी प्रसादजी की धारणा ने उनकी भाव-राशि और चरित्र-कल्पना को किस प्रकार रूपायित किया, उनमें किस प्रकार की मर्म-स्पर्शिता को जन्म दिया, ऐसे प्रश्नों को सहलजी ने नहीं उठाया है। अतः ये सब बौद्धिक परिचय के क्षेत्र की वस्तु अधिक कही जा सकती हैं। सहलजी की समीक्षाएँ भी निबन्ध की संक्षिप्तता, बौद्धिकता एवं एक झलक मात्र देने की विशेषता से विभूषित हैं।

सहलजी उदार, सहृदय, स्वतन्त्रचेता एवं मौलिक समीक्षक हैं। उनमें चिन्तन की गूढ़ता, प्रौढ़ता और प्रामाणिकता के साथ ही विचारों की स्पष्टता एवं शैली की सरलता तथा प्रसादमयता के दर्शन होते हैं। सहलजी का समीक्षक चिन्तन, प्रति-पादन, शैली एवं भाषा, किसी भी दृष्टि से अस्पष्ट और उलझा हुआ नहीं है।

•••

गीता और मानसिक स्वास्थ्य

आपका लेख मिला। आपने मानसिक समता के लिए मानसिक स्वास्थ्य का प्रयोग किया है न? व्युत्पत्ति की दृष्टि से दोनों एक हैं भी। आपका लेख मैंने रुचि और लाभ के साथ पढ़ा है। आपके पांडित्य से हम लोगों का मस्तक ऊँचा रहता है।

—डॉ० मथुरालाल शर्मा

अनुसंधान और आलोचना : एक विवेचन

• डॉ० प्रेमशंकर

'अनुसंधान और आलोचना' एक अनुभवी शिक्षक और शोधकर्ता के व्यक्तित्व द्वारा निर्मित ग्रन्थ है। प्रथम खंड में तेईस निबंध हैं, जिनमें राजस्थानी साहित्य और संस्कृति का विवेचन है। द्वितीय खंड में हिन्दी साहित्यालोचन से सम्बद्ध सोलह निबंध हैं। अपना समस्त जीवन राजस्थान में गुजारने वाले डॉ० सहल उस प्रदेश के विषय में साधिकार कह सकते हैं। 'राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन' उनका प्रसिद्ध शोध-प्रबंध है, जिसे विद्वानों ने पर्याप्त आदर दिया है। वास्तव में लोक-साहित्य की चर्चा केवल 'अकादमिक' अथवा 'पुस्तकीय स्तर' पर नहीं की जा सकती। लोक-साहित्य का आरंभ मूलतः मौखिक रूप में होता है, और उसे लिखित रूप में आते-आते समय लगता है। इसके विभिन्न पक्षों से परिचय प्राप्त करने के लिए स्वयं को लोक-जीवन की प्रवहमान धारा से जोड़ना पड़ता है। डॉ० सहल एक साथ परम्परा, लोकजीवन और शोध-सामग्री पर अपनी दृष्टि रखते हुए आगे बढ़ना चाहते हैं। भारतीय दर्शन और संस्कृत वाङ्मय से वे सुपरिचित हैं, जैसा कि अनुसंधान और आलोचना के कई निबंधों से स्पष्ट है। प्रायः प्राचीन साहित्यशास्त्र समीक्षा को पांडित्य के भार से इतना आहत करता आया है कि समीक्षकों की मौलिक विवेचना-क्षमता के कुण्ठित हो जाने का खतरा बना रहता है। डॉ० सहल अपने शास्त्र-ज्ञान का उपयोग जब साहित्य के विवेचन और आकलन के लिए करते हैं, तब उन्हें इसका थोड़ा-थोड़ा अहसास बराबर रहता है कि कहीं शास्त्र का अतिरिक्त आरोपण न हो जाय। 'कामायनी का अलंकार-विधान' इस दृष्टि से एक उल्लेखनीय निबंध है। 'कामायनी' एक आधुनिक काव्य है और उसे प्राचीन समीक्षा-निकष पर पूर्णतया मूल्यांकित नहीं किया जा सकता, इसलिए डॉ० सहल स्वयं को अलंकार-विवेचन तक सीमित रखते हैं। लक्षणों के आधार पर काव्य में सटीक दृष्टान्त खोज लेना बहुत सरल नहीं होता, विशेषतया जब 'लक्षण' प्राचीन हों और काव्य नवीन। फिर भी डॉ० सहल ने जितनी अधिक मात्रा में अलंकार

खोज निकाले हैं, उतने संभवतः दीर्घाकारी शोधग्रंथों में भी प्राप्त नहीं होते। शास्त्र का सार्थक प्रयोग वे जानते हैं। इसी निबंध में उन्होंने पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के अलंकारों की तलाश कामायनी में की है, जो इस प्रकार का पहला प्रयत्न है।

डॉ० कन्हैयालाल सहल मूलतः एक अनुसन्धान-दृष्टि के साहित्यकार हैं और प्रस्तुत ग्रंथ के अधिकांश निबंध तथ्यों का विश्लेषण करते दिखाई देते हैं। 'वीर सतसई' से सम्बद्ध सात-आठ निबंधों में उन्होंने महाकवि सूर्यमल्ल के काव्य पर विस्तार से विचार किया है। सूर्यमल्ल के व्यक्तित्व में उन्होंने कवि, इतिहासवेत्ता तथा विद्वान् तीनों की समष्टि देखी है। डॉ० सहल ने उनके अनेक पत्रों को उद्धृत किया है जिससे १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका का संकेत मिलता है। डॉ० सहल की शोध-दृष्टि राजस्थानी लोकोक्तियों के विवेचन में सर्वाधिक सक्रिय नजर आती है। इस क्षेत्र में वे गहराई तक प्रवेश करते हैं और पूर्ण रुचि के साथ उसका अनुशीलन करते हैं। 'कहावत—एक विवेचन' निबंध मुख्यतया राजस्थानी कहावतों के संदर्भ में लिखा गया है। इसमें लेखक ने लोकोक्तियों के स्वरूप-निर्धारण में अपने अध्यवसाय का परिचय तो दिया ही है, उसकी दृष्टि सर्वत्र सामाजिक भी है। डॉ० सहल की यह स्थापना आधुनिक कही जायगी कि लोकोक्तियां मूलतः जीवन-व्यापार से निर्मित होती हैं और उनमें जनता के सहज संवेदन सुरक्षित हैं। सम्पूर्ण निबंध लेखक की शोधवृत्ति को प्रमाणित करता है।

'अनुसंधान और आलोचना' के निबंध प्रमुख रूप से राजस्थानी लोकसाहित्य को आधार बनाकर रचे गए हैं, पर उसके द्वितीय खंड में सैद्धान्तिक समीक्षा से सम्बद्ध कुछ निबंध भी हैं, जो डॉ० सहल के प्राचीन साहित्यशास्त्र से सम्पर्क के साथ नये साहित्य-सिद्धान्तों से परिचय की इच्छा का भी संकेत करते हैं। 'रस अभिव्यक्त है अथवा अनुभूत' ग्रंथ का सबसे संक्षिप्त निबंध है, पर लेखक ने इसमें महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहा है। इसी क्रम में 'आचार्य वाजपेयी और रस-सिद्धान्त' निबंध पठनीय है। डॉ० सहल ने आचार्य जी के मन्तव्य पर उचित टिप्पणी की है। वे लिखते हैं........"इसका यह अर्थ नहीं कि वाजपेयीजी को भारतीय रस-सिद्धान्त मान्य नहीं है। स्थूल शास्त्रीयता से ऊपर उठकर रस के सम्बन्ध में दृष्टिकोण की व्यापकता के वे पक्षपाती थे। काव्य में अनुभूति की तीव्रता को ही उन्होंने प्रधानता दी है।" संभवतः डॉ० सहल भी यही धारणा रखते हैं कि भारतीय साहित्यशास्त्र का पुनर्निर्माण अपेक्षित है, ताकि उसके जीवन्त तत्वों का उपयोग आधुनिक युग में किया जा सके। डॉ० सहल के निबंध प्रमाण हैं कि वे अपने अध्यवसाय के सहारे आगे बढ़ने की चेष्टा बराबर करते रहे हैं, और पाण्डित्य ने उन्हें बोझिल नहीं कर दिया है।

●●●

मूल्यांकन और मूल्यांकन

• डॉ० भोलाशंकर व्यास

इस जमाने में जब कि मूल्यांकन के पैमाने दिन ब दिन बदलते जा रहे हैं, किसी भी चीज का सही मूल्यांकन करना बड़ा मुश्किल है। जहाँ मुद्रास्फीति के कारण मुद्रा का अवमूल्यन होता जा रहा है, वहाँ मुद्रा के वास्तविक मूल्य और पण्य-मूल्य में निरन्तर आकाश-पाताल का अन्तर होता रहता है। यह दशा न केवल अर्थशास्त्र की दुनिया में, बल्कि साहित्यशास्त्र की दुनिया में भी नजर आने लगी है। आज साहित्यिक मूल्यों की शाश्वतता को चुनौती देने की चीख चारों कोनों से सुनाई पड़ रही है और इस माहौल में किसी भी साहित्यिक कृति या कृतिकार के मूल्यांकन के विषय में दूसरे लोग प्रश्न-चिह्न उपस्थित करते देखे जा सकते हैं। पर किसी साहित्यिक कृति या सांस्कृतिक विषय पर विद्वान् विचारक द्वारा प्रस्तुत मूल्यांकन की ईमानदारी पर शक करना अनुचित है। मेरे सामने हिन्दी के जाने-माने विद्वान् प्राध्यापक डॉ० कन्हैयालाल सहल का निबन्ध-संग्रह 'मूल्यांकन' मौजूद है जिसमें साहित्य, भाषा और शोध से सम्बद्ध समय-समय पर छिटके विचार-स्फुलिंगों की चमक है। डॉ० सहल, प्रसाद साहित्य के विशेषज्ञ होने के साथ ही, भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के भी निष्णात पण्डित हैं। लेकिन उनका एक दूसरा पहलू भी है; वे राजस्थानी भाषा और संस्कृति के कुशल व्याख्याता भी हैं और इस संग्रह में उनके व्यक्तित्व के सिक्के के दोनों पहलू बखूबी उजागर हुए हैं। इस सिक्के के मूल्यांकन के बारे में मुझे कोई फैसला नहीं देना है। मैं इसे पाठकों के निर्णय पर ही छोड़ देना बेहतर समझूंगा।

यहाँ इतना जरूर कह दूं कि मूल्यांकन के बारे में खुद सहल जी का दृष्टिकोण समन्वयवादी जान पड़ता है। वे परम्परा और प्रयोग दोनों की गंगाजमुनी शैली के पक्ष में हैं और वैज्ञानिक दृष्टिकोण और मानवतावाद के बटखरे को अनुचित नहीं मानते। पर साहित्य में शाश्वत मूल्यों या गुणों की अवहेलना को

वे बरदाश्त नहीं कर सकते। उन्होंने अपनी यह कसौटी, संग्रह के पहले ही निबन्ध में पेश कर दी है।

अगले कई निबन्ध प्रसाद के विविध पक्षों से सम्बद्ध हैं जिनमें प्रसाद के नियतिवाद पर विस्तार से विचार किया गया है। इस सम्बन्ध में लेखक ने पश्चिमी दर्शन और बौद्ध दर्शन के परिप्रेक्ष्य में प्रसाद के नियतिवाद की परीक्षा की है और प्रत्यभिज्ञा दर्शन की नियति के साथ ही प्रसाद की नियति को जोड़कर देखने का प्रयास किया है। कहना न होगा कि नियति नटी के चक्रनृत्य का जो प्रदर्शन प्रसाद के नाटकों और काव्यों के मंच पर दिखाई पड़ता है, उसकी एक झलक सहलजी ने दिखाने की कोशिश की है। प्रसाद का नियतिवाद मूलतः रोमैंटिक कवियों के नियतिवाद से मिलता है, जहाँ नियति अपार सौंदर्य लिये हुए एक हाथ में अमृतकुंभ और दूसरे में विषघट लिए जीवन-समुद्र से उठती चित्रित की जाती है, वह आंग्ल कवि कीट्स के शब्दों में निष्करुण सुन्दरी (La Bela Dame Sans Merci) है और उसके सौन्दर्य-चक्र में फंसकर मानव की वही स्थिति होती है जो दीप-शिखा के प्रति आकृष्ट पतंग की। प्रसाद ने तो कहा ही है, "जलता है यह जीवन पतंग" पर प्रसाद का नियतिवाद दुःखवाद और निराशवाद से बढ़कर 'कामायनी' के आशावाद में परिणत होता दिखाई देता है जो पश्चिमी रोमैंटिक कवियों के यहाँ नहीं मिलता। यहाँ इतना और संकेत कर दिया जाय कि यह नियतिवाद काफ्का, सार्त्र और यास्पर्स जैसे अस्तित्ववादी दार्शनिकों के नियतिवाद से भी सर्वथा भिन्न है।

इस संग्रह में कुछ ऐसे भी निबन्ध हैं जो डॉ० सहल के प्राध्यापकीय व्यक्तित्व का संकेत करते हैं। साकेत, रत्नाकर तथा केशव से संवद्ध निबन्ध इसी कोटि के हैं। डॉ० सहल राजस्थानी भाषा और संस्कृति के प्रकांड पण्डित हैं और प्रस्तुत संग्रह के अधिकांश निबन्ध इस पक्ष को उद्घाटित करते हैं। इन निबन्धों में लोक-भाषा और लोकतत्व के अनेक तथ्य सर्वप्रथम हमारे सामने प्रस्तुत किये गये हैं। लोकवार्ता, लोककाव्य और मुहाविरों के वे विशेषज्ञ हैं। 'ऋग्वेद की लोकोक्तियाँ' शीर्षक उनका निबन्ध पाठक को नई जानकारी देता है जहाँ वे ऋग्वेद में लोकोक्तियों की खोज करते व उनकी अविच्छन्न परम्परा का संकेत करते हैं। लोक-साहित्य अपने आप में एक विशाल अध्ययन का क्षेत्र है। वह साहित्य के साथ ही मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, नृतत्व और पुराकथाशास्त्र के क्षितिजों का भी स्पर्श करता है। लोक-साहित्य की परम्परा एक अविच्छिन्न अवचेतन-परम्परा है, जिसमें संस्कृति-विशेष के अतीत का मानस लहराता मिलता हैं और जो वर्तमान और अनागत की जीवन-धारा को प्रवाहित करता रहता है। इस साहित्य के विशेषज्ञ के लिए न केवल उस संस्कृति-विशेष की भाषा के बाहरी ढांचे की जानकारी ही पर्याप्त है, बल्कि उसके

आत्मतत्व तक पैठने की क्षमता भी अपेक्षित है। उसे लोकवार्ता और लोककाव्य में प्रयुक्त अभिसंकेतों (मोटिफ) और प्रतीकों को समझना ही नहीं होगा वल्कि उनके विकास की कहानी भी कहनी होगी। उसे उस संस्कृति के रीति-रिवाजों, व्रत-त्योहारों, सामाजिक और नैतिक विधि-निषेधों का वैज्ञानिक विश्लेषण करना होगा और यह तभी हो सकेगा जब वह महज अध्यापक न रहकर जनजीवन की जीवन्त प्रकृति का निरीक्षक बन उसमें विचरण करे और किसी विशेष भाषाभाषी संस्कृति को समझने के लिए उस समाज के स्पंदन की हर उठती-गिरती लहर के साथ ताल देता रहे। डॉ० सहल के राजस्थानी खंड वाले निबन्धों में मुझे यही रूप देखने को मिला। मैं निदर्शन के तौर पर दो चार निबन्धों को गिना देना पर्याप्त समझूँगा—राजस्थानी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्परा, राजस्थानी चित्र-शैली, राजस्थानी साहित्य में राष्ट्रीय भावना, पाबूजी के पवाड़े और राजस्थानी लोक-कथाओं में सांस्कृतिक चेतना।

साहित्य को संस्कृति से जुदा करके कभी नहीं देखा जा सकता, इसलिए कि साहित्य अपना जीवनरस संस्कृति की भूमि से ही ग्रहण करता है और जो साहित्य अमरवेलि बन जाता है, वह संस्कृति के अपने अस्तित्व के लिए भी घातक सिद्ध होता है। संस्कृति स्थिर और रूढ़ वस्तु नहीं है। वह गत्वर प्रतिरूप है और इसकी गत्वरता के साथ साहित्य भी एक जगह ठहरा हुआ न रहकर आगे बढ़ता रहता है। डा० सहल के 'मूल्यांकन' शीर्षक निबन्ध-संग्रह में यह तथ्य प्रायः स्वीकृत मिलता है और इस अवमूल्यन के जमाने में मैं उनके 'मूल्यांकन' का मूल्यांकन और क्या कर सकता हूँ?

●●●

मन यदि बुद्धि का नियन्त्रण स्वीकार नहीं करें तो मनमानी होने लगती है किन्तु यदि हमारी मनोवृत्तियाँ विवेक द्वारा नियंत्रित रहें तो अनुशासन के उस रूप का प्रत्यक्षीकरण होने लगता है जहाँ मन बुद्धि का शासन स्वीकार कर लेता है।

—डॉ० कन्हैयालाल सहल

'विवेचन' और विवेचन

• डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना

'विवेचन' श्रीयुत प्रो० कन्हैयालाल सहल द्वारा लिखित समीक्षात्मक निबन्धों का संकलन है। इसमें विद्वान् लेखक ने विविध कवियों, लेखकों, काव्य-ग्रंथों, नाटकों, काव्यशास्त्रीय विषयों, भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तों आदि पर अपने स्वतंत्र एवं मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। कुल मिलाकर इस संकलन में चौबीस निबन्ध हैं, जो विद्वान् लेखक के गहन चिन्तन एवं मनन के द्योतक हैं और जिनमें बड़े तर्कपूर्ण ढंग से अपने मत उद्धृत करते हुए लेखक ने सर्वत्र संतुलन कायम रखा है। निबन्ध-कला स्वतः नीर-क्षीर विवेकिनी होती है और फिर समीक्षात्मक निबन्धों में तो और भी नीर-क्षीर-विवेक अपेक्षित होता है, क्योंकि कोई भी समीक्षक उस समय तक अपने संतुलित विचार प्रस्तुत नहीं कर सकता, जिस समय तक वह निष्पक्ष न हो, मर्मज्ञ न हो और किसी भी कवि या ग्रंथ को पूर्णतया समझने की क्षमता न रखता हो। इन निबन्धों का अनुशीलन करने पर स्पष्ट पता चल जाता है कि विद्वान् लेखक ने सर्वत्र निष्पक्ष भाव से अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं, विषय को भली प्रकार समझकर उस पर अपनी तर्कसम्मत राय दी है, कवियों की आत्मानुभूति में प्रवेश करके उनके गुणदोषों का विवेचन किया है, ग्रंथों को आद्योपान्त पढ़कर उनकी तुलनात्मक समीक्षा की है तथा अन्त में जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे पूर्णतया ग्राह्य एवं मान्य हैं।

'विवेचन' विविध प्रकार के आलोचनात्मक एवं विवेचनात्मक निबन्धों का संग्रह है। ये निबन्ध विषय-वैविध्य के साथ-साथ विचार-वैविध्य से भी ओत-प्रोत हैं और इनमें विद्वान् लेखक की रचनात्मक दृष्टि एवं स्वतंत्र चिन्तन-दृष्टि पग-पग पर दृष्टिगोचर होती है। इन निबंधों का अनुशीलन करने के लिए हम इन्हें निम्नलिखित शीर्षकों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) काव्यशास्त्रीय निबन्ध

(२) लेखक-सम्बन्धी निबन्ध

(३) रचना-सम्वन्धी निवन्ध

(४) भाषावैज्ञानिक निबन्ध

(५) मनोवैज्ञानिक निबन्ध

(६) संस्कृति-सम्वन्धी निवन्व

काव्यशास्त्रीय निबन्ध :

सहलजी ने चार काव्यशास्त्रीय निबंध लिखे हैं, जो 'रस-सिद्धान्त और कीथ', 'प्रसादजी और रस-सिद्धान्त', 'लांजीनस और भावोत्कर्ष' तथा 'संस्कृत के नाट्याचार्य और नाटक की तीन अन्वितियाँ' के नाम से 'विवेचन' में संकलित हैं। इनमें से 'रस-सिद्धान्त और कीथ' में सहलजी ने पाश्चात्य समीक्षकों की प्रमुख आपत्ति यह घोषित की है कि "भारतीय कविता जीवन से सम्बन्ध नहीं रखती, ब्रह्मानंद-सहोदर रस काव्य को एकांगी बना देता है। काव्य का सीधा सम्बन्ध जीवन के चित्रण से है, न कि रस की उद्भावना से।" इस आपत्ति पर अन्य लेखकों के विचार व्यक्त करके सहलजी ने ठीक ही लिखा है कि "भारतीय समीक्षा में रस-सिद्धान्त एक प्रकार से काव्यानंद का ही सिद्धान्त है। पाश्चात्य समीक्षा काव्यगत आनन्द और नीति के ऊहापोह में व्यस्त रही, किन्तु भारतीय आचार्यों ने आनन्द-पक्ष को इतनी ऊँची भूमि पर पहुँचा दिया था कि नीति-सम्बन्धी संशय के लिए इसमें स्थान ही नहीं रह गया। आनन्द-पक्ष के अन्तर्गत ही नैतिक पक्ष का भी समाधान हो गया। इन विशेषताओं के होते हुए, रस की कल्पना को एकांगी और संकीर्ण नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य समीक्षा भावपक्ष और कलापक्ष के समन्वय की समीक्षा में व्यस्त रही। बड़ी कठिनाइयों के बाद क्रोचे का अभिव्यंजनावाद वस्तु और रूप की एकता पर पहुँच सका, किन्तु भारतीय आचार्यों ने रस-सिद्धान्त के द्वारा रूप और वस्तु का समन्वय अधिक सुदृढ़ आधार पर किया है।"

सहलजी का दूसरा काव्यशास्त्रीय निबंध है—"प्रसादजी और रस-सिद्धान्त"। इसमें सहलजी ने सर्वप्रथम प्रसाद के गम्भीर एवं चिन्तन-प्रधान व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए उनकी विद्वत्ता, दार्शनिक दृष्टि एवं कवित्वमयी प्रतिभा का कितना सटीक निरूपण किया है कि "कविता, दार्शनिकता और विद्या की त्रिवेणी का प्रवाह-स्थल है प्रसाद का व्यक्तित्व। वे एक साथ ही कवि, दार्शनिक और पंडित थे।" तदनंतर प्रसाद के रस-सम्बन्धी विचारों का उद्घाटन करते हुए, आपने प्रसाद

की रस-सम्प्रदाय एवं अन्य काव्य-सम्प्रदाय-सम्बन्धी विचारधारा का तथ्यपूर्ण उल्लेख किया है। निश्चय ही प्रसाद की दृष्टि में रस-सम्प्रदाय आनन्दवादी धारा से प्रभावित है और 'अलंकार, रीति एवं वक्रोक्ति सम्प्रदाय विवेकवादी धारा से प्रभावित हैं।' आपने प्रसाद के रसानुभूति-सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करते हुए ठीक ही लिखा है कि प्रसाद की दृष्टि में 'रसानुभूति केवल सामाजिकों में ही नहीं, प्रत्युत नटों में भी होती है और कवि को भी रस का भागी माना गया है।' इस प्रकार साधारणीकरण के समय कवि, नट और सामाजिक अभेद भाव से एकरस हो जाते हैं। सहलजी का विचार ठीक ही है कि 'प्रसाद ने रस-सिद्धान्त की अपने ढंग से अनूठी व्याख्या की है', क्योंकि प्रसाद ने भारतीय साहित्य में दुःखान्त काव्यों के अभाव का कारण बताते हुए कितना तथ्यपूर्ण विचार व्यक्त किया है कि "संभवतः इसीलिए दुःखान्त प्रबंधों का निषेध भी किया गया, क्योंकि विरह तो उनके लिए प्रत्यभिज्ञान का साधन, मिलन का द्वार था। चिर-विरह की कल्पना आनन्द में नहीं की जा सकती। शैवागमों के अनुयायी नाट्यों में इसी कल्पित विरह या आवरण का हटाना ही प्रायः दिखलाया जाता रहा। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' इसका सबसे बडा उदाहरण है।" इस प्रकार प्रसाद का रस-सिद्धान्त शैवागमों के आनन्दवाद से पूर्णतया प्रभावित है। प्रसाद ने इसी रस-सिद्धान्त के काव्यात्मक पक्ष को अपनी 'कामायनी' के द्वारा अभिव्यक्त किया है और इस आनन्दवादी रस-सिद्धान्त का सैद्धान्तिक विवेचन अपने रस एवं रहस्यवाद सम्बन्धी निबंधों में किया है। रस-सिद्धान्त को आनन्दवादी रूप देने का मूल कारण यह है कि रस-निष्पत्ति-सम्बन्धी अभिव्यक्तिवाद के प्रणेता अभिनवगुप्ताचार्य आनन्दवादी एवं शैवाद्वैतवादी थे और रस-निष्पत्ति के बारे में अभिनवगुप्त का मत ही सर्वाधिक मान्य है। प्रसादजी भी अभिनवगुप्त के ही अनुयायी थे। इसीलिए प्रसाद ने अभिनवगुप्ताचार्य द्वारा प्रतिपादित रस की आनन्दवादी धारा का सर्वत्र समर्थन किया है।

सहलजी का तीसरा काव्यशास्त्रीय निबंध है—'लांजीनस और भावोत्कर्ष'। इसमें आपने लांजीनस के भावोत्कर्ष-सम्बन्धी विचारों को हिन्दी के पाठकों के सम्मुख रखकर अत्यंत लोकहितकारी कार्य किया है। आपने स्पष्ट लिखा है कि 'लांजीनस ही पहला समीक्षक था जिसने भावोत्कर्ष को शैली के उत्कर्ष तथा काव्य की भव्यता का साधन माना।' इतना ही नहीं, सहलजी एक सुयोग्य आचार्य भी हैं। अतः आपकी विवेचन-शैली में अध्यापकीय गुणों का होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि आपने लांजीनस के भावोत्कर्ष-सम्बन्धी विचारों को शीर्षकों में विभक्त करके इस प्रकार रखा है, जिससे पाठकों को सहज ही उनकी जानकारी हो जाय और शीर्षकों के माध्यम से वे लांजीनस के विचारों को अपनी स्मृति में भी स्थान

दे सकें। यही कारण है कि आपने लांजोनस के भावोत्कर्ष-सम्बन्धी विचारों को पाँच शीर्षकों के द्वारा व्यक्त किया है—(१) विषय की गरिमा, (२) भावावेश की तीव्रता, (३) अलंकारों का प्रयोग, (४) शब्द-विन्यास और (५) संगीतात्मक प्रभाव के अनुकूल शब्द-योजना। इतना ही नहीं, आपने अन्त में लांजीनस को रीति-सिद्धान्त का अनुयायी सिद्ध किया है, जो आपकी मौलिक चिन्तन-पद्धति एवं तथ्यपरक बुद्धि का परिचायक है।

सहलजी का चौथा काव्यशास्त्रीय निबंध है—'संस्कृत के नाट्याचार्य और नाटक की तीन अन्वितियाँ'। इसमें आपने अरस्तू के द्वारा प्रतिपादित कार्यान्विति (unity of action), समयान्विति (unity of time) तथा स्थानान्विति (unity of place) को संस्कृत के नाटकों में भी अपनाने का उल्लेख किया है। यह दूसरी बात है कि यूनानी आचार्य अरस्तू ने उक्त तीनों अन्वितियों के द्वारा अपने और ही विचार व्यक्त किए थे, परन्तु उन अन्वितियों का पूर्ण निर्वाह कोई नाटककार मुश्किल से ही कर पाया जिसकी ओर संकेत करते हुए सहलजी ने भी लिखा है कि "शेक्सपियर ने भी 'टेम्पेस्ट' तथा 'कमेडी ऑफ एरर्स' में अन्वितियों की रक्षा की है, किन्तु अपने अन्य नाटकों में उसने समय और स्थान के ऐक्य की ओर ध्यान नहीं दिया। आधुनिक हिन्दी साहित्य के नाटकों में भी, एकांकियों को छोड़कर, समय और स्थान की एकता पर ध्यान नहीं दिया गया है। हां, कार्य की एकता अवश्य सभी प्रकार की कथात्मक कला-कृतियों के लिए आवश्यक है, चाहे वे नाटक हों, चाहे उपन्यास, चाहे प्रबंध-काव्य हों या आख्यायिकाएँ।" सहलजी का विचार है कि संस्कृत-नाटकों में तीनों अन्वितियों का पूर्ण ध्यान रखा गया है, क्योंकि यहाँ नाटकों की पाँच कार्यावस्थाओं, पाँच अर्थ-प्रकृतियों तथा पाँच संधियों में कार्य-सम्बन्धी अन्विति पूर्णतया विद्यमान रही है। ऐसे ही सूच्य कथाओं के लिए प्रयुक्त प्रवेशक, विष्कम्भक आदि में हमें समयान्विति के दर्शन मिल जाते हैं और स्थानान्विति के बारे में सहलजी का विचार है कि यहाँ 'स्थानगत ऐक्य की ओर भी संस्कृत नाट्याचार्यों ने ध्यान दिया था। उनके मतानुसार एक अंक में जिन दृश्यों का समावेश किया गया हो, उनमें इतना अंतर न हो, इतनी दूरी उनके बीच में न हो कि नायक निर्दिष्ट समय में वहाँ तक पहुँच ही न सके। किन्तु यदि नायक के पास पुष्पक-विमान जैसा वायुयान हो तो फिर दूरी चाहे जितनी हो।' इस तरह सहलजी ने संस्कृत के नाटकों में तीनों अन्वितियों की समायोजना दिखाकर एक अत्यंत उपयोगी कार्य किया है, जिससे न केवल भारतीय पाठकों का ज्ञानवर्द्धन होता है, अपितु भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तों में समन्वय की भी स्थापना होती है।

लेखक-सम्बन्धी निबंध :

सहलजी ने विभिन्न कवियों एवं लेखकों पर भी निबंध लिखे हैं, जिनमें से इस 'विवेचन' संकलन में केवल आठ निबंध संकलित हैं—(१) रहस्यवाद की भारतीय परम्परा और कबीर का रहस्यवाद, (२) प्रसादजी का नियतिवाद, (३) उर्मिला का विरह-वर्णन और गुप्तजी के साथ पत्राचार, (४) कबीर और माधुर्य, (५) गत्यात्मक रहस्यवाद, (६) सांस्कृतिक संत-कवि तुलसीदास, (७) बिहारी एक विश्लेषण: सतसई की परम्परा और (८) डॉ० नगेन्द्र और उनकी भावकता। इनमें से 'रहस्यवाद की भारतीय परम्परा और कबीर का रहस्यवाद' में सहलजी ने पहले तो जयशंकरप्रसाद से सहमत होकर रहस्यवाद को पूर्णतया भारतीय स्वीकार किया है और वैदिककाल से लेकर आज तक प्रचलित रहस्यवाद की धारा के अविच्छिन्न रूप का उल्लेख किया है। तदनंतर रहस्यवादी कवि की स्थिति का विवेचन करते हुए आपने ठीक ही लिखा है कि "रहस्यवादी एक प्रकार से दो लोकों का नागरिक होता है; भौतिक लोक में वह शरीर द्वारा रहता है तो मन उसका आध्यात्मिक लोक में रमता है। भौतिक जगत् के सामने वह आध्यात्मिक जगत् को उपस्थित करता है।" अपनी इसी मान्यता के आधार पर फिर सहलजी ने कबीर को जनता का कवि स्वीकार किया है और कबीर की रहस्यभावना का स्पष्टीकरण करते हुए आपने लिखा है कि "कबीरदास की सम्भवतः सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आध्यात्मिक लोक के जीव होते हुए भी, वे इस लोक को कभी भूलते नहीं। आसमान की ओर देखते हुए भी, उनके पैर हमेशा जमीन पर दृढ़ता से टिके रहते हैं; उनकी दृष्टि इतनी अन्तर्भेदिनी और सर्वव्यापिनी है कि वे भौतिक और आध्यात्मिक दोनों को उसी चरम सत्य की अभिव्यक्ति मानते हैं।" कबीर की रहस्यभावना का इससे सुन्दर स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। तत्पश्चात् आपने 'प्रसादजी का नियतिवाद' निबंध में प्रसाद के नियतिवाद-सम्बन्धी विचारों का बड़ी सरलता एवं तत्परता के साथ निरूपण किया है। इस निबंध में आपने श्री रायकृष्णदासजी का वह पत्र भी अविकल रूप से उद्धृत कर दिया है, जिसमें उन्होंने अपने एक मित्र के प्रसादजी के नियतिवाद-सम्बन्धी विचारों का उद्घाटन किया है। तदनंतर सहलजी का यह निष्कर्ष बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है कि 'पश्चिम के साहित्य में जहाँ नियति का क्रूर रूप दिखलाई पड़ता है, वहाँ प्रसाद के साहित्य में वह प्रकृति की नियामिका शक्ति के रूप में प्रकट हुई है, जो विश्वभर के हित को लक्ष्य में रखकर प्रवृत्त होती है।' साथ ही यह निर्विवाद सत्य है कि प्रसाद का नियतिवाद, भाग्यवाद या प्रारब्धवाद नहीं है और न इसे विजयवाद ही कह सकते हैं। अतः सहलजी का यह विचार भी तथ्यपूर्ण है कि "वर्तमान विजयवाद (optimism) ने भी चाहे प्रसाद के नियति-सिद्धान्त को पुष्ट किया हो, किन्तु

प्रसादीय विचारधारा का सम्यक् अनुशीलन करने पर वैदिक तथा काश्मीर शैवागमों के आनन्दवाद की छाप ही उस पर स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। हाँ, यह सच है कि प्रसादजी का नियतिवाद निष्क्रियता और निश्चेष्टता की ओर नहीं ले जाता, बल्कि उससे कर्म करने की प्रेरणा मिलती है। वह कोई ऐसा भाग्यवाद या प्रारब्धवाद नहीं, जो पुरुषार्थ के प्रतिकूल पड़ता हो।" निस्संदेह प्रसाद के नियतिवाद का यही स्वरूप है और इसी का वर्णन उनके सम्पूर्ण साहित्य में मिलता है।

सहलजी ने 'उर्मिला का विरह-वर्णन और गुप्तजी के साथ पत्राचार' नामक अपने निबंध में उर्मिला की विरह-व्यथित मनोवेदना का विश्लेषण करते हुए संसार के सत्य का इस तरह उद्घाटन किया है कि जब मनुष्य पर विपत्ति के बादल टूट पड़ते हैं, तब वह कभी-कभी यह कहता देखा गया है कि हे भगवान्! जैसा कष्ट तूने मुझे दिया है, वह और किसी को न देना। यह एक जीवन का बड़ा भारी तथ्य है कि दुःख पड़ने पर मनुष्य की वृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं।" इसी तथ्य के आधार पर आपने उर्मिला के विरह का मनोवैज्ञानिक निरूपण करके ठीक ही निष्कर्ष निकाला है कि 'गुप्तजी ने उर्मिला के विरह-वर्णन में जो नूतन परिपाटी ग्रहण की है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है। उर्मिला स्वयं दुःख उठा लेना चाहती है, किन्तु दूसरे को तनिक भी दुखी नहीं करना चाहती।' तत्पश्चात् आपने गुप्तजी का भी एक पत्र अविकल रूप से उद्धृत कर दिया है, जिसमें गुप्तजी ने उक्त विचार का समर्थन किया है। इसके पश्चात् 'कबीर और माधुर्य' नामक निबंध में सहलजी ने कबीर की सधुक्कड़ी एवं पंचमेल खिचड़ी जैसी भाषा में भी माधुर्य की शीतल पयस्विनी को प्रवाहित देखा है और स्पष्ट लिखा है—"सांसारिक माया-जाल में फँसे हुए, आसक्त जीवों की सच्ची प्रवृत्ति का सुन्दर चित्रण करने वाले हे कबीर! धन्य है तुझे! कर्कश और कर्ण-कटु शब्दों का कितना भी बाहुल्य तुम्हारी कविता में क्यों न हो, किन्तु भक्त और अनुभवी व्यक्ति जब अपने हृदय में तुम्हारे भावों की मधुर प्रतिध्वनि सुनेंगे, तब जिस माधुर्य का आस्वादन वे कर सकेंगे, उसकी बराबरी तो कोई भी सानुप्रास-कविता-जन्य माधुर्य शतांश में भी न कर सकेगा।" तदनंतर 'गत्यात्मक रहस्यवाद' नामक निबंध में सहलजी ने रहस्यवाद के गत्यात्मक स्वरूप का क्रमिक इतिहास प्रस्तुत करते हुए, कबीर के गत्यात्मक रहस्यवाद पर अत्यंत मार्मिक विचार व्यक्त किये हैं—"गत्यात्मक रहस्यवाद का विवेचन करते समय हम कबीर को भी नहीं भुला सकते। शून्यवादी होने के कारण कुछ लोग कबीर को अभाववादी ठहरा दिया करते हैं, किन्तु उन्हें यह समझ रखना चाहिए कि कबीर का शून्यवाद निषेधात्मक नहीं है, वह भावात्मक है अथवा उनका शून्यवाद वह चरमस्थिति है, जहाँ भाव और अभाव के द्वन्द्व विगलित हो जाते हैं। दूसरे, कबीर के सम्बन्ध में

सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे निरे रहस्यवादी ही नहीं, रहस्यवादी होने के साथ-साथ, बड़े भारी समाज-सुधारक भी थे। यही कारण है कि उनके रहस्यवाद में प्रवृत्त्यात्मकता और सक्रियता का अंश बहुत बड़े परिमाण में उपलब्ध होता है। ब्रह्मज्ञानी होते हुए भी, वे अपने पेशे से विमुख नहीं थे।" यही है कबीर की गत्यात्मक रहस्यात्मकता, जो युगयुगान्तर तक कबीर का स्मरण कराती रहेगी।

सहलजी ने 'सांस्कृतिक कवि तुलसीदास' नामक निबंध में गोस्वामी तुलसीदास पर अपने महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट करते हुए, गोस्वामीजी को "तपस्या की ज्वाला में विकसित जीवन-पुष्प" कहा है और बतलाया है कि "संत कवि तुलसीदास का समस्त जीवन संघर्षों की ज्वाला से आलोकित है; ऐसी ज्वाला से, जिसके कारण जीवन-मंदिर में ज्ञान-ज्योति की अखण्ड लौ जलती रहती है।" इसके साथ ही तुलसी के समन्वयवादी दृष्टिकोण का उद्घाटन करते हुए स्पष्ट लिखा है कि "तुलसीदास का समूचा जीवन और दर्शन समन्वय की विराट् चेष्टा है।" कबीर आदि निर्गुण संतों की भाँति, तुलसी की प्रतिभा खण्डनात्मक नहीं, वह रामकृष्ण परमहंस तथा महात्मा गांधी की तरह समन्वयात्मक तथा रचनात्मक है।" तुलसी का सर्वाधिक आकर्षक रूप उनका लोक-पक्ष रहा है, क्योंकि वे लौकिक समस्याओं के प्रति सदैव जागरूक रहे थे। साथ ही उन्होंने राम के माध्यम से एक सांस्कृतिक क्रान्ति को भी जन्म दिया था। इसी तथ्य का उद्घाटन करते हुए, सहलजी ने बड़े मर्मस्पर्शी शब्दों में स्पष्ट लिखा है कि "राम के रूप में तुलसीदास को एक ऐसा भव्य आदर्श हाथ लग गया था, जिसके कारण वह संत-कवि इतनी महान् सांस्कृतिक क्रान्ति की अवतारणा कर सका। संस्कृति का अर्थ यदि छन-छन कर आये हुए श्रेष्ठ सस्कारों का समुच्चय है और क्रान्ति का अर्थ यदि किसी की विचारधारा और उसकी कृतियों का व्यापक प्रभाव है तो तुलसीदास निस्संदेह ऐसे क्रान्तिकारी सांस्कृतिक संत-कवि थे, जिनकी समता दुर्लभ है।" तुलसी का यही वास्तविक मूल्यांकन है, जो उनकी गरिमा एवं महिमा का सही चित्र पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। तत्पश्चात् सहलजी ने अपने 'बिहारी एक विश्लेषण : सतसई की परम्परा' नामक निबंध में कवि बिहारी तथा सतसई का मूल्यांकन करते हुए, कविवर बिहारी के गुणदोषों का भी विवेचन किया है। सहलजी का विचार है कि 'बिहारी ने जिस सौंदर्य का वर्णन किया है, उसमें ऐन्द्रियता ही प्रधान है। वहाँ न काम-भावना का उन्नयन है और न किसी प्रकार की आध्यात्मिकता का आरोप। इसीलिए बिहारी के सौंदर्य-वर्णन में कृत्रिमता का अभाव है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सतसई में काव्योचित संयम नहीं मिलता। सतसई मूलतः ध्वनि-काव्य है और उसकी व्यंजनाएँ अनूठी हैं।" बिहारी की सतसई की अनुपमता एवं अलौकिकता का उल्लेख करते हुए,

सहलजी ने आगे चलकर यह भी लिखा है कि 'बिहारी सतसई का हिन्दी-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान है। क्या भाषा, क्या भाव, और क्या शैली, सभी दृष्टियों से वह एक अनुपम कृति है। दोहे जैसे छोटे छंद में जो पच्चीकारी इस कवि ने की है, वह उसकी प्रतिभा का ज्वलंत उदाहरण है।' इस प्रकार सहलजी ने बिहारी तथा उनकी सतसई का तथ्य-मूलक रुचिर विश्लेषण किया है।

तत्पश्चात् उन्होंने 'डॉक्टर नगेन्द्र और उनकी भावकता' नामक निबंध में डॉक्टर नगेन्द्र के विचारों का मूल्यांकन करते हुए, उनके साधारणीकरण सम्बन्धी विचारों की कितनी सटीक व्याख्या की है कि "उदात्त चरित अथवा पूँजीपति— सत् अथवा असत् के तादात्म्य का प्रश्न उठाकर डॉ० नगेन्द्र साधारणीकरण को बहुत नीचे स्तर पर ले आते हैं।" सहलजी ने संस्कृत के आचार्यों के मतों को उद्धृत करके यह स्पष्ट किया है कि 'रस-दशा तन्मयता की सात्विक अवस्था है, जिसके विशेष स्पष्टीकरण के लिए सांख्यदर्शन का आश्रय ग्रहण करना होगा। रस की दशा तो तन्मयता का वह पारावार है, जिसमें न जाने कितने सत्-असत्, सुख तथा दुःख डूबे रहते हैं।' अपनी अकाट्य युक्तियों द्वारा सहलजी ने यद्यपि डॉ० नगेन्द्र के साधारणीकरण-सम्बन्धी विचारों की निरर्थकता सिद्ध कर दी है, तथापि सहलजी का सौम्य स्वभाव एवं उनकी विनम्रता किसी भी विद्वान् का निरादार करना उचित नहीं समझती। इसीलिए आपने अंत में यह भी लिख दिया है कि "हाँ, यह हमें निस्संदेह स्वीकार करना होगा कि नगेन्द्रजी के विवेचन का अपना स्वतंत्र महत्त्व अवश्य है।"

रचना-सम्बन्धी निबंध :

'विवेचन' निबंध-संग्रह में सहलजी के आठ निबंध विविध साहित्यिक रचनाओं पर भी मिलते हैं, जिनमें विद्वान् लेखक ने साहित्य की विविध अमूल्य कृतियों एवं उनमें विद्यमान विचारों पर अपने बहुमूल्य मत दिये हैं। ये निबंध हैं— (१) जनमेजय का नागयज्ञ और नियतिवाद, (२) नियतिवाद और अजातशत्रु, (३) 'देवीचन्द्रगुप्तम्' का आनुमानिक कथानक, (४) करुणा और स्कंदगुप्त, (५) ध्रुवस्वामिनी–एक समीक्षा, (६) 'स्कंदगुप्त' में पदाधिकार-सम्बन्धी शब्द, (७) 'कामायनी' का अद्वैत और (८) 'गुञ्जन' के त्रिविध पक्ष। इनमें से 'जनमेजय का नागयज्ञ और नियतिवाद' नामक निबंध में सहलजी ने प्रसाद के नियति-सम्बन्धी विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए पुनः लिखा है कि 'नियति को अपने सिद्धान्त के अनुसार प्रसाद ने अखिल ब्रह्मांड की नियंत्रणकारिका शक्ति कहा है। जनमेजय के नागयज्ञ में तो उन्होंने नियति के चक्र को ब्रह्म-चक्र कहा है, जो

आप ही अपना कार्य करता रहता है।""प्रसाद का नियतिवाद निष्क्रियता और निश्चेष्टता की ओर उन्मुख नहीं करता। उनके नाटकीय पात्र जो नियति में विश्वास रखते हैं, कभी निश्चेष्ट नहीं रहते। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में वेदव्यास और जनमेजय सबसे बड़े नियतिवादी हैं, किन्तु उनमें से कोई भी न निश्चेष्ट होकर बैठता है और न कोई निश्चेष्टता का उपदेश ही देता है।" इसी प्रकार सहलजी ने अपने "नियति और अजातशत्रु" नामक निबंध में नियतिवाद को भाग्यवाद से सर्वथा पृथक् मानकर नियतिवाद को कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ़ होने की प्रेरणा देने वाला सिद्ध किया है। आपने स्पष्ट लिखा है कि "भाग्यवाद मनुष्य को निराशा की ओर ले जाता है, किन्तु प्रसाद का नियतिवाद कर्त्तव्यपथ पर आरूढ़ होने के लिए हमें प्रेरित करता है।" इसका कारण यह है कि नियति विश्व की नियामिका शक्ति है और "उसमें एक व्यवस्था है, एक क्रम है और विश्व को सही रास्ते पर ले जाने की शक्ति है; चाहे इस शक्ति को नियति की रहस्यात्मकता के कारण हम समझ न सकें।"

सहलजी ने "'देवीचन्द्रगुप्तम्' का आनुमानिक कथानक" नामक अपने निबंध में 'नाट्य-दर्पण' तथा 'शृंगार-प्रकाश' नामक ग्रंथों के आधार पर 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के नाटक का एक आनुमानिक कथानक प्रस्तुत किया है। इसके आधार पर आपने चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के जीवन-चरित की महत्त्वपूर्ण बातों को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है और 'ध्रुवस्वामिनी' के ऐतिहासिक कथानक का अन्वेषण किया है। सहलजी ने अपने 'करुणा और स्कंदगुप्त' नामक निबंध में पहले तो राखालदास कृत 'करुणा' उपन्यास और प्रसाद कृत 'स्कंदगुप्त' नाटक का कथानक दिया है। इसके उपरान्त सहलजी ने 'करुणा' तथा 'स्कंदगुप्त' के कथानक में विद्यमान असमानताओं का निरूपण किया है और दोनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए बतलाया है कि 'करुणा' में जो करुणा है, वही 'स्कंदगुप्त 'में देवसेना है, 'करुणा' में जो चन्द्रसेन है, वही नाटक में भटार्क है, उपन्यास में जो वृद्धभद्र है, वही नाटक में प्रख्यातकीर्ति है तथा उपन्यास में स्कंदगुप्त की मृत्यु का झूठा समाचार पाकर करुणा सती हो जाती है, जब कि नाटक में देवसेना परिस्थिति-वश स्कंदगुप्त के विवाह-प्रस्ताव को ठुकरा देती है।' इस प्रकार सहलजी ने 'करुणा' उपन्यास तथा 'स्कंदगुप्त' नाटक के कथानक का अत्यंत सजीवता एवं तत्परता के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

सहलजी ने 'ध्रुवस्वामिनी–एक समीक्षा' नामक निबंध में 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की एक विशद समीक्षा प्रस्तुत की है। इसमें सहलजी ने नाटक के कथानक, चरित्र-चित्रण, गीत एवं अभिनेयता पर ही अपने विस्तृत विचार व्यक्त किए हैं।

'ध्रुवस्वामिनी' की कथा में धूमकेतु के प्रसंग ने नाटकीय कौशल के साथ-साथ करुणरस को भी तीव्रतर बनाया है। साथ ही यह प्रसंग नाटकीय व्यंग्य का भी अत्यंत उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित करता है। विद्वान् लेखक ने यह शंका ठीक ही उपस्थित की है कि 'कोमा के निश्छल प्रेम को ठुकराने वाले शकराज के वध द्वारा काव्य-न्याय का निर्वाह हो जाता है, यह हम स्वीकार कर सकते हैं; किन्तु रह-रह कर यह प्रश्न अवश्य उठता है कि कोमा और मिहिरदेव का निर्मम वध कौन से न्याय द्वारा हुआ है ?" नाटक की हास्य-योजना का उल्लेख करते हुए सहलजी ने स्पष्ट लिखा है कि प्रसाद के नाटकों में हास्य की योजना में कोई मौलिकता दिखाई नहीं देती, क्योंकि प्रसाद का युग ही ऐसा था। "प्रसाद ने स्वयं स्वीकार किया है कि वर्तमान युग में जहाँ रोने से ही फुरसत नहीं, विनोद का समाज में नाम ही नहीं, वहाँ उसका उत्तम रूप कहाँ से दिखाई दे।" सहलजी की यह मान्यता सर्वथा ग्राह्य है कि "चरित्र-चित्रण में प्रसादजी को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। उनके नाटकों में प्रायः देखा जाता है कि असत् की पृष्ठ-भूमि में एक सत्पात्र रख दिया जाता है जिससे सत्पात्र का गौरव निखर उठता है और असत् पात्र की दुष्प्रवृत्तियाँ प्रकाश में आती हैं।" गीतों के बारे में सहलजी ने ठीक ही स्वीकारा है कि वे "पात्रों की मनोदशा तथा परिस्थिति के अनुरूप हैं।" साथ ही नाटक पूर्णतया अभिनेय हैं। सहलजी का यह अध्ययन 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की व्यापक एवं विशद समीक्षा प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त "कामायनी का अद्वैत" नामक निबंध में सहलजी ने प्रसाद के दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि प्रसाद ने 'कामायनी' की रचना शैवागमों की दार्शनिक भित्ति पर की है। सहलजी ने उस दार्शनिक भित्ति का विशद विवेचन तो नहीं किया है, परन्तु प्रसाद के अद्वैत या अभेद-सम्बन्धी जो विचार व्यक्त किए हैं, वे पूर्णतः प्रभावशाली हैं। उनका यह विवेचन बड़ा ही मार्मिक है कि "कहो उसे जड़ या चेतन" को लेकर यदि कोई यह प्रश्न उपस्थित करना चाहे कि प्रसाद जड़ के उपासक थे अथवा चेतन के ? तो मैं समझता हूँ, यह कहना उचित होगा कि प्रसाद, विशेषतः 'कामायनी' के प्रसाद, उस तत्त्व के उपासक थे, जिसमें जड़ और चेतन का भेद ही तिरोहित हो जाता है।" वही प्रसाद का अद्वैत है, वही प्रसाद का अभेद है और वही प्रसाद का ब्रह्म है।

'स्कंदगुप्त में पदाधिकार-सम्बन्धी शब्द' नामक निबंध में सहलजी ने केवल उन शब्दों की सूची दी है, जिनका प्रयोग प्रसाद ने 'स्कंदगुप्त' नाटक में किया है तथा जो तत्कालीन पदाधिकारों से सम्बन्धित हैं। सहलजी ने उन शब्दों की व्याख्या भी की है और साथ ही यह भी बतलाया है कि इन शब्दों के माध्यम से प्रसाद ने

तत्कालीन वातावरण की सृष्टि करके 'स्कंदगुप्त' नाटक की ऐतिहासिकता को अक्षुण्ण बनाये रखने का स्तुत्य कार्य किया है। इसके अतिरिक्त 'गुंजन के त्रिविध पक्ष' नामक निबंध में सहलजी ने कविवर सुमित्रानंदन पंत के 'गुंजन' काव्य-संग्रह की मार्मिक समीक्षा की है। आपने 'गुंजन' के भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष का विवेचन करते हुए स्पष्ट घोषणा की है कि "गुंजन के भाव-पक्ष पर विचार करते समय हमें इस बात को ध्यान में रखना होगा कि 'पल्लव' की कविताओं में जो सहज काव्योन्मेष मिलता है, वह 'गुंजन' की कविताओं में नहीं है। 'गुंजन' में शुष्क उपदेशात्मकता और दार्शनिकता ही अधिकांश कविताओं में मिलती है, जिसके कारण चिन्तन अनुभूति को दबा लेता है और कविताओं के अर्थ को हृदयंगम करने के लिए बुद्धि का व्यायाम ही अधिक करना पड़ता है। 'गुंजन' में आवेश नहीं, आयास अधिक है।" ऐसे ही आपने पंत के 'गुंजन' गत कला-पक्ष का निरूपण करते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'कल्पना की प्रचुरता भी पंतजी की पहले की कृतियों में जितनी है, उतनी 'गुंजन' में नहीं है।" इस प्रकार सहलजी ने अपनी संक्षिप्त समीक्षा के अंतर्गत 'गुंजन' काव्य का मूल्यांकन करके, उसके भाव-पक्ष, विभाव-पक्ष तथा कला-पक्ष का सयम्क् निरूपण किया है।

भाषावैज्ञानिक निबंध :

सहलजी के निबंध-संग्रह 'विवेचन' में उनके दो ऐसे निबंध भी संकलित हैं, जो भाषाविज्ञान से सम्बन्वित हैं तथा जिनमें सहलजी ने भाषाविज्ञान के कतिपय नियमों एवं सिद्धान्तों पर अपने मौलिक विचार व्यक्त किए हैं। ये निबंध हैं—(१) सादृश्य का सिद्धान्त और (२) भेदीकरण का नियम। इनमें से 'सादृश्य का सिद्धान्त' नामक निबंध में आपने पहले तो इस नियम के ऐतिहासिक महत्त्व का दिग्दर्शन कराया है और बताया है कि पहले इसे 'मिथ्या सादृश्य का नियम' कहकर कुत्सित दृष्टि से देखा जाता था, इसकी अवहेलना की जाती थी और इसे कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था; परन्तु यह नियम बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि 'सादृश्य केवल स्मरण-शक्ति को ही सहायता नहीं पहुँचाता, इसके द्वारा नये-नये शब्द भी गढ़ लिये जाते हैं।' इतना ही नहीं, आपने सादृश्य के उन दो उपकरणों की ओर भी संकेत किया है, जो सादृश्य के अत्यंत अभिन्न सहयोगी होते हैं तथा जो सादृश्य को सदैव सहायता प्रदान किया करते हैं। सहलजी ने उन दो उपकरणों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "स्मृति द्वारा पुनः सृजन तथा साहचर्य द्वारा अभिनव सृष्टि—ये दो सादृश्य के अनिवार्य उपकरण हैं।" आगे चलकर आपने सादृश्य पर निर्मित शब्दों के उदाहरण देकर अपने मत की पुष्टि भी की है। जैसे, 'बेफायदा' के सादृश्य पर कभी-कभी लोग 'बेफ़जूल' तक का प्रयोग भी करते देखे गये हैं।

'कीधो' के सादृश्य पर 'दीधो' आदि शब्द बना लिये जाते है।' इतना ही नहीं, आपने तो यहाँ तक सादृश्य का बोलबाला बतलाया है कि 'अंग्रेजी का एक शब्द है– 'Banyan tree' जिसका अर्थ होता है बरगद का पेड़। बनिये लोग (व्यापारी वर्ग) बहुत बड़ी संख्या में इस पेड़ के नीचे बैठा करते थे। इससे यह बनियों का पेड़ हो गया। 'Aryan' आदि शब्दों के सादृश्य पर 'Banyan' शब्द भी गढ़ लिया गया।'

सहलजी का दूसरा भाषावैज्ञानिक निबंध है—"भेदीकरण का नियम।" यह नियम बौद्धिक नियमों के अंतर्गत आता है और इसका सम्बन्ध अर्थ-विज्ञान से है। आपका मत है कि 'पहले जहाँ भेद न हो, वहाँ भेद स्थापित कर लेने के अर्थ में 'भेदीकरण' शब्द का प्रयोग होता है।' इस व्याख्या को और भी स्पष्ट करने के लिए आपने कतिपय उदाहरण दिये हैं। इसके लिए आपने 'तात' शब्द से ही चाचा, ताऊ, दादा आदि शब्दों का विकास सिद्ध किया है। आपका विचार है कि 'तात' के स्थान में 'ताच' हुआ, किन्तु 'ताच' के उच्चारण करने में कठिनाई होती है, इसलिए पर-सावर्ण्य द्वारा 'चाच' या चाचा हो गया। 'तात' के स्थान में 'ताद' और फिर पर-सारूप्य द्वारा 'दादा' बन गया। 'तात' से 'ताअ' हुआ, फिर 'ताअ' से 'ताऊ' हो गया।' ऐसे ही आपने 'बाबा' शब्द से बाप, बापू, बापा, बाबू आदि का विकास सिद्ध किया है और फिर केवल अर्थ-भेद से ही शब्द-भेद करने की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। इस प्रकार आपने भाषाविज्ञान के इस महत्त्वपूर्ण बौद्धिक नियम पर संक्षेप में ही बड़े तात्त्विक ढंग से विचार प्रकट किये हैं।

मनोवैज्ञानिक निबंध :

सहलजी के निबंध-संग्रह 'विवेचन' में एक 'मानसिक स्वास्थ्य और गीता' नामक मनोवैज्ञानिक निबंध भी संकलित है। इस निबंध में आपने सर्वप्रथम मानसिक स्वास्थ्य-सम्बन्धी आन्दोलन के क्रमिक विकास का इतिहास प्रस्तुत किया है और बतलाया है किस प्रकार १९०८ ई० में क्लिफर्ड डबल्यू० बीयर्स ने इस आन्दोलन को गति प्रदान की थी और किस प्रकार ६ मई, १९०८ ई० में 'मानसिक स्वास्थ्य' सम्बन्धी पहली सभा की स्थापना हुई, जो १९०९ ई० में किस तरह 'राष्ट्रीय समिति' का अंग बन गई। १९३० ई० में वाशिंगटन के अंतर्गत मानसिक स्वास्थ्य-सम्बन्धी प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस हुई, जिसमें ५३ देशों ने भाग लिया। तदनंतर आपने मानसिक स्वास्थ्य के विस्तृत क्षेत्र पर प्रकाश डाला है और 'शारीरिक कष्ट, मानसिक वेदना, घोर दारिद्रय, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का संघर्ष, सामाजिक अपमान, ईर्ष्या-द्वेष, धार्मिक द्वन्द्व, प्रेमियों का वैषम्य' आदि को इससे सम्बन्धित सिद्ध किया

है। इसके उपरान्त आपने गीता के 'अर्जुन विषाद-योग' नामक प्रथम अध्याय को अर्जुन के 'मानसिक स्वास्थ्य' के खोजाने से सम्बन्धित बतलाया है तथा गीता के अंतिम अध्याय में जब कृष्ण अर्जुन से यह पूछते हैं कि 'हे अर्जुन ! यह तूने एकाग्र-चित्त से सुना ? हे धनंजय ! इस अज्ञान के कारण जो मोह तुझे हुआ था, वह क्या नष्ट हो गया ?' तब अर्जुन यही कहता है कि 'हे भगवन् ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है, मुझे समझ आ गई है; शंका का समाधान हो जाने से मैं अब स्वस्थ हो गया हूँ, आपका कहा करूँगा।" इन दोनों उपक्रम एवं उपसंहार से यह स्पष्ट पता चल जाता है कि 'गीता में मानसिक स्वास्थ्य की समस्या का पूर्णतया समाधान किया गया है।'

तदनंतर आपने गीता के आधार पर ही यह बतलाया है कि मानसिक स्वस्थता प्राप्त करने के लिए बुद्धि को स्थिर करना चाहिए और उस बुद्धि के लिए आपने तीन रूप स्थिर किए हैं—(१) विवेक, (२) एकाग्रता या भक्ति और (३) दृढ़ संकल्प। जो बुद्धि सत् और असत् में विवेक स्थापित करती है, वह ज्ञान की ओर ले जाती है। जो बुद्धि एक ही वस्तु पर ध्यान को केन्द्रित रखती है, वह भक्ति की ओर उन्मुख कर देती है तथा जिस बुद्धि का सम्बन्ध दृढ़ संकल्प अथवा निश्चय से होता है, वह मानव को दृढ़निश्चयी बना देती है।' आपने इसके पश्चात् मानसिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक बातों का उल्लेख करते हुए, यह सिद्ध किया है कि वे सभी बातें गीता में मिल जाती हैं। आपने स्पष्ट लिखा है कि "आधुनिक मनोविज्ञान मानसिक स्वास्थ्य के लिए सन्तुलन, साम्य, समत्व, आनुरूप्य आदि को आवश्यक समझता है। गीता में ये सब भाव रत्नों की भाँति बिखरे पड़े हैं।" इस प्रकार आपने मानसिक स्वास्थ्य के लिए अपेक्षित उपकरणों की ओर संकेत करके उनको प्राप्त करने के लिए गीता के अध्ययन पर बल दिया है तथा यह समझाया है कि गीता शास्त्र मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए अमूल्य एवं अद्वितीय ग्रंथ है।

संस्कृति-सम्बन्धी निबंध :

सहलजी के निबंध-संग्रह 'विवेचन' में एक संस्कृति-सम्बन्धी निबंध भी संकलित है, जो 'संस्कृति क्या है' के नाम से लिखा गया है और जिसमें संस्कृति की सम्यक् समीक्षा की गई है। आपने संस्कृति की परिभाषा करते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'जिस प्रकार खेती के लिए जमीन तैयार करते समय कंकड़, पत्थर और अनावश्यक वस्तुओं को दूर कर दिया जाता है ताकि उसमें बीज डालने पर उचित फसल हो सके, उसी प्रकार मनुष्य के स्वभाव में, उसकी मनोवृत्तियों में जो संस्कार, जो परिमार्जन होता है, उसे संस्कृति कहते हैं।' तत्पश्चात् आपने संस्कृति और सभ्यता के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'संस्कृति अन्दरूनी वस्तु है जबकि

सभ्यता उसकी बाह्य अभिव्यक्ति है। सभ्यता यदि देह है, तो संस्कृति है देह के भीतर रहने वाला प्राण।' 'संस्कृति आन्तरिक वस्तु है और सभ्यता है बाह्य वस्तु। सभ्यता यदि पुष्प है तो संस्कृति है उसके अन्दर रहने वाली सुगन्धि।' 'जिस योग्यता व बुद्धि के बल पर आग तथा सुई-धागे का आविष्कार हुआ, उस योग्यता को तो व्यक्ति-विशेष की संस्कृति समझिए और जो आविष्कार हुआ, उसे समझिए सभ्यता।' इन उद्धरणों से संस्कृति और सभ्यता का अन्तर पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

इसके उपरान्त आपने एक सुसंस्कृत व्यक्ति की विशेषताओं को स्पष्ट किया है और बतलाया है कि 'जिसका दिमाग दुरुस्त है, जिसका चरित्र ठिकाने है और जिस्म मजबूत है, वह सच्चे अर्थों में कल्चर्ड कहा जा सकता है। इसमें न शारीरिक बल की विशेष प्रशंसा है, न मस्तिष्क की शक्ति का आवश्यकता से अधिक समर्थन। बिना समन्वय के सच्ची संस्कृति का निर्माण नहीं हो सकता।' इसके पश्चात् आपने भारतीय संस्कृति के पुरातन एवं अद्यतन रूप की तुलना करके यह निष्कर्ष निकाला है कि 'जहाँ तक मेरा भारतीय संस्कृति का अध्ययन है, वहाँ तक मैं समझता हूँ कि अतीत संस्कृति में कल्चर के सच्चे उपादान मौजूद थे—आज वे ऊपरी तड़क-भड़क और चकाचौंध से हवा हो रहे हैं।' इस प्रकार आपने संस्कृति का सम्यक् विवेचन करके भारतीय संस्कृति के आधुनिक विकृत रूप पर बड़ी तत्परता के साथ प्रकाश डाला है।

इस प्रकार सहलजी के चौबीस निबंधों का सम्यक् अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि आपने अत्यंत संयत, परिष्कृत एवं परिमार्जित भाषा में अपने मौलिक विचार व्यक्त किए हैं। आपकी भाषा परिनिष्ठित खड़ी बोली है, जो तत्सम-प्रधान है, किन्तु जहाँ-तहाँ अंग्रेजी एवं उर्दू-फारसी के शब्द भी आ गये हैं। जैसे, आपने एक ओर तो 'धर्मानुमोदित', 'परिवर्तमान', 'क्षणभंगुरता', 'गंभीरतर', 'गांभीर्य', 'वैयक्तिकता', 'समीक्षण', 'वासनात्मक', 'विकल्पात्मक', 'नैतिक', 'एकदेशीय' आदि तत्समप्रधान शब्दावली का प्रयोग किया है, वहाँ दूसरी ओर 'अबे-तबे', 'आदाब अर्ज़', 'दुआ सलाम', 'खास', 'शामिल', 'मौजूद', 'मजबूत', 'साबित', 'शिकायत', 'दिल', 'परवाह', 'बर्दाश्त', 'सूरत-शक्ल', 'गवाही', 'तरीके' आदि उर्दू-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया है और कहीं-कहीं 'कल्चर्ड', 'कल्चर', 'हिमालयन ब्लंडर', 'ब्रदर', 'फादर', 'मदर', 'शैल', 'गुड', 'कैन', 'कुड', Oligarchy, Polygarchy, Morphology, Banyan Tree, Aryan, Integrated personality आदि अंग्रेजी के शब्दों का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। साथ ही, जहाँ-तहाँ विचारों की स्पष्टता के लिए आपने संस्कृत-ग्रंथों के विविध

उद्धरण भी दिये हैं और प्रचलित मुहावरों का प्रयोग करके भाषा को अधिक प्राणवती एवं संजीवनी-शक्ति-पूर्ण बनाया है। कहीं-कहीं पर आपके आलंकारिक प्रयोगों ने निबंधों में कवित्व का आनंद भी उत्पन्न कर दिया है। जैसे 'तपस्या की ज्वाला में जीवन का पुष्प विकसित होता है। धूप जब तक प्रज्वलित नहीं की जाती, सुगन्धि नहीं फैलती। धरा भी तपस्या के कारण वसुन्धरा है। यदि वह न तपे, तो ठंडी पड़ जाय, उसकी उर्वरा-शक्ति नष्ट हो जाय; इतना ही नहीं, वह सील पाकर सड़ जाय; विश्व-वेदना और संघर्षों की ज्वाला में तपकर ही मानव-मन जैसे कुन्दन के रूप में बदल जाता है, जिससे जीवन की पूर्णतम मूर्ति का निर्माण हुआ करता है।"

कहीं-कहीं पर आपकी रचना-शैली में विश्लेषणात्मक तत्त्वों का भी समावेश देखा जाता है। इससे न केवल आप किसी बात को अधिक-से-अधिक रोचक बना देते हैं, अपितु उसकी एक 'इमेज' (बिम्ब) भी पाठक के मस्तिष्क में स्थापित कर देते हैं। इसीलिए आपने 'सात' की संख्या के रहस्यपूर्ण महत्त्व को समझाते हुए अपनी विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग इस प्रकार किया है कि 'सात की संख्या में एक रहस्यात्मक आकर्षण मिलता है। मंत्र-साहित्य में भी सात की सख्या को विशेष महत्त्व दिया गया है। मंत्र-शास्त्री 'सप्त बीज मंत्र' की महिमा से भली-भाँति परिचित हैं। गायत्री-मंत्र में सात लोकों का उल्लेख है, योग में चित्तवृत्ति की सात भूमिकाएँ प्रसिद्ध हैं। पाणिनि की सात विभक्तियाँ विश्व-प्रसिद्ध हैं। कहाँ तक कहें, सूर्य के सात घोड़े, इन्द्र-धनुष के सात रंग, गगन-मंडल के सप्तर्षि, सप्तद्वीपा वसुमती और विश्व के सात आश्चर्य, इस 'सात' की संख्या का निरंतर जयघोष कर रहे हैं।"

सारांश यह है कि सहलजी के ये निबंध तात्विक एवं मौलिक विचारों से परिपूर्ण हैं, उनमें लेखक की गहन चिन्तन-शक्ति विद्यमान है और उनमें लेखक की बुद्धि एवं हृदय के समन्वय का सफल प्रयास दृष्टिगोचर होता है। सहलजी के ये निबंध कलात्मक हैं, तथ्यपूर्ण हैं और तत्वान्वेषी बुद्धि के कौशल एवं वैभव से परिपूर्ण हैं। इनमें लेखक की निगमन एवं आगमन, दोनों रचना-पद्धतियों के दर्शन होते हैं और ये लेखक के संतुलित एवं मर्यादित दृष्टिकोण के परिचायक हैं। इनमें लेखक ने तुलनात्मक दृष्टि से भी विचार किया है और विश्लेषणात्मक पद्धति का भी प्रयोग किया है। परन्तु कहीं भी लेखक अपने सिद्धान्त-पथ से विचलित नहीं हुआ है, मर्यादा के राज-पथ से भ्रष्ट नहीं हुआ है और संयम के शिखर से पतित नहीं हुआ है। इन निबंधों में लेखक के अन्वेषण, चिन्तन, विश्लेषण, वर्गीकरण, विवेचन एवं समीक्षण में सर्वत्र मौलिकता एवं संयमशीलता के दर्शन होते हैं। निस्संदेह, सहलजी के ये निबंध प्रेरणा के स्रोत हैं, उत्साहवर्द्धक हैं, विचारोत्तेजक हैं, जीवनोपयोगी हैं एवं साहित्य के भूले-भटके पथिकों के लिए पथ-प्रदर्शक हैं।

●●●

प्रसाद-साहित्य और डॉ० सहल की नियतिवादी भूमिका

• डॉ० भंवरलाल जोशी

डॉक्टर कन्हैयालाल सहल हिन्दी-जगत के समर्थ समालोचकों में से ऐसे सुधी, विरल समीक्षक हैं जिन्हें अनेक भाषाओं के काव्यों, उनकी परम्पराओं, काव्य-शास्त्र, साहित्य के इतिहास, लोक-साहित्य और कलाओं की रसमयी परम्पराओं का उत्तम ज्ञान है। इस ज्ञान के साथ चिन्तन की प्रौढ़ता, विश्लेषण के नीर-क्षीर विवेक, अन्वेषण की ललक, कवि-हृदय की सहृदयता, निष्कर्षों की प्राञ्जल उदारता और अभिव्यक्ति-कला के संयम का उनमें ऐसा मणि-कांचन योग हो गया है कि उनकी समीक्षात्मक उपलब्धियाँ अपने क्षेत्र में प्राचीन होकर भी तत्सम्बद्ध नवीन खोजों से पीछे नहीं हैं और इस कारण प्रायः सभी चिन्तनशील अध्येताओं के लिए विश्वसनीय एवं मार्ग-दर्शक हैं।

डॉ० सहल की समीक्षक-दृष्टि राजस्थानी भाषा और साहित्य के अतिरिक्त हिन्दी के आधुनिक साहित्य पर विशेषतः केन्द्रित रही है। हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में उनकी समीक्षा का रूप आरम्भ में अध्यापक-धर्म की आवश्यकता की पूर्ति के रूप में पाठ्यग्रंथों से सम्बद्ध विविध विषयों पर गम्भीर चिन्तन और मननपूर्वक लिखे गए स्वतत्र निवन्धों में मिलता है। प्रसाद के साहित्य से सम्वद्ध विविध विषयों पर लिखे गए निवन्ध भी इसी प्रकार समय-समय पर लिखित एवं प्रकाशित निवन्ध हैं। प्रसाद की नियति-विषयक विचारधारा के स्वरूप, निर्मापक तत्वों एवं आधार-स्रोतों का अन्वेषण और विवेचन उन्होंने तव आरम्भ किया था जब इस क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय कार्य हुआ ही न था और फिर इस दिशा में अन्य विद्वानों को भी कार्य के लिए प्रेरित करते हुए वे अपने चिन्तनपूर्ण विवेचन को समय-समय पर लेखों के रूप में प्रकाशित करते रहे। उनके एतद्विषयक अधिकांश लेखों के प्रकाशन

के बाद इधर प्रसाद-साहित्य पर प्रचुर शोध-कार्य हुआ है और प्रसाद के काव्य तथा नाटकों पर लिखे गए शोध-प्रबन्धों में प्रसाद की विचारधारा के उद्घाटन के प्रसंग में यथास्थान उनकी नियति-विषयक दृष्टि की भी समीक्षा हुई है। अतः प्रसाद की नियति-विषयक विचारधारा के सम्बन्ध में अब तक हुई समीक्षाओं में डॉ० सहल की उपलब्धियों का मूल्यांकन सहज ही एक विचारणीय विषय बन जाता है।

प्रसाद के नियतिवाद के स्वरूप को स्पष्ट करने में डॉ० सहल द्वारा आन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के प्रमाण प्रस्तुत किये गए हैं। आन्तर प्रमाणों में स्वयं प्रसाद द्वारा अपने निबन्धादि में व्यक्त विचारों को और उनके नाटकों के विभिन्न पात्रों के वचनों को उद्धृत किया गया है और बाह्य प्रमाणों में प्रसाद के अन्तरंग मित्रों अथवा उनके वैयक्तिक जीवन के निकटस्थ लोगों के द्वारा विभिन्न अवसरों पर स्वयं प्रसाद जी से सुने हुए नियति-सम्बन्धी कथनों और प्रसाद की नियति के विषय में अन्य साहित्यकारों की धारणाओं की सहायता ली गई है। प्रमाणों की ऐसी व्यापकता के सहारे मुक्त आग्रह व समीक्षक-बुद्धि से उन्होंने निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि प्रसाद के साहित्य में नियति प्रकृति की नियामिका शक्ति के रूप में प्रकट हुई है, जो विश्व-भर के हित को लक्ष्य में रख कर प्रवृत्त होती है।"[1] उनका यह निष्कर्ष प्रसाद के नियति-विषयक मत के सैद्धान्तिक पक्ष को लेकर है, इस तथ्य की व्यंजना उनके इन शब्दों से होती है—'प्रसादीय विचारधारा का सम्यक् अनुशीलन करने पर वैदिक तथा काश्मीर शैवागमों के आनन्दवाद की छाप ही उस पर (नियति-सिद्धान्त पर) स्पष्ट दिखलाई पड़ती है।' वैदिक आनन्दवाद अर्थात् वैदिक जीवन-दर्शन का आनन्द, कर्म-विरक्ति या निष्क्रियता के विपरीत कर्म से ओत-प्रोत है, स्वयं प्रसाद ने भी इसका स्पष्ट उल्लेख करते हुए लिखा है—'सप्तसिन्धु के प्रबुद्ध तरुण आर्यों ने इस आनन्दवाली धारा का अधिक स्वागत किया।''''''''भारत के आर्यों ने कर्मकाण्ड और बड़े-बड़े यज्ञों में उल्लासपूर्ण आनन्द का ही दृश्य देखना आरम्भ किया''''''''जिसके अन्तर में आत्मवाद था और बाहर याज्ञिक क्रियाओं का उल्लास था।' काश्मीर शैवागम में तो ज्ञान और क्रिया के सामरस्य की ही संज्ञा आनन्द है और क्रियाशून्य ज्ञान निरर्थक एवं निन्दनीय है। वहाँ जीवन्मुक्ति की स्वीकृति और बाहर-भीतर सर्वत्र आत्म-अद्वयता के आनन्द की प्रतिष्ठा होने से जगत् से विराग एवं कर्म-संन्यास नहीं है। वैदिक चिन्तन-धारा और उससे उपबृंहित काश्मीर शैवागम के सिद्धान्तों का डॉ० सहल को सुपरिचय रहा है। इसीलिए प्रसाद

---

१. देखिए डॉ० सहल का निबन्ध 'प्रसाद जी के नाटकों में नियतिवाद'

(मूल्यांकन, पृ० १४, प्रथम संस्करण)

के नियति-सिद्धान्त पर वैदिक और काश्मीर शैवागमों के आनन्दवाद की छाप बताने के अपने अन्वेषणात्मक निष्कर्ष के पश्चात् उन्होंने प्रस्तुत विषय पर लिखे अपने प्रायः सभी लेखों में यह स्पष्ट किया है कि "प्रसाद जी का नियतिवाद निष्क्रियता और निश्चेष्टता की ओर नहीं ले जाता बल्कि उससे कर्म करने की प्रेरणा मिलती है।"

डॉ० सहल वर्तमान पीढ़ी के आग्रह-मुक्त चिन्तक और विषय-विशेष का व्यापक दृष्टि से गंभीर विवेचन करने वाले सुधी समीक्षक हैं। यही कारण है कि उन्होंने प्रसाद के नियतिवाद के सैद्धान्तिक पक्ष पर वैदिक तथा काश्मीर शैवागमों के आनन्दवाद की स्पष्ट छाप बताकर उन सब आधार-स्रोतों और विचारधाराओं को भी खोजकर पाठकों के समक्ष रखा है जिनके साथ प्रसाद के नियति-विषयक विविध उल्लेखों का साम्य दिखाई पड़ता है। इस दिशा में उन्होंने भारतीय विचार-स्रोतों के अतिरिक्त पाश्चात्य मान्यताओं को भी प्रस्तुत किया है। पाश्चात्य मान्यताओं के रूप में ग्रीस के नाटकों, डान्टे होमर आदि महान् विचारकों और ईसाई तथा यहूदी सम्प्रदायों के भाग्य-सम्बन्धी विचारों का स्वरूप-विवेचन करते हुए और उनके सदृश प्रसाद के पात्रों के वचनों को उद्धृत करते हुए तुलनात्मक समीक्षा के अनन्तर यह विद्वत्तापूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि "प्रसाद के नाटकों तथा उनकी अन्य कृतियों के अध्ययन से पता चलता है कि उनकी नियति-विषयक धारणा के अनेक रूप हैं।"[1] अपने उक्त निष्कर्ष को ही विवृत्त करते हुए उन्होंने दो-एक स्थानों पर लिखा है—"जीवन में अनेक बार ऐसा होता है कि हमें कोई आकस्मिक लाभ हो जाता है, ऐसा लाभ, जिसमें हमारे प्रयत्नों का कोई योग नहीं दिखाई पड़ता अथवा अनेक बार ऐसा भी देखने में आता है जब हम अकारण किसी विपत्ति में फँस जाते हैं। ऐसे ही अवसरों पर 'दैव' और 'अदृष्ट' तथा 'नियति' जैसे शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से देखने में आता है" (नियतिवाद और चन्द्रगुप्त नामक लेख[2])। 'प्रसाद जी के नाटकों में नियतिवाद' शीर्षक एक अन्य लेख में भी वे लिखते हैं— "सतत प्रयत्न करने पर भी जब कोई मनुष्य अपने प्रयत्नों में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता तो वह एक ऐसी शक्ति की सत्ता को स्वीकार करने लगता है जिसे भाग्य, दैव, प्रारब्ध, अदृष्ट तथा नियति जैसे नामों से सामान्यतः अभिहित किया जाता है।"[3] उनके उपर्युक्त निष्कर्ष, कि प्रसाद-साहित्य में 'नियति' का अनेक रूपों में प्रयोग है, का समर्थन अभी प्रकाशित 'कामायनी की पारिभाषिक शब्दावली' जैसे नवीन ग्रंथों के निष्कर्षों से भी होता है।

१. 'ध्रुवस्वामिनी' और नियतिवाद (मूल्यांकन, प्र० सं०, पृ० ४४)
२. मूल्यांकन, प्र० सं०, पृ० ३६
३. वही, पृ० १६

प्रसाद के साहित्य में, विशेषतः नाटकों में, नियति-विषयक उक्तियों के बाहुल्य और वैविध्य के बीच अनेकानेक ऐसे कथन देखकर कि "समय मनुष्य और स्त्री का गेंद लेकर दोनों हाथों से खेलता है", "मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है", "वही हुआ जो होना था" और प्रसाद के अन्तरंग मित्र रायकृष्णदास से प्रसाद के नियति-सम्बन्धी उद्‌गारों को जानकर तथा ऐसी मान्यताओं का समर्थन भारतीय लोक और पाश्चात्य साहित्यिकों एवं विचारकों के पूर्वनिर्दिष्टतावाद जैसे विश्वासों से होता देखकर डॉ० सहल की तत्त्वान्वेषिणी मनीषा में सहज ही यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि "यदि नियति के सामने किसी का वश नहीं चलता और भवितव्य होकर ही रहता है तो क्या मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र नहीं, इस विश्व में उसकी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति का क्या कोई स्थान नहीं?" यह प्रश्न प्रसाद के नियतिवाद पर लिखे गए डॉ० सहल के एक या दो लेखों में ही नहीं, अपितु सभी लेखों में उत्तर पाने के लिए ललकता हुआ प्रतीत होता है और इस प्रश्न के सहज उभार को वाणी देने में तथा इसका समुचित उत्तर देने की क्षमता में सहल जी के पाण्डित्य का ऐसा वैशिष्ट्य व्यक्त होता है जो उन्हें प्रसाद-साहित्य की भूमिका का उद्‌घाटन करने वाले शीर्षस्थ विद्वान्-समीक्षकों में सबसे ऊँचा आसन दे देता है। इसका कारण यह है कि प्रसाद की विचारधारा काश्मीर शैवागम के दर्शन से अनुप्राणित है और उक्त दर्शन में स्वतंत्र इच्छाशक्ति का इतना अधिक प्राबल्य है कि उक्त दर्शन का नाम ही 'स्वातंत्र्यवाद' पड़ गया है।[1] अतः उस 'स्वातंत्र्यवाद' से अनुप्राणित प्रसाद की नियतिवादी विचारधारा में मनुष्य की इच्छा-शक्ति का क्या स्वरूप है? वह सर्वत्र बद्ध है या कहीं कर्म करने में स्वतंत्र भी है? इस गंभीर एवं तात्त्विक प्रश्न पर विचारने वाला और उसका संतोषप्रद उत्तर देने वाला यदि कोई मनीषी समीक्षक है तो केवल डॉ० कन्हैयालाल सहल हैं। अन्य कोई कृतिकार विद्वान् अभी तक दिखाई नहीं पड़ा है। कर्म-स्वातंत्र्यविषयक प्रसाद के अभिप्राय को स्पष्ट करने में उन्होंने 'कर्म' के अर्थ की गहराई में उतर कर श्रीमद्‌भगवद्‌गीता से प्रमाण प्रस्तुत करके स्वोत्थापित पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा है—"उससे जान पड़ता है कि जहाँ तक संचित कर्मों का सम्बन्ध है, मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र नहीं है, किन्तु क्रियमाण कर्म करने में वह स्वतंत्र है। संचित दुष्कृत का सुकृत क्रियमाण द्वारा नियमन हो सकता है।"[2] यह शास्त्र का व्यवहार-पक्ष है जो मनुष्य को ज्ञानपूर्वक कर्म करने की प्रेरणा देता है और अपने स्वातंत्र्य को पहचानने की प्रवृत्ति जगाता है। प्रस्तुत प्रसग में डॉ० सहल ने दर्शन के एक अत्यन्त महत्व-

---

१. विस्तार के लिए देखिए लेखक का 'काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी' नामक ग्रंथ, पृ० ६४

२. 'प्रसाद जी के नाटकों में नियतिवाद' (मूल्यांकन, प्र० सं०, पृ० १५)

पूर्ण तथ्य का भी उद्‌घाटन किया है। वह तथ्य यह है कि 'जिस दर्शन में मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा का कोई स्थान नहीं, उससे कर्म की प्रेरणा नहीं मिलती।'[1] यह तथ्य-कथन कितने सरल एवं सारभूत प्रकार से मूल वैदिक आनन्दवादी विचार-धारा को विकसित-विवृद्ध करने वाले शैवागम दर्शन का जैन आदि दुःखवादी दर्शनों से पार्थक्य प्रकट कर देता है। शैवागम का संपूर्ण लक्ष्य ही मनुष्य को उसकी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति का प्रत्यभिज्ञान कराना है और इसी कारण वहाँ कर्म की इतनी प्रबल प्रेरणा है कि जीवन्मुक्ति के अनन्तर भी लोकानुग्रह-रूप कर्म करने की व्यवस्था है। प्रसादजी का नियतिवाद कई स्थानों पर अन्यान्य रूपों को आत्मसात् करते हुए भी, तत्त्वतः शैवागम दर्शन से ही जीवन-रस पाता है और इसीलिए वह मनुष्य को कर्मयोग की ओर प्रेरित करता है। निष्क्रियता या कर्म-विरक्ति को प्रश्रय देने वाला और मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा-शक्ति में विश्वास न करने वाला, प्रारब्धवाद का पर्याय नियतिवाद न काश्मीर शैवागम में प्रोक्त है और न प्रसाद को ही मान्य है। प्रसादजी पर अपने कुछ नाटकों के रचना-काल में बौद्धदर्शन जैसी अनात्मवादी विचारधारा का भी कुछ प्रभाव रहा है। अतः कुछ उसके कारण और कुछ उनके जीवन की कटु परिस्थितियों के कारण, उन्होंने अपने कुछ पात्रों के मुख से ऐसे वचन भी कहला दिये हैं जो प्रारब्धवाद या पूर्वनिर्दिष्टवाद का समर्थन करते हैं, किन्तु कर्म-स्वातंत्र्य अर्थात् कर्म की स्वतंत्र इच्छा को स्वीकार न करने वाला नियतिवाद अनात्मवादी जैन तथा बौद्ध दार्शनिकों की ही विचारधारा का परिणाम है, प्रसाद का नियतिवाद नहीं, ऐसा नवीन खोजों से प्रमाणित होता है[2] और प्रसाद जी के नियतिवाद में अकर्मण्यता का अभाव और कर्म की प्रतिष्ठा मानने वाले डॉ० सहल के निष्कर्षों का अन्तवर्ती स्वर भी इससे भिन्न नहीं है। प्रसाद ने उसी मनुष्य को नियति का दास बताया है और उसी की कर्मशक्ति को नियति अनुचरी बना कर अपना कार्य कराती है जो कर्तृत्व के मिथ्याभिमान से मत्त है अर्थात् अहंकार से मूढ़ बना हुआ 'मैं कर्त्ता' हूँ, ऐसा मानता है। ऐसे कर्तृत्व-दंभ से मत्त मनुष्य की ही कर्मशक्ति नियति से नियंत्रित रहती है। जो परा प्रकृति में स्थित है, उसका कर्म नियति से नियंत्रित नहीं रहता, क्योंकि परा प्रकृति में स्थित होने पर मनुष्य प्रत्येक कार्य और प्रत्येक भावना में अभेद एवं निर्विकार आनन्द अनुभव करता है। यही उसकी स्वतंत्र इच्छाशक्ति के प्रकाश की ओर नियति से मुक्ति की दशा है, जिसमें किये गए कर्म मुक्तसंग होने के कारण फलते नहीं अर्थात् सुख-दुःख रूप द्वन्द्वाभिभव के कारण नहीं बनते। इसीलिए गुह्य से गुह्यतर ज्ञान देकर अर्जुन को कहा गया था—'यथेच्छसि तथा कुरु' जिसका यथाप्रसंग उल्लेख कर

१. वही।

सहल जी ने कर्त्ता की स्वतंत्रता की ओर इंगित किया है। प्रस्तुत विषय में 'कर्म करने में मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा के स्थान का' प्रश्न उठा कर सहल जी ने प्रसाद के नियतिवाद के स्वरूप की गंभीरता को तत्वतः समझ लेने की दिशा दिखाई है। तथ्यों की ऐसी सूक्ष्म पकड़ ही, जिसके लिए तत्त्वोन्मेषिणी प्रतिभा अपेक्षित होती है, सहल जी के निष्कर्षों को स्थायी महत्त्व और मौलिकता प्रदान कर विद्वानों के आकर्षण का कारण बना देती है।

प्रसाद के नियतिवाद पर लिखित डॉ० सहल के निबन्धों को ध्यान से पढ़ने पर यह प्रतीति भी हुए बिना नहीं रहती कि उनमें अपने विवेच्य विषय की अतल गहराइयों को उघाड़ने की ओर उस सम्बन्ध में अन्य विद्वानों के मत क्या हैं, यह जानने की बड़ी उत्सुकता रहती है। इसका संकेत डॉ० सहल द्वारा रायकृष्णदास, मैथिलीशरण गुप्त, महादेवी वर्मा आदि से प्रसाद के नियतिवाद पर उनके विचार जानने के प्रयत्नों में मिल जाता है। प्रस्तुत विषय पर सम्यक् विवेचना के लिए सहल जी द्वारा विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना भी उक्त प्रयत्न का ही अंग है। प्रसंगवश यह भी लिखना उचित होगा कि डॉ० सहल के विवेच्य निबन्धों को पढ़ने पर विद्वानों को ऐसा भी लग सकता है जैसे उनके निबन्ध पाण्डित्य से समृद्ध होते हुए भी कई बार अन्त में स्पष्ट निष्कर्ष प्रस्तुत किये बिना ही समाप्त हो जाते हैं। यह बात उनके कुछ निबन्धों, विशेषकर प्रसाद के नाटकों में नियतिवाद पर लिखे गए निबन्धों के विषय में ठीक हो सकती है, किन्तु इसका कारण अन्य कुछ न होकर उनके प्रौढ़ समालोचक-स्वभाव की निष्पक्षता, उदारता एवं चिन्तन को गतिशील रखकर विषय के अन्तस्तल का समग्रतः अवगाहन कर लेने की प्रवृत्ति[1] का ही परिणाम प्रतीत होता है। मेरी ऐसी प्रतीति उनके निबन्धों के उन उपसंहारक वाक्यों अथवा 'नोट' लगाकर प्रस्तुत की गई टिप्पणियों से पुष्ट होती है जिनके द्वारा उन्होंने इस विषय पर और गंभीरता से विचार करने के लिए अन्य विद्वानों का भी आह्वान किया है।[2]

'कामायनी' और प्रसाद के नाटकों को विशेषतः दृष्टिगत रख कर डॉ० सहल ने प्रसाद-साहित्य में निहित नियतिवादी विचारधारा को समग्रतः उद्घाटित करने के लिए जो व्यापक तथा गंभीर समीक्षण किया है, उससे न केवल प्रसाद के

---

१. देखिए डॉ० सहल का 'नियतिवाद और कामायनी' शीर्षक लेख का उपसंहार ('साहित्य-संदेश' अक्टू० १९५२ अंक)

२. (क) देखिए डॉ० सहल का 'नियतिवाद और अजातशत्रु' लेख (मूल्यांकन, पृ० ३२)

(ख) देखिए डॉ० सहल का 'नियतिवाद और चन्द्रगुप्त' लेख (वही, पृ० ३६)

नियतिवाद पर ही बल्कि स्वतंत्र विषय के रूप में भी नियतिवाद पर शोध-कार्य के लिए विद्वानों को सबल प्रेरणा और स्पष्ट दिशा-दृष्टि प्राप्त हुई है और भावी शोध के लिए भी विषय-दिशा के संकेत मिलते हैं। 'अल्पायासान्महत् फलम्' की प्रवृत्ति से दूर रहकर सारस्वत-धर्म का पूरी सत्यता से निर्वाह करते हुए डॉ० सहल ने हिन्दी के समालोचना-साहित्य की जो श्री-वृद्धि की है और पाठकों पर अपनी विचक्षण बुद्धि की छाप छोड़ी है, उससे उनकी कीर्ति और भी बढ़ेगी, इसमें कोई संदेह नहीं है।

•••

'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद' की कुछ कथाएं तो जबलपुर से लौटते ही पढ़ डालीं। विषय बहुत अच्छा है और जिस ढंग से संग्रह को निभाया गया है, वह बढ़िया है।········आपने एक ऐसे विषय को हाथ में लिया है जिसकी ओर बहुत कम लोगों का ध्यान गया है। इसके जोड़ की पुस्तक मुझे तो अभी तक हिन्दी में मिली नहीं।

झांसी, २०-४-५१

—(स्व०) वृंदावनलाल वर्मा

साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव : एक मूल्यांकन

• डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे

'डॉ० कन्हैयालाल सहल' हिन्दी के सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार हैं। हमारे समक्ष उनका व्यक्तित्व सुकवि, समीक्षक, अनुसंधित्सु तथा सम्पादक के रूप में आता है। वे स्वयं श्रेष्ठ कवि हैं, इसलिए उनमें काव्य-मर्म को समझने एवं उसके उद्घाटन की अपूर्व क्षमता है। 'प्रयोग' एवं 'क्षणों के धागे' नामक काव्य में वे प्रयोगशील, सहज कविताओं के जन्म-दाता के रूप में उपस्थित होते हैं। उनके सुलझे हुए आलोचक ने अनेक समीक्षा-ग्रन्थों का निर्माण किया है जिनमें 'आलोचना के पथ पर', 'समीक्षायण', 'समीक्षांजलि', 'वाद-समीक्षा', 'विवेचन', 'दृष्टिकोण', 'मूल्यांकन', 'विमर्श और व्युत्पत्ति' को हिन्दी-जगत में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। वे राजस्थानी-साहित्य के अधिकारी विद्वान् हैं और उनका इस दिशा का ऐतिहासिक प्रदेय सर्वाधिक मूल्य एवं महत्त्व रखता है। 'मरु भारती' के माध्यम से उन्होंने राजस्थानी भाषा एवं साहित्य को अनुसंधान, संकलन तथा स्तरीय विवेचन के प्रशस्त मार्ग पर स्थित किया है।

सहलजी हिन्दी के प्रतिष्ठित प्राध्यापक एवं व्याख्याकार हैं। प्रस्तुत संदर्भ में उनके विशिष्ट अवदानों का भली-भांति मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

कहने की आवश्यकता नहीं कि डॉ० सहल के मेधावी साहित्यिक व्यक्तित्व के तीन प्रभविष्णु रूपों- कवि या काव्य-मर्मज्ञ, आलोचक एवं प्राध्यापक ने ही हिन्दी-साहित्य को, 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' नामक पुस्तक देने को बाध्य किया। सहलजी के संस्कृत-साहित्य एवं अंग्रेजी-साहित्य के विपुल ज्ञान ने इस ग्रन्थ में नयी ज्योति उत्पन्न कर दी है।

आलोचक के रूप में सहलजी का ध्यान प्रधानतया तीन युगों पर गया—रीति-काल, द्विवेदी-युग तथा छायावाद युग। इन तीनों काल-खण्डों के प्रतिनिधि के रूप में केशव, मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर 'प्रसाद' के वे विवेचक बने। इसलिए उन्होंने केशव की सुधा को अपने रसिक पाठकों को पिलाया, कामायनी का दर्शन प्रस्तुत किया और 'साकेत' के नवम सर्ग के काव्य-वैभव के सौरभ को साहित्य-संसार में फैलाया।

'साकेत' न केवल राष्ट्रकवि स्व० मैथिलीशरण गुप्त का मौलिक एवं युग-प्रवर्तक महाकाव्य है प्रत्युत आधुनिक हिन्दी काव्यों में उसे अत्यन्त लोकप्रियता तथा गरिमा भी प्राप्त हुई है। यह ग्रन्थ गुप्त-साहित्य की शिरोमणि रचना है। गुप्त जी के काव्य-माहात्म्य के कारण, उन पर और इस महाकाव्य पर अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। हमें यह देखना है कि गुप्तजी पर लिखित समीक्षा-साहित्य में सहलजी के सन्दर्भित ग्रन्थ का क्या महत्व है और यह पुस्तक 'साकेत' के काव्य-मर्म के साथ कहां तक न्याय कर सकी है ?

गुप्त-साहित्य-समीक्षा के अन्तर्गत हम दो प्रकार की कृतियां पाते हैं। प्रथम तो वे, जो कि गुप्तजी के समस्त साहित्यिक व्यक्तित्व को लेकर चलती हैं और दूसरी वे जिनका सम्बन्ध सिर्फ हमारे आलोच्य ग्रन्थ 'साकेत' से ही है। हिन्दी में गुप्तजी के सामान्य अध्ययन को गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' (गुप्तजी की काव्य-धारा), डॉ० सत्येन्द्र (गुप्तजी की कला), डॉ० रामरतन भटनागर (मैथिलीशरण गुप्त : एक अध्ययन), डॉ० त्रिलोचन पाण्डेय (गुप्तजी की काव्य-कला), सरस्वती पारीक (मैथिलीशरण गुप्त), डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी (गुप्तजी की कारुण्य धारा), श्यामानन्द-प्रसाद सिंह (गुप्तजी की कृतियों का अध्ययन) आदि लेखकों ने प्रस्तुत किया। तदनन्तर गुप्तजी का विशिष्ट अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया। इसके अन्तर्गत गुप्तजी पर दो अच्छे शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किये गये। एक शोध-प्रबन्ध सागर विश्वविद्यालय से, 'मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति एवं काव्य' शीर्षक के अन्तर्गत, डॉ० कमलाकान्त पाठक ने प्रस्तुत किया। द्वितीय शोध-ग्रन्थ दिल्ली-विश्वविद्यालय से, डॉ० उमाकान्त गोयल ने प्रस्तुत किया जिसका नाम है : 'मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता।' ये दोनों शोध-ग्रन्थ गुप्तजी के परम मित्र और हिन्दी के शीर्षस्थ आलोचकों अर्थात् आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ० नगेन्द्र के निर्देशन में लिखे गये थे। इनमें 'साकेत' की समीक्षा के रूप में न केवल समाहार ही मिलता है अपितु विविध दृष्टियों एवं कोणों से अनुशीलन भी किया गया है। 'साकेत' के अध्ययन में, डॉ० नगेन्द्र (साकेत : एक अध्ययन), डॉ० प्रेमनारायण टण्डन (साकेत-समीक्षा), शम्भुप्रसाद बहुगुणा (साकेत-परीक्षण), डॉ० त्रिलोचन पाण्डेय (साकेत-दर्शन) आदि का

विशेष योग-दान है। 'साकेत' की टीका एवं भाष्य के रूप में नगीनचन्द सहगल (साकेत-सौरभ), व्रजभूषण शर्मा (साकेत की टीका), विश्वम्भर 'मानव' (साकेत की टीका)' प्राणनाथ शर्मा (साकेतः एक परिशीलन) आदि महानुभाव उपयोगी सिद्ध हुए। 'साकेत' का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया और इसीलिए परमलाल गुप्त ने 'रामचरितमानस' और 'साकेत'—नामक लघु शोध-प्रबन्ध की रचना की। उपरिलिखित पुस्तकों के अतिरिक्त, अन्य समीक्षात्मक सम्बन्धित ग्रन्थों में स्फुट रूप में 'साकेत' की आलोचना सहजोपलब्ध है।

'साकेत'—समीक्षा की सुदीर्घ, स्वस्थ तथा समृद्ध परम्परा एवं परिप्रेक्ष्य में, 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' का अपना एक पृथक् एवं अप्रतिम स्थान है। इसे टीकाओं और भाष्यों की श्रेणी में रखना इसके साथ न्याय नहीं करना है क्योंकि वस्तुतः यह इस परिपाटी का पोषण-सम्वर्द्धन नहीं करती है। यह तो काव्य की मार्मिकता, उसके सौरस्य एवं लालित्य को उद्घाटित करने वाली अपूर्व कृति है। यह आलोचना की वैचारिकता को भी नहीं घटित करती प्रत्युत समीक्षा के प्रभावाभिव्यंजक रूप को निखारती-उभारती है। एक दृष्टि से देखा जाए तो इस प्रकार की कृतियों की हिन्दी में आवश्यकता है जो कि टीकाओं के नाम पर न तो सस्ती ही बन पाती है और न आलोचनात्मक अध्ययन के रूप में अपने आप ही परीक्षोपयोगी-बटुकोपयोगी दिशा में खिसकती-रेंगती चली जाती है और विशुद्ध समीक्षा के नाम पर विद्वत्ता तथा ज्ञान-प्रदर्शन की रंगस्थली बन जाती है और बेचारा काव्य-मर्म विभिन्न प्रकार के दर्शनों, मतवादों, अलभ्य-खोजों आदि के बीच कराहता पड़ा रह जाता है और उसकी खोज-खबर लेने वाला या सुनने वाला ढूँढ़े नही मिलता है। 'काव्य-वैभव' सदृश पुस्तकें ही काव्य की कमनीयता के साथ सचमुच न्याय कर सकती हैं और करती दिखाई दे भी रही हैं। शोध का मुलम्मा, पाद-टिप्पणियों का पद-चालन और बाल की खाल उतारने में इस प्रकार के काव्य-ग्रंथ कहीं तो सिसकते दिखायी पड़ते हैं तो कहीं खिसकते दिखायी पड़ते हैं तो कहीं गर्दभ की भांति अतिरिक्त बोझ से अलंकृत।

इसी पीठिका में डॉ० सहल के इस कथन को सच्चा अर्थ मिल जाता है कि समीक्षाओं के अनेक प्रकार हिन्दी-जगत् में आज दिखलाई पड़ रहे हैं किन्तु इस प्रकार की समीक्षा प्रायः नहीं के बराबर है जिसमें व्याख्या के साथ-साथ समीक्षात्मक टिप्पणियाँ भी हों। अंग्रेजी साहित्य में प्रसिद्ध काव्यों के एक नहीं, अनेक विद्वत्तापूर्ण सुसम्पादित संस्करण सुलभ हैं जिसमें न केवल उन काव्यों के अध्ययन में ही सुविधा होती है, देश-देशान्तरों में उनका व्यापक प्रचार भी हो पाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि व्याख्यात्मक समीक्षा की जो पद्धति इस पुस्तक में

अपनाई गई है, उसका किसी रूप में अनुवर्तन अथवा प्रवर्तन आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्यों के अनुशीलन को लेकर यदि किया जाय तो इससे हिन्दी काव्यों के अनुशीलन में बड़ी सहायता मिलेगी। हिन्दी के राष्ट्रभाषा के गौरवशाली पद पर आसीन हो जाने के बाद अब तो इस प्रकार की व्याख्यात्मक समीक्षाएँ कितनी उपयोगी सिद्ध होंगी, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। डॉ० सहल के इस अतीव उपादेय कथन में उनका तत्वदर्शी विचारक एवं व्यावहारिक राष्ट्रभाषा के शुभ-चिन्तक का रूप मुखर है। सचमुच हिन्दी में इस दिशा की ओर अभी भी हमारा गम्भीरतापूर्वक ध्यान नहीं जा पाया है। यदि ध्यान गया भी है तो हमने सस्ते, बाजारू और छात्रोपयोगी रूप में उसे येन-केन प्रकारेण प्रस्तुत कर दिया है। इस कार्य की महत्ता एवं गुरुता को हम भली-भांति आँक नहीं सके हैं। वास्तव में इस क्षेत्र में हिन्दी-संस्कृत के प्रखर विद्वानों को कमर बाँधकर उतरना था। परन्तु वे तो नहीं आये और छुटभइया आलोचकों तथा टीकाकारों की ऐसी भीड़ जमा हो गयी कि दंगल-सा मालूम पड़ने लगा, क्योंकि विद्यार्थियों की भीड़ इन सस्ती और 'टेबलेट-टाइप' पुस्तिकाओं की ओर टूट पड़ी। फिर तो क्या था : कीचड़ मच गया। जिस प्रकार आजकल सज्जन चुनाव के दंगल से दूर रहकर दूर से ही किटकिटाहट सुनते रहते हैं, उसी प्रकार बेचारे विद्वानो ने भी अपने आप को इस 'टीकाऊ होली' से अपने आप को बचाये रखा। भक्ति-काव्य को लेकर तो इस दिशा में निर्देशित सरणियों में अच्छा और अद्वितीय कार्य हुआ है परन्तु रीति-काव्य एवं आधुनिक काव्य को लेकर इस प्रकार के सुकार्य की अत्यावश्यकता प्रतीत की जा रही है। इस सन्दर्भ में 'प्रसाद' की 'कामायनी' की ओर तो हमारा ध्यान गया परन्तु 'निराला' एवं महादेवी की ओर से हम सर्वथा निश्चिन्त बैठे हुए हैं। कहीं ऐसा न हो कि हमारी भावी पीढ़ी के लिए, निराला और महादेवी, कठिन काव्य के प्रेत बनकर रह जाएँ। डॉ० सहल के तत्व-दर्शन के आधार पर हम यह कहना चाहते हैं कि निराला और महादेवी में यदि कोई स्तरीय एवं प्रामाणिक भाष्य तैयार कर दे तो हिन्दी का तो कल्याण होगा ही, इन महाकवियों के प्रति भी महान् सुकार्य हो जाएगा। इन कवियों के साहित्यिक श्रद्धालुओं को इस मार्ग पर अग्रसर होना चाहिए और इनके काव्यों की मर्म-भेदक खबर ('उग्र' की 'मेरी खबर' नहीं) लेनी चाहिए। डॉ० वासुदेवशरण ने इस क्षेत्र में अत्यन्त मूल्यवान् कार्य किया है। डॉ० सहल के प्रस्तुत कथन के परोक्ष प्रभाव के रूप में नगीनचन्द सहगल ने 'साकेत' एवं 'कामायनी' की स्तरीय टीकाएँ प्रस्तुत की हैं जिनमें तुलनात्मक अध्ययन के अनेक भाव-प्रसंग विराजमान हैं। हिन्दी में अच्छे लोगों का ध्यान इस प्रकरण की ओर इसलिए नहीं जा पाया है कि बाल-साहित्य के लिखने के समान, टीकाओं के लिखने के कर्म को अपनी तथाकथित प्रतिष्ठा के विपरीत अथवा प्रतिकूल माना जाता

है और इस प्रकार की पुस्तकों के प्रणयन में कुछ-कुछ अवमानना, हल्कापन, माना जाता है। जब तक यह हीनभाव तथा वातावरण विद्यमान है, तब तक अच्छे लोग इस राह के पथिक नहीं बन पाएंगे। श्रेष्ठ जनों को क्रान्तिकारी पग उठाते हुए, इस क्षेत्र की अपनी पुस्तकों द्वारा शोभा बढ़ानी चाहिए।

सन् १६१४ से 'साकेत' के लेखन का कार्यारम्भ होता है और सन् १६३१ में उक्त प्रबन्ध-रचना समाप्त हुई थी। सन् १६३२ में काव्य का प्रथम बार प्रकाशन हुआ। प्रकाशन के सिर्फ एक वर्ष के अन्तर्गत अर्थात् सन् १६३३ में ही डॉ० सहल ने उसका पारायण किया और वे उसके नवम सर्ग के प्रति आकृष्ट हो गये। इसी से उनकी काव्य-परख और उनके मर्म-चयन की वृत्ति सर्वथा स्पष्ट है। यह सर्वथा निश्चित है कि नवम सर्ग को 'साकेत' का प्राण माना जाता है। 'साकेत' का ही नहीं अपितु समस्त गुप्त-काव्य का सर्वाधिक श्रेष्ठ अंश इसी सर्ग में सिमट कर आ विराजा है। गुप्तजी के सर्वश्रेष्ठ प्रगीत इसी सर्ग के चरमोत्कर्ष हैं। गुप्तजी की हृदयस्पर्शिनी काव्योक्तियाँ इसी सर्ग में अपनी चमत्कृतियाँ उत्पन्न कर रही हैं। गुप्त जी का वाग्विलास इसी सर्ग में अलसाकर बिखर गया है। मैथिलीशरण जी की छायावादी उक्तियों का सौरभ यहीं महक रहा है। कन्हैयालालजी ने अपनी मर्मभेदिनी प्रतिभा एवं उत्कट मेधा से इन समस्त विशेषताओं को राशि-राशि मेघों के समान काव्याकाश में बिखेर दिया है। रुई के समान धुन दिया है। कहीं कोई बात शेष नहीं रहने पायी है। वे अशेष समीक्षक एवं निःशेष व्याख्याता के रूप में इस कृति में समाहृत हैं। इन्हीं महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं के कारण डॉ० कमलाकान्त पाठक और नगीनचन्द सहगल ने इस पुस्तक का प्रचुर सदुपयोग किया है।

आख्याता सहल जी की दृष्टि सिर्फ काव्य के भावपूर्ण स्थलों एवं काव्य-नवनीत के सम्यक् तथा समुचित अनावरण तक ही सीमित नहीं है अपितु वे भाव-सादृश्य एव तुलनात्मक अनुशीलन के प्रौढ़तर, कठिन एवं श्लाघनीय गुरुतर कर्त्तव्यों की ओर भी उन्मुख हुए हैं और इसमें उनको अभूतपूर्व सफलता मिली है। इन पंक्तियों का लेखक स्वयं स्नातकोत्तर स्तर पर विगत दस वर्षों से 'साकेत' के अध्ययन-अध्यापन में दत्त-चित्त एवं संलग्न है और अपने अनुभव के आधार पर भी वह कह सकता है कि इस पुस्तक में, 'साकेत' के नवम सर्ग की काव्य-कला, गीति-काव्य एवं महती सर्जना को समृद्ध वाणी मिली है। सहलजी नवम सर्ग के लिए मल्लिनाथ सिद्ध हुए हैं।

डॉ० सहल ने कवि के चिकित्सा-ज्ञान, आयुर्वेद-परिचय, वनस्पति-विज्ञान-परिचय, अन्य राम-कथा के आधारभूत ग्रन्थों के अध्ययन, ऋतु-ज्ञान, लौकिक-

आचार-विचार, बुन्देलखण्ड-प्रेम आदि पर भी गम्भीरतापूर्वक, विस्तार से और विद्वत्तापूर्ण ढंग से प्रकाश डाला है। छोटी-सी उक्ति में भी अर्थ के महान् एवं घनीभूत भण्डारों को खोज निकाला है। वे उसी प्रकार अर्थों एवं अंतर्हित निधियों को खोज निकालते हैं कि जिस प्रकार गोताखोर सागर में से मोती खोज लाते हैं। सहल जी की व्याख्या के अन्तराल में जाने पर ही विदित होता है कि उनमें कितनी माणिक-मुक्ताएँ छिपी बैठी हैं। सिर्फ खोजने वाले की आवश्यकता है। इसीलिए, कबीर ने कहा भी तो है—

जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ।
हौं बौरी डूबन डरी, रही किनारे पैठ॥

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि सहल जी ने गुप्त जी के कवि को सचमुच एक विशेष स्तर, उत्कर्ष, गरिमा और अर्थवत्ता प्रदान की है। इसके कतिपय विशिष्ट कारण हैं। आजकल विश्वविद्यालयों में यह प्रवृत्ति जोर पकड़ती जा रही है कि गुप्त जी का काव्य चाहे राष्ट्रीय महत्त्व का हो, परन्तु कविता की दृष्टि से मूल्यवान् और श्रेष्ठ नहीं है। प्रायः प्रसाद और निराला की तुलना में गुप्तजी के काव्य को पीछे कर दिया जाता है और प्रसाद एवं निराला के उदात्त काव्य एवं विभिन्न अर्थ-छवियों के समय बेचारे मैथिलीशरण जी की निम्न स्थिति दिखा दी जाती है। इस विकासमान प्रवृत्ति को यहाँ पर कटु-सत्य के रूप में निःसंकोच उद्घाटित किया जा रहा है ताकि हम आदर्श के वायवी और आकाशी रूप से नीचे उतरकर, कठोर धरती के यथार्थ से परिचित होने का साहस बटोर सकें। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि गुप्त जी की रचनाओं की भी प्रसाद एवं निराला के काव्यालोचन के स्तर पर समीक्षा की जाए और 'कामायनी' एवं 'तुलसीदास', 'राम की शक्ति-पूजा' की व्याख्या के समान विभिन्न अर्थवती भूमिकाओं से 'साकेत' को सम्पृक्त किया जाए। इस दृष्टि से यदि 'काव्य-वैभव' वाली पुस्तक का निरीक्षण-परीक्षण किया जाए तो हम सरलतापूर्वक इस निष्कर्ष पर आ सकते हैं कि डॉ० सहल ने गुप्त जी के प्रति न केवल न्याय ही किया है अपितु उनके काव्य-कौस्तुभ के विकीर्ण होने अथवा करने भी में कम योगदान नहीं दिया है। गुप्त जी के कवि-महत्त्व को अवमूल्यन से बचाने में स्वयं गुप्त जी की विराट् काव्य-प्रतिभा का तो निश्चित हाथ है ही परन्तु सहलजी—सदृश, उनके श्रद्धालुओं एवं आख्याताओं को भी सजग-सतर्क-सचेष्ट-सक्रिय रहना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस दिशा में भी सहलजी का आलोचक सदैव सतर्क एवं भावनाशील रहा है।

इस ग्रंथ की उपादेयता को चार चाँद उस समय लग जाते हैं जब इसमें विवेकशील पाठक, परिशिष्ट के रूप में, गुप्त जी का महात्मा गांधी के साथ हुआ

पत्राचार, स्वयं सहल जी का कवि के साथ हुआ पत्र-व्यवहार और 'साकेत' के विरह-वर्णन को बड़े नियोजित रूप में पाता है। सहलजी के पत्राचार से इस पुस्तक की शोभा बढ़ जाती है क्योंकि साहित्य का विद्यार्थी, आश्वस्त हो जाता है कि स्वयं महाकवि की प्रशंसा एवं मान्यता की मुद्रा इस पुस्तक पर लगी हुई है। स्वयं रचनाकार इस पुस्तक से तृप्त एवं संतुष्ट हो गया तो दूसरा और कौन बीच में आने कीधृष्टता करे ?

•••

राजस्थानी कहावतों के संग्रह में आपने जो परिश्रम किया है, वह वास्तव में सराहनीय है। बड़ी मूल्यवान् सामग्री आपने एक स्थान पर एकत्र कर दी है। आपने आरम्भ में विस्तृत भूमिका देकर तो बहुत ही उपयोगी कार्य किया है। उसे पढ़ कर पाठक को उचित पृष्ठभूमि मिल जाती है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि गम्भीर साहित्य के संवर्धन में आपका योगदान बराबर इसी प्रकार बना रहेगा।

—यशपाल जैन

डॉ० कन्हैयालाल सहल : एक सफल भाष्यकार

• डॉ० वचनदेव कुमार

साहित्य-समाराधक प्रो० कन्हैयालाल सहल की साहित्य-साधना के अनेक आयाम हैं किन्तु उनका भाष्यकार-रूप कम महत्त्वपूर्ण हो—ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि संपूर्ण संस्कृत वाङ्मय की ओर सिंहावलोकन करें तो ज्ञात होगा कि संस्कृत वाङ्मय में रचनात्मक पक्ष के साथ उसका आलोचनात्मक—व्याख्यात्मक पक्ष भी अत्यधिक प्रसृत था, अलबत्ता यह बात दूसरी है कि वह पद्धति साम्प्रत पौरस्त्य व्यावहारिक-आलोचना के परिप्रेक्ष्य में अधिक ग्राह्य न हो।

संस्कृत वाङ्मय में साहित्य-मर्म-बोध एवं अर्थ-स्पष्टीकरण के लिए अनेक पद्धतियाँ प्रचलित थीं—जैसे वृत्ति, न्यास, वार्तिक, कारिका, टीका तथा भाष्य। वृत्ति में सूत्रार्थ की ओर मुख्यतः ध्यान रहता था। न्यास में वृत्ति का पल्लवन अपेक्षित था। वार्तिक में उक्तानुक्तदुरुक्त की चिंता रहती थी, कारिका में संक्षिप्त सूत्रों के बह्वर्थसूचक श्लोक रहते थे, टीका में पदच्छेद, पदार्थोक्ति, विग्रह और वाक्य-योजना पर ध्यान आवश्यक था तथा भाष्य आक्षेप-समाधानपरक ग्रंथ होते थे। इतना ही नहीं, भाष्यकार केवल अपने विषय का ही पंडित नहीं होता था, वरन् उसके लिए अनेकानेक शास्त्रों का पांडित्य आवश्यक था, उसका शास्त्रान्तर में पूर्ण प्रवेश आवश्यक था, जिस श्लोक या विषय पर भाष्य लिखा जा रहा है—उस विषय पर कुछ कथा अवशिष्ट न रह जाए, भाष्यकार से ऐसी अपेक्षा की जाती थी। यदि उस विषय पर कोई संशीति रह गई हो, कोई संदेह बच रहा हो—तो इसे भाष्यकार की असफलता ही मानी जाएगी। इसीलिए भाष्य किसी मूल रचना पर अछोर विवृत्ति के पर्याय माने जाने लगे। पाणिनि-व्याकरण पर पतंजलि अथवा ब्रह्मसूत्र पर शंकरा-

चार्य के भाष्य, व्याकरण और अध्यात्म-चिंतन पर अपरिमेय विचारवारि-वर्षण के एकत्र जलागार माने गए।

श्री कन्हैयालाल सहल के भाष्यकार-रूप को स्पष्ट करने वाली दो पुस्तकें हैं—(१) साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव (२) कामायनी-दर्शन। पहली पुस्तक साकेत के बारह सर्गों में से केवल एक सर्ग की विशद व्याख्या है। दूसरी पुस्तक 'कामायनी-दर्शन' के एक और लेखक हैं—डॉ० विजयेन्द्र स्नातक। सहल जी ने आशा, श्रद्धा, काम तथा लज्जा—इन चार सर्गों का भाष्य किया है। इस प्रकार पन्द्रह सर्गों वाली 'कामायनी' के लगभग चतुर्थांश पर सहल जी की व्याख्या है। इन्हीं के आधार पर उनके भाष्यकार-रूप का मूल्यांकन किया जा सकता है।

'साकेत' महाकाव्य में उसका नवम सर्ग हृदय है, जिस प्रकार 'रामचरित-मानस' में अयोध्याकांड। सहल जी ने साकेत के सभी सर्गों में नवम सर्ग को ही सर्वोपरि व्याख्येय माना है—यह उनकी सहृदयता की पहचान है। उदाहरण के लिए नवम सर्ग का एक महत्त्वपूर्ण गीत लिया जा सकता है—

> वेदने, तू भी भली बनी।
> पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
> नई किरण छोड़ी है तूने, तू वह 'हीर-कनी',
> सजग रहूँ मैं, साल हृदय में, ओ प्रिय-विशिख-अनी।
> ठंडी होगी देह न मेरी, रहे दृगम्बु—सनी,
> तू ही उष्ण उसे रक्खेगी मेरी तपन-मनी।
> आ, अभाव की एक आत्मजे, और अदृष्टि-जनी,
> तेरी ही छाती है सचमुच उपमोचितस्तनी।
> अरी वियोग-समाधि, अनोखी, तू क्या ठीक ठनी,
> अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची-तनी।
> मन-सा मानिक मुझे मिला है तुझमें उपल-खनी,
> तुझे तभी छोड़ूँ जब सजनी, पाऊँ प्राणधनी।

ऊपर के गीत में प्रेम की मनोवृत्ति के स्वरूप का अच्छा दिग्दर्शन हुआ है। उर्मिला कहती है कि हे वेदने ! तू ही मुझे इस समय प्रिय है, चाहे लोग तुझे बुरा क्यों न बतलाएँ। अपनी घनी इच्छा को मैंने आज तुझमें ही प्राप्त किया है। तू वह हीर-कनी है, जिसने मेरे हृदय में नई ज्योति जगाई है। तीर की नोंक-सी मेरे हृदय में कसकने वाली हे वेदने ! तू हृदय को सालती रह, जिससे मैं सजग बनी रहूं। (वेदना को विशिख-अनी के रूप में मूर्त रूप दिया जा रहा है) तेरे ही कारण मरूँगी

नहीं। पानी से बराबर भीगने वाली वस्तु ठंठी पड़ जाती है, पर वेदना के कारण उसमें गर्मी रहेगी। उर्मिला कहती है कि हे मेरी सूर्यकान्त मणि ! तू ही मेरी देह को उष्ण बनाए रखेगी। सूर्य की किरणों को समेट कर वस्तुओं को गर्म करने की शक्ति सूर्यकान्त मणि में है, वेदना में भी उष्णता है—इसलिए वेदना को सूर्यकान्त मणि कहना उचित ही है। हे वेदने ! अभाव तेरा पिता है, और अदृष्टि (अदर्शन) तेरी माता है। प्रिय के अभाव और अदर्शन के कारण ही वेदना का जन्म होता है। तेरी छाती को ही स्तनों की उपमा दी जा सकती है। जैसे माता अपने बच्चे को छाती से चिपकाये रहती है, वैसे ही तूने मुझे अपना रखा है, और सबसे मेरा साथ छूट गया है, तू ही मेरा साथ नहीं छोड़ रही है। 'उपमोचितस्तनी' जैसे समासांत और कर्ण-कटु प्रयोग गीतिकाव्य में खटकते हैं।

उर्मिला कहती है कि वेदना के कारण योगियों की समाधि-दशा-सी मेरी दशा हो रही है। समाधि में योगी सब भौतिक पदार्थों से अपना मन खींचकर ब्रह्म में स्थिर रहता है, उसी प्रकार उर्मिला भी अपने आपे में नहीं है। अपने को, प्रिय को, जगती को—सबको दूर देख रही है। बिना वेदना के मन का सच्चा रूप व्यक्त नहीं होता। इसीलिए उर्मिला कहती है कि हे रत्नों की खान वेदने ! मन जैसा माणिक मैंने तुझी से प्राप्त किया। हे सजनी ! मैं तुझे तभी छोड़ सकती हूं जब प्राणेश्वर को पाऊँ।[1]

किन्तु, इस गीत की व्याख्या में उन्होंने पदच्छेद, पदार्थोक्ति, विग्रह और वाक्य-योजना वाली प्रणाली का आश्रय नहीं लिया। उन्होंने इसके मुख्यार्थ की विवृत्ति करते हुए इसके दोष-पक्ष की ओर भी इंगित किया है। जिस समय सहल जी साकेत के नवम सर्ग के काव्य-वैभव का उद्घाटन कर रहे थे, उस समय मैथिलीशरण गुप्त का काव्य दुर्व्याख्या-विष से बहुत विमूर्च्छित नहीं हो पाया था, इसलिए उन्हें मल्लि-नाथ की पद्धति से संजीवनी लेखन की आवश्यकता भी नहीं अनुभूत हुई। फिर भी अपनी सीमाओं में जो उन्होंने काव्य-सौंदर्य की परतें उघारी हैं, उन्होंने शब्द-सीपियों को विलगाकर जो अर्थ-मौक्तिक परखे हैं, उसके लिए वे श्लाघा के अधिकारी हैं। Practical Criticism, Appriciation तथा Critical Sense जैसी शल्य-चिकित्सा वाली पुस्तकों में काव्य-सौंदर्य का जितना उद्घाटन नहीं हुआ है, उतना उसका सिराजा ही बिखरा है, इसमें कोई संदेह नहीं।

इसी प्रकार उनके कामायनी-दर्शन की भी भाष्य-प्रणाली पर दृष्टिपात अपेक्षित है। कामायनी के श्रद्धा सर्ग की व्याख्या भी साकेत के नवम सर्ग की पद्धति

---

१. साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव—पृष्ठ ३०-३१

पर ही हुई है। लेखक के शब्दों में—'कामायनी' वास्तव में मानवत्व के विजय का ही आख्यान है और इस विजय में कारणभूत है श्रद्धा। उसी श्रद्धा की अवतारणा 'कामायनी' के इस महत्त्वपूर्ण सर्ग में हुई है। इसलिए इस सर्ग को यदि हम इस महाकाव्य का मेरुदंड कहें तो संभवतः इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस मेरुदंड-सर्ग में उन्होंने कहीं-कहीं दार्शनिक ग्रन्थियों को सुलझाने में बड़ी ही सूक्ष्मेक्षिका का परिचय दिया है।उदाहरणार्थ—

"विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान्;
यही दुख-सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।"

कामायनी में स्थान-स्थान पर जिन दार्शनिक पद्यों का प्रयोग हुआ है, उनमें से ऊपर का पद्य भी दार्शनिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम प्रपाठक में जिस भूमा तत्त्व की व्याख्या की गई है. वह अत्यंत गूढ़ और गंभीर है। नारद और सनत्कुमार के प्रसंग में इस तत्त्व का विवेचन हुआ है। श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर वस्तु का वर्णन करते हुए अन्त में सनत्कुमार सुख पर आ पहुँचते हैं और कहते हैं 'जो भूमा है, वही सुख है। अल्प में सुख नहीं है, इसलिए भूमा के विषय में ही जिज्ञासा करना उचित है।" (त्रयोविंश खण्ड) नारद ने कहा है कि हे भगवन्! मैं भूमा के विषय को जानना चाहता हूं। इस पर सनत्कुमार ने उत्तर दिया—"जहाँ साधक अन्य कुछ नहीं देखता, अन्य कुछ नहीं सुनता, वह भूमा है, और जहाँ अन्य कुछ देखता है, अन्य कुछ सुनता है, अन्य कुछ जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है, वह अमृत है और जो अल्प है, वह मर्त्य है।" नारद के यह प्रश्न करने पर कि हे, भगवन्! वह कहाँ प्रतिष्ठित है, सनत्कुमार ने उत्तर दिया था—'अपनी महिमा में, शायद महिमा में भी नहीं।' नासदीय सूक्त के अन्तिम मंत्र में भी कहा गया है—'यह विसृष्टि कहाँ से हुई, किसने की, किसने नहीं की, जो इसका अध्यक्ष परम व्योम में रहता है, वह यह सब जानता है; या स्यात् वह भी नहीं जानता।" नारद-सनत्कुमार-संवाद तथा नासदीय सूक्त की, विवेचन-शैली का यह साम्य द्रष्टव्य है। उपनिषदों में जो भूमा का वर्णन किया गया है, उससे ऐसा लगता है जैसे ब्रह्म अथवा 'पुरुष-सूक्त' के विराट् पुरुष का वर्णन किया जा रहा हो। जहाँ तक 'भूमा' के व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ का प्रश्न है, यह शब्द बहुत्व, अतिशयता तथा अनल्पता का बोधक है। ऊपर की उद्धृत पंक्तियों में प्रसाद जी ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है। 'भूमा का मधुमय दान' से प्रसादजी का क्या अभिप्राय हो सकता है? इस पर विचार करना आवश्यक है। सत्य के दो रूप होते हैं (१) सत्य और (२) ऋत। सत्य का सम्बन्ध व्यक्ति से है, ऋत का समष्टि से। अपने को मनुष्य समझना तथा चींटी को

चींटी समझना या कुत्ते को कुत्ता समझना, यह व्यक्ति-सत्य का रूप है, नहीं तो गीताकार के शब्दों में—

"शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।"

ऋत-दृष्टि के अनुसार मनुष्य सब को समान रूप से देखता है। वह आत्मौपम्य-दृष्टि ही सच्ची दृष्टि है जिसे ऋत के नाम से अभिहित किया जाता है। **यह ऋतं भरा प्रज्ञा ही मधु है।** मनुष्य जब इस स्थिति पर पहुँच जाता है तो उसकी वृत्ति को 'मधुमती वृत्ति' कहा जाता है। व्यक्ति-दृष्टि संकीर्ण दृष्टि है, समष्टि-दृष्टि ही सच्ची दृष्टि है। ब्रह्म, विभु, विराट्, विष्णु आदि जितने महत्त्व-व्यंजक शब्द भारतीय-साहित्य में प्रचलित हैं, वे सब बहुत्व और व्यापकता का अर्थ लिए हुए हैं। व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ को लक्ष्य में रखकर सर्वदा प्रवृत्त हो तो वह अपने लिए संकुचित अहं की एक ऐसी कारा का निर्माण कर लेगा जो अन्त में जाकर उसका दम घोट देगी। बँधे हुए तालाब का पानी जिस प्रकार गंदला हो जाता है, उसी प्रकार संकीर्ण विचारों वाला व्यक्ति भी मानसिक पवित्रता से कोसों दूर रहता है।[2]

किन्तु, ऐसा लगता है कि सहल जी यदि इस सर्ग की सूक्ष्मताओं को और उरेहते तो काव्यरसिकों को और अधिक आनन्द प्राप्त होता। इस सर्ग में कई महत्त्वपूर्ण शंकाएं उभरती हैं जिनका समाधान आवश्यक था।

श्रद्धा सर्ग का आरम्भ होता है—

"कौन तुम संसृति जलनिधि तीर,
तरङ्गों से फेंकी मणि एक।
कर रहे निर्जन का चुपचाप,
प्रभा की धारा से अभिषेक।"

कामायनी मनु को संसृति-जलनिधि-तीर पर तरङ्गों से फेंकी एक मणि कहती है। यहाँ 'मनु' पुल्लिग के लिए 'मणि' स्त्रीलिंग का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार मनु श्रद्धा (कामायनी) को 'वसंत के दूत' से संबोधित करते हैं और फिर श्रद्धा (कामायनी) के लिए 'लगा कहने आगन्तुक व्यक्ति' का प्रयोग हुआ है। प्रसाद जी अच्छी तरह से जानते थे कि श्रद्धा नारी है और मनु पुरुष। तो फिर इस लिंग-विपर्यय का कारण क्या है? जब तक यह कारण अज्ञात रहता है तब तक मन में शंका बनी रहती है और शंका–विजड़ित अन्तः करण में काव्य का शुद्धानंद प्राप्त नहीं हो सकता। अतः ऐसे कई शंकनीय स्थल हैं जिनका समाधान अपेक्षित था।

फिर भी प्रो० कन्हैलाल सहल का जो भाष्यकार-रूप हमारे समक्ष आता है, वह पूर्णतः सराहनीय है। वे हिन्दी व्यावहारिक आलोचना के आधार-स्तम्भ हैं, ऐसा बेहिचक कहा जा सकता है।

---

१. कामायनी–दर्शन, पृ० ४६–४७

डॉ० सहल की शास्त्रीय और सैद्धान्तिक समीक्षाओं के प्रतिमान और औचित्य-सिद्धान्त

• डॉ० चंद्रहंस पाठक

यों तो आलोचना के पथ पर, समीक्षायण, वाद-समीक्षा, विमर्श और व्युत्पत्ति, अनुसंधान और आलोचना नामक ग्रंथों के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य की आलोचना से सम्बन्धित अनेक पत्र-पत्रिकाओं में निकले हुए पचासों फुटकर निबंध डॉ० सहल की समीक्षात्मक मान्यताओं के निदर्शन हैं, पर यहां हम उनकी प्रथम पुस्तक के भी प्रथम खण्ड को ही ध्यान में रखकर उनके शास्त्रीय और सैद्धान्तिक कोटि में आने वाले समीक्षक-स्वरूप की संक्षिप्त और औचित्य-सिद्धान्त के सम्बन्ध में उनके विशिष्ट अनुदान की कुछ विस्तृत चर्चा कर लेना चाहते हैं ।

डॉ० सहल हिन्दी, संस्कृत, इंगलिश—तीनों ही भाषाओं और उनके साहित्य के अधिकारी और मर्मज्ञ विद्वान् हैं। यही कारण है कि उनकी प्रारम्भिक कृति के प्रत्येक लेख में भी विवेचनी तटस्थता तो मिलती ही है, वैयक्तिक निर्लिप्तता भी पदे-पदे दृष्टिगोचर होती है ।

समालोचना के प्रतिमानों के सम्बन्ध में डॉ० सहल के विचार जहां एक ओर बड़े सुलझे हुए हैं वहां दूसरी ओर पूर्वाग्रह और पराग्रह के दोषों से भी सर्वथा विनिर्मुक्त हैं। वे किसी भी भाषा के शास्त्रीय परिणामों को आज की समीक्षा-पद्धति पर लादा जाना श्रेयस्कर नहीं समझते, न उन्हें संस्कृत काव्य-शास्त्र की सभी मान्यताएं हू-बहू, उसी रूप में स्वीकार्य हैं और न पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की सभी प्रतिपत्तियों को ही स्वीकार करने के वे पक्षपाती हैं। हिन्दी-समीक्षा-शास्त्र के स्वाभाविक विकास में अविजातीय होकर जितना भी प्राच्य और पाश्चात्य शास्त्र-

चिन्तन समा सका है, उतना ही वे हिन्दी-काव्य-शास्त्र के लिए ग्राह्य मानते हैं। बस, इसी विशेष दृष्टि को ध्यान में रखकर उन्होंने भारतीय और विदेशी काव्य-शास्त्र की प्रवृत्तियों पर विचार किया है, इस सम्बन्ध में प्रस्तुत पुस्तक के उपक्रम में दी हुई शब्दावली इस प्रकार है—

"आलोचना के केवल शास्त्रीय आधार आज नहीं टिक सकते, क्योंकि परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ आज उन आधारों में भी परिवर्तन हो गये हैं, भावना-विलासी हृदय के स्वच्छंद उन्मुक्त व्यापार भी आज नहीं चल सकेंगे, क्योंकि आधुनिक युग का मनुष्य बुद्धि की कसौटी पर वस्तु का मूल्यांकन करता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद का एक महत्त्वपूर्ण जीवन-दर्शन है, जिससे सहायता लिये बिना आज कोई भी आलोचक अपनी समीक्षा में समग्रता नहीं ला सकेगा।"[१]

समीक्षा के क्षेत्र में इसे हम डॉ० सहल की सामंजस्यपूर्ण दृष्टि कह सकते हैं, जिसके आधार पर उन्होंने साहित्य-शास्त्र की कुछ ऐसी गुत्थियों को सहज ही सुलझा दिया है जो आज भी विद्वानों का सिर-दर्द बनी हुई है। स्वभावोक्ति का अलंकारत्व, करुणरस की सुखात्मकता (ट्रेजेडी का आनन्द) नाट्यदर्पणकार का रस-विवेचन, संकलनत्रय आदि कुछ ऐसे ही लेख हैं जिनमें उनकी प्राच्य एवं पाश्चात्य मान्यताओं के संतुलन निखर उठे हैं।

इस युग में जब कि मनोविज्ञान समस्त वाङ्मय के ऊपर छाया हुआ है, यह अत्यंत औचित्यपूर्ण जान पड़ता है कि काव्य-शास्त्रीय मानदण्डों को भी उसके परिप्रेक्ष्य में देखा और परखा जाय। रस के अध्ययन में ही नहीं, आलोचना के क्षेत्र में मनोविश्लेषण का और अलंकारों के अध्ययन, विकास-क्रम और वर्गीकरण में भी मनोविज्ञान का कितना बड़ा हाथ है, इसे डॉ० सहल ने बड़े सुन्दर ढंग से 'आलोचना और मनोविश्लेषण' तथा 'अलंकार और मनोविज्ञान' शीर्षक लेखों में समझाया है, पर अलंकार-शास्त्रियों को भारतीय समीक्षा-शास्त्र के भीतर मनोवैज्ञानिक दृष्टि को पूर्णतया विकसित करने का परामर्श देते हुए भी उन्हें इसका अतिवादी रूप पसन्द नहीं है, उन्होंने स्पष्ट कहा है कि—

"मनोविश्लेषण की भी एक सीमा है, उसको लेकर कवि के मानसिक रोगों का लेखा-जोखा करना उचित नहीं, हां, मनोविश्लेषण की मर्यादाओं को मानते हुए विषय के स्पष्टीकरण के लिए उसका समुचित प्रयोग किया जा सकता है।····
····जीवन से मनोविज्ञान के सिद्धान्त निकलने चाहिए, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से जीवन नहीं।"[२]

---

१. आलोचना के पथ पर (उपक्रम), पृष्ठ (ख)

२. आलोचना के पथ पर, पृष्ठ ९

इस स्थान पर समुचित प्रयोग की बात डॉ० सहल के औचित्य-विश्वासी की ही बात है।

साधारणीकरण जैसे कठिन विषय को हृदयंगम कराने के लिए "साधारणीकरण और रसास्वाद के विघ्न" नामक उनका लेख तो साहित्य-शास्त्र के अध्येताओं के बड़े काम की वस्तु है। मैंने अपने शोध-प्रबन्ध में एक स्थान पर लिखा है कि इस युग में जब कि अनेक आलोचक बिना मूल सिद्धान्त को समझे ही उसकी चीर-फाड़ में प्रवृत्त हो जाते हैं, यह बहुत आवश्यक है कि पहले प्रत्येक मूल सिद्धान्त की ठीक-ठाक और युक्तिपूर्वक स्थापना कर दी जाय। डॉ० सहल ने इसका विशेष ध्यान रक्खा है, उन्होंने जिस किसी बात की स्थापना की है, उसमें जरा भी तोड़-मरोड़ नहीं है, बल्कि मूल से भी अधिक स्पष्ट उनकी स्थापना है। इस प्रकार शास्त्रीय समीक्षा के क्षेत्र में धुरीहीनता के दोष से बचाने वाला औचित्य डॉ० सहल की साहित्य-शास्त्रीय समीक्षाओं में सर्वत्र अभिव्याप्त है।[1]

एक बात सैद्धान्तिक समीक्षा-सम्बन्धी लेखों के सम्बन्ध में भी कह देना आवश्यक है। विद्वानों ने हिन्दी-साहित्य के उन सिद्धान्तों को, जो उसके उपस्थित मोड़ों में सैद्धान्तिक वादों का रूप ग्रहण कर चुके हैं, सैद्धान्तिक आलोचना के नाम से अभिहित किया है।[2]

छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और अन्तश्चेतनावाद आदि ऐसे ही सैद्धान्तिक वाद हैं। प्रस्तुत पुस्तक में डॉ० सहल के कुछ निबन्ध इन वादों से सम्बन्धित भी हैं, यों उनकी 'वाद-समीक्षा' नामक पुस्तक में इनका स्वतन्त्र और विस्तृत विचार उपलब्ध है। प्रगतिवाद पर तो यहां डॉ० साहब ने बहुत ही जम कर लिखा है। यह लेख अनायास ही यह बोधित करा देता है कि डॉ० सहल में भारतीय दर्शन-शास्त्र की प्रतिपत्तियों की अपेक्षा पाश्चात्य-दर्शन का निरीक्षण अधिक पैना है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को समझाने के प्रसंग में डॉ० सहल ने पाश्चात्य भौतिकवादी दर्शन का, हीगेल की तर्क-पद्धति का, मार्क्स के सिद्धान्तों का, उस पर पड़ने वाले फायरबाख् के प्रभावों का और ऐंगेल्स के लेखों का जो हवाला दिया है, उससे उनकी तलस्पर्शी पैठ का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु इस लेख के उपसंहार में लिखे हुए कुछ वाक्यों—

"यह निःसंकोच स्वीकार करना होगा कि सामाजिक चेतना जाग्रत करने में प्रगतिवाद ने बड़ा भारी योग दिया है"............

---

१. औचित्य-सम्प्रदाय का हिन्दी काव्य-शास्त्र पर प्रभाव, पृष्ठ २६७
२. हिन्दी-साहित्य में काव्य-रूपों का प्रयोग, पृष्ठ २५७

"व्यक्तिवाद से समाज की ओर हमारी दृष्टि उन्मुख कर प्रगतिवाद ने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।"[1]........को पढ़ कर यह भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक है कि डॉ० सहल भी प्रगतिवाद को काव्य की समस्त स्वरूप-प्रक्रिया पर लागू करने वाले आलोचकों में अन्यतम हैं, पर बात ऐसी नहीं है, उन्होंने प्रगतिवाद पर लगने वाले आक्षेपों को बड़े उल्लास के साथ गिनाया है—

"प्रगतिवाद सार्वजनिक शाश्वत सत्यों की उपेक्षा करता है, मार्क्सवाद पर आश्रित होने के कारण भारत की आध्यात्मिक भावना के प्रतिकूल है, ईश्वर में विश्वास नहीं करता इसलिए चार्वाक मत का नवीन साहित्यिक संस्करण है, काम-वासना का नग्न रूप उपस्थित करता है, इसलिए घासलेटी है, हिंसा को प्रश्रय देता है और श्रद्धा की उपेक्षा कर केवल बौद्धिकवाद और आर्थिक कसौटी पर प्रत्येक वस्तु को परखता है, इसलिए त्याज्य है, इसके समर्थकों में स्वयं अनुभूति नहीं, इसलिए यह पाखंड और ढोंग है, किसानों और मजदूरों तक ही सीमित रहने के कारण इसका क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है, अतः अमान्य है, केवल क्रांति के राग अलापता है, इसलिए हेय है, अतीत को नष्ट-भ्रष्ट कर केवल वर्तमान को महत्त्व देता है, इसलिए अपूर्ण है।"[2]

अवश्य ही इन आक्षेपों का यथासम्भव समाधान भी डॉ० साहब ने प्रस्तुत किया है, पर यह भी कह दिया है कि "इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि प्रगतिवाद सर्वथा निर्दोष है।"[3] "प्रगतिवाद यदि एक काव्यधारा है तो उसे काव्य का आव-रण धारण करना होगा, गद्यात्मकता और नीरसता से ऊपर उठना होगा, अपनी भावनाओं को पाठकों तक प्रेषित करने के लिए कवियों को अनुभूति का आश्रय लेना होगा।"[4]

कहना यह है कि प्रगतिवाद का महत्त्व डॉ० साहब को इसलिए तो स्वीकार्य है कि उसका भी कोई अपना जीवन-दर्शन है, चाहे वह भौतिकवादी ही अधिक है, उसने भी किसी-न-किसी सत्य का उद्घाटन किया है, भले ही वह शाश्वत नहीं है, साहित्य में उसकी भी उपयोगिता है, चाहे वह बाह्य ही क्यों न हो। इस प्रकार साहित्य के एक विशेष सिद्धांत के रूप में ही प्रगतिवाद का औचित्य डॉ० साहब को मान्य है, उसे साहित्य की समस्त स्वरूप-प्रक्रिया पर लागू करना उन्हें अभीष्ट नहीं है।

---

१. आलोचना के पथ पर, पृ० ८७
२. आलोचना के पथ पर, पृ० ८५
३. आलोचना के पथ पर, पृ० ८५
४. आलोचना के पथ पर, पृ० ८७

अब कुछ विचार डॉ० सहल की औचित्य-सिद्धान्तविषयक मान्यताओं के सम्बन्ध में भी कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि आचार्य भरत से लेकर क्षेमेन्द्र-पर्यन्त सभी औचित्य के भावदर्शी और प्रत्यक्षदर्शी आचार्यों द्वारा विवेचित औचित्य-सिद्धान्त की ऐतिहासिक मीमांसा तो महामहोपाध्याय कुप्पु स्वामी, प्रो० वी० राघवन्, आचार्य बलदेव उपाध्याय, डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री आदि विद्वानों ने बड़ी सूक्ष्म पकड़ के साथ की है, पाश्चात्य आचार्यों की रचनाओं में भी इन्होंने औचित्य के समकक्षीय सिद्धान्त खोज निकाले हैं और "औचित्य विचार चर्चा" की व्यावहारिक व्याख्या भी कर दिखाई है, पर कोई मौलिक बात ये विद्वान् नहीं कह पाये हैं। डॉ० सहल ने यह कार्य पूरा कर दिखाया है। उन्होंने इन विद्वानों के समान औचित्य पर अलग से कोई भारी भरकम ग्रंथ नहीं लिखा है, "आलोचना के पथ पर" में ही एक छोटा-सा लेख जोड़ा है जो कई दृष्टियों से बेजोड़ है। इस लेख के माध्यम से डॉ० सहल ने पहला कार्य तो यह किया है कि संस्कृत-काव्य-शास्त्र के औचित्य-सिद्धान्त को हिन्दी-काव्य-शास्त्र की प्रवृत्तियों में लाकर आत्मसात् कर दिया है; फिर उन्होंने न केवल क्षेमेन्द्र से आगे बढ़ कर वर्ण, आश्रम और स्थिति-गत औचित्य-प्रकारों की उद्‌भावना का संकेत दिया है, हिन्दी के रचनात्मक साहित्य में भी औचित्य-प्रकारों की परख करते हुए, अनेक उदाहरण और प्रत्युदाहरण ढूंढ निकाले हैं, कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

> "हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
> स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती—
> अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
> प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो।'

शिवताण्डव स्तोत्र की शैली पर पंचचामर छंद में लिखित प्रसाद जी के चन्द्रगुप्त नाटक का यह पद 'वृत्तौचित्य' की दृष्टि से कितना सुन्दर बन पड़ा है, इसका संकेत करते हुए डॉ० सहल ने लिखा है कि "मार्च करने में जिस प्रकार पहला कदम धीरे और दूसरा बलपूर्वक रक्खा जाता है, वैसे ही इस अभियान-गीत में भी क्रमशः लघु और गुरुवर्णों का प्रयोग हुआ है।"[1] वस्तुतः डॉ० सहल के द्वारा दिये गये इस उदाहरण की व्यंजना है कि 'सुवृत्ततिलक' जैसे ग्रन्थ की रचना करने वाले क्षेमेन्द्र ने अपने औचित्य-प्रकारों में 'वृत्तौचित्य' को न गिनाकर बड़ी भारी भूल की है।

इसी प्रकार—

> "अरुणगात अति प्रात पद्‌मिनी प्राणनाथ भय,
> मानहु केसवदास कोकनद कोक प्रेममय।

१. आलोचना के पथ पर, पृ० ६२

परिपूरण सिन्दूरपूर कैधौं मंगल घट,
किधौं सक्र को छत्र मढ्यो मानिक मयूख पट ।।
कै स्रोनितकलित कपाल यह किल कापालिक काल को ?"

केशव की 'रामचन्द्रिका' से उक्त पद्य को उद्धृत करते हुए भी डॉ० साहब ने बताया है कि "यहां अन्तिम पंक्ति का बोभत्स दृश्य प्रसंगानुकूल नहीं है"[1] वस्तुतः यहां भी प्रसगानौचित्य के माध्यम से प्रसंगौचित्य नामक औचित्य-प्रकार की उद्भावना का संकेत देना ही डॉ० साहब को अभीष्ट है। निश्चय ही इस छोटे-से निबन्ध में "औचित्य-सिद्धान्त" पर अनुसंधान-कार्य की बहुत बड़ी सम्भावनाओं का संकेत कर डॉ० सहल आचार्यों की कोटि में जा विराजे हैं। क्या शास्त्रीय और क्या सैद्धान्तिक, सभी प्रकार की आलोचनाओं के प्रतिमान के सम्बन्ध में डॉ० सहल का दृष्टिकोण नितान्त गतिमय है। आज आपके सम्बन्ध में स्वर्गीय आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा बहुत पहले लिखित ये पंक्तियां सहज ही स्मृति में आ जाती हैं—

"आधुनिक हिन्दी-काव्य की समीक्षा-भूमि पर पूर्वी और पश्चिमी साहित्यिक विचारधाराओं का समन्वय कर उस प्रयत्न में सहल जी ने अपना योग दिया है, जो आज की एक प्रधान साहित्यिक आवश्यकता है।"[2] अतः हम भी औचित्य के परम विश्वासी इस महान् व्यक्तित्व के प्रति वाक्-सुमनों की इस श्रद्धांजलि को अर्पित कर विश्राम लेते हैं।

टिप्पणी

(डॉ० सहल ने एक 'काव्यगत समग्र औचित्य' की भी कल्पना की है जो उन्हीं के शब्दों में पठनीय है। **—सम्पादक**)

केवल साहित्य में ही अनौचित्य रस-भंग का कारण नहीं होता, जीवन में भी औचित्याभाव से ही रस में व्याघात उपस्थित होता है। इससे स्पष्ट है कि साहित्य और जीवन, दोनों में औचित्य की युगपत् मान्यता प्रतिष्ठित है। अतः औचित्य केवल साहित्यिक सिद्धान्त अथवा सम्प्रदाय ही नहीं, वह परा रसोपनिषत् के साथ-साथ जीवन-रस का भी प्रगूढ़ रहस्य है।

जीवन में औचित्य-अनौचित्य के निर्धारण में मनीषी आचार-शास्त्रियों में भी न केवल अनेक बार मतैक्य के दर्शन नहीं होते अपितु तथ्यान्वेषण अथवा तत्व-बोध में भी वे बहुधा विमोहित हो जाते हैं। प्रायः इसी के समानान्तर स्थिति काव्य

१. आलोचना के पथ पर, पृ० ६४

२. दो शब्द, पृष्ठ (क)

के सम्बंध में भी दृष्टिगोचर होती है। काव्य में भी औचित्य-अनौचित्य को लेकर ही समीक्षा के क्षेत्र में अनेक सिद्धान्त तथा संप्रदायों का प्रचलन हुआ है। पर इधर कुछ दिनों से मेरे मन में काव्यगत 'समग्र औचित्य' की बात उठ रही थी, जिसे मैं सैद्धान्तिक तथा साम्प्रदायिक औचित्य से किसी कदर भिन्न मानता हूँ। यह 'समग्र औचित्य' शब्दार्थ के चारु सम्मेलन में है, कल्पना की रमणीयता में है; बुद्धि और भावना के प्रातिभासिक विरोध-परिहार में है, रस-निष्पत्तिजन्य आनन्द में है अथवा आवेगों के सन्तुलनजन्य मूल्य की प्रतिष्ठा में है, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु काव्य या साहित्य में 'समग्र औचित्य' जैसी कोई वस्तु है अवश्य, इस तथ्य को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। गीता जैसे दार्शनिक ग्रंथों में सुख-दु:ख आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठ कर साधक के लिए मन की साम्य-स्थिति पर जोर दिया गया है।

'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

विरोधों में मन की साम्यावस्था जीवन की कला के लिए अत्यावश्यक तथा वांछनीय है। काव्य में भी बुद्धि तथा भावना, अभिव्यक्ति तथा अनुभूति, कलापक्ष और भावपक्ष द्वन्द्वों के ही प्रकारान्तर हैं। काव्यगत औचित्य की समग्रता के लिए उक्त द्वन्द्वों में सामंजस्य अथवा साम्य-स्थापन अपेक्षित है। औचित्य का यह द्वन्द्व-संकलनात्मक रूप 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' कहने वाले कालिदास जैसे कवीश्वर को भी मान्य रहा होगा, इसमें संदेह नहीं। क्रोचे जैसे अभिव्यंजनावादी, सर्जनात्मक कल्पना के उद्भावक कालरिज और काव्य-मूल्य के प्रतिष्ठापक रिचर्ड्स आदि तत्वान्वेषी समीक्षक भी औचित्य के संश्लिष्ट रूप का समर्थन करते ही हैं। यह संश्लिष्ट रूप स्वतः साध्य है अथवा काव्यानन्द की प्राप्ति का साधन है, इस विषय में यदि समीक्षकों में विवाद हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। उपनिषद् महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु उनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है आत्मोपलब्धि का आनन्द। इसी प्रकार औचित्य यद्यपि 'परा रसोपनिषद्' है तथापि औचित्यजन्य काव्यानन्द अधिक काम्य माना जा सकता है। इस चिन्तन-क्रम को यदि थोड़ा और आगे बढ़ाया जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि 'रसो वै सः' के साक्षात्कार के समय जिस प्रकार साधन और साध्य की अद्वैतसिद्धि निष्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार काव्यानन्द की चरमावस्था में औचित्य तथा औचित्य-जन्य आनंद एकाकार हो उठते हैं।

•••

डॉ० सहल की समीक्षा-यात्रा—
समीक्षांजलि से कामायनी-दर्शन तक

• डॉ० रामचरण महेन्द्र

राजस्थान के सर्वश्रेष्ठ एवं लोकप्रिय आलोचक श्री कन्हैयालाल सहल की आलोचना-सम्बन्धी कृतियों तथा भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों की संख्या बृहत् है। सहल जी ने १ समीक्षांजलि २ आलोचना के पथ पर ३ समीक्षायण ४ साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव ५ वाद-समीक्षा ६ विवेचन ७ कामायनी-दर्शन, ८ विमर्श और व्युत्पत्ति, ६ अनुसंधान और आलोचना आदि आलोचनात्मक पुस्तकें तथा लगभग २०० आलोचनात्मक लेख हिन्दी-साहित्य के प्रायः सभी अङ्गों पर लिखे हैं, अतः सहल जी की मान्यताओं, आलोचना-सम्बन्धी कसौटी और विचार-दर्शन से परिचित होना प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी के लिए आवश्यक है। वे विराट् व्यक्तित्व एवं गम्भीर-चिन्तन-विश्लेषण की मौलिकता लेकर आलोचना-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए हैं। आलोचनात्मक निवन्ध लिखने की प्रेरणा आपको अपने हिन्दी-अध्यापन-कार्य से मिली है। एक निष्पक्ष मौलिक चिन्तक तथा भाष्यकार की दृष्टि से सहलजी ने हिन्दी-आलोचना में स्थायी योगदान दिया।

समीक्षांजलि में कला के त्रिकोण का आधार मनोवैज्ञानिक है। इस लेख में फ्रायड, एडलर तथा भारतीय दर्शन के अन्तर्गत अमर होने की अभिलाषा का पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक तथा भारतीय दर्शन के दृष्टिकोण से विवेचन है, काव्य की विराट् भावना में लांजीनस की विराट् भावना पर हिन्दी कवियों को कसकर यह दिखाया है कि हिन्दी में इस प्रकार की विराट् भावना की कितनी अधिक आवश्यकता है। नये विचारों की नयी कसौटी पर हिन्दी काव्य को कसकर इन्होंने नया पथ-संकेत दिया है। 'संवेदना का हेत्वाभास' में भारतीय और पाश्चात्य दोनों दृष्टियों से विचार किया है। अंग्रेजी के इस अलंकार की ओर सहलजी ने सर्वप्रथम हिन्दी-

आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किया है। 'सूरदास और शुद्धाद्वैत' में शुद्धाद्वैत के दार्शनिक सिद्धांतों का विश्लेषण करते हुए, उनके ग्रंथों के आधार पर उन्हें शुद्धाद्वैत-वादी ठहराया गया है। 'कुन्तक और काव्य' अपने ढङ्ग का हिन्दी का प्रथम लेख है, जिसमें वक्रोक्तिवाद का सैद्धांतिक विवेचन है। 'गुञ्जन गरिमा' में पन्त की कृति गुञ्जन का मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक विश्लेषण है। 'वापू विमर्श' में अंग्रेजी आलोचना की पद्धति पर नये ढङ्ग से विचार प्रस्तुत किये हैं। जिन अंग्रेजी अलंकारों का उल्लेख मूल पुस्तक में आया है, सहलजी ने उन्हें ढूंढकर हिन्दी जनता का ध्यान उस ओर आकृष्ट किया है। इसी कृति से सहलजी की सूक्ष्म-बुद्धि, विशद-ज्ञान तथा मौलिक दृष्टि का ज्ञान होने लगता है।

वाद-समीक्षा पुस्तक में १ छायावाद २ रहस्यवाद का स्वरूप ३ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और प्रगतिवाद ४ अभिव्यञ्जनावाद ५ हिन्दी की प्रयोगवादी कविता द्वारा विषयों पर मौलिक चिन्तन हिन्दी आलोचना-शास्त्र की नवीन दिशाओं की ओर संकेत किया है। अध्ययन विधिवत् युक्तियों से पुष्ट गम्भीर शैली का है। आलोचक सहल जी ने प्राच्य और प्रतीच्य, हिन्दी और संस्कृत, नवीन और प्राचीन, सभी विचारों को पचाकर अपनी धारणाएँ बनाई हैं। मूल प्रश्न तथा सिद्धांतों को अवगत कराने और विभिन्न वादों का सुलझा हुआ रूप प्रस्तुत करने में सहल जी सफल हुए हैं।

'आलोचना के पथ पर' कृति को मैं आपकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानता हूँ। कारण, इसमें सहल जी ने बड़े सुलझे ढंग और स्पष्ट शैली में निश्चित रूपरेखाओं के अनुसार नवीनता और मौलिकता से परिपूर्ण निबन्ध लिखे हैं। जहाँ एक ओर ये हमें नया ज्ञान प्रदान करते हैं, वहाँ दूसरी ओर हमें नये रूप में सोचने-विचारने के लिए उन्मुख भी करते हैं।

इन्हें हम स्थूल रूप से चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम शास्त्रीय विषयों से सम्बन्धित निबन्ध, जैसे 'शैली का स्वरूप', 'औचित्य सिद्धांत', 'अलंकार और मनोविज्ञान', 'साधारणीकरण और रसास्वाद के विघ्न', 'नाट्यदर्पणकार का रस-विवेचन', 'करुण रस की सुखात्मकता', 'स्वभावोक्ति का अलंकारत्व', आदि। दूसरे वर्ग में विवादास्पद वादों तथा आधुनिक विषयों से सम्बन्धित लेख, जैसे 'रहस्यवाद का स्वरूप', 'गीतिकाव्य और उसके भेद', 'कला की उत्पत्ति', 'कहानी का तन्त्र', 'महाकाव्य की परिभाषा', 'सूफी धर्म', 'साहित्य में स्वच्छन्दतावाद', 'द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद', 'मौनटेन शैली के निबन्ध' आदि। तीसरे वर्ग में विशिष्ट पुस्तकों की आलोचनाएं हैं, जैसे 'लहर-समीक्षा', 'कामायनी का काम सर्ग', 'कामायनी का लज्जा सर्ग', 'गबन की औत्सुक्य योजना', 'साकेत में प्रधान रस', 'अनन्त के पथ

पर विहंगम-दृष्टि', आदि। चौथे वर्ग में साखियों के सम्पादन तथा राजस्थानी कहावतों से सम्बन्धित निबन्ध हैं।

सहलजी ने बड़े व्यापक रूप से हिन्दी-साहित्य पर दृष्टिपात किया है। आधुनिक साहित्य से सम्बन्धित प्रत्येक निबन्ध परिपक्व है। इन्हें क्या विद्यार्थी, क्या साहित्यिक प्रवृत्ति के प्रौढ़ व्यक्ति, सभी रुचिपूर्वक पढ़ सकते हैं। सर्वत्र उनका स्वतन्त्र चिंतन स्पष्ट हुआ है। शास्त्रीय विषयों का सिद्धांत-निर्णय बड़े प्रामाणिक रूप से उपस्थित किया गया है। साधारणीकरण, रहस्यवाद, स्वच्छन्दतावाद और प्रगतिवाद का विवेचन बड़ी छानबीन से किया गया है।

प्रोफेसर पद्मसिंह शर्मा, 'कमलेश' के शब्दों में 'सबसे बड़ी विशेषता इन निबन्धों की स्पष्टता है।' विषय का सम्यक् विवेचन होने के साथ-साथ शैली में सारल्य व आकर्षण दोनों हैं। स्वतन्त्र चिंतन ने विषय को नीरस होने से बचा लिया है।

'विवेचन' सहल जी की एक अन्य समीक्षात्मक पुस्तक है। इसमें विशुद्ध साहित्यिक निबन्धों के साथ-साथ भाषाविज्ञान और मनोविज्ञान-संबंधी भी कुछ निबन्ध संगृहीत हैं। साहित्यिक निबन्धों में १ रस-सिद्धांत और काव्य २ प्रसाद और रस-सिद्धान्त ३ कबीर का माधुर्य ४ प्रसाद का नियतिवाद ५ गत्यात्मक रहस्यवाद, ६ सांस्कृतिक संत कवि तुलसीदास ७ उर्मिला का विरह-वर्णन ८ नियतिवाद और अजातशत्रु आदि उल्लेखनीय हैं। कुछ मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक निबन्ध हैं, जैसे १ संस्कृति क्या है २ मानसिक स्वास्थ्य और गीता। कुछ क्लिष्ट पुस्तकों के अध्ययन हैं, जैसे १. ध्रुवस्वामिनी—एक समीक्षा २. स्कंदगुप्त में पदाधिकार-सम्बन्धी शब्द ३. कामायनी का अद्वैत ४. गुंजन का त्रिविध पक्ष ५. करुणा और स्कन्दगुप्त आदि। भाषा-विज्ञान के निबन्धों में १. भेदीकरण का नियम २. सादृश्य का सिद्धान्त आदि उल्लेखनीय हैं।

इन निबन्धों में जहाँ नया विषय चुनकर मौलिक दृष्टि से विचार करने की प्रतिभा मिलती है, वहाँ विवेचना की गहराई भी स्पष्ट है। प्रसाद के नियतिवाद पर सहलजी ने नये दृष्टिकोण से विचार किया है। सहलजी के अनुसार प्रसाद पर वैदिक तथा काश्मीर शैवागमों के आनन्दवाद की छाप दिखाई देती है। प्रसाद का नियतिवाद निष्क्रियता और निश्चेष्टता की ओर नहीं ले जाता बल्कि उसमें कर्म की प्रेरणा मिलती है। वह ऐसा भाग्यवाद नहीं है जो पुरुषार्थ के प्रतिकूल पड़ता हो। इसी प्रकार उर्मिला के वियोग-वर्णन से सहल जी विशेष प्रभावित हुए हैं। वियोग में हृदय की वृत्तियां किस प्रकार कोमल रूप धारण कर लेती हैं, इसका अच्छा निदर्शन उर्मिला के उद्गारों में मिल जाता है। 'कबीर का माधुर्य' में आलोचक सहल जी ने सहृदयता से कबीर की कविता में माधुर्य का आस्वादन कराया है,

जो सर्वथा नवीन दृष्टिकोण है। 'गत्यात्मक रहस्यवाद' भी आलोचक की सूक्ष्म बुद्धि और गम्भीर विवेचना से परिपूर्ण है।

'संस्कृति क्या है' में सहल जी जिन निष्कर्षों पर आये हैं, वे नवीन ढंग के हैं, उनके स्वतन्त्र चिन्तन के परिणाम हैं। उनके अनुसार वही सुसंस्कृत व्यक्ति है, जिसका दिमाग दुरुस्त है, जिस्म मजबूत है। बिना समन्वय के सच्ची संस्कृति का निर्माण नहीं हो सकता। इसी प्रकार मानसिक स्वास्थ्य और गीता में दृष्टान्तों द्वारा मानसिक व्यथाओं और स्वास्थ्य का मनोवैज्ञानिक रहस्य स्पष्ट किया गया है। मानसिक स्वास्थ्य के लिए किन-किन तत्त्वों की आवश्यकता होती है, उसे रोचक शैली में प्रस्तुत किया गया है।

मान्य व्याख्याकार :

अपनी दो पुस्तकों-'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' तथा 'कामायनी-दर्शन' में सहल जी भाष्यकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। वर्षों हिन्दी-साहित्य का अध्ययन करने के कारण सहल जी की साहित्य-विश्लेषण तथा मर्म-उद्‌घाटन की शक्तियाँ अत्यन्त विकसित रही हैं। अतः इन पुस्तकों में उन्होंने काव्य-सौन्दर्य की परख, गुण-दोष–विवेचन, अलंकार-निर्देशन, उद्‌भावना-शक्ति और विस्तृत व्याख्या का परिचय दिया है।

'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' में व्याख्यात्मक समीक्षा अथवा समीक्षात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रायः महाकवियों की उक्तियों में नाना अर्थों का प्रभाव रहता है। विहारी की सतसई के भाष्य के सम्बन्ध में जो भाग लाला भगवान-दीन का है, वही गुप्तजी के साकेत के नवम सर्ग में सहल जी का रहा है। इस पुस्तक में न केवल सम्पूर्ण सर्ग की विस्तृत व्याख्या है वरन् महत्त्वपूर्ण स्थलों के मर्म का उद्‌घाटन और समीक्षात्मक टिप्पणियां भी हैं। स्थान-स्थान पर अन्य कवियों के तद्‌विषयक साहित्य की तुलना भी की गई है। अलंकार और नायिकाभेद आदि का उल्लेख करके उसके काव्य-सौन्दर्य को प्रकाश में लाया गया है। दोषों की ओर भी पाठक का ध्यान आकृष्ट किया गया है, उनकी दृष्टि नीर-क्षीर-विवेक की रही है, कोरी प्रशंसा मात्र नहीं, जहाँ कहीं आलोचक सहल जी ने दूसरे आलोचकों या व्याख्याकारों की सहायता ली है, उसका भली भांति फुटनोटों में निर्देश किया गया है। स्वयं गुप्त जी ने आलोचक की व्याख्या और तर्कों को स्वीकार किया है। इस व्याख्यात्मक शैली का विद्यार्थी-जगत में अच्छा स्वागत हुआ है, जिसके कारण पुस्तक रोचक एवं उपादेय बन गई है।

'कामायनी-दर्शन' में प्रथम ६ सर्गों का विस्तृत भाष्य करते हुए, सहल जी ने केवल शब्दार्थ मात्र से काम न लेकर गूढ़ार्थ को स्पष्ट करने और मूल भाव के विवेचन

के लिए भाष्य तथा आलोचनात्मक मिश्रण से काम लिया है। यह अध्ययन-मनन से परिपूर्ण है। सर्गों की विशेषताओं को भी स्पष्ट किया गया है। भाषा कुछ संस्कृत-मिश्रित है, अतः क्लिष्ट हो गई है, कदाचित् इसका कारण कामायनी का विषय-गौरव है।

संक्षेप में, सहलजी ने हिन्दी आलोचना तथा खोजकार्य में महत्त्वपूर्ण कार्य किया तथा सतत उत्साह से कर रहे हैं। उनके पास एक विचारशील मस्तिष्क तो है ही, भावुक हृदय और सौन्दर्यान्वेषी नेत्र भी हैं। उनकी शैली गहन, गम्भीर और विश्लेषण-प्रधान है। वे नवीनता के उपासक हैं, उनका कोई लेख ऐसा नहीं, जिसमें पिष्टपेषण हो, या एक ही बात की पुनरावृत्ति की गई हो।

(अमरज्योति से साभार)

•••

आपने लोक-कथाओं की कथानक-रूढ़ियों का इस प्रकार क्रमिक अध्ययन आरम्भ करके अपने लिए नया पथ-विधान किया है।

काशी, २–५–५८

—वासुदेवशरण अग्रवाल

गद्य-शैली और डॉ० कन्हैयालाल सहल

• डॉ० रामकुमार गरवा

व्यक्तित्व और कृतित्व दो समानान्तर रेखाएँ हैं जो साहित्य की विशिष्ट अभिव्यक्ति को बल प्रदान करती हैं। विषयवस्तु की सहज अभिव्यक्ति ही शैली है तथा महान् साहित्यकार का भाव-जगत् सदैव समसामयिक साधारण जनता के भाव जगत् से आगे रहता है। इस प्रकार भाषा की शक्ति को अर्जित करता हुआ साहित्यकार युगद्रष्टा, युगनिर्माता एवं युगपरिवर्तनकारी विभूति के रूप में जाना जाता है। डॉ० सहल हिन्दी और राजस्थानी साहित्य-जगत् में एक विशिष्ट शैलीकार के रूप में जाने जाते हैं। पांडित्य, चिंतन और मनन की विशिष्टताओं से युक्त उनका व्यक्तित्व गद्य की सहज और सफल अभिव्यक्ति का परिचायक है। भावप्रेरित वैशिष्ट्य की झलक उनके सम्पूर्ण साहित्य में परिलक्षित होती है। भाषा की शुद्धता, सामयिकता, सार्थकता एवं सुन्दरता उसकी विशिष्ट शैली पर ही आधारित है। भाषा को जीवन से जोड़कर उसे अधिक ठोस भूमि पर प्रतिष्ठित करने का काम शैली ही कर सकती है। अतः शैली की अवहेलना करके किसी भी साहित्यकार के व्यक्तित्व और कृतित्व का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य के विद्वानों ने साहित्य की शैली को अपने-अपने दृष्टिकोण से समझा है। किसी ने विचारों के तात्त्विक रूप को स्वीकार किया है तो किसी ने भाषा की विशिष्टता में ही शैली के रूप की कल्पना की है। प्लेटो शैली में विचारों को ही प्रधानता देते हैं जबकि अरस्तू का विचार है कि शैली से वाणी में वैशिष्ट्य का समावेश होता है। फ्रेंच विद्वान् बूफों का दृष्टिकोण है कि शैली स्वयं व्यक्ति है; वह उसकी प्रकृति का एक अंग है। हडसन तथा मरे शैली को मूलतः एक वैयक्तिक गुण मानते हुए, उसके मूल में व्यक्तित्व को स्वीकार करते हैं। एफ० एल० लूकास की मान्यता है कि "साहित्य की शैली एक व्यक्तित्व का दूसरे

व्यक्तित्व को प्रभावित करने का साधन है।" (Literary style is simply a means by which one personality moves another. Style : Page 48.) स्कॉट जेम्स तथा स्विफ्ट ने शैली में शब्दों के उचित प्रयोग को ही महत्त्व दिया है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने शैली के सम्बन्ध में एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण स्वीकार करते हुए लिखा है कि "व्यक्ति, विषय, भाषा एवं प्रयोजन के वैशिष्ट्य के अनुसार अभिव्यंजना-पद्धति में जो वैशिष्ट्य आ जाता है, वही शैली है।" (साहित्य की शैली पृ० २१६) पोप तथा चेस्टर-फील्ड ने शैली को विचारों का परिधान (Dress of Thoughts) स्वीकार किया है जिसे डॉ० सहल ने भ्रामक माना है। वे इसे पोशाक न मानकर चर्म के सदृश मानते हैं। उनका विचार है कि पोशाक उतार कर फेंकी जा सकती है किन्तु चर्म का शरीर से अभिन्न सम्बन्ध है। डॉ० सहल ने शैली में व्यक्तित्व के तत्त्व को भी स्वीकार किया है। वे तो यहाँ तक स्वीकार करते हैं कि बोलने की शैली, चलने की शैली तथा लिखने की शैली, सबमें व्यक्तित्व सन्निहित रहता है। उनका स्पष्ट मत है कि "शैली मनुष्य के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है।" (समीक्षाञ्जलिः पृ० ३५) जिस प्रकार मनुष्य की छाया हमेशा उसका अनुसरण करती है, उसी प्रकार लेखक का व्यक्तित्व उसकी लेखनशैली में प्रतिबिम्वित रहता है।

डॉ० सहल शैली में बौद्धिक, भावात्मक एवं सौन्दर्य-तत्त्वों की उपस्थिति आवश्यक मानते हैं। शिक्षा, अभ्यास, संस्कार, जातीय गुण एवं लेखक की वैयक्तिक अनुभूति तथा भौगोलिक परिस्थितियाँ शैली के निर्माण में विशेष योग देती हैं। इसी सन्दर्भ में डॉ० सहल की मान्यता है कि "एक प्रतिभाशाली लेखक भी अपने पूर्ववर्ती शैलीकारों से प्रभावित हो सकता है किन्तु फिर भी वह दूसरों की शैली को इस तरह अपनाता है कि अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण वह शैली उसकी निजी हो जाती है।" (समीक्षाञ्जलि, पृ० ३८) उनका यह भी स्पष्ट मत है कि कोई लेखक लाख कोशिश क्यों न करे, वह अपने को छिपा नहीं सकता; उसकी शैली में उसका व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होकर ही रहेगा, क्योंकि शैली है ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति। मनुष्य न तो पूर्ववर्ती पीढ़ियों के गुण-दोष से ही मुक्त हो सकता है और न पारिपार्श्विक परिस्थितियों के प्रभाव से ही बच सकता है। चरित्र एवं कार्य, व्यवहार, प्रकृति, स्वभाव, इच्छाएँ एवं क्रिया-कलाप तथा व्यक्ति का शारीरिक पक्ष आदि भी साहित्यकार की शैली को प्रभावित करते हैं।

शैली का सम्बन्ध व्यक्तव्य वस्तु की अभिव्यक्ति से है किन्तु क्या प्रत्येक अभिव्यक्ति ही शैली है अथवा विशिष्ट अभिव्यक्ति ही? अरस्तू-सम्प्रदाय के लेखक शैली को एक व्यापक तत्त्व के रूप में मानते हैं। उनके अनुसार जितने लेखक हैं,

उतनी ही शैलियाँ भी हैं। प्लेटो-सम्प्रदाय के समीक्षकों की मान्यता है कि शैली वह गुण है जो कुछ अभिव्यक्तियों में होता है और कुछ में नहीं। डॉ० सहल की भी यही मान्यता है कि "प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व में जैसे आकर्षण नहीं होता, उसी तरह प्रत्येक लेखक की शैली भी आकर्षक नहीं होती।" (समीक्षाञ्जलि, पृ० ३७) शैली प्रत्येक अभिव्यक्ति का साधारण धर्म नहीं है, वह विशिष्ट अभिव्यक्ति का सहज धर्म है। गद्य में अभिव्यक्ति की विशिष्टता, प्रभावोत्पादकता, औचित्य एवं आकर्षण उत्पन्न होते ही शैली प्रादुर्भूत होती है।

साहित्य की शैली जिस प्रकार बौद्धिक एवं सामाजिक प्रभावों से वंचित नहीं रह सकती, वैसे ही गुणों की उपस्थिति भी उसके लिए आवश्यक है। भारतीय विद्वानों ने माधुर्य, ओज एवं प्रसाद गुण को शैली का आवश्यक अंग माना है। इधर पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि शैली को प्रज्ञात्मक एवं रागात्मक गुणों से युक्त होना चाहिए। प्रज्ञात्मक गुण में प्रसाद एवं स्पष्टता के भाव निहित रहते हैं तथा रागात्मक गुण में शक्ति, करुणा एवं हास्य की उपस्थिति मानी है। डॉ० सहल दोनों ही गुणों को शैली में अनिवार्य मानते हैं। वे एक का सम्बन्ध बुद्धि-पक्ष से तथा दूसरे का हृदय से मानते हैं। उनका विचार है कि शैली में प्रभविष्णुता और सजीवता आत्मतत्त्व (हृदय पक्ष) के कारण आती है और यह आत्मतत्त्व स्वानुभूति के बिना नहीं आ पाता। "जहाँ स्वानुभूति है, वहाँ भव्य शब्दविन्यास भी अपने आप चला आता है।" (समीक्षायण, पृ० १२४) विचारों की गूढ़ता, विषय-प्रतिपादन की गंभीरता, मुहावरों की प्रचुरता, आनुषंगिक प्रयोगों की योजना और वाक्यों की जटिलता आदि किसी भाषा को कठिन बनाते हैं किन्तु भाषा-शैली में गुणों का प्रयोग होते ही उसकी प्रकृति क्लिष्टता से सरलता की ओर बदल जाती है।

शैली के परम्परागत भाषागत-तत्त्वों में अलंकार, कहावतों, मुहावरों एवं लोकोक्तियों को डॉ० सहल ने विशेष महत्त्व दिया है। वे साहित्य में अलंकार का प्रयोग केवल आकर्षण उत्पन्न करने के लिए ही नहीं मानते अपितु उन्हें शब्द और अर्थ के शोभाकारक एवं सौन्दर्य उत्पन्न करने वाले तत्त्व मानते हैं। उनका विचार है कि–"काव्य में जिन अलंकारों का प्रयोग किया जाता है, वे रस या भाव को सुशोभित करते हैं, किन्तु यदि काव्य में रस ही न हो तो अलंकार भी व्यर्थ हो जायेंगे।" (आलोचना के पथ पर, पृ० १६) वे अलंकारों का मनोविज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। भावाभिव्यक्ति के कारण हमारे मन में जो विचारों की प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं, उन्हें प्रकट करने का कार्य अलंकार भी करते हैं।

भाषा-शैली में कहावतों एवं मुहावरों के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। जीवन की कटु सत्यता का जितना सहज निर्देशन कहावतों में मिलता है, वैसा अन्यत्र

दुर्लभ है। हमारे आदिकालीन जीवन के शाश्वत मूल्यों को स्थायी बनाने में कहावतें, लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे विशेष उपयोगी हैं। शैली में इनके द्वारा स्पष्टता, सहजता एवं सत्यता की प्रति-स्थापना होती है। डॉ० सहल के अनुसार "कहावतें मानव-स्वभाव और व्यवहार-कौशल के सिक्के के रूप में प्रचलित होती हैं और वर्तमान पीढ़ी को पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होती हैं।" (राजस्थानी कहावतें-एक अध्ययन, पृ० १) कहावतों-मुहावरों आदि के माध्यम से मनुष्य जीवन में निरन्तर कुछ सीखता ही रहता है। अनेक समस्याओं का समाधान इन उक्तियों के माध्यम से हो जाता है। इनकी साहित्यिक उपयोगिता के सम्बन्ध में डॉ० सहल लिखते हैं—"साहित्य की दृष्टि से भी कहावतों का महत्त्व कम नहीं। कहावतें भाषा का शृंगार हैं, उनके प्रयोग से भाषा में सजीवता और स्फूर्ति का संचार हो जाता है। विशेषतः उपन्यास और कहानियों में तो लोकोक्तियों का होना एक प्रकार से अनिवार्य हो उठता है।" (राजस्थानी कहावतें–एक अध्ययन, पृ० ५) डॉ० सहल लोकोक्ति एवं मुहावरों में घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं तथा उनका मत है कि भाषा शैली में इनके प्रयोग से संक्षिप्तता, अर्थगर्भितता, चटपटापन, वैचित्र्यमयी अभि-व्यक्ति एवं हास्य-विनोद की उद्‍भावना होती है। मुहावरे वस्तुतः किसी भाषा की वैयक्तिक चाल-ढाल हैं।

डॉ० सहल ने राजस्थानी कहावतों में छन्द के विविध रूपों की ओर संकेत किया है। उनका मत है कि तुक के साथ-साथ महत्त्वपूर्ण लय भी कहावतों में विद्यमान रहती है जिससे शैली में काव्यात्मकता उत्पन्न होती है। उदा०—"घर का पूत कुंवारा डोलै, पाड़ौसी का फेरा" तथा "माया अंट की, विद्या कंठ की"—आदि। 'कहावती गाथाएँ' शीर्षक के अन्तर्गत डॉ० सहल ने कथात्मक गाथाएँ लिखी हैं, जिनमें स्थल-स्थल पर कहावतों का प्रयोग किया है। उदा० "पुराने समय में किसी देश में एक राजा रहता था। वह बहुत कंजूस था। उसका सिद्धान्त था कि "चमड़ी जाय मगर दमड़ी न जाय।" आदि। इन गाथाओं में शैली की सहज अभिव्यक्ति हुई है एवं स्पष्टता का गुण विद्यमान है। सहल साहब ने स्थल-स्थल पर इन गाथाओं में नाटकीयता का भी प्रयोग किया है। उदा०—"देपालदे ने यह बनाव देखा। देखकर कहा—चारण! क्या दूसरा बैल नहीं है? चारण ने कहा—स्वामी राजा ऐसा दातार राजपूत तो कोई नजदीक-सा है नहीं जिसके पास जाकर मांग लूं।" (कहावती गाथाएँ, पृ० २४१) इन गाथाओं में छोटे-छोटे सरल वाक्यों का प्रयोग हुआ है।

जहाँ काव्य-रचनाओं एवं संपादन में डॉ० सहल का व्यापक योगदान है, वहाँ गद्य के क्षेत्र में भी कम नहीं। उनकी गद्य-शैली की सर्वाधिक महान् उपलब्धि यह है कि उन्होंने गद्य को राजस्थानी संस्कृति, राष्ट्रीयता एवं काव्यात्मकता से संजोया है।

विचारों की गूढ़ता, विषयप्रतिपादन की गंभीरता एवं मुहावरों की प्रचुरता उनकी शैलीगत विशेषताएँ हैं। सहजता-सरलता एवं विषयानुसारिणी भाषा-शैली का प्रयोग उनके सम्पूर्ण गद्य साहित्य में हुआ है। वे साहित्य की भाषा एवं लोक-व्यवहार की भाषा में कोई सैद्धान्तिक अन्तर नहीं मानते। विषय के महान् होने पर स्वतः गरिमायुक्त भाषा-शैली का प्रयोग करते हैं एवं सामान्य विषय में साधारण बोल-चाल की भाषा का। उनके समीक्षात्मक निबन्धों में साहित्यिक भाषा का प्रयोग हुआ है तथा उनमें उनके दार्शनिक विचारों का उद्घाटन भी हुआ है। जैसे—

"जीवन और मरण एक पहेली है और यह संसार एक रहस्यमयी शक्ति का व्यक्त रूप है। इस गोरखधन्धे को वही सुलझा सकता है जो अनेक दिव्यानुभूतियों के क्रमिक विकास द्वारा आत्म-दर्शन की उच्चश्रेणी तक पहुँच गया हो, किन्तु इस प्रकार की अनुभूतियाँ वर्णन करने की वस्तु नहीं हैं; वे तो हमारे अन्तश्चक्षुओं से ही सम्बन्ध रखती हैं।" (समीक्षाञ्जलि: रहस्यवादी भावना, पृ० ८२)

डॉ० सहल के सम्पूर्ण गद्य-साहित्य में स्वतंत्र चिन्तन एवं वैयक्तिक तथ्य-दर्शन की झलक मिलती है। कामायनी, लहर, साकेत, गबन आदि कृतियों के विशिष्ट पक्षों की विवेचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते समय उन्होंने तथ्यग्राहिता एवं उद्भावना-शक्ति का परिचय दिया है। उनके समीक्षात्मक निबन्धों पर प्रकाश डालते समय 'आलोचना के पथ पर' की भूमिका में नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि "सहलजी ने साहित्यिक धरातल पर पूर्व और पश्चिम के आधार पर समन्वय के उस प्रयत्न में अपना योग दिया है जो आज एक प्रधान साहित्यिक आवश्यकता है।" वस्तुतः लेखक का दृष्टिकोण उदार और व्यापक है और उसी के अनुकूल शैली भी प्रसादमयी है। राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवादों के अन्तर्गत उन्होंने ऐतिहासिक आधार खोजा है तथा राजस्थानी दोहा-पद्धति का प्रयोग करके हमारी प्राचीन संस्कृति की उदात्त भावनाओं पर प्रकाश डाला है। उनकी अभिव्यक्ति-पद्धति में प्रवाह, तथ्यातथ्य-स्पष्टता एवं सहजता का गुण स्वतः प्रकट होता है। राजस्थानी लोककथाओं को प्रकाश में लाकर उन्होंने अनेक कथानक-रूढ़ियों का उद्घाटन किया है।

डॉ० सहल की गद्य-शैली में धारावाहिक प्रवाह भी मिलता है। शैली का यह प्रावाहिक रूप उन स्थानों पर विशेषतः पाया जाता है जहाँ किसी विचार का प्रतिपादन होता है। ऐसे स्थानों पर भाषा कुछ क्लिष्ट, परन्तु स्पष्ट एवं बोधगम्य, सुगठित वाक्य, भावव्यंजना विशद किन्तु सरल और बलशाली हुई है। जैसे "यश की इच्छा मनुष्य की सहजात प्रवृत्ति है। वह किसी-न-किसी रूप में अपने आपको जीवित रखना चाहता है। कुछ मनुष्य सुयोग्य पुत्र के रूप में, कुछ ताजमहल जैसे

स्मारक के रूप में और कुछ काव्य के रूप में और कुछ दिग्विजयी के रूप में अपना अमर नाम छोड़ जाना चाहते हैं।"

(राज० के ऐति० प्रवाद, पृ० १४८)

उपर्युक्त गद्यांश की शैली में भाषा के वलिष्ठ रूप एवं प्रवाह की एक सजीव झलक मिलती है। शैली की यह विशेषता विषय-प्रसार को शिथिल नहीं होने देती। सारांश यह है कि डॉ० सहल ने शैली के तात्त्विक विवेचन पर जो प्रकाश डाला है उसी के अनुरूप अपनी समस्त कृतियों में सफल एवं विशिष्ट अभिव्यक्ति का परिचय दिया है। वस्तुतः हिन्दी एवं राजस्थानी साहित्य-जगत् के वे सफल शैलीकार हैं।

•••

'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद' के कुछ अंश मैंने देखे। यह अपने ढंग की अनोखी पुस्तक है। ऐतिहासिक तथा साहित्यिक महत्त्व से पूर्ण ऐसी पुस्तक ने हिन्दी तथा भारतीय साहित्य के गौरव बढ़ाने में अंश ग्रहण किया है।

कलकत्ता, १५-४-१९४७

—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

आचार्य कन्हैयालाल सहल और नयी कविता

• होतीलाल भारद्वाज

यद्यपि आचार्य कन्हैयालाल सहल, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० श्यामसुन्दर दास, बाबू गुलाबराय प्रभृति रसवादी समीक्षकों की परम्परा में आते हैं तथापि उन्होंने अपने आपको परम्परागत मान्यताओं के दुराग्रहों से मुक्त रखकर साहित्य की नयी से नयी गतिविधि की महत्ता को स्वीकार करने की दिशा में सक्रिय रखा है। रसवादी समीक्षकों की श्रेणी में होते हुए भी आचार्य सहल नये साहित्य को देखकर न तो बिदकते हैं और न उसके विकास-मार्ग को गलत दिशा में मानते हैं। उनकी दृष्टि में, "कोई भी प्रबुद्ध चेतना अपने लिए अभिव्यक्ति के नये-नये मार्गों का सधान करती है, ऐसी भूमिकाओं पर विचरण करने लगती है जिन पर पहले कभी किसी के चरण-चिह्न नहीं पड़े थे।"[1] इसलिए हिन्दी की नयी-कविता भी उनके लिए कोई अजूबा नहीं है। उनके लिए नयी-कविता आज की प्रतिष्ठित काव्य-विधा है तथा इसे वे प्रयोगवादी कविता से भी सक्षम मानते हैं। वस्तुतः प्रयोगवादी रचनाएँ एक वाद के रूप में अथवा कहिए एक नारे के साथ अवतरित हुईं। लेकिन "जब किसी वाद को आधार मानकर साहित्य-सृष्टि होने लगती है तो साहित्यकार अपना व्यक्तित्व खो बैठता है।"[2] इसीलिए प्रयोगवाद मात्र एक नारा बनकर रह गया, काव्यविधा के रूप में उसका व्यक्तित्व नहीं बन पाया। किन्तु प्रयोगवाद से आगे चलकर नयी-कविता एक महत्त्वपूर्ण काव्य-विधा के रूप में अपना व्यक्तित्व बना सकी क्योंकि "नयी-कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके मूल में कोई वाद अथवा

---

१. मूल्यांकन—डॉ० कन्हैयालाल सहल, पृष्ठ १

२. वही, पृष्ठ २।

दार्शनिक सिद्धान्त नहीं है।"[1] दार्शनिक सिद्धान्त से आचार्य सहल का तात्पर्य उस विचारधारा से है जो साहित्य को एक संकुचित दायरे में बाँधकर उसकी सार्वभौमिकता और सार्वकालिकता पर प्रश्न-चिह्न लगा देती है। इस प्रकार की रचनाएँ किसी एक समय की रचनाएँ हो सकती हैं, सब समयों की रचनाएँ नहीं। हिन्दी में प्रगतिवादी रचनाएँ इस तथ्य का प्रमाण हैं। नयी कविता ने अपने आपको किसी सकुचित विचारधारा तथा किसी वाद से नहीं बाँधा है, इसीलिए वह आज की प्रतिनिधि कविता-धारा है।

नयी कविता के प्रति आचार्य सहल की आसक्ति का कारण यह भी हो सकता है कि वे कोरे समीक्षक ही नहीं हैं प्रत्युत एक संवेदनशील कवि भी हैं तथा उनकी कविताओं को नयी कविता की श्रेणी में ही रखा जा सकता है। अपने 'प्रयोग' तथा 'क्षणों के धागे' कविता-संग्रहों में उन्होंने क्रमशः 'आमुख' और 'ताना-बाना' में जो विचार व्यक्त किए हैं, उनसे न केवल उनकी रचना-प्रक्रिया का परिचय मिलता है बल्कि नयी कविता-सम्बंधी उनकी मान्यताओं का भी स्पष्टीकरण होता है जो सम्भवतः नयी-कविता के लिए उनका निकष हो सकता है। (उनका 'समय की सीढ़ियाँ' शीर्षक से तीसरा काव्य-संग्रह भी १९७० में प्रकाशित हो चुका है)।

आचार्य सहल साहित्य में बहुत गहरे पैठ कर उसे देखते हैं। वे साहित्यकार के कृतित्व को जितना महत्त्व देते हैं, साहित्य के मानों को उतना नहीं, क्योंकि "साहित्य-सर्जना नियमों का परिणाम नहीं है—वस्तुतः साहित्यकार का कृतित्व ही नियमों को जन्म देता है। उसका समर्थ साहित्यिक व्यक्तित्व ही साहित्य के नये मान भी निर्धारित करता है।"[2] वस्तुतः महत्त्व तो कृतित्व का ही है, मान तो उसके साथ स्वतः बदलते रहते हैं। इसके साथ ही उनकी दृष्टि में नयी-कविता के मूल्यांकन के लिए परम्परागत मानदण्ड अनुपयोगी हैं। नए साहित्य के संदर्भ में नये समीक्षकों ने बार-बार सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि आधुनिक जीवन को प्रभावित करने वाले तत्त्वों पर बल दिया है। एक प्रकार से ये तत्त्व आधुनिक साहित्य के लिए मानदण्ड-से बन गये हैं। डॉ० रघुवंश ने साहित्य के अपने सवालों की चर्चा करते हुए कहा था, "साहित्य के अपने सवालों पर आने के लिए मिसाल के तौर पर हम ऐसे सवालों की चर्चा कर सकते हैं जिनको साहित्य के प्रसंग में उठाया जाता है, पर जो उसके अपने सवाल नहीं हैं। सामाजिक प्रतिश्रुति से लेकर व्यक्तित्व की स्वाधीनता तक के सवाल इसी कोटि में आते हैं।"[3] इसलिए इन तत्त्वों को साहित्य का

१. मूल्यांकन, पृष्ठ ३।
२. मूल्यांकन—पृष्ठ १।
३. साहित्य के अपने सवाल—डॉ० रघुवंश, 'कल्पना,' मार्च, ६९।

मानदण्ड नहीं माना जा सकता । आचार्य सहल ने भी इस बात की ओर बहुत पहले (१९६३ में) इस प्रकार संकेत किया था, "साहित्य का मानदण्ड स्वयं साहित्य होना चाहिए, न कि बाहर से आरोपित राजनीतिक, सामाजिक अथवा मनोवैज्ञानिक आदर्श।"[1]

आचार्य सहल एक रसवादी समीक्षक हैं जबकि नयी कविता में रस की स्थिति को संदेह की दृष्टि से देखा गया है और नयी कविता के पक्षधरों ने उसमें बुद्धिरस तक की परिकल्पना की है जो स्वभावतः परम्परागत रस का विरोधी ठहरता है । आचार्य सहल बुद्धिरस की कल्पना पर विश्वास नहीं करते पर बौद्धिकता के विरोधी वे नहीं हैं। "आधुनिक काव्य में बौद्धिकता को मानदण्ड के रूप में प्रतिष्ठित करने का अर्थ यदि केवल सस्ती भावुकता का विरोध करना मात्र है तब तो ऐसी बौद्धिकता का समर्थन किया जा सकता है, अन्यथा नहीं । फिर दूसरी बात यह है कि काव्य में जिस रागात्मक तत्त्व को अनिवार्य ठहराया जाता है, उसका बौद्धिकता से कोई विरोध नहीं।"[2] उनका यह कथन काव्य में बुद्धितत्त्व के समावेश तक ही है यद्यपि वे मानते हैं कि "रस की सत्ता से इन्कार करना काव्य की सत्ता से इन्कार करने के समान है।"[3] लेकिन वे यहीं नहीं रुकते । रस के प्रति इतना आग्रह होने के बावजूद, वे नयी कविता की एक अन्य शक्ति की महत्ता स्वीकार करते हैं—वह शक्ति है, बिम्ब-योजना । "एक आधुनिक कवि की परीक्षा उसके द्वारा आविष्कृत बिम्बों के आधार पर ही की जा सकती है । उसकी विशिष्टता और उसकी आधुनिकता सबसे अधिक उसके बिम्बों में ही व्यक्त होती है।"[4] यह बिम्ब-निर्माण-प्रक्रिया नयी कविता का एक महत्त्वपूर्ण मानदण्ड है लेकिन आचार्य सहल (रस के प्रति पूर्ण आग्रह के बावजूद) नयी कविता में रस के स्थान पर बिम्ब-योजना को ही विकल्प मानदण्ड स्वीकार कर लेते हैं, "रसनिष्पत्ति के अभाव में प्रभावकता साहित्य के लिए नूतन मापदण्ड प्रस्तुत करती है और इस प्रभावकता की मूल-भित्ति है—बिम्ब योजना।"[5]

नयी कविता के संदर्भ में परम्परा और आधुनिकता की बात भी बार-बार उठती है । नये रचनाकारों का एक वर्ग ऐसा भी है जो परम्परा को अस्वीकार करता

---

१. मूल्यांकन, पृष्ठ ८ ।
२. मूल्यांकन, पृष्ठ ५ ।
३. वही, पृष्ठ ८ ।
४. वही, पृष्ठ ८ ।
५. मूल्यांकन, पृष्ठ ८ ।

है और नये जीवन-मूल्यों को स्वीकारता है। लेकिन आचार्य सहल को यह दृष्टिकोण एकांगी लगता है। वे उस परम्परा को तो त्याज्य मानते हैं जो हमारे विकास-मार्ग में बाधक है लेकिन हमारा समस्त परम्परागत देय त्याज्य नहीं है। वे ४० वर्ष की आयु में अपने को ५,००० वर्ष का मानते हुए मोहनजोदड़ो से लेकर गांधी के परवर्ती काल तक की चेतना को आत्मसात् करते हैं। परम्परा को छोड़ने की बात उन्हें इसलिए भी नहीं जचती कि "प्राचीन-नवीन स्वतः अपने में कोई मूल्य नहीं हैं, उनके प्रति कलाकार की मानसिक प्रतिक्रिया ही उन्हें मूल्य का रूप प्रदान करने में सक्षम होती है।"[1] अपनी बात को उन्होंने आगे और भी समझाया है कि "प्राचीनता और नवीनता का सम्बन्ध किसी युग-विशेष से उतना नहीं, जितना उसका सम्बन्ध हमारे मानस-लोक से है।"[2] उन्हें प्राचीन और नवीन कालगत न लगकर मानसगत लगते हैं। आचार्य सहल को गांधीजी में "प्राचीन-नवीन एवं परम्परा-प्रगति का विलक्षण समंजन" लगा है। इसलिए अपनी सारी परम्परा का अस्वीकार आधुनिकता की शर्त नहीं है प्रत्युत 'परम्परा का विवेकपूर्ण त्याग-ग्रहण ही हमें वर्तमान में गतिशील बनाता है।' शायद यही आधुनिकता की सम्यक् व्याख्या हो सकती है।

आधुनिकता से ही जुड़ी हुई एक और महत्त्वपूर्ण चीज है—वैज्ञानिक चेतना, जिसने बौद्धिकता को चरम उत्कर्ष प्रदान किया है। आचार्य सहल वैज्ञानिक उपलब्धियों की महत्ता तो स्वीकार करते हैं लेकिन उन्हें लगता है कि "मानवीय मूल्यों की समस्या को सुलझाने में उसका (विज्ञान का) कोई योगदान नहीं है। इसके उत्तर में यह भी कहा जा सकता है कि मानवीय मूल्यों की स्थापना विज्ञान का क्षेत्र नहीं है, यह क्षेत्र है दर्शन का, धर्म का अथवा नीतिशास्त्र का।"[3] इसका अर्थ यह हुआ कि वैज्ञानिक दृष्टि भी एकांगी है क्योंकि यह मानवीय मूल्यों की बात नहीं सोचती, लेकिन विज्ञान ने मानव के लिए जो कुछ दिया है, उसे हेय भी नहीं माना जा सकता। पर नयी कविता केवल विज्ञान को प्रश्रय नहीं देती। आचार्य सहल की दृष्टि में (कविता में) "बुद्धि और हृदय, ज्ञान और भक्ति दोनों का संतुलन आज अपेक्षित है।"[4] फिर भी उन्हें लगता है कि "वैज्ञानिक जीवन-दर्शन साहित्य का जीवन-दर्शन भी हो सकता है, शर्त केवल यह है कि साहित्य हमारी संवेदनाओं को जागृत करे, उन्हें प्रभावित करे।"[5]

---

१. क्षणों के धागे, ताना-बाना पृष्ठ २।
२. वह, पृष्ठ ३।
३. क्षणों के धागे, ताना बाना पृष्ठ।
४. प्रयोग, आमुख पृष्ठ ६।
५. मूल्यांकन, पृष्ठ १०।

नयी कविता में क्षण की अभिव्यक्ति को महत्त्वपूर्ण माना गया है। क्षण की महत्ता को आचार्य सहल ने न केवल समीक्षात्मक स्तर पर स्वीकार किया है प्रत्युत रचनात्मक स्तर पर भी। उन्हें लगता है कि "अंधकार को आग लगा दी" रचना में जिस क्षण को अन्तःस्फूर्तिमयी वाणी दी गई है, वह भी एक मौलिक सत्य है जो रचयिता के हृदयाकाश में विद्युत् की भांति कौंध उठा था।"[1] लेकिन उनका यह क्षण निराशा की ओर नहीं ले जाता। निराशा, साहित्य का ही क्या, जीवन का ही महत्त्वहीन पहलू है। भारतीय दर्शन के कर्मवाद के वे समर्थक हैं, दैववाद या भाग्यवाद के नहीं। वे आधुनिक जीवन की जटिलताओं और व्यस्तताओं से परिचित हैं। इन विकट परिस्थितियों से व्युत्पन्न कुंठाओं का चित्रण तो काव्य में होगा परन्तु "जीवन की कठोर यथार्थताओं का चित्रण अपनी कुंठाओं और विकृतियों को उंडेल देना अथवा उनका वमन करना नहीं है।"[2] नयी कविता के नाम पर इस प्रकार की रचनाएँ खूब लिखी गयी हैं। नये कवियों ने वैयक्तिकता की आड़ में अपनी व्यक्तिगत दमित वासनाओं और निपट निजी अनुभवों को कविता में अभिव्यक्ति दी है। पर इस प्रकार की रचनाएँ सबकी सहानुभूति नहीं पा सकतीं। वस्तुतः सच्ची कविता हम उसे ही कहेंगे जिसमें "निर्वैयक्तिक, निर्लिप्त और अनासक्त होकर जिस सत्य की वह (कवि) प्रतिष्ठा कर जाता है, उसकी कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती।"[3]

नयी कविता ने शिल्प के क्षेत्र में बहुत बड़ा परिवर्तन किया है। डॉ० रघुवंश तो शिल्प एवं रचनात्मक प्रक्रिया को ही साहित्य के अपने सवाल मानते हैं। यदि किसी कविता में आधुनिक संवेदनाओं की अभिव्यक्ति 'पद्मावत' की मसनवी शैली पर की जाए तो वह आज के पाठक को प्रभावित नहीं कर सकती। शिल्पगत प्रयोगों का आचार्य सहल भी स्वागत करते हैं। उनकी दृष्टि में "नवीन मानव-मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए नूतन शिल्प-विधान की आवश्यकता होती है।"[4] लेकिन शिल्प के नाम पर जो गद्य नयी कविता में लिखा गया है, उसके वे विरोधी हैं "जो नयी कविता के नाम पर इस प्रकार की कविता करने लगे हैं जिसके दोनों ओर के सिर कटे होते हैं, तीन पंक्तियाँ इस प्रकार लिख दी जाती हैं मानो वे १३ पंक्तियाँ हों।"[5] उनके लिए "छन्दों के सम्बंध में परम्परा-त्याग का यही अर्थ होना चाहिए कि

---

१. क्षणों के धागे, ताना वाना, पृष्ठ २।

२. मूल्यांकन, पृष्ठ ६।

३. मूल्यांकन, पृष्ठ ६–१०।

४. क्षणों के धागे, ताना वाना, पृष्ठ ३।

५. वही, पृष्ठ ४।

नव्यतम यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए नूतन छंदों की उद्‌भावना की जाए लेकिन लय तक को तिलांजलि देकर छन्द को बिल्कुल स्वच्छन्द बना देना वांछनीय नहीं।"[१]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि वे नयी कविता में लय की अनिवार्यता पर बल देते हैं। यह लय क्या है? यह न तो नीरज की गीतात्मक लय है और न डॉ० जगदीश गुप्त की अर्थ-लय। उन्होंने इस सम्बन्ध में स्वयं लिखा है कि "वस्तुतः काव्य में भी एक वजन, एक संयम अथवा ध्वनि-लहरियों का व्यवस्थित संयोजन होना चाहिए।"[२] इस दृष्टि से आचार्य सहल टी० एस० एलियट के अधिक निकट हैं, जिन्होंने कहा था कि सर्वाधिक मुक्त छन्द में भी किसी सीधे-सादे छन्द का प्रेत पर्दे के पीछे रहता है।

•••

'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवादों' के संग्रह की आपकी सूझ बड़ी सुन्दर है। सारी किताब को एक सरसरी नजर से देख गया हूं, बड़ी रोचक है।

२९-३-४७

—नरोत्तमदास स्वामी

---

१. वही, पृष्ठ ५।

२. मूल्यांकन, पृष्ठ ७।

डॉ० सहल की भावयित्री प्रतिभा

• आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

डॉ० कन्हैयालाल सहल में बहुवस्तु-स्पर्शिणी प्रतिभा है। वे कारयित्री और भावयित्री दोनों प्रकार की प्रतिभाओं से सम्पन्न प्रातिभ हैं। कारयित्री प्रतिभा ने जो कार्य सुसम्पन्न किया है, उससे कहीं अधिक महत्त्वशाली साहित्य-क्षेत्र के लाभ की दृष्टि से मुझे इनकी भावयित्री प्रतिभा के कर्तृत्व दिखाई देते हैं। इनकी भावयित्री प्रतिभा भी उभयविध मार्गों पर यात्रा करने वाली है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि इन उभयविध मार्गों में उनकी प्रतिभा का पदन्यास किसमें अधिक श्रेयस्कर माना जाय तथापि परिमाण की दृष्टि से एक मार्ग पर वह अधिक दूर तक चली गई है। ये उभयविध मार्ग हैं—शास्त्रीय मार्ग और देशी मार्ग। शास्त्र का निर्माण करने वाले व्युत्पन्न आचार्य होते हैं। इसीलिए उस मार्ग के पथिक को बहुत अधिक श्रम करना पड़ता है। इसी से जो शास्त्रीय मार्ग में धैर्य और साहसपूर्वक नहीं प्रवृत्त होते, उन्हें वैसी सफलता नहीं मिलती जैसी मिलनी चाहिए। डॉ० सहल के शास्त्रीय विचारों से स्पष्ट है कि ये उसके विमर्श में बावन तोला पाव रत्ती को चरितार्थ करने वाले हैं। पर दूसरा देशी मार्ग है। इसमें अधिकतर ऐसे ही महानुभाव प्रवृत्त होते हैं जिनको शास्त्रीय मार्ग में गति नहीं होती। पर शास्त्रीय मार्ग में श्लाघ्यगतिक होकर भी डॉ० सहल ने देशी मार्ग पर विचरण करने का प्रयास किया है। इसका फल यह हुआ कि इस मार्ग में इन्होंने जैसा कार्य किया है, वैसा अन्य करने में समर्थ नहीं हो सका है। इस मार्ग के पथिक के लिए शास्त्रीय मार्ग का अभ्यास इसलिए लाभकर है कि इस मार्ग पर चलने की प्रेरणा अंग्रेजी से ही मिलती रही है। जिसे लोक-साहित्य कहते हैं, उसे ही यहाँ देशी मार्ग कहा गया है। पर इस मार्ग पर चलने वाले अधिकतर साँचा अंग्रेजी का लेकर, मिट्टी भारतीय भर-भर कर मूर्तियाँ गढ़ते रहते हैं। स्वतंत्र साँचा या विमर्श प्रायः नहीं करते। डॉ० सहल ने स्वतन्त्रचेता के रूप में यह कार्य किया है और अच्छी उपलब्धियां की हैं। हिन्दी के लिए इस क्षेत्र में

कैसा कार्य करना चाहिए, इसके लिए मेरे विचार से डॉ० सहल के आदेश माने जा सकते हैं।

भारत प्राचीन देश है और इसमें आरण्यक, पौर और नागर जीवन के विविध सोपानों पर चढ़ने, उतरने की शक्ति-सामर्थ्य न जाने, किस युग से चली आ रही है। इसने यह भली भाँति अनुभूत कर लिया है कि जीवन में आरोपित स्थिति नहीं होनी चाहिए। इसी से यहाँ जीवन के सहज रूप की आकांक्षा विद्या या साधना के सभी क्षेत्रों में दिखाई देती है। सन्त, साधक या सिद्ध सहज की उपलब्धि करने में लीन दिखाई देते हैं। साहित्य या काव्य भी 'भग्नावरणा चित्' की उपलब्धि में लीन दिखाई देता है। गृहस्थ भी सहज भाव को बनाये रखने में दत्तचित्त रहता है। भक्त भी 'स्वभाव' को ही ग्रहण करना चाहते हैं। कृषक भी सहज या निसर्ग की ओर ही प्रवृत्त दिखाई देता है। यान या मार्ग के रूप में कहना चाहें तो यही कहेंगे कि यहाँ की पद्धति, यहाँ का चालचलन सहजयान या ऋजुमार्ग है। भीतर कुछ और बाहर कुछ, ऐसी प्रवृत्ति इस देश के मूल में नहीं थी। इस यान, मार्ग या रहन की स्थिति वहीं दिखाई देती है जिसे लोक कहते हैं। तुलसीदास जब कहते हैं कि—

"लोक वेद मत मंजुल कूला"

तब यही संकेत करते हैं कि जीवन के दो प्रवाह हैं—एक लोक का और दूसरे वेद या शास्त्र का। जो इस तट पर है चाहे उसे आप लोकतट कह लीजिए, जो उस तट पर है या जो पारंगत या पारस्कर है, वह वेद या शास्त्र-तट पर है। जिसे इस तट पर ही रहना है, जिसे पार जाने की आकांक्षा नहीं है, उसे नाना प्रकार के नियमों के बंधन में उतना नहीं बंधना पड़ता, पर जिसे पार जाना है, उसे हाथ-पैर फेंकने का अभ्यास करना होगा, घड़ैल बनाकर या नाव-निर्माण करके पार जाना होगा। उनके नियमों को जानना होगा, उन नियमों के शास्त्र में चलना होगा, शास्त्र का शासन स्वीकार करना होगा। लोक-जीवन में स्वच्छंदता है, पर शास्त्रबद्ध जीवन में स्वच्छंदता नहीं है। स्वच्छंद शास्त्र को नहीं मानता, शस्त्र को मानता है। 'शास्त्र' में 'शस्त्र' से आकार अधिक है, इसी से उसकी सीमा अधिक है, व्याप्ति अधिक है अर्थात् उसे देखकर, सोचकर कर्म में प्रवृत्त होना पड़ता है। उसे नीति से काम लेना पड़ता है, अपने हित का ध्यान रखना पड़ता है। 'हितशासकत्वं शास्त्रत्वम्' कहलाता है। पर चाहे 'हित अनहित पसु पंछिउ जाना' ठीक हो और यह भी ठीक हो कि 'मानस तन गुन ध्यान निधाना' है किंतु लोकतट पर खड़ा 'हित अनहित' पर उतना ध्यान नहीं देता जितना शास्त्रतट पर खड़ा देता है। जो बंधन में होगा, जिस पर जितने ही आवरण चढ़ गए होंगे, उसे उतनी ही सहज साधना की अपेक्षा होगी।

जैसे 'समज' से आकार वृद्धि होने पर 'समाज' बना, वैसे ही 'शस्त्र' से 'शास्त्र' समझ लीजिए। 'समज' पशुओं का समूह कहलाता है। मनुष्य की अपेक्षा पशु में सहज भाव निसर्ग से है। चोट लगने पर वह चिल्ला पड़ेगा, क्रोध आने पर झपट पड़ेगा। समाज मनुष्यों का समूह कहलाया, क्योंकि इसकी व्याप्ति बढ़ गई। पशु अपने को, अपने समूह को देखता है, मनुष्य अपने को भी देखता है, पशुओं-पंछियों को भी देखता है, वह मनन करने वाला जीव है। पशुत्व से उसकी व्याप्ति बढ़ी है। 'शस्त्रेण रक्षिते राज्ये शास्त्रचिंता प्रवर्तते।' पहले संरक्षा हो ले—तब तो शास्त्र-चिंतन हो। चिंतन किसका करें। उसके लिए विषय, आधार-भूमि तो होनी ही चाहिए। मनुष्य का समूह 'समाज' बना। इसकी पहले संरक्षा हो ले तब शास्त्र-चर्चा हो। अर्थात् शस्त्रचिंता पहले है और शास्त्रचिंता बाद में है। इसमें व्याप्ति और हो गई। जहाँ तक शस्त्र-वाला पहुँचा था, उसके आगे शास्त्र वाला गया। शस्त्र-चिंता वाला यह देखता है कि हमने क्या बचाया, क्या आगम हुआ, क्या अभाव हुआ। उधर शास्त्रवाला देखता है कि कितना आगे बढ़े, कितना निर्यात या निर्गमन हुआ।

लोक-जीवन प्रवाह-जीवन है, शास्त्र-जीवन मर्यादा-जीवन है। लोक-जीवन प्रवृत्तिमूलक है और शास्त्र-जीवन निवृत्तिपर्यवसायी है। लोकवाला अपनी भूमि को देखता है, अपने को पृथ्वी का पुत्र समझता है, पृथ्वी उसकी माता है, वही अन्नपूर्णा है, उसे वह प्यार करता है, उसे वह छोड़ना नहीं चाहता। दुर्योधन ने भगवान् श्रीकृष्ण से जो यह कहा कि 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव' यह लोकध्वनि है। लोक का धरती से ऐसा ही मोह होता है। वह पृथ्वी को दूसरे को देना नहीं चाहता, उसे बेचना नहीं चाहता। घोर विवशता ही उसे ऐसा करने को प्रेरित करती है। फिर भी इतना ही कह सकते हैं कि शास्त्रचिंता भी निवृत्ति की ओर जाकर किसी गड्ढे में थोड़े ही गिराती है। वह पृथ्वी से ऊपर ले जाती है, दिव्यलोक की ओर ले जाने का प्रयास करती है। वह अवार के साथ पार को भी देखती है 'पारावारज्ञ' बनाने का प्रयास करती है। स्वार्थ से परमार्थ की ओर ले जाती है, पर 'परार्थ' का ध्यान रखकर, स्वार्थ से परार्थ का तारतम्य उसमें होता है। इससे शास्त्र लोक का परिष्कार ही करते हैं। यह हुई जीवन की बात। अब साहित्य या वाङ्मय को लीजिए।

राजशेखर कहते हैं—'शास्त्रं काव्यं चेति वाङ्मयं द्विधा।' वाणी से निर्मित वाङ्मय दो प्रकार का होता है—शास्त्र और काव्य। प्रश्न हो सकता है और जिज्ञासा भी की गई है कि यहाँ शास्त्र पहले क्यों रखा गया। यदि वाङ्मय केवल साहित्य का ही हो तो जब तक काव्य नहीं होगा या नाट्य नहीं होगा, तब तक शास्त्र नहीं होगा। काव्य का अनुगामी है शास्त्र। यदि साहित्येतर के लिए हो तो

वहाँ पहले अवस्था होगी, तभी व्यवस्था का प्रश्न आएगा। स्थिति पहले है, तब व्यवस्थिति या शास्त्र होता है। ऐसा सोचने वाले समझते हैं कि शास्त्र पृथक् है और काव्य या सर्जना अलग है। वास्तविकता यह है कि काव्य या सर्जना के भीतर ही शास्त्र भी रहता है। वाल्मीकि आदि कवि कहलाते हैं। उनका काव्य शास्त्र से शासित नहीं है, वह उनके अंतःकरण का सहज उच्छलन है, ऐसा कहा जाता है। पर जब 'क्रौंचमिथुनद्वंद्व' की आपत्ति-विपत्ति के शोक की सहानुभूति में उनका शोक श्लोक के रूप में परिणत हुआ और नूतनछंदसामवतार हो गया तब इस समस्या में ही वे उलझ गए कि इसका क्या हो। नारद जी न आते तो कदाचित् वे उलझे ही रह जाते। रामायण की रचना होती या नहीं, राम जाने। पर छंद का बंधन बिना पाए, काव्य बने तो कैसे बने। जैसे परा-वाक् में शब्द और अर्थ एक में संयुक्त रहते हैं और अपरा वाक् के पश्यंती, मध्यमा, वैखरी के सोपानों को पार करते हुए वे परस्पर क्रमशः पृथक् होते हुए सर्वथा पृथक् प्रतीत होते हैं, वही स्थिति शास्त्र और सर्जना की है। सर्जना में ही शास्त्र भी पड़ा रहता है। अब किसको पहले माना जाए—शास्त्र को या सर्जना को। सर्जना करने वाले के कुछ नियम होते हैं, तभी सर्जना होती है। यदि वे नियम न हों तो सर्जना ही न हो। कुम्हार के पास चक्र, दंड, सूत्र, मृत्तिका होगी तभी तो भांड बनेगा। कैसे चक्र चलाया जाए, कब सूत्र से निर्मित्त भांड को उतार लिया जाए आदि नियम के बिना निर्माण कैसे? कार्य के पहले कारण है। कारण के बिना कार्य होगा कैसे? ब्रह्मा न हों, पंचतत्व न हों तो सृष्टि हो तो कैसे। फिर सृष्टि नानाविध है और सबके नियम पृथक्-पृथक् हैं। निमित्त और उपादान कारण से कार्य होता है। पर संयोजन भी तो होता है। सूत्र यदि एक दूसरे से न मिलें तो फिर कपड़ा बने कैसे। सूत से कपड़े बनते हैं। पर वे मिलते या मिलाए जाते हैं। इसप्रकार स्पष्ट है कि सर्जना के नियम अर्थात् शास्त्र उस सर्जना के भीतर ही होता है। किन्हीं नियमों से ही सृष्टि होती है। नियम न होंगे तो सृष्टि न होगी। इसलिए स्पष्ट होता है कि शास्त्र पहले और सर्जना बाद में है। यह दूसरी बात है कि शास्त्रों के नियमों को शब्दबद्ध बाद में किया जाता है। काव्यकार के अनंतर शास्त्रकार हो सकता है। ब्रह्मा के अनंतर विष्णु हों, यह ठीक है। पर शास्त्र पहले है और काव्य बाद में है।

इस प्रकार यह भी प्रकट हो जाता है कि लोक-साहित्य निरा शास्त्रहीन साहित्य नहीं है। जन-साहित्य (मास लिटरेचर) और सुजन-साहित्य (क्लास लिटरेचर) स्वरूप में भिन्न हों, पर न पहला शास्त्र-रहित है और न दूसरा लोकाधार-रहित। पहले को शास्त्रकारों द्वारा बनाए नियमों की अपेक्षा नहीं होती, दूसरे को होती है। पहले की साज-सज्जा अपृथक् प्रयत्नकृत होती है, दूसरे में प्रयत्न दिखाई देता है। किसी सौंदर्य-चेतना का अनायास और सायास होना ही इनका भेदक तत्व

प्रतीत होता है। जब कोई आचार्य कहता है कि शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छा न होनी चाहिए, रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा होनी चाहिए तो वह सहज या नैसर्गिक प्रवृत्ति का ही संकेत करता है। लोक-साहित्य में सहज ही प्रवृत्ति होती है। प्रत्युत यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आरोपित प्रवृत्ति वाले निर्माण का भी उत्स सहज प्रवृत्ति वाले साहित्य-प्रवाह में ही रहता है। जिन्होंने यह समझ लिया कि शास्त्रीय प्रवृत्ति कहीं अन्यत्र से आती है, उनकी समझ का ही फेर उनकी वह समझ है। यह तो रूढ़ि में बँधना है। एक निबंध है, दूसरा सबन्ध है। बँधना और मुक्त होना, साहित्य में नेमिक्रम से चलता रहता है।

ग्रामीय जीवन और **नागरीय** जीवन में सहज और आरोपित प्रवृत्ति का ही अंतर है। पर भारत ग्रामीय प्रवृत्ति से आगे बढ़कर फिर उसी में लौट आया। नागरिक जीवन से संबद्ध सभ्यताएँ भ्रम से समझती हैं कि हम ग्रामीय जीवन से बढ़कर परिष्कृत जीवन में चल रहे हैं, किन्तु भारत ग्रामीय जीवन में ही पड़ा है। मुसलमान नागरिक प्रवृत्ति लेकर आए, शासन करने लगे। यह तो स्पष्ट ही है कि शासन और शास्त्र का धातु एक ही है। उन्होंने समझा कि भारत के लोग देहाती हैं। उनकी तो बात ही छोड़िए। उर्दू के शायर या कवि फिराक साहब हिंदी वालों को देहाती ही समझते हैं। उर्दू ने नागरिक प्रवृत्ति ग्रहण की। हिंदी या भारती नागरिक प्रवृत्ति लेती भी है तो उसे अधिक दिनों ग्रहण नहीं किए रहती, शीघ्र परित्यक्त कर देती है। हिंदी की साधना सहज प्रवृत्तिमूलक है, उर्दू की आरोपित। उर्दू वाले जब किसी शब्द के प्रयोग में सन्देह करते थे तो तवायफों से प्रयोग की असलियत जानने जाते थे; किसी गृहस्थ से या गृहिणी से पूछने नहीं जाते थे। तवायफ की प्रवृत्ति दिखावे की या आरोपित रहती थी। उनके अनुकूल वही पड़ती थी। वहाँ उनके लिए अनुकूलता हो, पर तवायफ की प्रवृत्ति सहज नहीं है। नागरिक जीवन के आवरण से वह आवृत रहती है। जीवन में और साहित्य में मुसलमान शासकों के कारण कृत्रिम या आरोपित प्रवृत्तियां बढ़ाई गईं, उनका आकर्षण बढ़ाया गया। पर मुगल शासकों में से जो निरावरण होना चाहता था, उसने भारतीय उपनिषदों की सहज छाया का विश्राम पसंद किया।

अंग्रेज भी नागरिक सभ्यता का अभिमान लिए हुए आए। वे भी शासन में लगे। उन्होंने भी नागरिकता का मोह फैलाने का प्रयास किया। वे भी भारतीयों को असभ्य समझते रहे, आज भी समझते होंगे। पर भारतीयों के प्राचीन वाङ्मय में जब वे धँसे तो उनकी भी आंखें खुलीं, नेत्रोन्मीलन हुआ। वे भारतीयों से उस मोह को, जो उनमें आरंभ से था, छुड़ाने का प्रयत्न करने लगे। वे फिर भी उतने सफल नहीं हुए, पर हमारी वर्तमान सरकार, जो उन्हीं के पदचिन्हों पर चलने में

दत्तचित्त है, धीरे-धीरे उसमें सफल होती जा रही है। धरित्री के प्रति यहाँ के जन का जो मोह था, उसे उसने छुड़ा लिया है, या कहिए कि छुड़ाने में वह विधि-विधानों से समर्थ हो रही है। धीरे-धीरे धरित्री अब जन की नहीं, सरकार की होती जा रही है। नागरिक जीवन में प्रत्येक पृथक् रहना चाहता है। ग्राम का प्रत्येक व्यक्ति वहाँ के प्रत्येक निवासी के संबंध में पूरी जानकारी रखता रहा है, अब भी उसकी प्रवृत्ति वही है। पर नागरिक जीवन में यह परिस्थिति बदल गई है। नगर में पारस्परिकता कम हो रही है, जितनी है वह आरोपित या कृत्रिम हो रही है। सहजता उससे हटती जा रही है। आज भारत में इसी नागरिक सभ्यता की धूम है। हर मंत्री या विधायक इसी के चक्कर में है।

डॉ० सहल ने जनपद-साहित्य का जैसा अध्ययन किया, वह औरों से विशेष है। इसका कारण यह है कि जिस क्षेत्र में या प्रदेश में वे रहते हैं, वह जनपद-साहित्य से भरापूरा है। आज जनपद-साहित्य का जैसा अध्ययन हो रहा है, वह अधिकतर अनुकृति मात्र है। अंग्रेजों में या अंग्रेजों की श्रमशीलता से जो कुछ इस क्षेत्र में प्रकाशित होता है, उसमें जैसी सूक्ष्मता रहती है, वैसी सूक्ष्मता का अभाव ही अधिकतर दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि सूक्ष्मता और अँग्रेजों से इतर नवीनता का स्फुरण तभी हो सकता है जब किसी में शास्त्रीयता हो। हिंदी में अधिकतर जनपद-साहित्य में काम करने वाले ऐसे हैं, जो शास्त्रीय साहित्यिकता या विशुद्ध शास्त्रीयता से दूर ही रहते हैं। वे यह मान बैठे हैं कि शास्त्रीय साहित्य और जनपद-साहित्य में छत्तीस (३६) की स्थिति है। यही स्थिति दूसरी ओर भी है। शास्त्रीयता में अनुप्रविष्ट महानुभाव जनपद-साहित्य में अभिरुचि नहीं रखते या कम रखते हैं। डॉ० सहल में दोनों का युगपत् न्यास भारतीयता की मूलप्रवृत्ति है। यहाँ दोनों प्रवृत्तियों को जाननेवालों की ही परंपरा है। इसका संकेत शास्त्रीय ग्रंथों से ही मिल जाता है—प्राकृत गाथाएँ उदाहरण के रूप में प्रयुक्त करने में वहां कभी हिचक नहीं दिखाई गई। अपनी या पाठक की सुविधा के लिए उसका संस्कृत रूप देने की पद्धति उन्होंने अवश्य निकाल ली थी। हेमचंद्राचार्य ने जहाँ संस्कृत भाषा का 'अनुशासन' लिखा, वहीं प्राकृत-अपभ्रंश का भी। मैं डॉ० सहल को इस स्तुत्य प्रवृत्ति को पारंपरिक मानता हूँ। शास्त्रीय और देशी का भेद करने की प्रवृत्ति उत्तरवर्ती है। मैंने वह युग देखा है जब संस्कृत के कुछ शास्त्राभ्यासी हिंदी के प्रति उपेक्षा का भाव रखते थे। हिंदी में भी एक ऐसा समय देखने को मिला जब 'जायसी' का महत्त्व कुछ लोग नहीं मानते थे। पर दोनों मार्गों पर न लाला भगवानदीन ने चलना त्यागा और न आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने। इसलिए डॉ० सहल की यह प्रवृत्ति मुझे सर्वथा प्रशंसनीय प्रतीत होती है। इसी का अनुधावन हिंदी के लिए हितावह है।

हिन्दी के अन्य आलोचकों और साहित्यिकों के लिए डॉ० सहल का आदर्श सर्वथा ग्राह्य है।

इस प्रवृत्ति के कारण डॉ० सहल के विश्लेषण में जैसी विशेषता मिलती है, वह अन्यत्र कम ही देखने को मिलेगी। मेरा विश्वास है कि ये अपनी इस वृत्ति और विद्वत्ता से हिंदी-साहित्य की निरन्तर समृद्धि करते रहेंगे। भगवती भारती इन्हें सारस्वत साधना के हेतु शतजीवी करे।

●●●

इस पुस्तक को (राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद) आद्योपांत पढ़ने के पश्चात् यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि राजस्थानी भाषा (डिंगल साहित्य) सम्बन्धी आपका ज्ञान विस्तृत तथा प्रौढ़ है। राजस्थान की प्राचीन ऐतिहासिक घटनाओं का वास्तविक अन्वेषण करके आपने राजस्थानी भाषा उपनाम डिंगल साहित्य की अनुपम सेवा की है।

—जोगीदान कविया

डॉ. कन्हैयालाल सहल

व्यक्तित्व

और

कृतित्व



लोक-संस्कृति खण्ड

लोक-साहित्य की सूक्ष्मताओं के उद्‌घाटक डॉ० सहल

—डॉ० भगीरथ मिश्र

डॉ० कन्हैयालाल सहल द्वारा लिखित 'अनुसंधान और आलोचना' नामक पुस्तक पढ़ कर मुझे संतोष और प्रसन्नता का अनुभव हुआ। विशेष रोचक और ज्ञानवर्धक निबंध उक्त पुस्तक के प्रथम खण्ड में हैं। इनमें लोक-साहित्य के अनेक पक्षों को सूक्ष्मता के साथ उद्घाटित किया गया है। लोक-साहित्य के तत्वों को रोचक आख्यानों अथवा लोकोक्तियों से स्पष्ट और पुष्ट करने का कार्य सहलजी ने बड़ी कुशलता से सम्पन्न किया है। कुछ उक्तियों एवं संदर्भों को जिस शैली द्वारा उन्होंने व्याख्यायित किया है, उससे लगता है कि राजस्थानी क्षेत्र का अक्षय कथा-भण्डार उनके पास है। लोक-कथाओं का मूल अभिप्राय 'अद्‌भुत' तत्व रहता है। उसके निदर्शन में सहलजी ने राजस्थानी की 'पलक दरयाव की बात' वाली कथा को देकर उसके विश्लेषण और विवेचन-द्वारा जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे बड़े महत्त्व के हैं। लोक-कथाओं में कूट वार्तालाप की अनेक कथाओं को तो हम कई क्षेत्रों में प्रचलित पाते हैं। इन कथाओं से न केवल कूट वार्तालाप की व्याख्या ही होती है, वरन् लोक-मानस के वैचित्र्यपूर्ण क्रियाकलाप एवं लोक-जीवन की विविधता का प्रखर आभास मिलता है। यह स्पष्ट होता है कि भारतीय लोक-जीवन को धर्म, नीति, विवेक और कर्तव्य के धरातल पर कायम रखने में इन कथा-प्रसंगों का कितना बड़ा महत्त्व है जिनका प्रसार व्यापक लोक-जीवन में असंख्य वर्षों से होता रहा है। साथ ही यह प्रश्न भी उठता है कि आज की शिक्षा, क्या हमें उस कथा-रस से वंचित कर रही है जो लोक-मानस के संस्कार-निर्माण में इतना सहायक रहा है?

वास्तव में कथा-वार्ता का महत्त्व अविवाद्य है। लिखित साहित्य यांत्रिक हो जाता है। मुख और श्रुति-परम्परा से चलने वाले कथा-साहित्य में एक सजीवता और ताज़गी रहती है। उसमें जीवन की सद्यःअनुभूति विद्यमान रहती है। आज उसके सुरक्षित रखने और उसकी परम्परा चलाये रखने का प्रश्न है। शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ इस श्रव्य कथा-परम्परा के लुप्त हो जाने का खतरा है। डॉ० सहल की इस पुस्तक में उसे सुरक्षित रखने तथा उसके महत्त्व एवं उसकी रोचकता और जीवन्तता को प्रस्थापित रखने का एक स्तुत्य प्रयत्न है।

डॉ० सहल राजस्थानी कहावतों के मार्मिक व्याख्याकार हैं। उन्होंने प्रत्यक्ष जीवन से उन्हें संग्रहीत किया है। साथ ही साथ वे उन संदर्भों से भी परिचित हैं जिनमें उन कहावतों का जन्म और विकास हुआ है। राजस्थानी कहावतों के अनेक उदाहरणों के आधार पर जो लेख इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में संकलित हैं, वे सहलजी की उस सूक्ष्म तत्व-दृष्टि तथा जीवनानुभूति की मर्मज्ञता को प्रमाणित करने वाले हैं जो लोक-साहित्य के इस स्वरूप को एक व्यापक प्रचलन एवं महत्व प्रदान करती हैं।

इस ग्रन्थ के छः सात निबन्धों में सहलजी ने राजस्थानी के प्रसिद्ध राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक कवि सूर्यमल्ल मिश्रण की वीर सतसई की विवेचना की है। वीर सतसई वीर रस का अद्भुत ग्रन्थ है जिसके दोहों में वीरता और राष्ट्रीयता की भावना अनुगुंजित है। सहलजी ने अनेक उदाहरणों से वीर सतसई को इन विशेषताओं का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार इसमें संकलित अन्य निबन्ध भी बड़े रोचक एवं ज्ञानवर्धक हैं। मुझे तो इसका प्रथम खण्ड विशेष रोचक लगा जिसको पढ़ कर राजस्थानी जीवन और संस्कृति की एक झलक मिल जाती है। सहलजी से मेरा अनुरोध है कि इस प्रकार के और विस्तृत लेख पुस्तक रूप में प्रकाशित कर हिन्दी-संसार का मनोरंजन तथा ज्ञानवर्धन करें।

• •

'अनुसंधान और आलोचना' सरसरी निगाह से देख पाया हूं। इसमें बहुत परिश्रम और खोज आपने की है। पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसी मुझे आशा है। मैं इसकी सफलता की कामना करता हूं।

—**श्री सत्यनारायण सिंह**
राज्यपाल, मध्य प्रदेश

डॉ० सहल की राजस्थानी साहित्य-सेवा

• श्री अगरचन्द नाहटा

राजस्थान में साहित्यिक परम्परा काफी पुरानी है। समय-समय पर अनेकों कवियों एवं लेखकों ने संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत, अपभ्रंश और जनभाषा में भी काफी लिखा है। राजस्थान में साहित्य खूब लिखा गया और अन्य प्रान्तों की अपेक्षा सुरक्षित रहा। राजस्थान के साहित्य की गौरवपूर्ण परम्परा के संवन्ध में मैंने जो कलकत्ता विश्वविद्यालय में आयोजित 'नोपाणी भाषण माला' में छह व्याख्यान दिये थे, उस गौरवपूर्ण परम्परा में आधुनिक साहित्य की चर्चा नहीं की गयी थी। गत शताब्दी में बहुत से उल्लेखनीय साहित्यकार हुए हैं। उनके सम्बन्ध में भी एक ग्रंथ लिखा जाना आवश्यक है। जब तक वैसा तैयार नहीं हो जाए, एक-एक साहित्यकार के सम्बन्ध में भी आवश्यक जानकारी स्वतन्त्र ग्रंथ में दी जाती रहे, यह कार्य भी अवश्य ही करने योग्य और सराहनीय है।

राजस्थान के आधुनिक साहित्यकारों में डॉ० सहल ने अपने बहुमुखी कृतित्व से राजस्थान की उल्लेखनीय सेवा की है। प्रारम्भ में वे एक कुशल शिक्षक रहे और सैंकड़ों विद्यार्थियों को शिक्षा देकर आगे बढ़ाया। उसी समय से वे एक अच्छे आलोचक के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। उनके अनेक आलोचनात्मक लेख और ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। इधर उनकी हिन्दी कविताएं भी प्रकाशित हुई देखने में आई, इसलिए हिन्दी के क्षेत्र में आलोचक के साथ-साथ वे कवि के रूप में भी प्रतिष्ठित हो चुके हैं।

जहाँ तक राजस्थान और राजस्थानी भाषा और साहित्य का प्रश्न है, डॉ० सहल की इस सम्बन्ध में कई प्रकार की सेवाएं उल्लेखनीय हैं। सबसे पहले उन्होंने चौबोली और वीर सतसई का संपादन कार्य अन्य व्यक्तियों के साथ किया। इसमें 'वीर सतसई' राजस्थान की वीररसात्मक एक उल्लेखनीय कृति है। इसका सम्पादन, ब्दार्थ और भावार्थ तथा भूमिका लिखने में काफी श्रम किया गया है। चौबोली तो

पाठ्यक्रम में भी राजस्थानी गद्य के नमूने के रूप में वर्षों तक उच्च कक्षाओं में पढ़ाई जाती रही है।

उनके स्वतन्त्र उल्लेखनीय प्राथमिक ग्रंथों में राजस्थान के आख्यानों-सम्वन्धी दो ग्रन्थ महत्त्व के हैं। इनके द्वारा राजस्थान के इतिहास और संस्कृति के अनेक पहलू हमारे सामने आते हैं। इनका संग्रह एवं प्रकाशन करके डॉ० सहल ने अवश्य ही एक उल्लेखनीय कार्य किया। पत्र-पत्रिकाओं में भी ये आख्यान वे वर्षों तक प्रकाशित कराते रहे हैं। इससे उनका अच्छा प्रचार हो गया। वहुत-सी जानने योग्य वातें लोगों को सहज ही उनके इस प्रयास से पढ़ने को मिल गयीं।

सहल जी का सबसे अधिक उल्लेखनीय कार्य है राजस्थानी कहावतों का अध्ययन एवं सम्पादन। राजस्थानी कहावतों पर एक शोध-प्रवन्ध के रूप में अध्ययन कैसे प्रस्तुत किया जाय, यह विचारणीय वात थी। इस सम्वन्ध में परामर्श करने के लिए वे उन दिनों मेरे पास बीकानेर आये। मेरे दिग्दर्शन के अनुसार उन्होंने काफी परिश्रम और जमकर अध्ययन किया। इससे उनका शोध-प्रवन्ध वहुत ही महत्त्वपूर्ण वन गया। मेरे ख्याल से उन्हें इस कार्य में आशातीत सफलता प्राप्त हुई। अनेक ग्रन्थों का अध्ययन करने से उनके ज्ञान में तो वृद्धि हुई ही, साथ ही राजस्थानी कहावतों की परम्परा को भी वे वहुत अच्छे रूप में उपस्थित कर सके। वेद, उपनिषद्, पुराण, काव्य, संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश ग्रन्थों से उन्होंने कहावतों के सूत्र खोज निकाले और उनका विविध दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया। अपने ढंग का यह एक ही तथा पहला ही शोध-प्रवन्ध है, जो लोक-साहित्य के अंग को लेकर इतने अच्छे रूप में लिखा गया है। इसके साथ-साथ इन्होंने राजस्थानी कहावतों के एक संग्रह-ग्रंथ का भी संपादन किया और उसकी भूमिका में भी काफी पठनीय और ज्ञातव्य जानकारी दी। इस तरह राजस्थानी कहावतों-सम्वन्धी इनके ये दो ग्रंथ मैं विशेष रूप से उल्लेखनीय मानता हूँ।

उनका दूसरा उल्लेखनीय कार्य है राजस्थानी लोक कथाओं की कथानक रूढ़ियों का अध्ययन। वास्तव में कथानक-रूढ़ि के अध्ययन का कार्य पाश्चात्य विद्वानों ने प्रारम्भ किया था। हमारे भारत के विद्वानों ने अपने ग्रंथों में उसकी थोड़ी-सी चर्चा अवश्य की, पर जमकर अध्ययन नहीं हो पाया। राजस्थान लोक-कथाओं का वहुत वड़ा भण्डार है। जैन विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में धर्म-प्रचार के माध्यम के रूप में इनका अत्यधिक उपयोग किया है। ज्ञात धर्म-कथा से लेकर २५०० वर्षों के प्राकृत, संस्कृत और राजस्थानी साहित्य में छोटी-वड़ी हजारों लोक-कथाएं पाई जाती हैं। मौखिक रूप से राजस्थान में हजारों लोककथाएं आज भी प्रचलित हैं। प्राचीन काल से उनके संग्रह और उपयोग का जो प्रयत्न जैन विद्वानों ने किया है, वैसा अन्य किसी ने नहीं किया। कथासरित्सागर आदि कुछ संस्कृत

ग्रन्थ अवश्य ही उल्लेखनीय हैं। पुराणों में भी काफी कथाएं मिलती हैं। अतः कथानक-रूढियों का अध्ययन एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य है जो रोचक होने के साथ ही साथ ज्ञानवर्धक भी है।

डॉ० सहल इस उपयोगी कार्य में कई वर्ष तक लगे रहे और उनके कई छोटे-छोटे ग्रन्थ और पचासों लेख कथानक-रूढ़ियों के सम्बन्ध में प्रकाशित हो चुके हैं। पर अन्य कार्यों में विशेष फंस जाने के कारण, खेद है कि वे इस कार्य को जिस रूप में पूरा करना चाहते थे, नहीं कर पाये। मेरी राय में उन्हें इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिए कुछ समय नियमित रूप से लगाना चाहिए, अन्य कार्यों को गौण करके भी। रात्रि और प्रातः काल में भी वे एक-दो घंटा इस कार्य को नियमित रूप से करने लगें तो अवश्य ही बहुत महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कर सकेंगे।

राजस्थानी साहित्य की सेवा उन्होंने जो 'मरुभारती' नामक त्रैमासिक पत्रिका द्वारा की है, वह भी मेरी दृष्टि में महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय है। इस पत्रिका के माध्यम से कई बड़े-बड़े विद्वानों के महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाश में आ सके और कई नये लेखकों को भी आगे बढ़ने का अवसर मिला। राजस्थानी भाषा, साहित्य, इतिहास, पुरातत्व, कला एवं संस्कृति के अनेकों लेख मरुभारती में समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं। साथ ही बहुत-सी अच्छी सामग्री भी प्रकाशित हुई है जो मरुभारती में प्रकाशित नहीं होती तो योंही रह जाती। उल्लेखनीय सामग्री में पहले पाबूजी के पवाड़ों-सम्बन्धी कई लेख और पवाड़े प्रकाशित हुए। फिर निहालदे-सुल्तान के पवाड़ों-सम्बन्धी काफी सामग्री प्रकाशित हुई। बगड़ावत आदि अन्य महत्त्वपूर्ण लोक-साहित्य भी 'मरुभारती' में प्रकाशित हुआ। श्री गोविन्द अग्रवाल का राजस्थानी लोक-कथा-कोश और मेरे भ्रातृपुत्र भंवरलाल की जैनग्रन्थोक्त राजस्थानी लोक कथाओं का प्रकाशन भी एक सराहनीय प्रयत्न है। अप्रकाशित राजस्थानी कहावतों-सम्बन्धी दोहे आदि विविध प्रकार की सामग्री स्थायी महत्त्व की है। पत्रिका ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। नियमितता और सुपाठ्य सामग्री, विविध विषयक लेख, समीक्षा आदि 'मरुभारती' की अपनी विशेषताएं हैं।

डॉ० सहल के निर्देशन में राजस्थानी साहित्य के कई उल्लेखनीय शोध-प्रबन्ध भी तैयार हुए जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—राजस्थानी दूहा-साहित्य (डॉ० ओमानन्द सारस्वत) डिंगल गीत (डॉ० नारायण सिंह भाटी) राजस्थानी बात-साहित्य (डॉ० मनोहर शर्मा) पिलानी के बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट के सचिव-पद का प्रशासनिक कार्य सम्हालने के कारण उनके निर्देशन का जैसा लाभ शोध-छात्रों को मिलना चाहिए था, नहीं मिल पाया। मेरी राय में शोध-कार्य का निर्देशन स्थायी महत्त्व का ठोस कार्य है— इसके लिए भी डॉ० सहल को समय और श्रम लगाना ही चाहिए। ●

राजस्थानी साहित्य और डॉ० कन्हैयालाल सहल

• डॉ० मनोहर शर्मा

डॉ० कन्हैयालालजी सहल हिन्दी-साहित्य-जगत् में एक गंभीर आलोचक और विद्वान् व्याख्याता के रूप में ख्यातिप्राप्त हैं। आपने लम्बी अवधि तक अध्यापन-कार्य करके एक बड़ी संख्या में शिष्य रूपी ज्ञान-दीपक प्रकाशित किए हैं। साथ ही साहित्य-सेवा में भी आपने सुदीर्घ समय का सदुपयोग करके उसकी श्रीवृद्धि में अपूर्व योगदान किया है। परम प्रसन्नता का विषय है कि डॉ० सहलजी की साहित्य-साधना से हिन्दी के समान ही राजस्थानी भाषा भी गौरवान्वित हुई है और आज राजस्थानी भाषा तथा साहित्य को जो सम्मान मिल रहा है, उसमें पिलानी के इस साहित्य-तपस्वी का भी कम योगदान नहीं है।

आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व जब डॉ० सहलजी ने बिड़ला कॉलेज, पिलानी (झुंझुनूं) में हिन्दी-व्याख्याता का पद-भार संभाला तो वहाँ स्वर्गीय सूर्यकरणजी पारीक राजस्थानी-महिमा का सुन्दर वातावरण बना चुके थे और उनके प्रयास से अनेक राजस्थानी ग्रंथ भी प्रकाशित हो चुके थे। ऐसे वातावरण में डॉ० सहलजी का राजस्थानी साहित्य की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। राजस्थानी साहित्य में कुछ ऐसा गुण भी विद्यमान है कि जो विद्वान् या साहित्य-रसिक एक वार इसके सम्पर्क में आकर इसके अमृत रस को चख लेता है, उसका प्रभाव सदा के लिए उसके हृदय पर अमिट हो जाता है। स्वर्गीय पारीकजी द्वारा प्रकाशित ज्ञानज्योति को डॉ० सहलजी ने कभी बुझने नहीं दिया और आज तक उसकी अनवरत साधना में लीन रहकर आपने एक अनुकरणीय आदर्श की स्थापना की है।

डॉ० सहलजी की राजस्थानी-साहित्य-सेवा अनेक रूपों मे दृष्टिगोचर होती है और वहां सर्वत्र आपके गंभीर पाण्डित्य तथा निष्ठापूर्ण अध्यवसाय की छाप है। आपकी साहित्य-साधना का परमोज्ज्वल निदर्शन 'मरुभारती' नामक त्रैमासिक शोधपत्रिका का उदय है, जो पिछले उन्नीस साल से नियमित रूप से प्रकाशित हो रही है। इस पत्रिका के माध्यम से राजस्थानी पुरातत्त्व, इतिहास, साहित्य तथा संस्कृतिविषयक जो शोधपूर्ण और साथ ही सरस सामग्री प्रकाश में आई है, उससे राजस्थानी भाषा तथा साहित्य की असाधारण गौरववृद्धि हुई है। 'मरुभारती' ने अनेक विद्वानों को राजस्थानी-साहित्य में शोधकार्य करने के लिए भी प्रोत्साहित तथा प्रवृत्त किया है। निश्चय ही साहित्य-साधकों की इस मण्डली को प्रकाशित करने में 'मरुभारती' ने बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया है और इसका श्रेय पत्रिका के विद्वान् सम्पादक डॉ० कन्हैयालालजी सहल को है।

डॉ० सहलजी ने राजस्थानी ग्रंथों के सम्पादन में भी अपनी विशेष योग्यता प्रकट की है और आपका यह कार्य-क्रम काफी लम्बे समय से चला आ रहा है। सर्वप्रथम आपने (श्री पतरामजी गौड़ की सहकारिता में) 'चौबोली' नामक राजस्थानी बात-संग्रह का सम्पादन किया, जो अब भी एम० ए० की परीक्षा में एक पाठ्य-पुस्तक के रूप में समादृत है। इस संग्रह में चार राजस्थानी-बातों (कहानियों) को हिन्दी-अनुवाद सहित प्रकाशित किया गया है। इसी क्रम में आपने आगे जाकर श्री ईसरदानजी आशिया और श्री पतरामजी गौड़ के सह-सम्पादन में राजस्थानी-भाषा के गौरव ग्रंथ 'वीर सतसई' को प्रस्तुत किया। यह ग्रंथ भी एम० ए० के पाठ्यक्रम में निर्धारित है। महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण की यह अमर कृति राजस्थान का ही नहीं, बल्कि भारतीय-साहित्य का एक अनमोल रत्न है, जिसे सर्वसाधारण के लिए सुसम्पादित और बोधगम्य रूप में सुलभ करके डॉ० सहलजी ने साहित्य-जगत् का बड़ा उपकार किया है। इस गौरव ग्रंथ का सम्पादन भी इसकी महिमा के अनुरूप ही हुआ है और यह कार्य अपने आप में एक आदर्श है। डॉ० सहलजी ने इसी विधि से रस-सिद्ध राजस्थानी-कवि रामनाथ कविया की द्रौपदी-विषयक रचना को भी 'द्रौपदी-विनय' (अथवा 'करुण बहत्तरी') के नाम से सम्पादित किया है। इन सभी ग्रंथों में डॉ० सहलजी का गंभीर-व्याख्याता तथा समर्थ-समालोचक-रूप सहज ही सामने आ जाता है। अन्य अनेक विद्वानों ने भी राजस्थानी भाषा के प्राचीन ग्रंथों का सम्पादन किया है परन्तु उनमें उचित अर्थ-संकेत अथवा व्याख्या की कमी के कारण वे समुचित रूप से लाभप्रद सिद्ध नहीं हो सके हैं। हर्ष का विषय है कि डॉ० सहलजी ने इस चीज को अच्छी तरह समझकर अपने सम्पादन-कार्य में कोई त्रुटि नहीं रहने दी।

राजस्थान में इतनी अधिक साहित्य-सामग्री बिखरी पड़ी है कि उसके संकलन से एक महत्त्वपूर्ण कीर्तिमान स्थापित हो सकता है। डॉ० सहलजी ने इस तथ्य को भी हृदयंगम किया और एक संकलनकर्त्ता के रूप में भी वे साधना-लीन हुए। साहित्य-संसार को आपकी इस साधना का मधुर-फल 'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद' तथा 'राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान' नामक दो ग्रंथों के रूप में प्राप्त हुआ। इन ग्रंथों में जो सामग्री प्रकाशित की गई है, वह राजस्थान के हृदय का सच्चा चित्र होने के कारण बड़ी ही रोचक और साथ ही प्रेरणादायक भी है। प्रसन्नता का विषय है कि इस विषय में आपकी साधना जारी है और अब भी 'साधना' (डूंडलोद से प्रकाशित पत्रिका) में यह क्रमिक लेखमाला के रूप में प्रकाशित हो रही है।

राजस्थानी कहावत तो डॉ० सहलजी का परमप्रिय विषय है और आपके जीवन का मानों एक अंग ही बन गया है। राजस्थानी कहावत-संग्रह पर आपको बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता की ओर से पुरस्कृत किया गया और यही विषय आपने पी-एच० डी० की उपाधि-हेतु शोध-प्रबंध के लिए चुना। आपने इस शोध-ग्रंथ (राजस्थानी कहावतें, एक अध्ययन) में राजस्थानी कहावत के सभी अंगों पर पूरी छानबीन के साथ प्रकाश डाला है और यह ग्रंथ इस विषय में एक अनूठी चीज होने के साथ ही अत्यंत रोचक भी है। इस शोध-प्रबंध के बाद आपकी ओर से राजस्थानी कहावतों का बृहद् संग्रह भी प्रस्तुत हुआ, जिसकी महत्ता एवं उपयोगिता बड़े-बड़े विद्वानों ने स्वीकार की है।

राजस्थानी लोकसाहित्य के संग्रह, सम्पादन और विवेचन की दृष्टि से डॉ० सहलजी ने केवल कहावतों तक ही अपनी साधना को सीमित नहीं रखा बल्कि इसके क्षेत्र को और भी अधिक विस्तार दिया। 'कहावत' का 'कथा' के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और राजस्थान में तो यह सम्बन्ध और भी गहरा है, जो इस प्रदेश में प्रचलित हजारों कहावती-कथाओं से स्पष्ट है।

डॉ० सहलजी ने राजस्थानी कहावतों के साथ ही राजस्थानी लोककथाओं के अध्ययन और विवेचन की दिशा में भी पूरा परिश्रम किया है। इस विषय में आपके अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें 'नटो तो कहो मत', 'राजस्थानी-लोककथाएँ', 'राजस्थानी वीर गाथाएँ', 'लोककथाओं की प्ररूढ़ियाँ' आदि प्रमुख हैं। इन पुस्तकों में लोककथाओं में व्याप्त 'कथानक रूढ़ि' अथवा 'अभिप्राय' (Motif) के अध्ययन को प्रधानता दी गई है, जिस पर हिन्दी-साहित्य-जगत् में भी अभी तक कम ही काम हो पाया है। आपकी ये पुस्तकें तुलनात्मक-अध्ययन की दृष्टि से बड़ी

उपयोगी हैं। इनमें विद्वान् लेखक का ज्ञान-विस्तार प्रकाशमान है, जो सहज ही हृदय को आकर्षित कर लेता है। हर्ष का विषय है कि इस दिशा में भी आपका लेखन-क्रम चालू है और अनेक पत्र-पत्रिकाओं में आपके लेख प्रकाशित होते रहते हैं।

राजस्थानी लोक-साहित्य की सेवा में डॉ० सहलजी द्वारा प्रस्तुत 'सुलतान-निहालदे' के कथासार (तीन भाग) का प्रकाशन सदैव अविस्मरणीय रहेगा। 'निहालदे' नामक लोकगाथा राजस्थानी लोकसाहित्य की एक अनर्घ मणि है। यह लोक-महाकाव्य गेय है और अभी तक यह 'मौखिक-परम्परा' पर ही चला आता था। पिलानी में इसको लिपिबद्ध करवाया गया और फिर डॉ० सहलजी ने सर्वप्रथम विस्तार के साथ इसकी कथा लिखकर इसे कथारूप में सर्वसाधारण के लिए सुलभ कर दिया। साहित्य-जगत् में इस सरस कथा का बड़ा स्वागत हुआ है।

डॉ० सहलजी के द्वारा शोधनिर्देशक के रूप में राजस्थानी-साहित्य की जो सेवा हुई है, वह भी असाधारण है। आपने स्वयं राजस्थानी-कहावतों पर शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया और फिर निर्देशक के रूप में भी इस प्रकार राजस्थानी-साहित्य के विविध अंगों पर शोध करने के लिए अपने शोध-छात्रों को प्रोत्साहन दिया। आपके निर्देशन में अब तक अनेक विद्वान्-लेखक अपने शोध-प्रबंधों के लिए पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं। उदाहरण के लिए राजस्थानी दोहा साहित्य, डिंगल गीत साहित्य, राजस्थानी बात साहित्य आदि विषयों पर उपाधि-हेतु स्वीकृत शोध-प्रबंधों का नाम सहज ही लिया जा सकता है। इस प्रकार राजस्थानी-साहित्य के सभी अंगों पर अलग-अलग शोध-ग्रंथ लिखे जाने पर राजस्थानी-साहित्य का वास्तविक महत्त्व सहज ही सामने आ सकेगा और उससे केवल राजस्थान को ही नहीं, बल्कि हमारे देश भारत को भी साहित्यिक गौरव प्राप्त होगा।

राजस्थान के इतिहास से भारत महिमामय है तो उस इतिहास के पात्रों का जीवन-निर्माण करने वाले साहित्य का प्राणतत्त्व और भी अधिक समादरणीय है। वह प्राणतत्त्व भारतीय साहित्य की एक प्रबल प्रेरणादायक रसधारा है। डॉ० कन्हैयालालजी सहल ने इस रसधारा से देश को महाप्राण बनाने के लिए जो साधना की है, वह अन्य विद्वानों के लिए भी अनुकरणीय है।

●●●

लोकवार्ता के भारतीय विज्ञानी और तत्वज्ञ डॉ० कन्हैयालाल सहल (एक परिचय)

• पुष्कर चन्दरवाकर

नीहारिका से भी विशेष धूमिल, वर्षों पुरानी स्मृति को निहारने के लिए जब मैं मंथन करता हूँ, तब कोई अत्यंत धुंधला-सा धूमिल चित्र दृष्टि के समक्ष खड़ा हो जाता है जब स्व० वासुदेवशरण अग्रवाल ने डॉ० सहल का परिचय प्राप्त करने की सूचना दी थी, वह क्षण दृष्टि के समीप सजीव हो उठता है।

इस घटना को घटित हुए कितने वर्ष व्यतीत हुए ? कम से कम १६ वर्षों के अतीतकालीन परतों के पर्वत दृष्टि के समक्ष आवागमन करते हैं और तब मैं अपने से प्रश्न पूछता हूँ कि १६-१६ वर्ष से हम दोनों के बीच पत्र-व्यवहार होता रहा, पर ऐसा होते हुए भी, सदेह मिलने की दोनों में से किसी ने चिन्ता नहीं की ! हां, चिन्ता का सेवन अवश्य किया है।

ई० स० १९६८ के मई-जून महीनों में राजस्थान साहित्य अकादमी के पारितोपिक-हेतु जयपुर गया, तब पिलानी का भूगोल जानने का प्रयास किया था और भूगोल जानकर मेरी इच्छा को पूर्ण विराम लग गया। डॉ० सहल ने भी कभी इस प्रकार का संकल्प किया है अथवा नहीं, वह मैं सौराष्ट्र में यहाँ बैठकर, डॉ० सहल से बिना मिले और पूछे, किस प्रकार कह सकता हूँ ?

किन्तु डॉ० कन्हैयालाल सहल के अक्षरदेह से परिचय ई० स० १९६२ से शुरू हुआ। खंभात के आर्ट्स कॉलेज के तत्कालीन प्राध्यापक प्रो० श्री नरेशचन्द्र बंसल मेरे पढ़ने के लिए 'लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ' और 'भारतीय लोक साहित्य' (लेखक डॉ० कृष्ण देव उपाध्याय) कानपुर से लाए। खंभात की श्री रजनी

पारेख ने आर्ट्‌स कालेज में 'राजस्थानी कहावतें-एक अध्ययन' की प्रति प्राप्त कर ली थी। (याद आता है कि इस ग्रंथ को अपने अहमदाबाद ठहरने के दिनों में कहीं देखा था, हस्तस्पर्श नहीं किया था।)

किन्तु जब लोकवार्ताओं के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए कटिबद्ध हुआ, तब भारतीय मनीषियों ने भी लोकवार्ताओं का वैज्ञानिक पद्धति पर सूक्ष्म अध्ययन किया है अथवा नहीं, यह जानने की उत्सुकता जन्मी। स्व० डॉ० वेरियर एलविन तो चित्त में चमकते रहते ही थे। ई० स० १९५७ में उनके ग्रंथ Tribal myths of orissa[1] को प्राप्त कर लेने का बराबर स्मरण है किंतु रूढ़ तंतु (motif) का उनका सैद्धान्तिक विवेचन मुझे कुछ अधिक समझ में नहीं आया। उन्होंने रूढ़ तंतु के लिए दाशमिक प्रणाली (Decimal System) अपनाई है[2]—उस रीति से मैं कैसे समझूँ? क्योंकि गणित और बीजगणित कभी भी मेरे विषय नहीं बन सके थे। इसलिए वेरियर एलविन के उस ग्रंथ का उपयोग वार्तारस प्राप्त करने के लिए किया। लोकवार्ता के वर्गीकरण करने की रीति समझने में उस ग्रंथ ने सहायता की। और उसे बंद करके फिर यथास्थान रख दिया। तत्क्षण मैंने लोकवार्ता के वैज्ञानिक अभ्यास की कुतूहलता को चित्त में ही अन्तर्निहित कर दिया। किन्तु चित्त में लोकवार्ता के वैज्ञानिक मूल्यों को जानने की एक प्रकार की तड़प उत्पन्न हो गयी। एक प्रकार की जिज्ञासा थी, इसलिए जो बीज बो दिये गये थे, उनसे मन में हुआ कि सरल रीति से इस शास्त्र को समझाने वाले ग्रंथ मिलें तो उनको पढ़ूं, विचारूं और उनका अध्ययन करूं।

ई० स० १९६३ में मैंने कालेज के प्राचार्य पद के मुकुट का त्याग कर दिया और पोरबंदर में अध्यापक के बतौर जीवन-यापन फिर से शुरू किया। प्रातः काल के समय कालेज में अध्यापनार्थ जाना होता और शेष अवकाश का समय अध्ययन के लिए मिलता था। इसलिए लोकवार्ता के रूढ़तंतु (motif) के रहस्य को समझने के लिए फिर से मन्थन करने की उत्कंठा उत्पन्न हुई। तब 'लोक कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ' पढ़ना प्रारम्भ किया। लोक कथाओं के पाठक का ऐसे ग्रंथ में चित्त मुश्किल से ही लगता है क्योंकि इस प्रकार का ग्रंथ चित्त को पकड़ता अथवा रुचता नहीं। अनेक लोक-कथाओं का संग्रह करके मात्र रूढ़तंतुओं को उतार कर बताने की डॉ० कन्हैयालाल सहल की चेष्टा ऐसे पाठकों को अप्रिय लगे, यह स्वाभाविक है और मन में प्रश्न उठता है, डॉ० सहलजी किसलिए इस जंजाल में पड़े होंगे? लोकवार्ताओं के भग्नावशेषों को उतारने में क्या रस है? ग्रंथ पूरा पढ़े बिना ही सादर रख दिया।

ई० स० १९६५ की साल पोरबंदर कालेज की सर्विस करते हुए मेरा दूसरा वर्ष था। एक दिन दुपहर को मेरे निवास-स्थान पर शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी के प्रतिनिधि आए और डॉ० सत्येन्द्र का ग्रंथ 'लोक-साहित्य विज्ञान' दे गए। मैंने उस

ग्रंथ को पढ़ना शुरू किया। डॉ० सत्येन्द्र के ग्रंथ से अभिप्रायविषयक प्रकरण पढ़ा। पर उसमें भी स्व० वेरियर एलविन की दार्शमिक प्रणाली देखने को मिली—हां, उसमें थोड़ा अन्तर पाया। उस प्रकरण की लेखिका बहिन डॉ० सावित्री सरीन ने अभिप्राय को कुछ भारतीय स्वरूप देने की चेष्टा की है। किन्तु उसका हार्द तो डॉ० स्मिथ थाम्पसन तथा स्व० आर्ने का ही है। गणित की पद्धति से लोकवार्ता के अभिप्राय को व्यवस्थित करने की मतानुयायी वे हैं, ऐसा मन को लगा। रोमन लिपि के बदले स्वर-व्यंजन के स्थान पर देव-नागरी लिपि का आग्रह डॉ० सरीन का रहा है।[3]

उसी अरसे में A Standard Dictionary of Folklore, Legends and Myths मेरे हाथ लगी। उसमें डॉ० स्टिथ थाम्पसन द्वारा लिखित अभिप्राय-विषयक अंकन पढ़ने को मिला और जो कृत्रिम दीवार मूल अभिप्राय अथवा रूढ़तंतु (motif) के लिए चित्त में खड़ी हो गयी थी, उसने घर कर लिया और फिर डॉ० सहल-कृत 'लोक कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियां' लेकर पढ़ने बैठा। क्या आप मानेंगे ? उस वक्त मैंने उस कृति को रोमांचक उपन्यास की भांति उत्कट विह्वलता से पूरा किया। उसके बाद एक बार नहीं, दो बार नहीं, किन्तु छह बार मैंने उस पुस्तक को पुनः पुनः पढ़ा। मूल-अभिप्राय-विषयक मेरी समझने की शक्ति को विकसित करने में उसने मेरी खूब सहायता की और मैंने 'लोकवार्तानुं आधार-बीज–motif' *शीर्षक अपने लेख में उस कृति के अवतरणों का भरपेट उपयोग किया। लोकवार्ता के अध्ययन में यह ग्रंथ मेरे लिए अनेक प्रकार से सहायक सिद्ध हुआ है।

इस प्रकार डॉ० कन्हैयालाल सहल ने लोक-कथाओं के विज्ञान पर पांच ग्रंथ + प्रकाशित करवाए हैं तथा उनके पास अन्य फुटकर लेख प्रकाशन की प्रतीक्षा में पड़े हैं। 'वरदा', 'मरु भारती' इत्यादि राजस्थान की शोध-पत्रिकाओं में उन्होंने बारम्बार लोक-कथा के रूढ़तंतु[4] पर कुछ न कुछ लिखा ही है, जो अभी सब ग्रंथस्थ नहीं हुआ है। इस सारी लेखन-सामग्री के प्रकाशन को अग्रत्व प्रदान कर लोकवार्ता के तत्वज्ञान को प्राप्त करने के हेतु उत्सुक अभ्यासियों के लिए शीघ्रातिशीघ्र वे सुलभ करें, यह मेरी साग्रह प्रार्थना है।

+ १. लोक कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ, प्रकाशन १९६०।
२. राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय प्रकाशकः–बानर प्रकाशन, जयपुर १९६४।
३. राजस्थानी लोक–कथाएँ, बानर प्रकाशन, जयपुर १९६४।
४. लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तंतु, प्रकाशक : किताब महल लिमिटेड, इलाहबाद १९६५।
५. नटो तो कहो मत, प्रकाशक : बानर प्रकाशन, जयपुर १९५८।

इस निजी साहित्य के प्रकाशनार्थ डॉ० सहलजी से यह प्रार्थना इसलिए करनी पड़ रही है कि लोकवार्ता-विषयक मूल अभिप्रायों के रहस्योद्घाटन की उनकी अपनी प्रणाली है जो लोकवार्ता की विश्लेषणात्मक और वैज्ञानिक पद्धति के रूप में पहचानी जाती है।

डॉ० स्टिथ थाम्पसन ने लोकवार्ता के मूल-अभिप्राय के सम्बंध में अनुबंध-हेतु दाशमिक प्रणाली (Decimal system) का प्रयोग किया है। लोक-साहित्य के अमरीकी द्रष्टा डॉ० स्टिथ थाम्पसन ने वनस्पति-शास्त्र और ग्रंथालय-शास्त्र की दाशमिक प्रणाली का समन्वय करके लोकवार्ता के अनुबंध के लिए दाशमिक प्रणाली में उत्क्रांति की है, ऐसा विश्वास किया जाता है—अलबत्ता इस पद्धति पर यूरोपीय देशों में श्री आर्ने इनके पुरोगामी हैं।

भारत में लोकवार्ता का वैज्ञानिक ढंग से अभ्यास करने वाले विद्वान् कम ही दिखाई पड़ते हैं। इसीलिए डॉ० स्टिथ थाम्पसन ने कुछ अफसोस किया है कि भारत में लोकवार्ता के संग्रह करने का विराट् कार्य तो हो रहा है, किन्तु इसके आधार-बीज अथवा मूल-अभिप्रायविषयक वैज्ञानिक कार्य अभी मुश्किल से ही प्रारम्भ हुआ है। प्रारम्भ के ऋत्विक् डॉ० श्री सहल हैं जिनकी इस क्षेत्र में अपनी मौलिक पद्धति है।

डॉ० सहल जी संस्कृत साहित्य के व्युत्पन्न पंडित प्रतीत होते हैं। उनके लोकवार्ताविषयक पांच ग्रंथों के पठन के बाद लोकवार्ता का उनका अध्ययन अति विस्तीर्ण लगता है। ऋग्वेद, उपनिषद्, पुराण-कथाएं, जातक-कथाएँ, जैन कथा-ग्रंथ (जैसे वसुदेव हिण्डी, परिशिष्ट पर्वन्), मराठी, गुजराती, राजस्थानी, बंगाली जैसी भाषाओं के लोकवार्ताविषयक ग्रंथ, शिष्ट साहित्य के ग्रंथों में से भारवि की कृतियाँ, रामायण, महाभारत के बाद विदेशी साहित्य में से लोक-कथाएँ एवं नाटक (उदाहरणार्थ शेक्सपियर के नाटक), मेकालिस्टर द्वारा उद्धृत राजस्थानी लोक-कथाओं आदि को पढ़कर उन्होंने उनका उपयोग किया है। उन्होंने मात्र भूतकाल के शिष्ट साहित्य में प्राप्त मूल अभिप्रायों की खोज के लिए अध्ययन किया है, ऐसा नहीं है। श्री धर्मवीर भारती के काव्य 'कनुप्रिया' में भी उन्हें मूल अभिप्राय मिल जाता है और वे अपने लेख 'परिशिष्ट पर्वन् और सांकेतिक भाषा' में सहज भाव से उसका उपयोग कर सकते हैं—इससे श्री अगरचन्द नाहटा के कथन का स्मरण हो आता है।[६]

ऐसा होते हुए भी इस निष्ठा और अध्ययनशील वृत्ति का भार उनके लेखन में कहीं भी देखने को नहीं मिलता—पर उनके लेखन की खूबी यह है कि लोकवार्ता के मूल अभिप्राय अथवा रूढ़ तंतु के सम्बन्ध-सूत्र को छिन्न-भिन्न किए बिना, वे अपने लेखन में प्रासादिकता, रसान्विता, सरलता, सहजता और विशदता प्रकट कर सकते

हैं। किसी लेख का प्रारम्भ डॉ० सहल वार्ताकार की अदा से करते हैं (उदाहरणार्थ–लोक-कथाओं की एक प्ररूढ़ि–हास्य और रोदन)। 'लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तन्तु' के परिशिष्ट में 'राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय' के अन्तर्गत मात्र राजस्थानी लोक कथाएँ दी हैं और उन लोक-कथाओं के मूल अभिप्राय का निर्देश मात्र किया है (द्रष्टव्य–लोक कथाओं के कुछ रूढ़ तंतु परिशिष्ट।) उसमें वे विश्लेषण शैली में नहीं उतरे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मूल अभिप्रायों के प्रकटीकरण के लिए उन्होंने अनेक शैलियों का वरण किया है। ऐसा होते हुए भी, उन्होंने अपने पांच-पांच ग्रंथों में से किसी एक में भी स्टिथ थाम्पसन की पद्धति का प्रयोग नहीं किया है। लोक-कथाओं के अध्ययन के क्षेत्र में डॉ० सहलजी ने अपनी निजी मौलिकता का दर्शन कराया है। इस प्रकार लोकवार्ता के अध्ययन के क्षेत्र में उन्होंने मौलिक योगदान किया है जिसमें पंडित की दुर्बोधता नहीं है किन्तु सर्जक की सरलता व साहजिकता है।

डॉ० सहल ने लोकवार्ता के मूल तंतु के प्रकटीकरण के लिए जिस विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग किया है, वह विशेष रोचक लगती है क्योंकि उसके द्वारा लोकवार्ता के अंग-उपांग का दर्शन हो जाता है, अभ्यास हो जाता है तथा दूसरी लोकवार्ताओं पर दृष्टिपात करने की सूझ विकसित हो जाती है।[८] चाहे उसमें वैज्ञानिक शैली का ठाठ और झलक दृष्टिगोचर न हो किन्तु आदर्श शिक्षक की सात्विकता के उसमें अवश्य दर्शन होंगे। महापंडित राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में "वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाली''......साफ शैली" उनकी दृष्टि लोकवार्ता के विश्लेषण के आर-पार चली जाती है बिना आडंबर के, पंडिताई के प्रदर्शन के बिना। इसलिए वे हमेशा सिद्ध करते हैं स्पष्टता से, पारदर्शी रीति से 'Transparently'

डॉ० सहल जी को फ्रेंच शब्द motif में जो मर्म देखने को मिले हैं, उन सबका उन्होंने अपने ग्रंथ में प्रकटीकरण किया है, motif के लिए उन्होंने रूढ़ तंतु, मूल अभिप्राय तथा प्ररूढ़ि जैसे पर्याय प्रचलित किए हैं।[९](i) वे motif के कार्य-धर्मों को बराबर पहचानते हैं तथा उन्होंने motif शब्द की बारंबार छानबीन की है क्योंकि motif लोकवार्ता के आधार-बीज के स्थान में होते हैं—कहीं वे अभिप्राय के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं तो कहीं लोकवार्ता के तत्व का संचालन करने वाले बल के रूप में काम करते दिखाई पड़ते हैं। motif के पर्याय तलाश करने की भी डॉ० सहलजी को चिन्ता रही है। 'लोक कथाओं के कुछ रूढ़ तंतु' के आमुख[९] (ii) में उन्होंने अपना विचार व्यक्त किया है कि अखिल भारतीय स्तर पर motif के पर्याय का निर्णय होना चाहिए। लगता है कि motif के पर्याय ढूँढ़ने की उत्कटता मात्र थोड़े अभ्यासियों को नहीं है, सहलजी को भी है। अतः वे मूल अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए लोक-

कथाओं का सहारा लेते हैं और लोक-कथाओं के विश्लेषण के आरम्भ में मूल अभिप्राय का हेतु, ध्येय, कार्य, उपयोगिता इत्यादि की चर्चा करते जाते हैं और मूल अभिप्राय के बारे में उन्होंने जो कुछ चिह्नित किया है, उसे वे प्रकट करते जाते हैं—सरल रीति से स्पष्टता से, दुर्बोध हुए बिना।

वे डॉ० स्टिथ थाम्पसन की पद्धति के पूरक हैं–क्योंकि लोक-कथा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए प्रारम्भ में डॉ० सहलजी के ग्रंथ उत्तम प्रकार से पथ-प्रदर्शक बनने योग्य हैं तथा क्रमशः शास्त्र की गह्वर गुफा में प्रवेश करते समय स्टिथ थाम्पसन के लिए आधार-यष्टिका का रूप ले सकते हैं। इसी से डॉ० सहलजी ने स्टिथ थाम्पसन की दार्शनिक प्रणाली पर लिखते हुए कहा है–इस वर्गीकरण में लोक-कथा लोक-गाथा, नीति-कथा, देवाख्यान आदि सभी का समावेश हुआ है। मैं समझता हूँ, राजस्थानी लोक-कथाओं अथवा राजस्थानी ही क्यों, हमारे देश के विभिन्न राज्यों में प्राप्त लोक-कथाओं का वर्गीकरण स्टिथ थाम्पसन की पद्धति पर किया जाय तो बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा।[१०] डॉ० सहल जी डॉ० स्टिथ थाम्पसन की पद्धति के इस प्रकार पुरस्कर्ता हैं। जगत-साहित्य की कथाओं और लोक-कथाओं की index तैयार करने के लिए अन्त में डॉ० स्टिथ थाम्पसन की शरण गए बिना कोई चारा नहीं है। डॉ० सहल के उपर्युक्त कथन पर से वैज्ञानिक–जैसी श्रद्धा प्रकट होती है।

इससे डॉ० सहलजी के लोक-कथाविषयक पांच ग्रंथों के अध्ययन के बाद इतना ही सूचित करना है कि "हे लोककथा के मर्मज्ञ, हे संस्कृत साहित्य के मूर्धन्य पंडित, हे लोकवार्ता के तत्वज्ञ, आप महाभारत अथवा रामायण–जैसे–एक-आध विराट् ग्रंथ के मूल अभिप्रायों पर एक-आध आकर-ग्रंथ जैसा ग्रंथ निर्माण करके इस भूमि को, इस क्षेत्र को समृद्ध करो, कलंक रहित बनाओ।"

(मूल गुजराती से अनुवादित)

●●●

सन्दर्भ-सूची

१. वेरियर ऐल्विन Tribal Myths of Orissa आवृत्ति प्रथम, बंबई, आक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १८५४, पृ० ७००।

२. डॉ० कामिल बुल्के, अंग्रेजी हिन्दी कोश, आवृत्ति प्रथम, रांची काथलिक प्रेस, १९६८, पृ० १५८।

३. डॉ० सत्येन्द्र, लोक साहित्य विज्ञान, आवृत्ति प्रथम, आगरा, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी प्रा० लि० १९६२, पृ० २८६।

४. श्री पुष्कर चंदरवाकर, 'अभ्यास' (सितंबर, १९६९, अंक ९८) मावलंकर की हवेली, भद्र, अहमदावाद ।

५. डॉ० कन्हैयालाल सहल, लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तन्तु, आवृत्ति प्रथम, इलाहावाद, किताव महल प्रा० लि० १९६५. आमुख पृ० ३ ।

६. मिलाइए : 'जव से डॉ० सहल ने लोक-कथाओं के रूढ़ तन्तुओं को अपने अनुसन्धान का विषय चुना है, तव से इधर दो-तीन वर्षों में उन्हें इसी में डूवा हुआ पाता हूं, ऐसी निष्ठा विरल व्यक्तियों में ही पाई जाती है', श्री अगरचन्द नाहटा, लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तंतु, आवरण पृ० २ ।

७. डॉ० कन्हैयालाल सहल, लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तन्तु, आवृत्ति प्रथम, इलाहावाद, किताव महल (प्रा०) लि० १९६५, पृ० ८ ।

८. डॉ० कन्हैयालाल सहल, लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तन्तु, आवृत्ति प्रथम, इलाहावाद, किताव महल (प्रा०) लि०, १९६५, पृ० ५७ ।

९. (१) डॉ० कन्हैयालाल सहल, राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय, आवृत्ति प्रथम, जयपुर, वानर प्रकाशन, १९६०, निवेदन पृ० १ ।

(२) डॉ० कन्हैयालाल सहल, लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तन्तु, आवृत्ति प्रथम, इलाहावाद, किताव महल (प्रा०) लि०, १९६५, आमुख पृ० ३ ।

१०. वही, आमुख, पृ० ४-५ ।

●●●

'अनुसन्धान और आलोचना' के राजस्थानी खण्ड को पढ़कर डिंगल के सुप्रसिद्ध चारण-विद्वान श्री ईश्वरदानजी आशिया लिखते हैं—

"आपकी इस विद्वत्तापूर्ण कृति से राजस्थानी साहित्य के गौरव को भारतीय साहित्य-जगत् में अपना उचित स्थान प्राप्त करने में निस्सन्देह वड़ा वल मिलेगा और राजपूत एवं चारण-जाति जिनके सपूतों के शौर्योदार्य एवं कालजयी काव्यों का आपकी सशक्त लेखनी द्वारा चयन-वर्णन हुआ है—वे तो सदा ही आपका ऋण अनुभव करती हुई कृतज्ञ वनी रहेंगी ।"

राजस्थानी साहित्य को डॉ० कन्हैयालाल सहल का योगदान

• शंभुसिंह मनोहर

हिन्दी व राजस्थानी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डॉ० कन्हैयालालजी सहल का कृतित्व इतना बहुमुखी और प्रशस्त है कि उसे एक लघु लेख की सीमाओं में बांधना वस्तुतः अपने पात्रत्व की सीमाओं को ही विज्ञापित करना है। इन पंक्तियों के लेखक की सीमाएं वैसे ही स्पष्ट हैं, अतः दैन्य-प्रदर्शन के लोभ में पड़कर उन्हें और अधिक उभारने की न उसकी वांछा है, न आवश्यकता। तथापि राजस्थान के एक यशस्वी विद्वान् एवं मनीषी साहित्यकार की सुदीर्घ साहित्य-सेवा व सारस्वत-साधना के प्रति अपना श्रद्धापूर्ण नमन अर्पित करने की सहज आकांक्षा ने ही उसे इस दुस्साहस के लिए प्रेरित किया है।

डॉ० सहलजी का कृतित्व कितना विशद एवं वैविध्यपूर्ण है, यह इसी से जाना जा सकता है कि उनके सृजन की परिधि में काव्य-रचना से लेकर उच्च-स्तरीय सैद्धान्तिक एवं साहित्यिक समीक्षा, शोधपरक विवेचना, निबन्ध-लेखन, सम्पादन, टीका, निरुक्ति या शब्दार्थ-विमर्श, प्राचीन उपाख्यान-संग्रह, शैक्षणिक लेख एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण—राजस्थानी लोक साहित्यान्तर्गत—कहावतों, लोक-गाथाओं, लोक-कथाओं तथा तत्सम्बद्ध प्ररूढ़ियों, कथाभिप्रायों या कथागत रूढ़तंतुओं आदि का मौलिक, व्यवस्थित एवं सर्वाङ्गीण विवेचन समाविष्ट है। उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त डॉ० सहलजी ने अध्यापक के रूप में शैक्षणिक जगत की तथा पत्रकार के रूप में राजस्थानी की ख्यातिनाम शोध-पत्रिका 'मरु-भारती' के माध्यम से राज-स्थानी भाषा और साहित्य की जो महती सेवा की है—वह भी भुलाई नहीं जा सकती। उनके विद्वत्तापूर्ण निर्देशन में न जाने कितने शोध-छात्रों ने हिन्दी व राज-स्थानी के अनेक अछूते एवं अद्यावधि अनन्वेषित विषयों पर अनुसंधान कर शोध

को आगे बढ़ाया है। इसी भाँति 'मरु-भारती' के संपादक के रूप में उन्होंने स्वयं तो अध्ययन-अनुसंधान का मार्ग प्रशस्त किया ही है, अनेक नवोदित लेखकों को भी प्रोत्साहन दे अनजाने ही तरुण लेखकों की एक ऐसी पीढ़ी तैयार कर दी है, जो शोध-कार्य में प्रवृत्त हो राजस्थानी साहित्य की समृद्धि एवं अभिवृद्धि में संलग्न है। 'मरु-भारती' में लेखन-हेतु डॉ० सहलजी की प्रेरणा व प्रोत्साहन का प्रसाद पाने वालों में इन पंक्तियों का लेखक भी एक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ० सहलजी के साहित्य-सृजन की धारा उनके जीवन और कृतित्व—दोनों ही से अनुस्यूत हुई है तथा अपनी ज्ञान-संपदा से हिन्दी और राजस्थानी के युगल धरातलों को उर्वर और समृद्ध करती हुई बही है। ऐसी स्थिति में कल-कल स्वर से उच्छलित उनके मुक्त, अमन्द एवं वैविध्यपूर्ण वाक्‌प्रवाह को किसी एक दृष्टि-विशेष में बांधना वस्तुतः उसे अपने सृजन-क्रम की अखंड-अटूट प्रक्रिया से विच्छिन्न कर देखना है, जो न लेखक के साथ न्याय करता है, न उसके सृजन के साथ। तथापि कभी-कभी किसी वस्तु को उसकी सतही समग्रता में देखने की अपेक्षा आंशिक गहराई के साथ देख लेना अधिक लाभकारी होता है। साहित्य के विषय में तो यह बात और अधिक सत्य है, क्योंकि साहित्य में महत्त्व गुण (Quality) व गहनता (Profundity) का है, परिमाण (Quantity) व विस्तार (Expansion) का नहीं। अतः यहाँ हम डॉ० सहलजी के संपूर्ण कृतित्व को अपनी विचारणा का विषय न बना—केवल उसके एक पक्ष—राजस्थानी साहित्य को उनके योगदान की ही चर्चा करेंगे।

विवेचन की सुविधा के लिए डॉ० सहलजी की राजस्थानी साहित्य से सम्बद्ध प्रतिनिधि रचनाओं का निम्नांकित रूप में वर्गीकृत कर विचार किया जा सकता है—

१. शोध-ग्रंथ—

राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन

२. संग्रह या आख्यान-ग्रंथ—

१. राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद

२. राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान

३. राजस्थानी कहावतें

४. राजस्थानी वीर गाथाएं

५. राजस्थानी लोक-कथाएं

६. 'अनुसंधान और आलोचना' में संगृहीत ७२ राजस्थान के आख्यान

३. संपादित ग्रंथ—

१. वीर सतसई—महाकवि सूर्यमल्ल रचित;
(श्री प्रो० पतराम गौड़ व श्री ईश्वरदान आशिया की सहकारिता में)

२. द्रौपदी-विनय या करुण-बहत्तरी

३. चौबोली : (प्रो० पतराम गौड़ की सहकारिता में)

४. निहालदे-सुलतान (३ खंडों में)

४. लोककथा-तत्त्व; विशेषतः कथाभिप्रायों या कथागत रूढ़ तंतुओं से संबद्ध ग्रंथ—

१. लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तन्तु

२. लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ

३. नटो तो कहो मत

४. राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय

५. अनुसंधान और आलोचना (प्रथम खंड)

विविध : शब्दार्थ-विमर्श आदि से संबद्ध ग्रंथ—

१. विमर्श और व्युत्पत्ति (व्युत्पत्ति-प्रकरण)

२. अनुसंधान और आलोचना (प्रथम खंड के अंतर्गत स्फुट लेख)

यहाँ प्रत्येक पर संक्षेप में विचार करना समीचीन होगा।

१. शोध-ग्रंथ—

पी-एच० डी० के लिए प्रस्तुत अपने शोध-ग्रंथ 'राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन' में डॉ० सहलजी ने राजस्थानी कहावतों का प्रथम वार व्यवस्थित एवं सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है, जिसके अन्तर्गत कहावत शब्द की व्युत्पत्ति, परिभाषा, उसके देशी-विदेशी भाषाओं में प्रचलित पर्यायों, कहावतों व मुहावरों तथा 'लौकिक न्यायों' आदि के पारस्परिक सूक्ष्म अंतर एवं कहावतों के उद्भव और विकास का भी तात्त्विक विवेचन-विश्लेषण किया गया है। साथ ही, उन्होंने राजस्थानी कहावतों का सुनिश्चित सिद्धान्तों के आधार पर वर्गीकरण भी किया है, जो इस ढंग का एक सर्वथा अभिनव एवं मौलिक प्रयास है। डॉ० सहलजी ने राजस्थानी कहावतो के वर्गीकरण के जो आधारभूत सिद्धान्त निश्चित किए हैं, वे न केवल इन कहावतों के ही, अपितु अन्य भाषाओं व बोलियों की कहावतों के वर्गीकृत अध्ययन-अनुशीलन में भी सहायक सिद्ध होंगे। कहावतों का रूपात्मक अध्ययन

लेखक के सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिचायक है, जिसमें उसने कहावतों के मूल स्वरूप का बारीकी से विश्लेषण करते हुए कहावती पद्यों तथा लौकिक न्यायों से उनका पार्थक्य सिद्ध किया है, जो निश्चय ही उसकी मौलिक उद्भावना है। लेखक ने बताया है कि अब तक जो कथन कहावत की संज्ञा से अभिहित किए जाते थे, वे वस्तुतः लौकिक न्याय की ही कोटि में आते हैं। उदाहरणतः 'मूछ्यां रा चांवल' कहावत नहीं, लौकिक न्याय है। हमारे संस्कृत साहित्य में तो अनेक न्याय प्रसिद्ध हैं ही, परन्तु लोक में प्रचलित इन दृष्टान्त-वाक्यों का अब तक कोई उचित नामकरण नहीं किया गया था, जिसके फलस्वरूप वे भ्रान्तिवश कहावतों की कोटि में परिगणित कर लिए गए थे। डॉ० सहलजी ने लोक-साहित्य के अंतर्गत इस नवीन विधा की उद्भावना कर न केवल कहावतों के सम्यक् स्वरूप को ही अधिक स्पष्टता से उभारा है, अपितु ऐसे और भी अनेक लौकिक न्यायों की खोज कर उनका संग्रह करने की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।

लोकोक्तियों के विषयानुसार वर्गीकरण के अंतर्गत उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, कृषिविषयक आदि सभी प्रकार की कहावतों का, उनसे संबद्ध कृत्स्न आनुषंगिक तत्त्वों सहित, प्रामाणिक एवं तात्त्विक विवेचन किया है। लेखक द्वारा किया गया राजस्थानी कहावतों का यह अध्ययन इतना विशद, वैज्ञानिक एवं सर्वाङ्गपूर्ण है कि लोक-साहित्य के दिवंगत महर्षि स्वनामधन्य डॉ० वासुदेव-शरण अग्रवाल ने इस पर मुग्ध हो लिखा था—"कहावतों के क्षेत्र में श्री कन्हैयालाल सहल ने सच्चा आचार्य-पद उपार्जित कर लिया है।"

लेखक ने ग्रंथान्त में एक महत्त्वपूर्ण सामयिक सुझाव दिया है और वह यह कि हमें समय रहते राजस्थानी की विविध बोलियों में उपलब्ध सभी कहावतों का संकलन—वर्गीकरण कर लेना चाहिए अन्यथा बदलती हुई परिस्थितियों तथा विज्ञान-युग के प्रभाव के कारण ये कहावतें शीघ्र ही विस्मृत व लुप्त हो जाएंगी। यह एक निर्विवाद सत्य है कि जो वस्तु हमारे जीवन से उठ जाती है, वह साहित्य से भी उठ जाती है। आज कहावतें हमारे जीवन से उठती जा रही हैं तथा नई कहावतों का निर्माण भी प्रायः बन्द-सा ही हो गया है। यदि हमने समय रहते अपनी पुरानी निधि का संरक्षण नहीं किया तो हम लोकानुभव की इन अमूल्य ऋचाओं से सदा के लिए वंचित रह जाएंगे। आज का युग व्यक्तिवाद का युग है। हर व्यक्ति अपने ही अनुभव को सर्वोपरि समझता है। उसे अपनी पिछली पीढ़ी या बड़े-बूढ़ों के अनुभवों से सीखने की न रुचि है, न अवकाश। फलतः उसका इन कहावतों के प्रति एक अवज्ञापूर्ण दृष्टिकोण अपनाना स्वाभाविक है। डॉ० सहलजी ने इस स्थिति की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए, हमें लोक-साहित्य की इस

महत्त्वपूर्ण किन्तु निश्शेषोन्मुख विधा की संरक्षा के प्रति हमें अपने दायित्व से अवगत कराया है। उनका यह शोध-ग्रंथ इस दिशा में भावी अनुसंधित्सुओं का निश्चय ही मार्ग-दर्शन करेगा, जिसकी पद्धति पर राजस्थानी को अन्य बोलियों में उपलब्ध कहावतों पर भी इसी प्रकार के शोधपरक अध्ययन प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जो आगे चलकर एक विस्तृत एवं बृहद् लोकोक्ति-कोश की पूर्व पीठिका के रूप में उपादेय सिद्ध होंगे। ग्रंथ के परिशिष्ट में लेखक ने अन्य प्रदेशों की कहावतों की भी एक विस्तृत तुलनात्मक सूची दी है, जिससे कहावतों की व्यापकता एवं सार्वत्रिकता का परिचय मिलने के साथ-साथ उनकी अन्तर्प्रान्तीय परम्पराओं पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है।

२. संग्रह या आख्यान-ग्रंथ—

इस कोटि के ग्रंथों में, जिनकी सूची पहले दी जा चुकी है, डॉ० सहलजी ने राजस्थान के ऐतिहासिक या प्रख्यात पुरुषों से संबद्ध अनेक रोचक एवं प्रेरणादायी आख्यानों का संग्रह कर राजस्थानी साहित्य की अनूठी सेवा की है। राजस्थान का इतिहास वीरता और शौर्य, त्याग और बलिदानों का इतिहास है। यहाँ के प्रोज्ज्वल अतीत के मूल में उसकी सांस्कृतिक चेतना की प्राणभूत ये त्याग और संयममूलक प्रेरणाएं ही प्रमुख रही हैं। ये उदात्त वृत्तियां ही यहां की विशिष्ट मर्यादाओं एवं गौरवमयी परम्पराओं के रूप में प्रतिच्छायित हो यहाँ के चिन्तन, जीवन-मूल्य तथा भावबोध के स्वरूप को निर्दिष्ट करने में कारण रूप रही हैं।

राजस्थान के कवियों ने अपने चरितनायकों के इन अद्भुत गुणों पर मुग्ध होकर इन्हें अपनी वाणी द्वारा अमर कर दिया है। दोहों, सोरठों, गीतों आदि में निबद्ध ऐसे अनेक रोचक एवं प्रेरणादायी आख्यान या प्रवाद कवि-गिरा में अमर हो, एक के बाद दूसरी पीढ़ी को मौखिक परम्परा के रूप में प्राप्त होते रहे हैं। डॉ० सहलजी ने ही सर्वप्रथम इन बिखरे हुए आख्यानों को लेखनीवद्ध व संकलित कर पुस्तक-रूप में प्रकाशित करने की दिशा में पहल की। अपनी तीन कृतियों—राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद, राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान तथा अनुसंधान और आलोचना में ('राजस्थान के आख्यान' शीर्षकान्तर्गत) उन्होंने ऐसे शताधिक आख्यानों को संगृहीत कर उन्हें विस्मृति के गर्भ में विलीन होने से बचा लिया।

इनमें इतिहास के अनेक स्मरणीय एवं अद्यावधि अलिखित रोचक एवं प्रेरणा-प्रद प्रसंगों को, उनसे सम्बद्ध दोहों व गीतों सहित लेखनीवद्ध किया गया है। कहीं हास्य और विनोद से गर्भित, तो कहीं शौर्य और त्याग से प्रेरित, राजस्थान के ये रोमांचक आख्यान न केवल पाठकों को रसाविष्ट ही करते हैं, अपितु उनकी वृत्तियों

को उदात्तीकृत भी। एक-एक आख्यान राजस्थानी संस्कृति एवं इतिहास की आत्मा का ही जीवन्त निदर्शन है। इनके द्वारा उन्होंने हिन्दी व राजस्थानी में 'मे'मवाज' (Memoirs) से अभिहित साहित्य के अभाव की महती पूर्ति की है। इन ऐतिहासिक वृत्तों की विशेषता यह है कि इनमें इतिहास और कवित्व का मणिकांचन संयोग हुआ है। ऐतिहासिक घटनाओं ने कवियों को प्रेरणा दी तो कवियों ने ऐतिहासिक घटनाओं को अमरत्व। राजस्थान के इतिहास का न जाने कितना महत्त्वपूर्ण अंश इन्हीं स्फुट छन्दों में बिखरा पड़ा है तथा इन्हीं गीतों-छन्दों की बदौलत वह ऐतिहासिक संपदा सुरक्षित रह सकी है। राजस्थान का प्राचीन इतिहासकार इस तथ्य को जानता था, इसलिए उसने अपनी ख्यातों में, गीतों में बिखरी, इस प्रभूत ऐतिहासिक संपदा का भरपूर उपयोग किया है। मुँहणोत नैणसी और सिंढायच दयालदास की ख्यातें इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। हमारे आधुनिक राजस्थानी इतिहासकारों को भी यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन व मध्यकालीन इतिहास के लेखन में जितना महत्त्व पुरातात्त्विक अवशेषों, शिलालेखों, मूर्तियों या ताम्रपत्रों का है, उतना ही राजस्थान के इन सहस्रों स्फुट छन्दों तथा प्रबन्ध-काव्यों में निबद्ध ऐतिहासिक सामग्री का भी—जिन्हें अपने इतिहास-लेखन का उपजीव्य बनाए बिना हम चाहे भारत के शेष भागों का इतिहास लिख सकें—राजस्थान का इतिहास तो अधूरा ही रहेगा। साहित्य के संदर्भ से राजस्थान की ऐतिहासिक चेतना को समझने की जिस दिन आवश्यकता अनुभव की जाएगी—उसी दिन डॉ० सहलजी द्वारा लेखनीबद्ध एवं संकलित ये आख्यान साहित्य के साथ-साथ इतिहास के मंच पर भी अपनी अभिनव महत्ता के साथ प्रतिष्ठित किए जाएंगे—इसमें सन्देह नहीं। तब तक अपने सही मूल्यांकन के लिए शायद इन्हें प्रतीक्षा करनी होगी।

इन संकलन-ग्रन्थों में 'राजस्थानी कहावतें' भी एक है, जिसमें दो हजार से भी अधिक कहावतें संगृहीत हैं। परिशिष्ट में सिरोही प्रदेश की कहावतें तथा कुछ कहावती पद्य व 'अधूरे पूरे' अलग से दिए गए हैं। इन कहावतों का संग्रह करने में लेखक को कितना श्रम करना पड़ा है—यह इन कहावतों की संख्या से अधिक इनके स्वरूप से जाना जा सकता है। इस संकलन की अधिकांश कहावतें ऐसी हैं, जो प्रथम बार लेखनीबद्ध हुई हैं। इस प्रकार लोक-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा—लोकोक्तियों का यह विशाल संग्रह प्रस्तुत कर लेखक ने लोक-साहित्य के एक उपेक्षित अंग की पूर्ति की है।

इसी भाँति 'राजस्थानी वीर गाथाओं' में राजस्थान के प्रख्यात वीरों के जीवन से सम्बद्ध आख्यानों का उनकी प्रशस्ति में रचित दोहों, सोरठों या गीतों

सहित उल्लेख किया गया है, जिससे वे इतिहास, संस्कृति और साहित्य की त्रिवेणी के सुन्दर संगम हो गए हैं।

उनकी 'राजस्थानी लोक-कथाएं' पुस्तक में राजस्थान की कुछ चुनी हुई सरस लोक-कथाएं सगृहीत हैं। यद्यपि लोक कथाओं के अनेक संग्रह निकल चुके हैं, तथापि हर संग्रह अपनी कुछ मौलिक विशेषता लिए होता है। लोक-कथाओं के विषय में यह बात विशेष रूप से देखने में आती है। जैसे शीतल पवन का हर झोंका ताजगी का एक नया स्पर्श देता है—लोक कथाओं का हर संग्रह भी कुछ वैसी ही अनुभूति का उद्रेक करता है। विविध रूपान्तरों सहित इनकी आवृत्ति भी मधुर लगती है। इस दृष्टि से हमारे पाठ्य-क्रमों में निर्धारित अगणित नीरस कहानी-सग्रहों से ये कितनी भिन्न हैं ? शायद सैकड़ों-सहस्रों वर्षों से उद्वेलित लोक-संस्कृति का अमन्द रस इनकी संवेदना को शाश्वत और सार्वकालिक किए है।

३. संपादित ग्रथ—

डॉ० सहलजी द्वारा संपादित ग्रंथों में, जिनमें से कुछ अन्य विद्वानों की सहकारिता में संपादित हुए हैं, महाकवि सूर्यमल्ल—रचित 'वीर सतसई' प्रमुख है। 'वीर सतसई' का संपादन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। महाकवि सूर्यमल्ल की इस प्रतिनिधि काव्य-कृति को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने के कारण इस संपादन का अपना ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही, राजस्थानी वीर-काव्य-परम्परा तथा तत्सम्बद्ध वीरोचित आदर्शों एवं सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों को प्रतिच्छायित करने की दृष्टि से इस कृति का साहित्यिक महत्त्व भी अन्यतम है।

प्रारम्भ में संपादकों ने कवि का प्रामाणिक जीवन-वृत्त देते हुए, उसके रोम-रोम में पूरित शौर्य और स्वाभिमान की अत्यन्त ओजस्वी झलकियां प्रस्तुत की हैं जिनसे 'वीर सतसई' के प्रणेता उस वीर कवि का पौरुष-दीप्त व्यक्तित्व मूर्तिमान-सा हो उठता है। तदनंतर संपादकों ने सूर्यमल्ल तथा तत्कालीन नरेशों के बीच हुए पारस्परिक पत्र-व्यवहार से पुष्कल उद्धरण देते हुए, 'वीर सतसई' के निर्माण की प्रेरक पृष्ठभूमि पर सविस्तार विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। इस सम्बन्ध में संपादकों ने यह स्थापना की है—

'इस प्रकार हम देखते हैं कि 'वीर सतसई' भारत के इतिहास की एक महान् घटना (स्वातंत्र्य-संग्राम) का काव्यमय उद्गार है।"

(देखिए भूमिका, पृ० ७५)

संपादकों की इस स्थापना पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। जहाँ तक 'वीर सतसई' के निर्माण की प्रेरणा का प्रश्न है, हम संपादकों के इस मत से

सहमत हैं कि तत्कालीन राजनीतिक क्रान्ति ने ही कवि को सतसई के सृजन की प्रेरणा दी। स्वयं कवि ने भी एक-दो दोहों में इस ओर संकेत किया है। परन्तु जहाँ तक 'वीर सतसई' के वर्ण्य या कथ्य का प्रश्न है, संपूर्ण कृति में ५–७ दोहों को छोड़ कर कहीं भी तत्कालीन स्वातंत्र्य-संग्राम का, परोक्ष या प्रत्यक्ष, कोई चित्रण नहीं हुआ है। न ही इसमें स्वातंत्र्य संग्राम से संबद्ध किसी घटना या व्यक्ति का कोई उल्लेख हुआ है। ऐसी स्थिति में, यह मानना कि 'वीर सतसई' स्वातंत्र्य-संग्राम का काव्यमय उद्गार है, वस्तुतः 'वीर सतसई' के सृजन की पृष्ठभूमि को ही कृति के कथ्य पर आरोपित करना है। जहाँ तक कृति के वर्ण्य या कथ्य का प्रश्न है, उसमें एक आदर्श वीर समाज के संदर्भ में वीरता के सामान्य एवं परम्परागत आदर्शों का ही निरूपण हुआ है—जिसकी परंपरा डिंगल-काव्यों में बहुत पहले से चली आई है। इस सम्बन्ध में महाकवि ईसरदास-रचित "हालाँ-झालाँ रा कुंडलिया, दुरसा आढ़ा तथा कविराजा बाँकीदासरचित वीर-रस-पूर्ण दोहों का अवलोकन करने से ही पाठकों को विदित हो जाएगा कि सूर्यमल्ल अपने इन पूर्ववर्ती कवियों के कितने ऋणी हैं तथा इस प्रकार के वीर-रस-व्यंजक दोहों की रचना उनकी अपनी कोई मौलिक उद्भावना नहीं है। सूर्यमल्ल की मौलिकता 'वीर सतसई' में यदि कहीं है, तो इस बात में कि उन्होंने वीरता को केवल क्षत्रिय सामन्तों तक ही सीमित न रख, समाज के अपेक्षाकृत निम्न वर्गों को भी उससे अनुप्राणित दिखाया है। यही नहीं, वीरोचित आदर्शों के निर्वाह में उन्हें अपने क्षत्रिय सामन्तों से भी दो कदम आगे कर कर दिया है। निश्चय ही सूर्यमल्ल की यह अपनी मौलिक सूझ है, जो वीर-रस-वर्णन की रूढ़ एवं पारम्परिक परिपाटी से सर्वथा विशिष्ट है। यही कारण है कि किसी कायर क्षत्रिय के युद्ध से भाग आने पर रँगरेजिन उसे धिक्कारती है, सोनारिन विसूरती है तथा गंधिन दहाड़ मार कर उसे कोसने लगती है। सूर्यमल्ल के पूर्व समाज के निम्न वर्गों को वीरता की वेदी पर इस प्रगल्भता से प्रतिष्ठित करने का साहस शायद ही किसी अन्य कवि ने किया हो! यह मूल विषय से कुछ अवान्तर चर्चा हो गई है। अस्तु

जहाँ तक कथ्य का प्रश्न है, हमारे विनम्र मत से 'वीर सतसई' में एक आदर्श वीर समाज के संदर्भ में वीरता के सामान्य आदर्शों एवं भावोद्गारों की ही व्यंजना हुई है। अतः यह मानना अधिक संगत होगा कि 'वीर सतसई' तत्कालीन क्रान्ति से अपने उद्देश्य के द्वारा ही अधिक जुड़ी हुई है—कथ्य के द्वारा नहीं।

इस सम्बन्ध में, संपादकों ने 'वीर सतसई' के दोहा संख्या २८५ ('जिण वन भूल न जावता, गैंद गवय गिड़राज') का जो उद्धरण किया है, वह भी सूर्यमल्ल की अपनी मौलिक सृष्टि नहीं है। वस्तुतः यह दोहा मूलतः पंडितराज जगन्नाथ—

कृत 'भामिनी विलास' के एक संस्कृत छन्द का ही डिंगल रूपान्तर है। अतः इसे एकांततः तत्कालीन राजनीतिक स्थिति को लक्ष्य करके ही कहा गया कवि का अन्योक्तिमूलक कथन मान कर 'वीर सतसई' के अपूर्ण रहने के कारणभूत तर्क के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

इस विचार-बिन्दु पर संपादकों से किंचित् मतभेद होने के कारण हमने प्रासंगिक रूप से अपने विचार व्यक्त करना समीचीन समझा। परन्तु जहाँ तक 'वीर सतसई' के सम्पादन का प्रश्न है, उसकी उत्कृष्टता असंदिग्ध है। भूमिका में, जैसा कि कह आए हैं, कवि के जीवन एवं व्यक्तित्व के रेखांकन के साथ-साथ सम्पादकों ने कृति के काव्य-सौष्ठव का भी सुन्दर विवेचन किया है। ग्रंथ का सर्वाधिक विशिष्ट भाग मूल पाठ, टीका व शब्दार्थ— विवेचन है। संपादकों ने मूल पाठ के साथ पाठान्तरों का भी निर्देश कर दिया है। संपादकों द्वारा अपनायी गयी टीका-पद्धति कवि के उद्दिष्ट भावार्थ को प्रस्फुटित करने में पूर्णतः सफल सिद्ध हुई है। उन्होंने टीका में दोहों का शाब्दिक अर्थ देकर ही संतोष नहीं किया है, अपितु उनके भावार्थ को भी सहायक टिप्पणियों द्वारा अत्यन्त मार्मिकता से स्पष्ट किया है, जिससे काव्य के मर्म को हृदयंगम करने में महती सहायता मिलती है।

'वीर सतसई' में प्रयुक्त शैलियों के विविध रूपों पर डॉ० सहलजी ने अलग से विचार करते हुए अभी हाल ही 'मरु-भारती' में तीन लेख प्रकाशित किए हैं, जिनमें विवेच्य कृति में प्रयुक्त शैलियों का सम्यक् वर्गीकरण करते हुए उनका विस्तृत एवं साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। ये लेख पुस्तकाकार रूप में उनकी नवीनतम कृति 'अनुसंधान और 'आलोचना' में भी छप गए हैं।

डॉ० सहलजी द्वारा संपादित एक अन्य कृति रामनाथजी कविया—रचित 'द्रौपदी विनय' या 'करुण बहत्तरी' है। इसमें दुःशासन द्वारा वस्त्रहरण किए जाने पर द्रौपदी की कृष्ण को की गई करुण पुकार का बड़ा ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है। कवि ने यह कृति कारागार में लिखी थी। अतः इनमें मुक्ति के लिए आकुल कवि की मर्म-व्यथा ही मानो द्रौपदी के आर्तनाद में फूट पड़ी है। द्रौपदी के करुण आह्वान में कवि के प्राणों की प्रतिध्वनि ही गूँज उठी है। इसीलिए इसकी संवेदना सीधी हृदय को छूती है। अंग्रेजी की सूक्ति—That which comes from the heart, touches the heart, इस कृति पर अक्षरशः घटित होती है। डॉ० सहलजी ने इसका भी अतीव सुन्दर संपादन किया है। प्रारम्भ में, संक्षिप्त भूमिका में, कवि की जीवनी तथा कृति की रचना में कारणभूत परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए, सम्पादक ने मूल पाठ, शब्दार्थ व भावार्थ के साथ-साथ सभी संबद्ध अन्तर्कथाओं का भी यथाप्रसंग उल्लेख किया है।

चौबोली राजस्थानी कथा साहित्य की चार विभिन्न विषयक प्रतिनिधि-कहानियों का संकलन है। पुस्तक का नामकरण 'चौबोली' शीर्षक प्रथम कहानी के आधार पर हुआ है, जो भोज-कथा-चक्र से सम्बद्ध है। चौबोली सहित प्रत्येक कथा में चार और कथाएँ गुम्फित हैं। इस प्रकार प्रत्येक कथा ही चौबोली है। शेष अन्य तीन कथाओं में 'खींवा बीजै री बात', 'राजा मानधाता री बात' तथा 'सूरां अर सतवादी की बात' हैं।

कथानक-रूढ़ियों की दृष्टि से 'चौबोली' एक महत्त्वपूर्ण कथा-संकलन है जिनमें अनेक कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है। कथागत प्ररूढ़ियों के अध्ययन में रुचि रखने वाले तथा वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के लिए इसमें प्रभूत सामग्री एकत्र संगृहीत है। साथ ही राजस्थानी गद्य की सुललित छटा भी इन कहानियों में देखने योग्य है। विद्वान् सम्पादकों ने आरम्भ में एक संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित भूमिका में 'चौबोली' सहित राजस्थानी कथा-साहित्य की सामान्य विशिष्टताओं पर भी प्रासंगिक रूप से प्रकाश डाल दिया है, जिनके संदर्भ में पुस्तक में संगृहीत कथाओं के मर्म को समझने में महती सहायता मिलती है।

'चौबोली' राजस्थान की एक अति प्रसिद्ध प्राचीन लोक-कथा है, जिसका सम्बन्ध भोज-कथा-चक्र से है। इसी भाँति 'निहालदे-सुलतान' मौखिक परम्परा का एक अतिशय लोकप्रिय जनकाव्य है। कथाभिप्रायों (Motifs) की दृष्टि से 'चौबोली' का महत्त्व अन्यतम है, जिसमें कथागत प्ररूढ़ियों का प्रचुर प्रयोग हुआ है।

डॉ० सहलजी द्वारा संपादित ये सभी ग्रंथ प्रथम बार संपादित होकर प्रकाश में आए हैं। इस दृष्टि से इन महत्त्वपूर्ण कृतियों को सर्वप्रथम संपादित करने का श्रेय डॉ० सहलजी तथा इनके अन्य सह-संपादकों को ही है।

४. लोक कथा-तत्त्व या कथाभिप्रायों से संबद्ध ग्रंथ—

राजस्थानी लोकोक्तियों या कहावतों पर तो डॉ० सहलजी का शोध-प्रबंध है ही, उन्होंने लोककथा-तत्त्व, विशेषतः कथागत प्ररूढ़ियों या कथाभिप्रायों पर भी उच्च कोटि का अनुसंधान किया है, जिससे हिन्दी व राजस्थानी में लोक-साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग समृद्ध हुआ है। यों इन कथानक-रूढ़ियों या कथाभिप्रायों पर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी सदृश कुछ विद्वानों द्वारा काफी चर्चा हुई है, परन्तु इन पर, विशेषतः राजस्थानी लोक-कथाओं के संदर्भ में, विस्तृत एवं सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन का प्रवर्तन श्री डॉ० कन्हैयालालजी सहल ने ही किया है। उन्होंने अपनी पुस्तकों—लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ, लोक कथाओं के कुछ रूढ़-तंतु, नटो तो कहो मत, राजस्थानी लोक कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय आदि में इन प्ररूढ़ियों का विशद, सोदाहरण एवं तलस्पर्शी विवेचन किया है।

इन कथाभिप्रायों या प्ररूढ़ियों की दृष्टि से राजस्थानी लोक-कथाएं अपना सानी नहीं रखतीं। इनमें स्थान-स्थान पर कथा को मोड़ देने वाले तथा उसे गतिशील करने वाले विविध कथाभिप्रायों, यथा—सत्य-क्रिया, हास्य और रोदन, होणी होय सो होय, लाखीणो दूहो, दृष्टि-गर्भ, रूप-परिवर्तन, शरणागत-रक्षा, लौटने की प्रतिज्ञा, प्राण-प्रतीक, निषिद्ध-कक्ष, मौन-धारण और मौन-भंग, मृत्यु-पत्र, वाक्-छल, जादू की डोरी, हंस-कुमारी, लिंग-परिवर्तन, शरीफ चोर, कृतघ्न जीव, नाम-संयोग, सांकेतिक भाषा, होड़ अथवा डाँड़ा मेंड़ी, नटो तो कहो मत आदि का भरपूर प्रयोग हुआ है। इनमें से प्रत्येक अभिप्राय का डॉ० सहलजी ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन किया है तथा उसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने अपना अध्ययन केवल राजस्थानी लोक-कथाओं तक ही सीमित नहीं रखा है, अपितु संस्कृत, प्राकृतादि भाषाओं में निबद्ध आख्यानों के अतिरिक्त जैन व बौद्ध कथा-साहित्य में उपलब्ध अभिप्रायों के भी प्रभूत उद्धरण दिए हैं, जिससे उनके अनुशीलन का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। उदाहरण के लिए, अकेले 'सत्य-क्रिया' नामक अभिप्राय के मूल उत्स व स्वरूप का विवेचन करते हुए उन्होंने ऋग्वेद से लेकर रामायण, महाभारत, श्रीमद्देवी भागवत, गर्ग संहिता, रघुवंश, कथा सरित्सागर, दिव्यावदान, जातक कथाओं, यहाँ तक कि राजस्थान के लोक काव्य—निहालदे-सुलतान आदि के भी प्रभूत उद्धरण देकर इस कथाभिप्राय की प्राचीनतम परम्पराओं पर सोदाहरण विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। यही बात अन्य कथाभिप्रायों के विषय में भी सत्य है।

इन कथाभिप्रायों या प्ररूढ़ियों के विवेचन के प्रसंग में डॉ० सहलजी ने पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किए गए इनके नामकरण को ज्यों का त्यों स्वीकार न कर, भारतीय कथा-साहित्य के संदर्भ में उनके औचित्य की मीमांसा करते हुए, अपनी मौलिक उद्भावनाएं भी की हैं। यथा, महाभारत में वर्णित यक्ष-शिखण्डी की कथा में प्रयुक्त 'लिंग-परिवर्तन' नामक अभिप्राय के लिए उन्होंने उपयुक्त नाम 'लिंग-विनिमय' सुझाया है, जो एक सर्वथा नई प्ररूढ़ि है। डॉ० सहलजी ने अन्यत्र भी इन कथाभिप्रायों के विवेचन में भारतीय कथा-साहित्य को ही अपना उपजीव्य बनाकर अपनी स्थापनाएँ की हैं।

लोक-कथाओं की प्ररूढ़ियों पर डॉ० सहलजी की कृति से स्वर्गीय महा पंडित राहुल सांकृत्यायन इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने लिखा—"लोक कथाओं के बारे में वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाली ऐसी साफ पुस्तक मैंने हिन्दी में नहीं देखी।" वस्तुतः प० राहुल सांकृत्यायन के इस कथन में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है।

लोक-कथाओं पर डॉ० सहलजी के कुछ स्फुट निबन्ध उनकी नवीनतम कृति 'अनुसंधान और 'आलोचना' में भी संगृहीत हैं। इनमें 'सांख्य दर्शन का आख्यायिका-ध्याय' में डॉ० सहलजी ने संभवतः प्रथम बार सांख्य-दर्शन में प्रयुक्त विविध लोक-कथाओं के मूल स्रोतों पर प्रकाश डाला है, जिससे हमारे दर्शन-ग्रंथों में लोक-कथाओं के मूल उत्स खोजने की दिशा में शोध को निश्चय ही एक नया आयाम मिलेगा।

५. विविध : निरुक्ति या शब्दार्थ-विमर्श—

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त डॉ० सहलजी ने राजस्थानी के अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति व अर्थ पर भी विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। 'मरु भारती' में 'शब्द-चर्चा' शीर्षक से एक स्थायी स्तम्भ इसी हेतु नियोजित है, जिसका सुझाव उन्हें राजस्थानी साहित्य के अनन्य अनुरागी सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला ने दिया था तथा जिस स्तंभ के अंतर्गत डॉ० सहलजी बराबर किसी न किसी शब्द की व्युत्पत्ति या अर्थ पर नवीन प्रकाश डालते हुए लिखते रहते हैं। ऐसे सभी शब्द उनकी पुस्तक—'विमर्श और व्युत्पत्ति' में संगृहीत हैं। भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी के लिए इन शब्दों का अध्ययन न केवल अतीव रोचक अपितु ज्ञानवर्द्धक भी है, जिनसे हमारे अनेक सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवनादर्शों के रहस्यों का भी उद्‌घाटन होता है।

डॉ० सहलजी द्वारा चर्चित इन शब्दों में—राठौड़, केकाण, हम्मीर, ठाकुर, नांगल़, दोहा, संपत, उणियारो, कचोल़ा, तींवण, छेह, ओलंगियो, ओजणो, हिमारणी, आरोगना, व्यालू, पोत, उडीकना, संथा, चित्राम, बूडो-ठेरो आदि हैं। 'विमर्श और व्युत्पत्ति' में ऐसे ८४ शब्दों की व्युत्पत्ति व अर्थ पर विशदता से प्रकाश डाला गया है। भाषा-विज्ञान को उनकी यह अनूठी देन है।

प्रसंगतः यहाँ एक शब्द के अर्थ पर विचार करना अयुक्त न होगा। वह शब्द है 'नांगल़'। 'नांगल़' उस उत्सव का वाचक है, जो नव गृह-प्रवेश के उपलक्ष्य में किया जाता है। इस अवसर पर हवन किया जाकर अपने सम्बन्धियों व इष्ट मित्रों को दावत दी जाती है तथा शुभ मुहूर्त में नए घर में प्रवेश किया जाता है। डॉ० सहलजी ने इस 'नांगल़' शब्द की व्युत्पत्ति 'नव मंगल' से होने का अनुमान किया है। परन्तु हमारे विचार से यह 'नाग-बलि' से व्युत्पन्न है। किसी नए मकान की नींव का मुहूर्त किए जाने पर आज भी नींव में चांदी की एक लघु सर्पाकृति मूर्ति स्थापित की जाती है। संभवतः इस रीति का आधार वह पौराणिक विश्वास है जिसके अनुसार पृथ्वी की अवस्थिति शेष नाग के फन पर मानी जाती है एवं अपने भवन के शाश्वत स्थायित्व की मंगल-कामना से ही कदाचित नाग-बलि का

विधान चल पड़ा हो। चाँदी की सर्पाकृति लघु मूर्ति कदाचित् उसी शेषनाग का प्रतीक है। गृह-प्रवेश के अवसर पर भी संभवतः 'नाग-बलि' की प्रथा रही हो एवं उसीके फलस्वरूप 'नाग-बलि' का विकृत रूप 'नांगल्' लोक में प्रचलित हो, जो नवगृह-प्रवेशोत्सव का पर्याय बन गया हो। जो हो, इस शब्द की व्युत्पत्ति विचारणीय है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ० कन्हैयालालजी सहल ने अपने बहुविध कृतित्व से राजस्थानी साहित्य की श्री-वृद्धि कर उसे गौरवान्वित किया है। राजस्थानी का लोक-साहित्य तो उनका अत्यन्त ऋणी है। पश्चिम में जो कार्य स्टिथ टाम्पसन, ब्लूमफील्ड, नार्मन ब्राउन तथा रूथ नार्टन जैसे लोक-साहित्य के महामनीषियों ने किया है, किसी सीमा तक, राजस्थानी लोक-कथाओं के क्षेत्र में वही कार्य श्री डॉ० कन्हैयालालजी सहल ने किया है, जिसके लिए प्रत्येक राजस्थानवासी तथा लोक साहित्य-प्रेमी को उनका कृतज्ञ होना चाहिए।

इस सम्बन्ध में, डॉ० सहलजी की गद्य-शैली के विषय में भी दो शब्द कहने का लोभ संवरण मैं नहीं कर पा रहा। उनकी कृतियों या लेखों का अध्येता कोई भी पाठक उनकी प्रसादगुण-युक्त प्रांजल एवं प्रवाहपूर्ण भाषा-शैली से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। शुद्धता, स्पष्टता और शालीनता, उसके अनिवार्य गुण हैं। अतः भाषा के प्रसग में यदि यह कहा जाए कि 'Clarity has marked him for her own' तो अयुक्त न होगा। महाकवि कालिदास ने 'वाक्' और 'अर्थ' की जिस अनन्यता से अपने आराध्य—पार्वती-परमेश्वर को उपमित किया है—भाव और भाषा, कथ्य और कथन की कुछ वैसी ही अनन्यता उनके संपूर्ण कृतित्व में अशेष चारुता से विराजमान है। अपनी सरलता में भी असाधारण उनकी यह गद्य-शैली न केवल उनके विचारों की ही सफल वाटिका है, अपितु उनके महनीय व्यक्तित्व की मधुर ज्ञापिका भी।

अन्त में, डॉ० सहलजी के व्यक्तित्व के एक और उदार पक्ष की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर अपनी चर्चा समाप्त करूँगा। एक बार प्रसंगतः मैंने उनसे यह निवेदन किया कि आपके द्वारा संपादित 'वीर सतसई' के कुछ दोहों के अर्थों में पुनर्विचार की आवश्यकता है। अपने प्रस्ताव की पुष्टि में मैंने एक-दो दोहों की चर्चा भी की। डॉ० सहलजी यह सुन अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—इस पर एक विस्तृत लेख 'मरु-भारती' हेतु अवश्य भेजिए। मैं आलस्यवश इधर कुछ लिख न सका और बात पुरानी पड़ गई। परन्तु मेरे लिए ही, उनके लिए नहीं। उन्होंने कुछ महीनों बाद ही मुझे पत्र द्वारा पुनः आग्रह किया कि अपना उक्त लेख अवश्यमेव भेजूँ। विवश हो मुझे उनकी आज्ञा का पालन करना ही पड़ा। दृष्टिकोण की

यह उदारता आज कितने विद्वानों में है ? अपनी प्रशंसा सुनने के लिए तो प्रायः सभी आकुल रहते हैं, आकुल ही नहीं रहते, उसकी प्राप्ति का छद्म-विधान भी कर लेते हैं। परन्तु अपनी आलोचना सुनने की यह आकुलता कितनों के मनों में होती है ? उनकी इस उदारता के प्रति मैं श्रद्धा से नमित हूँ ! वस्तुतः उनकी प्रकाण्ड विद्वत्ता के मूल में प्रतिभा, अध्ययन तथा अध्यवसाय के साथ-साथ उनका यह मनोगत औदार्य भी है, जो उन्हें दूसरों के विचारों को सुनने-समझने के लिए सतत प्रेरित करता है ।

अन्त में, मरु के इस यशस्वी लेखक, विद्वान्, चिन्तक एवं अन्वेषी के प्रति अपनी मातृगिरा राजस्थानी में ही, टूटे-फूटे शब्दों में, यह विनयाञ्जलि अर्पित करता हूँ—

महमा मरु-भाषा तणी, इल् में करी अटल्ल ।
सहल कर्‌यौ जिण सासतर. सो धिन नाम 'सहल्ल' ।।१।।

लोक कथां रा लाडला, मरु रा रतन अमोल ।
जुग-जुग रहसी सहल रा, कीरत हंदा बोल ।।२।।

मीठी अत 'मरु-भारती', तैं कीधी परगास ।
मरु रो कण-कण सरसियो, घर-घर हुयो उजास ।।३।।

'मनैं दिवावो मानता'—भाखै मरु-भासाह ।
मांझी मरु रा, पूरवौ, मायड़ री आसाह ।।४।।

गरव आज मरु नैं घणो, 'लाल' सहल-सो गोद ।
हरख न मावै हीवड़ै, मायड़ मरुधर मोद ।।५।।

●●●

डॉ० कन्हैयालाल सहल की सारस्वत सेवा

• डॉ० भोगीलाल ज० सांडेसरा

डॉ० कन्हैयालाल सहल के साथ रूबरू मुलाकात का लाभ अब तक मुझे मिला नहीं है किन्तु उनके साथ पिछले लगभग २५ वर्षों से विद्याविषयक कार्यों के सम्बन्ध में मेरा पत्र-व्यवहार होता रहा है तथा उनके लेखों एवं ग्रन्थों से मैं सुपरिचित हूँ।

राजस्थान की भाषा, साहित्य एवं संस्कृति के वे अग्रिम निष्णात हैं। 'मरु-भारती' के संपादक-रूप में उन्होंने इस क्षेत्र में जो बहुमूल्य सेवाएँ अर्पित की हैं, वे विद्वानों को सुविदित हैं। राजस्थान से प्रकाशित होने वाली अनुसंधान-पत्रिकाओं सहित मैं मरु-भारती का सदा से एक उत्सुक वाचक रहा हूं। मेरे मित्र तथा बिड़ला इन्स्टीट्यूट के ग्रन्थपाल श्री हेमंत भाई मेहता, उक्त संस्था में नियुक्त होने के बाद, मेरे परोक्ष संपर्क में एक विशेष निमित्त बने हैं, यदि मैं ऐसा कहूँ तो इसमें किसी प्रकार की अत्युक्ति न होगी।

राजस्थानी कहावतों के विषय में डॉ० सहल का अध्ययन अत्यन्त महत्त्व का है। गुजराती और राजस्थानी भाषाएँ परस्पर खूब निकट के संबन्ध से जुड़ी हुई हैं और लगभग १६वीं सदी तक तो, कुछ स्थानिक विशेषताओं को छोड़कर, ये भाषाएँ समान रूपवाली थीं और उनके समान रूप को देख कर ही कुछ विद्वानों ने इन भाषाओं को 'मारू-गुर्जर' की संज्ञा दी थी। इस कारण गुजराती और राजस्थानी कहावतों और रूढ़ि प्रयोगों (मुहावरों) में भी मात्र भाव-साम्य ही नहीं, शब्द-साम्य भी असाधारण है। मैंने डॉ० सहल की दो पुस्तकों ('राजस्थानी कहावतें' तथा 'राजस्थानी कहावतें–एक अध्ययन') को खूब रसपूर्वक पढ़ा है। इनमें से प्रथम पुस्तक में जहाँ कहावतों का संकलित संग्रह है, वहां दूसरी पुस्तक में विविध दृष्टियों से

कहावतों का समर्थ अध्ययन है। किसी भी भारतीय भाषा की कहावतों के अध्ययन-हेतु यह दूसरी पुस्तक वास्तव में एक नमूना प्रस्तुत करती है।

डॉ० सहल के दो लेख-संग्रह भी मेरे देखने में आए हैं। ये दो संग्रह हैं—"विमर्श और व्युत्पत्ति" तथा "अनुसंधान और आलोचना"। विभिन्न समयों में लिखे हुए और विविध पत्रिकाओं में प्रकाशित उनके अनेक लेख इस प्रकार जो पुस्तकाकार में प्रकट हुए हैं, यह बहुत ही उचित हुआ है। इन पुस्तकों से डॉ० सहल के अध्ययन-वैविध्य का पता चलता है। 'विमर्श और व्युत्पत्ति' पुस्तक के व्युत्पत्ति-खण्ड में ८४ राजस्थानी शब्दों पर उन्होंने साधार टिप्पणियां लिखी हैं, जिन्हें पढ़ कर गुजरात और राजस्थान की प्राचीन भाषा के नैकट्य तथा एकता का ख्याल होता है। मैं मानता हूँ कि इस प्रकार का काम वे चालू ही रखेंगे। 'अनुसंधान और आलोचना' शीर्षक ग्रन्थ में भी राजस्थानी भाषा-साहित्य और कथा-साहित्य से संबन्धित उनके अनेक बहुमूल्य लेख संगृहीत हैं।

इस ग्रन्थ में उनके अन्य आलोचनात्मक लेख भी हैं, तथापि राजस्थानी अध्ययन के क्षेत्र में डॉ० सहल का प्रदान तात्त्विक अर्थ में उनका जीवन-कार्य है, ऐसा मैं मानता हूं।

इस कार्य को उत्तरोत्तर और भी अधिक रूप में करने के लिए ईश्वर उनको आरोग्यमय दीर्घायु अर्पण करे, यह मेरी शुभकामना है।+

इस संग्रह + को प्रकाशित कर आपने राजस्थान की सांस्कृतिक भूतकालीन परम्परा को प्रकाशित करने में बड़ी सहायता पहुँचाई है। विभिन्न उपाख्यानों की ऐतिहासिकता सम्बन्धी आपके सुझाव बहुत ही उपयोगी हैं।.........मेरी यही प्रार्थना है कि इस कार्य को आगे चलाया जाए।

सीतामऊ, २१-१-५०

डॉ० रघुवीर सिंह

+ मूल गुजराती से अनूदित।

+ राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान।

राजस्थानी लोकमन के तत्त्वदर्शी

• डॉ० महेन्द्र भानावत

अभी पिछली नवरात्रा में मेवाड़ क्षेत्र के कुछेक गांवों में जाकर मैंने रात्रि को देव-मंदिरों में गाये जाने वाले ढाक भारत सुने तो उसमें देवी कालिका के एक भारत में मैंने सुना कि खमनौर के ऊनवास गाँव के पास जो विशाल वटवृक्ष है, उसे सर्वप्रथम देवी कालिका तेरहवें पाताल से यहां लाई थी। यह वट नौ लाख देवियों का स्थान माना जाता है और लोक-जीवन में यह बड़ल्या हींदवा के नाम से प्रसिद्ध है। देवी कालिका का बड़ल्याविषयक जो भारत मैंने सुना, वह बहुत बड़ा है। नौ कलियों में पूरा होता है और रात-रात भर गाया जाता है। उसमें इन देवी-शक्तियों के चमत्कारिक कार्यकलापों का बड़ा ही उदात्त एवं संश्लिष्ट चित्र वर्णित है। मुझे यह भारत और इसकी गायकी इतनी सम्मोहित कर गई कि मैं घंटों तक उसी रंग में रंगा रहा और इन अदृश्य शक्ति-स्वरूपों के संबंध में चिंतन करता रहा। ढाक और थाली पर मैंने और भी कई भारत सुने और देखा कि ज्यों-ज्यों भारत और भारत-गायकों का उत्कर्ष एक निश्चित टेम्पो तक पहुँचता है, भारत-शक्ति साक्षात् रूप में स्वतः ही भोपे के दिल में अवतरित हो उठती है। भारत चलता रहता है और शक्ति अपना लीला-कर्म दिखाती हुई अपना गंतव्य लेती है।

आज जब मैं 'राजस्थानी साहित्य को डॉ० सहल की देन' के संबंध में लिखने बैठा तो मुझे अनायास ही कालिका का उक्त भारत याद हो आया। कालिका तो एक सामर्थ्यवान शक्ति थी। उसमें आकाश-पाताल को एक करने की क्षमता थी। तिस पर भी भंवरे की सहायता से उसने पाताल का भेद पाकर नाना कठिनाइयों का सामना करते हुए वटवृक्ष को प्राप्त किया।

डॉ० सहल ने भी राजस्थानी साहित्य के लिए ठीक यही साधना की है। यद्यपि इनके पास ऐसी कोई देवी-शक्ति नहीं थी जो कालिका के पास थी परन्तु अनवरत कार्यरत साधना-भक्ति से उनमें स्वतः ही कालिका-शक्ति उत्प्रेरित हो गई।

फलस्वरुप राजस्थानी के, मुख्यतः कहावती क्षेत्र में उनकी जो देन रही, वह सदैव के लिए अविस्मरणीय बन गई। मृत्युलोक के एक साधारण मानव होकर सहलजी ने लोकमानसीय अंतस की पाताल-परतों का पेंदा-पेंदा रोंदकर कहावती-सैंजों की बूंद-बूंद छानी है और मानस-मधुमक्खी बन उस बूंद-बिंदु से विशाल सिंधु-छत्ता तैयार किया है।

लोकमन की प्रत्येक धड़कन से कहावतें सुनी हैं सहलजी ने, और उन कहावतों के परिप्रेक्ष्य में लोकजीवन के सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि जितने भी पक्ष-पहलू हो सकते हैं, उन सभी का अपनी पैनी दृष्टि से प्रत्यालोचन किया है। राजस्थानी धरती का कोई कोना और कोई कण संभवतः अछूता नहीं रहा है। उनकी कहावती मटकी में अंधेरी कोठी का वह दही भी विलोडित हुआ है जहां सूर्य की किरणें तो नहीं पहुंच पाई किन्तु सहलजी के शोध-चक्षुओं ने अवश्य ही अपना प्रकाश फेंका है।

बड़ल्ये हींदवे की तुलना में जब मैं उनके इस कहावती बड़ल्ये को देखता हूं तो मुझे यह हींदवा कहीं अधिक गुणात्मक प्रतीत होता है। वहां नौ लाख देवियां क्रीड़ा करती हैं; यहां लोक-जीवन की शताब्दियों की पारंपरिक रंगीन संस्कृतियां अपने पूर्वजों की प्रत्येक धड़कन को, उनके प्रत्येक कहकहे को अमरत्व प्रदान करती हैं।

केवल कहावतें ही नहीं, गाथा, कथा, कहानी, उपाख्यान, प्रवाद आदि में भी उनका आजीवन व्रती कर्म उतना ही सफलीभूत हुआ है। क्या नहीं किया है उन्होंने ? अपनी मातृभाषा के संबल, संवर्द्धन और संरक्षण में वे तपे हैं, खपे हैं और इंच-इंच नपे हैं।

'मरु-भारती' का यशस्वी संपादन एवं प्रकाशन राजस्थानी साहित्य को एक ऐसी देन कही जा सकती है जिसके माध्यम से राजस्थानी साहित्य की अतुलनीय श्रीवृद्धि हुई है। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि इसका एक-एक पृष्ठ राजस्थानी साहित्य, संस्कृति एवं कला का एक-एक कलेजा है जिसकी सत्ता-उपादेयता को आने वाली युगीन संस्कृतियां अपने सुदृढ़ संस्कार के स्वस्तिमंगल के रूप में गृहीत करेंगी।

डॉ० सहल ने राजस्थान और उसके बाहर के कई लोगों को राजस्थानी शोध और सर्वेक्षण की आँख और पाँख दी है। कई शोधकर्मी तथा स्वतंत्र लेखनधर्मी उनसे प्रेरणा प्राप्त कर अपने शोध-सृजन में आगे बढ़े और मरु-भारती के कीर्ति-कलश को अपने साधकरत्नों से पूरा है।

इस अवसर पर मैं ऐसे तपस्वी, मनस्वी, मनीषीचूड़ामणि के दीर्घजीवी होने की कामना करता हूं।

●●●

राजस्थानी लोक-कथाओं के मूल अभिप्राय और डॉ० सहल की वैज्ञानिक भूमिका

• डॉ० भगवतीलाल शर्मा

विद्वद्वर्य डॉ० कन्हैयालाल सहल का राजस्थान और राजस्थानी के सृजन एवं शोध-क्षेत्र में अत्यन्त समादृत और सुप्रतिष्ठित व्यक्तित्व है। विशेषकर राजस्थानी कहावतों और कथानक-रूढ़ियों के अनुशीलन एवं शोध-पक्ष में तो श्री कन्हैयालाल सहल ही शीर्षस्थ हैं।

राजस्थानी लोक-कथाओं के मूल-अभिप्राय से सम्बद्ध डॉ० सहल का लेखन अत्यन्त विवेचना-पूर्ण, विस्तृत, सार-गर्भित और स्तुत्य रहा है। इस विषय पर राजस्थानी में उन्होंने प्रथम बार लेखनी उठायी है और अपनी वैज्ञानिक दृष्टि से इस विषय पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उनका एतद्विषयक उपलब्ध साहित्य द्वि-वर्गीय है—

अ : निबन्ध-रूप,

आ : पुस्तक-रूप।

(अ) निबन्ध-रूप :

राजस्थानी की लिखित-मौखिक कथा-आख्यायिकाओं के अनेक मूल अभिप्रायों को लेकर डॉ० सहल ने विभिन्न शोध-पत्र-पत्रिकाओं में शोध-निबन्ध लिखे हैं। आपके कतिपय महत्त्वपूर्ण शोध-निबन्धों की संकेतिका इस प्रकार है—

क्रम	लेख	पत्रिका	वर्ष । अंक
१.	लोक-कथाओं की एक प्ररूढ़ि—जादू की डोरी	परम्परा	२ । ६-७
२.	लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय—	मरुभारती	६ । २
३.	लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय—	मरुभारती	६ । ४
४.	लोक-गाथाओं का एक मूल अभिप्राय— शरीफ चोर	मरुभारती	७ । २
५.	लोक-गाथाओं का एक मूल अभिप्राय— सांकेतिक भाषा	मरुभारती	७ । ३
६.	लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय— लौटने की प्रतिज्ञा	मरुभारती	८ । १
७.	लोक-कथाओं के दो मूल अभिप्राय—	मरुभारती	८ । २
८.	लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय—	मरुभारती	९ । १
९.	लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय— हास्य और रोदन	मरुभारती	१० । १
१०.	लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय—	मरुभारती	१० । ३
११.	लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय—होड़	वरदा	१ । १
१२.	लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय—मृत्यु-पत्र	वरदा	१ । ४
१३.	लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय—नाम-संयोग	वरदा	३ । १
१४.	लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय— लिंग-परिवर्तन	वरदा	३ । ४
१५.	लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय— मात्सर्य की लीला	वरदा	४ । १ [1]
१६.	लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय— भाई का ताना	वरदा	५ । २
१७.	लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय— भौजाई का ताना	वरदा	५ । २
१८.	लोक-कथाओं की एक प्ररूढ़ि—दृष्टि-गर्भ	वरदा	५ । ४
१९.	राजस्थानी लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय लाखीणो दूहो	वरदा	६ । १
२०.	लोक-कथाओं की एक प्ररूढ़ि—रूप परिवर्तन और उसके प्रकार	शोध-पत्रिका	१३ । ३

[1] लोक-कथाओं का एक मूल-अभिप्राय—'मात्सर्य की लीला' राष्ट्रभारती, वर्ष १३ अंक ६ में भी प्रकाशित हुआ है।

वर्ष अंक

२१. लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय–
होणी होय सो होय : शोध-पत्रिका : १३ । ४ [1]

२२. लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय–
रोदन और हास्य : शोध-पत्रिका : १३ । ४

(आ) पुस्तक-रूप :

शोध-निबन्धों के अतिरिक्त आचार्य श्री सहल के मूल अभिप्राय-सम्बन्धी अधोलिखित महत्त्वपूर्ण प्रकाशन प्रकाश में आ चुके हैं—

क : नटो तो कहो मत,
ख : राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय,
ग : लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ तथा
घ : लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु ।

इस कृति-संपत्ति का संक्षिप्त परिचयात्मक आलेख इस प्रकार निर्दशित है—

(क) नटो तो कहो मत : [2]

मूल-अभिप्राय 'नटो तो कहो मत' के नाम पर ही संस्कारित इस लघु आकार की प्ररूढ़ि-विषयक अपनी प्रथम पुस्तक में डॉ० सहल ने राजस्थानी लोक-कथाओं के छह प्रेरक अभिप्रायों–असम्भव, करके दिखाओ, प्रतिध्वनि-शब्द, उपश्रवण, परकाया-प्रवेश अथवा पन्द्रहवीं विद्या तथा नटो तो कहो मत–का प्रौढ़ विवेचन प्रस्तुत किया है। राजस्थानी कथानकों के प्रेरक अभिप्रायों से सम्बद्ध डॉ० सहल की यह प्रथम देन है।

(ख) राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल-अभिप्राय : [3]

इस शीर्षक से प्रकाशित राजस्थानी लोक-कथाओं की कथानक-रूढ़ियों के सम्वन्ध में यह आपका द्वितीय प्रकाशन है। इस कृति में प्राण-प्रतीक, निषिद्ध-कक्ष, मौन-धारण और मौन-भंग, मृत्यु-पत्र तथा वाक्-छल नामक मूल-अभिप्राय सविस्तार विवेचित हैं। "प्रत्येक प्ररूढ़ि के विवेचन में निदर्शन के लिए एक राजस्थानी लोक-कथा मैंने अनिवार्यतः दी है। राजस्थानी कथाओं में पायी जाने वाली प्ररूढ़ियों का

---

[1] लोक-कथाओं का एक मूल अभिप्राय–'होणी होय सो होय' राष्ट्रभारती वर्ष, १३ अंक ६ में भी प्रकाशित हुआ है।

[2] प्रकाशक-वानर प्रकाशन, जयपुर : प्रथम संस्करण, सन् १९५८।

[3] प्रकाशक-वानर प्रकाशन, जयपुर : प्रथम संस्करण, सन् १९६०।

मैंने यत्र-तत्र स्वतन्त्र नामकरण भी किया है।"[1] यह तथ्य इस संकलन की विशिष्टता है।

(ग) लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ :[2]

'लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ' नामक पुस्तक डॉ० सहल का तृतीय गौरव-प्रयास है। प्रस्तुत पुस्तक में अनेक प्ररूढ़ियों का सोदाहरण विवेचन किया गया है जिनका क्रम इस प्रकार है—सत्य-क्रिया और उसकी परम्परा, श्रीमद्देवीभागवत और सत्य-क्रिया, लौटने की प्रतिज्ञा, जादू की डोरी, मात्सर्य की लीला, हंस-कुमारी, स्वर्गीय-बाला, लिंग-परिवर्तन, रूप-परिवर्तन, शरीफ-चोर, कृतघ्न-जीव, नाम-संयोग, सांकेतिक-भाषा तथा होड़ अथवा डाँड़ामेंड़ी। इस कृति के लिए अपनी ओर से कुछ न लिखकर डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्द उद्धृत करना चाहूँगा। विश्व-विश्रुत भारतीय विद्वान् श्री अग्रवाल ने इसकी भूमिका में डॉ० सहल की इस उपलब्धि के लिए सत्य ही लिखा है कि श्री कन्हैयालालजी सहल लोक-साहित्य और वार्त्ता-शास्त्र के मनीषी विद्वान् हैं।.......सहल जी ने प्रस्तुत पुस्तक में राजस्थानी लोक-कथाओं में अन्तर्निहित इसी प्रकार के कुछ मूल-अभिप्रायों पर विचार किया है। उनका यह विश्लेषण मौलिक और मूल्यवान् है।[3] स्व० राहुल सांकृत्यायन की इससे सम्बद्ध बहुमूल्य सम्मति भी यहाँ प्रस्तुत करने का लोभ-संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। प्रकाण्ड पंडित राहुल सांकृत्यायन ने इसकी सफलता के लिए साधुवाद देते हुए लिखा है कि यह बहुत अच्छी पुस्तक है। लोक-कथाओं के बारे में वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाली ऐसी साफ पुस्तक मैंने हिन्दी में नहीं देखी।.......घिसे-पिसे रास्ते को छोड़कर नई बातें भी हिन्दी को ही लानी होंगी। यह देखकर प्रसन्नता हुई कि हिन्दी वाले अपने इस कर्तव्य को भूले नहीं हैं।[4]

(घ) लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु :[5]

डॉ० सहल की यह चतुर्थ पुस्तक साहित्य-संसार के सम्मुख आई है। इसमें अनुशीलित मूल-अभिप्रायों का अनुक्रम इस प्रकार है—गर्ग-संहिता और सत्य-क्रिया, हास्य और रोदन, हँसना, हास्य, होणी होय सो होय, परिशिष्ट-पर्वन् और भाग्य-

---

[1] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल-अभिप्राय का 'निवेदन'।

[2] प्रकाशक—रामप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा : प्रथम आवृत्ति, सन् १९६१।

[3] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : भूमिका : पृ० ५।

[4] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : सम्मतियाँ : पृ० क (अन्त में)।

[5] प्रकाशक—किताब महल (प्रा०) लिमिटेड, इलाहाबाद : प्रथम संस्करण, सन् १९६५।

पत्र, लाखीणो दूहो, भौजाई का ताना, दृष्टि-गर्भ, रूप-परिवर्तन और उसके प्रकार, रूप-परिवर्तन, श्री दुर्गासप्तशती में मूल अभिप्रायः सृष्टिकर्त्ता के शत्रु, चौबोली की एक उपकथा का बर्मी रूपान्तर, शरणागत-रक्षा, विवाहार्थियों का नाग-पाश, मूमल की कथा के कतिपय रूपान्तर, कुमारिल भट्ट और सत्य-क्रिया बनाम असत्य-क्रिया, लौटने की प्रतिज्ञा, मुझे करके दिखाओ, मैं अभी करके दिखाता हूँ एवं राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय (असम्भव, चतुराई, वाक्-छल, मूर्खता, खण्डन-मण्डन)। यह ग्रन्थ भी पूर्व-परम्परा का यथेष्ट निर्वाह करता है एवं विषय-विश्लेषण में परिपक्व चिन्तन लिये हुए है।

लोक-साहित्य-मनीषी डॉ० सहल के कथानक-रूढ़िविषयक कृतित्व का परिचय प्राप्त करने के उपरान्त अब उनकी तत्सम्बद्ध उपलब्धि और योगदान के मूल्यांकन का प्रयास समीचीन होगा।

दृष्टिकोण :

मरुभारती-भंडार लोक-कथाओं की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। इनके मर्म का उद्‌घाटन और मूल का स्पर्श इनमें विद्यमान प्ररूढ़ियों के सम्यक् अनुशीलन से ही संभव है। स्वयं डॉ० सहल की मान्यता है कि जब तक कथाओं के रूढ़-तन्तुओं का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया जाय, तब तक लोक-कथाओं का रहस्योद्‌घाटन अथवा उनका सम्यक् विश्लेषण संभव नहीं।[१] इसे संभव बनाने के लिए अपने कर्मठ हाथों से बीड़ा उठाने का श्रेय श्री सहल को ही है।

नामकरण :

हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में Motif का अध्ययन अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। Motif के पर्याय रूप में अभिप्राय, कथा-रूढ़ि, कथानक-रूढ़ि, कथा-परिधान, कथा-रूप, मूल-भाव, मूल-अभिप्राय, प्रतीक, प्रयुक्ति, प्रयोजन आदि नाम व्यवहृत हुए हैं। डॉ० सहल ने सर्वप्रथम इन विभिन्न नाम-प्रयोगों में एकरूपता और स्थिरता लाने की दृष्टि से 'प्ररूढ़ि' शब्द को ही अधिक उपयुक्त ठहराया है। आपका विचार है कि Motif के लिये 'प्ररूढ़ि' शब्द अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त है क्योंकि इस शब्द के द्वारा रूढ़ि और कथांकुर दोनों का एक साथ बोध होता है।[२]........आवृत्ति के साथ-साथ मूल-अभिप्राय में कथा को गति देने की शक्ति भी पाई जाती है। 'प्ररूढ़ि' शब्द में आवृत्ति और गति दोनों का भाव एक साथ पाया जाता है।[३]....Motif के लिए प्ररूढ़ि शब्द

---

[१] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तन्तु : आमुख : पृ० ३-४।

[२] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल-अभिप्राय का 'निवेदन'।

[३] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ ; उपक्रम : पृ० ९-१०।

अधिक उपयुक्त है, और यही शब्द प्रकृष्ट-रूढ़ि तथा कथांकुर दोनों के अर्थ में व्यवहृत होना चाहिए।[१]....प्ररूढ़ि शब्द का प्रयोग मैंने ही जान-बूझकर प्रारम्भ किया था क्योंकि इस शब्द में रूढ़ि तथा प्रगति दोनों का एकत्र समाहार हो जाता है।[२] मेरी विनम्र दृष्टि में Motif के लिए प्ररूढ़ि शब्द सर्वथा उपयुक्त है।

प्रयोजन-संकेत :

प्ररूढ़ियों के प्रयोग का प्रयोजन है कथा को सरस एवं रोचक बनाना, उसे प्रवाह एवं गतिशीलता प्रदान करना, कथा को अभिलषित मोड़ देना और अभीप्सित प्रभावोत्पादन करना तथा कथा में संकेत से ही अधिक कह देना आदि। ये प्रयोजन विशिष्ट कथानक-रूढ़ि के प्रयोग-विशेष से ही सिद्ध होते हैं। श्री सहल ने जिन विशेष प्ररूढ़ियों को अपने अध्ययन-अनुशीलन के लिए चुना है, उसमें यथा-प्रसंग इन प्ररूढ़ियों द्वारा कथा-कलेवर पर पड़ने वाले प्रभावविशेष का भी संक्षिप्त संकेत किया है। 'असम्भव' मूल-भाव के लिए आपका कथन है कि यह मूल-भाव लोक-कथाकार के हाथ में एक ऐसा अस्त्र है, एक ऐसा राम-बाण है जो प्रभावकता की दृष्टि से अचूक कहा जायगा। इस मूल-भाव को लेकर कथा जिस तरह आगे बढ़ती है, उसमें एक प्रकार का नाटकीय व्यंग्य Dramatic Irony भी छिपा रहता है। असम्भव को सम्भव मानकर चलने वाले ही असम्भव की सम्भवता पर झुंझलाते हैं अथवा उसकी खिल्ली उड़ाते हैं। इससे बड़ा नाटकीय व्यंग्य और क्या होगा?[३] अन्य उद्धरण भी अप्रासंगिक न होंगे—"लोक-कथाओं के रचना-शिल्प की दृष्टि से सत्य-क्रिया नामक मूल अभिप्राय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[४]....गति ही क्यों, कथा की परिणति में भी अनेक बार मूल अभिप्राय (जादू की डोरी) का हाथ रहता है।[५]....इस मूल अभिप्राय (नाम-संयोग) को लेकर कही गई लोक-कथाओं का उद्देश्य शिक्षा देना उतना नहीं, जितना हमारी मनोरंजनी वृत्ति का परितोष करना तथा विधि के विधान की प्रबलता दिखलाना है।[६]....(हास्य और रोदन मूल-अभिप्राय में) हास्य और रोदन, दोनों के एकत्र समाहार से केवल दुःख तथा सहानुभूति ही जागृत नहीं होती, किन्तु इन दोनों मनोवेगों के विरोधाभास के कारण उत्सुकता, जिज्ञासा और रहस्य की भी

---

[१] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० ६४।

[२] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : आमुख : पृ० ३।

[३] नटो तो कहो मत : पृ० ८।

[४] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० २।

[५] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० ६४।

[६] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० १३२।

आश्चर्यजनक सृष्टि देखने को मिलती है।[१] लोक-कथाओं में 'रूप-परिवर्तन' नामक प्ररूढ़ि अत्यन्त व्यापक है। इसके प्रयोग द्वारा कथानक में अलौकिकता, रहस्यात्मकता, मनोरंजन तथा गति एवं त्वरा का विचित्र समावेश देखा जाता है।[२]

तुलनात्मक अध्ययन :

आचार्य सहल ने अपनी कृतियों में विवेचनार्थ जिन मूल-अभिप्रायों को लिया है, वे अध्ययन की गहराई और व्यापकता के कारण अत्यन्त समृद्ध और सपुष्ट होकर हमारे समक्ष आये हैं। तुलनात्मक अध्ययन के दृष्टिकोण से तो श्री सहल का यह कार्य अद्वितीय ही है। 'सत्य-क्रिया और उसकी परम्परा' में ऋग्वेद, महाभारत, रामायण, कथा-सरित्सागर, रघुवंश, दिव्यावदान, रामचरितमानस एवं राजस्थानी कथा-क्षेत्र से उदाहरण लेकर 'सत्य-क्रिया' नामक प्ररूढ़ि की परम्परा प्रकट की गई है।[३] 'लौटने की प्रतिज्ञा' नामक प्ररूढ़ि के विशद अध्ययनार्थ पद्म-पुराण, स्कन्द-पुराण, कथा-सरित्सागर, राजस्थानी हरजस एवं गवंतरी माँ की कथा, गुजराती लोक-गीत, कोंकणी लोकगीत, कन्नड़ भाषा का प्रसिद्ध लोकगीत (पण्यकोटि गौ), विहार के देहातों में प्रचलित 'वेहुला गौ' लोकगीत आदि के दृष्टान्त एक साथ रखे गये हैं।[४] 'जादू की डोरी' के लिए कथा-सरित्सागर, उत्तम चरित कथानक और राजस्थानी चौबोली की कथा के साथ-साथ काश्मीरी लोक-कथा प्रस्तुत की गयी है[५] तो 'मात्सर्य की लीला' के लिए हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्वन् से तथा बाइबिल से कथा खोजी गयी है।[६] 'लिंग-परिवर्तन' के लिए भारतीय साहित्य के साथ-साथ अरेबियन नाइट्स और ग्रीस के पुराख्यानों से उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।[७] 'असम्भव' मूल-अभिप्राय में तुलनात्मक अध्ययन के लिए आसाम और विहारी लोक-कथा उपस्थित है[८] तो 'वाक्-छल' में शेक्सपियर के 'वेनिस का सौदागर'।[९] 'नाम-संयोग' प्ररूढ़ि को स्पष्ट करने के लिए राजस्थानी, गुजराती, बुन्देलखण्डी, बंगाली, संथाली

---

[१] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ११।

[२] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ८९-९०।

[३] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० १-१८।

[४] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० २७ से ५५।

[५] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० ५६ से ६४।

[६] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० ६५-७०।

[७] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० ८९-९९।

[८] नटो तो कहो मत : पृ० १-१३।

[९] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल-अभिप्राय : पृ० ५८।

आदि से दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं,[१] तो उधर चौबोली की एक उपकथा का बर्मी रूपान्तर तक खोज निकाला गया है।[२] वस्तुतः सहल द्वारा विवेचित हर प्ररूढ़ि एक-न-एक उदाहरण से संपुष्ट है जो आपके विस्तृत अनुशीलन का परिचायक और उद्घोषक है।

मूलाधार, स्वरूप-निर्धारण एवं प्रभाव :

डॉ० सहल द्वारा प्रस्तुत इस विशद उद्धरण-बहुल अध्ययन के मध्य में हमें मूल-अभिप्रायों के स्वरूप-धारण और मूलाधार के विषय में भी बहुमूल्य सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। मूल-अभिप्रायों के स्वरूप-धारण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में डॉ० सहल ने इंगित किया है कि परम्परागत लोक-कथाओं में बार-बार आवृत्त होने वाले अत्यन्त सरल प्रत्यय (Concept) मूल-अभिप्रायों का रूप-धारण कर लेते हैं।........तथापि यह ध्यान देने योग्य है कि परम्परा का वास्तविक अंग बनने की क्षमता तभी उत्पन्न होती है जब कोई कथांश ऐसा हो जिसे लोग स्मरणीय समझें और जिसकी बार-बार आवृत्ति करना चाहें। शुष्क सर्व-सामान्यता की अपेक्षा इसमें कुछ अपना वैशिष्ट्य होना चाहिए। केवल माता मूल-अभिप्राय का रूप धारण नहीं करती; हाँ एक निष्ठुर माता अपने असाधारणत्व के कारण अवश्य मूल अभिप्राय के रूप में प्रयुक्त हो सकती है। जीवन की सर्वसामान्य प्रक्रियाएँ मूल अभिप्राय के रूप में परिणत नहीं हो पातीं।[३] मूल अभिप्रायों के उद्भव में हमारे सामान्य विश्वास, व्यावहारिक जीवन, तत्त्व-दर्शन, मनोविज्ञान आदि का भी प्रचुर सहयोग रहता है। श्री सहल ने हमें बतलाया है कि मनुष्य के प्राण शरीर से बाहर भी रह सकते हैं— इस विश्वास ने 'प्राण-प्रतीक' अभिप्राय को जन्म दिया है।[४] 'होणी होय सो होय' अथवा भवितव्यता की भावना हमारे व्यावहारिक जीवन का अंग होने के कारण ही प्ररूढ़ि बनी है।[५] इस पर दैववाद और कर्मवाद का स्पष्ट प्रभाव है।[६] 'रूप-परिवर्तन'[७] और 'सृष्टिकर्त्ता के शत्रु'[८] नामक अभिप्राय तत्त्व-दर्शन एवं मनोविज्ञान की उपज है। 'परकाया-प्रवेश' हमारे योग-दर्शन का सिद्धान्त है और उसका प्रवेश

---

[१] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० १२२-१३२।

[२] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० १०८।

[३] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० १८-१९।

[४] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल-अभिप्राय : पृ० १।

[५] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ३८।

[६] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ४७।

[७] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ९३।

[८] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० १०७।

यदि हमारी लोक-कथाओं में हो गया हो तो इसमें किसी प्रकार के आश्चर्य की बात नहीं।......राजस्थान के जन-जीवन पर नाथ-पंथ का प्रभाव इसका एक कारण हो सकता है।[१]

उद्भव :

इन मूल-अभिप्रायों के अत्यन्त प्राचीन प्रयोग का श्रेय भारतीय कथा-आख्यायिका साहित्य को ही है—ऐसा डॉ० सहल का अभिमत है। " 'हंस कुमारी' नामक प्ररूढ़ि (Motif) को जन्म देने का श्रेय भारतवर्ष को प्राप्त है। भारत के प्राचीनतम वैदिक और पौराणिक साहित्य में इस प्ररूढ़ि के सम्पूर्ण सूत्र उपलब्ध हो जाते हैं।"[२] 'असम्भव' अभिप्राय का 'जातक' और 'पंचतंत्र' में प्रयोग द्रष्टव्य है[3] तो 'उपश्रवण' में छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में उपलब्ध राजा जानश्रुति और रैक्य के उपाख्यान की गूँज।[४]

प्रयोग :

लोक और शास्त्र के परस्पर आदान-प्रदान की चर्चा भी डॉ० सहल ने यथा-प्रसंग की है। 'सांकेतिक-भाषा' के प्रयोग को दृष्टान्तस्वरूप प्रस्तुत करते हुए श्री सहल ने लिखा है कि यह मूल-अभिप्राय कितना प्राचीन है, इसके सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ कह सकना मुश्किल है किन्तु यह निश्चित है कि लोक-कथाकारों के अतिरिक्त बड़े-बड़े कवि भी इस मूल-अभिप्राय का प्रयोग करते रहे हैं।[५] तत्पश्चात् आपने सूर, तुलसी और आधुनिक युग के सुप्रसिद्ध प्रयोगवादी डॉ० धर्मवीर भारती की कविता के उद्धरण दिये हैं।[६]

परस्पर वैषम्य :

कतिपय मूल अभिप्राय अपने प्रकट स्वरूप में तो समान लगते हैं परन्तु व्यवहृति में भिन्नता के सर्जक। आचार्य सहल ने अपने गहन और सूक्ष्म अध्ययन से ऐसी प्ररूढ़ियों के परस्पर भेद एवं अन्तर को भी स्पष्ट किया है। श्री श्यामाचरण दुबे ने यथार्थ ही कहा है कि कथाएँ प्रकाश की किरणों के समान होती हैं जो सदा

---

[१] नटो तो कहो मत : पृ० ४० एवं ४४।

[२] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ ७७।

[३] नटो तो कहो मत : पृ० २।

[४] नटो तो कहो मत : पृ० ३१।

[५] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ६१।

[६] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ६१-६२।

उसी माध्यम का रंग ग्रहण कर लेती हैं जिनमें से होकर वे गुजरती हैं।[1] 'नटो तो कहो मत' और 'उपश्रवण' अभिप्रायों की तुलना में श्री सहल ने लिखा है कि "समानता होते हुए भी दोनों अभिप्राय परस्पर भिन्न हैं। 'उपश्रवण' नामक मूल अभिप्राय में अनागत विपत्तियों की चेतावनी देना जहाँ कथाकार का मुख्य लक्ष्य है, वहाँ इस अभिप्राय (नटो तो कहो मत) में जीव-जन्तुओं की बोली समझने पर विशेष बल दिया जाता है।"[2] इसी तरह की टिप्पणियाँ 'मौन-धारण और मौन-भंग', 'प्राण-प्रतीक' तथा 'मृत्यु-पत्र' आदि अभिप्रायों के विवेचन में भी विद्यमान हैं।[3] एक ही मूल-अभिप्राय के दूसरे अनेक रूपों की चर्चा भी सोदाहरण विवेचित हैं। इस सम्बन्ध में 'प्रतिध्वनि-शब्द' प्ररूढ़ि का 'एक वह रूप भी उपलब्ध होता है जिसमें शब्द ध्वन्यर्थव्यंजक (Onomatopoeic) न होकर सादृश्य (Analogy) के आधार पर बना हुआ होता है,[4] लोक-कथाओं में परकाया प्रवेश की सक्रिय और निष्क्रिय दो प्रकार की पद्धतियाँ दिखलाई पड़ती हैं;[5] आदि कथन विशेष उल्लेख्य हैं। 'चौबोली' और 'वैताल-पच्चीसी' के पारस्परिक वैभिन्य की ओर भी ऐसा ही ध्यान आकर्षित किया गया है।[6]

नामकरण :

इस पारस्परिक तुलनात्मक अध्ययन के उपरान्त श्री सहल ने अनेक अभिप्रायों के नवीन नामकरण की एवं प्रचलित अभिप्रायों के नाम-परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की है और यह मूल्यवान् कार्य किया भी है।[7] 'परकाया-प्रवेश' को राजस्थानी लोक-कथाओं के सन्दर्भ में १५वीं विद्या अथवा कायापलट[8] नाम और 'नटो तो कहो मत' को स्वतंत्र अभिप्राय के रूप में ग्रहण किया है।[9] रावण तथा जरासन्ध-वध के प्रसंगों को आपने प्राणमय अंग (Vital part motif)[10] नाम दिया है तो शिखण्डी और यक्ष के परस्पर रूप के आदान-प्रदान को 'लिंग-

[1] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय : पृ० ५२।
[2] नटो तो कहो मत : पृ० ५२।
[3] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय : पृ० २२, ४२, ५२।
[4] नटो तो कहो मत : पृ० २७।
[5] नटो तो कहो मत : पृ० ४०।
[6] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय : पृ० ४२।
[7] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय : निवेदन।
[8] नटो तो कहो मत : पृ० ४४।
[9] नटो तो कहो मत : पृ० ५२।
[10] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय : २२।

[?]निमय'[१] । इसी प्रकार मृत्यु-पत्र[२], डांडामेंड़ी[३] तथा योनि-परिवर्तन[४] आदि नाम [?]ो आप द्वारा निर्दिष्ट किये गए हैं। आपकी दृष्टि में "अभिज्ञान शाकुन्तल में प्रयुक्त [?]ल अभिप्राय को 'तांत्रिक-धागे' के स्थान में 'तांत्रिक-तावीज' कहना अधिक उपयुक्त ",[५] तो कुमारिल भट्ट के उपाख्यान में प्रयुक्त 'सत्य-क्रिया' के विशेष स्वरूप को [?]म्य अथवा प्रच्छन्न नाम दिया जा सकता है।[६] आपके विचार से कुणाल-कथा में [?]ाप्त प्ररूढ़ि को भी 'मृत्यु-पत्र' न कहकर 'भाग्य-पत्र' कहना चाहिए।[७] डॉ० सहल [?]ी ऐसी नवीन उद्भावनाएँ प्रशस्य हैं।

विशिष्ट भारतीय अभिप्राय :

डॉ० सहल द्वारा इस विशिष्ट शोध-सामग्री के प्रस्तुतीकरण का प्रभावशाली [?]क्ष है उन विशिष्ट भारतीय और राजस्थानी अभिप्रायों को प्रकाश में लाना जो [?]रकीय कथा-आख्यायिका साहित्य में अनुपलब्ध हैं। 'नटो तो कहो मत' प्ररूढ़ि के [?]संग में श्री सहल लिखते हैं कि "राजस्थानी कथाकार ने एक बात कही है जो अपने सम्पूर्ण रूप में अन्य उद्धृत लोक-कथाओं में नहीं मिलती।....'या तो इन्कार मत करना' यह शर्त राजस्थानी लोक-कथा के अतिरिक्त अन्य किसी लोक-कथा में नहीं है। अन्य बातें विवरण की दृष्टि से कुछ भिन्न भले हों किन्तु मूलतः एक हैं।"[८] वाक्-छल के नकारात्मक और सकारात्मक भेद भी राजस्थानी कथा-वैशिष्ट्य हैं।[९] 'दृष्टि-गर्भ' के लिए उल्लिखित राजस्थानी कहानी का डॉ० सहल की दृष्टि में विशेष महत्त्व है क्योंकि जीव-जन्तुओं के दृष्टि-सम्पर्क से गर्भाधान होने की कथाएँ विरल हैं।[१०] 'शरणागत-रक्षा' अभिप्राय के सम्बन्ध में आपका कथन है कि "यह अभिप्राय भारत को छोड़कर विश्व की अन्य लोक-कथाओं में सम्भवतः नहीं पाया जाता। इससे यह भी स्पष्ट है किसी राष्ट्र अथवा जाति की विचार-धारा मूल-

---

[१] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० ९१।
[२] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय : पृ० ५६-५७।
[३] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० १४०।
[४] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० ९१।
[५] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ११५।
[६] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० १६२।
[७] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ५३।
[८] नटो तो कहो मत : पृ० ५१-५२।
[९] राजस्थानी लोक-कथओं के कुछ मूल अभिप्राय : पृ० ६१।
[१०] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ८५।

अभिप्राय की उद्भावना में सहायक होती हैं।"[1] 'लाखीणो-दूहो' भी ऐसा ही मुख्यतः विशिष्ट राजस्थानी अभिप्राय है।[2]

निष्क्रिय अभिप्राय :

निष्क्रिय अभिप्राय और एक ही अभिप्राय की कथाएँ देकर लब्ध-प्रतिष्ठ शोधक श्री सहल ने इस विषय का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादित किया है। 'लाखीणो-दूहो' अभिप्राय के प्रसंग में उद्धृत लोक-कथा में " 'विभूति द्वारा पुत्र जन्म' को 'निष्क्रिय मूल-अभिप्राय' (Passive Motif) के रूप में ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि कथा की गति-विधि, कार्य-व्यापार एवं कार्य-संकलन (Unity of Action) की दृष्टि से इसकी कोई सार्थकता नहीं जान पड़ती।[3] एक ही अभिप्राय की कथाओं के लिए[4] डॉ० सहल ने उन विशेष राजस्थानी कथाओं यथा 'उपश्रवण' के लिए 'साहूकार की बेटी'[5] एवं मात्सर्य की लीला[6] आदि को भी प्रस्तुत किया है जिनकी भंगिमा निराली है।

परिभाषा एवं निष्कर्ष :

आपके विवेचन की यह विशेषता भी द्रष्टव्य है कि हर प्ररूढ़ि को सर्वप्रथम आपने सुसंगत परिभाषा-बद्ध किया है और तत्पश्चात् विस्तृत चर्चा करके प्ररूढ़ि-विशेष से सम्बद्ध सयुक्तिक सामान्य निष्कर्षों की स्थापना की है। इसके लिए विशेष रूप से सत्य-क्रिया, मृत्यु-पत्र, हंस-कुमारी, लिंग-परिवर्तन, शरीफ-चोर, नाम-संयोग, सांकेतिक-भाषा, होड़ आदि निबन्ध उल्लेखनीय हैं।

शैली :

विवेच्य विषय की प्रौढ़ता और प्रभावोत्पादकता में श्री सहल की शैली का भी विशेष हाथ रहा है। आपने सर्वबोध्य सुगम शैली में इस तरह सुव्यवस्थित विषय-प्रतिपादन किया है कि पाठक सरसतापूर्वक विषय की व्यापकता का संग्रहण कर सकता है। परमत-खण्डन और स्वमत-समर्थन में अन्यान्य उद्धरणों को संयोजित

---

[1] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० १२६।

[2] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ७३।

[3] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ७२।

[4] ब्लूमफील्ड को ऐसी कथाओं की विद्यमानता अमान्य थी।—नटो तो कहो मत : पृ० ३३-३४।

[5] नटो तो कहो मत : पृ० ३३-३४।

[6] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० ६५।

करके आपने पाण्डित्य का चतुरस्रत्व ही अभिव्यक्त नहीं किया, बल्कि शुद्ध, परिमार्जित, सहज-सरल भाषा में विषय-प्रतिपादन अत्यन्त हृदय-ग्राह्य बन गया है। यत्र-तत्र शैली में व्यंग्य का सम्मिलन भी देखते ही बनता है। 'दृष्टि-गर्भ' मूल-अभिप्राय के प्रसंग में यह लिखकर 'शारीरिक सम्पर्क' न होते हुए भी नागराज और मानवी यहाँ पति-पत्नी के रूप में व्यवहृत हुए हैं। शारीरिक सम्पर्क-हीन नारी और पुरुष के प्रेम को 'प्लेटोनिक-प्रेम' के नाम से अभिहित किया जाता है किन्तु नाग और मानवी का यह प्रणय किस प्रकार के प्रेम के अंतर्गत माना जायगा, सम्भवतः फ्रायड के मतानुयायी मनोवैज्ञानिक इसकी व्याख्या कर सकें,'[१] कैसी मीठी चुटकी ली गई है!

'कहावतें और कन्हैयालाल सहल' का तो एक-अमिट संयोग बन गया है। इस विवेचन में भी अनेक स्थलों पर कहावतें[२] उद्धृत हुई हैं। अनेक कहावती दोहे भी श्री सहल की शैली की सम्पदा बनकर आये हैं—

करता रै संग कीजिये, सुण रै राजा-भील।
सोनै रै घुण लागगो, तो छोरै नै लेगी चील॥[3]
संपत देख न हांसिये, विपत देख मत रोय।
जिण दीहाड़े जिण घड़ी, होणी होय सो होय॥[४]

अलंकार-कथन का चमत्कारपूर्ण ढंग ही है। कथन के वैचित्र्य से सम्बद्ध मूल अभिप्रायों में श्री सहल ने दोनों की परस्पर सम्बद्धता-असम्बद्धता भी बतलाई है—उदाहरणार्थ मौन-धारण एवं मौन-भंग में 'आक्षेप' अलंकार,[५] असम्भव में 'मिथ्या-व्यवसिति',[६] नाम-संयोग में 'नामसमोच्चार'[७] और 'लाखीणो-दूहो' में 'क्रमालंकार'[८] आदि। तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई तत्त्व आपने नहीं छोड़ा जिससे अध्ययन पुष्ट नहीं बन पड़ा हो।

---

[१] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ८५।

[२] Hanging and wiving go by destiny, one may smile and smile and may be a villian, का प्रयोग लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु पुस्तक के पृ० १२ एवं ५४ पर क्रमशः देखा जा सकता है।

[3] नटो तो कहो मत : पृ० १।

[४] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ४६।

[५] राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय : पृ० ४६।

[६] नटो तो कहो मत : पृ० ६।

[७] लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ : पृ० १२६।

[८] लोक-कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु : पृ० ७३।

समग्रतः डॉ० कन्हैयालाल सहल का राजस्थानी लोक-कथाओं का प्ररूढ़ि-विषयक अध्ययन राजस्थानी के शोव-क्षेत्र की एक श्रेष्ठ संग्रहणीय थाती के रूप में चिरस्मरणीय रहेगा। वर्तमान शती में 'प्रकृति की ओर लौटो' (Return to Nature) के नव्य उद्घोष ने अध्येताओं को लोक-साहित्य के सम्यक् अनुशीलन के लिए आमन्त्रित किया था। राजस्थानी भी ऐसे शोध-प्रयासों से अस्पृश्य नहीं रही। श्री सहल-सदृश विरल निष्ठावान् शोधक इस विशाल राजस्थानी-क्षीर-सागर का मनन-मंथन कर उसकी राशि-राशि, रत्न-राशि को प्रकाश में लाने का आदर्श, अनुकरणीय एवं सराहनीय प्रयास कर रहे हैं। यह समस्त व्याख्यात्मक विशद विवेचन आपके प्रौढ़, पाण्डित्यसमन्वित गहन अध्ययन का सुन्दर निदर्शन है जो सहल–जैसे प्रतिष्ठित आचार्य के नाम और कीर्ति के ही सर्वथा अनुरूप है। यह लिखने में अत्युक्ति नहीं है कि अनन्य-शोधक श्री सहल का यह स्तुत्य प्रयास राजस्थानी शोव-चेतना के विकास का ध्यानाकर्षण-अध्याय है और इस हेतु आपका नाम तथा मत सदैव गौरव के साथ लिया जायगा।

•••

पुस्तक बहुत अच्छी है। लोक-कथाओं के बारे में वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाली ऐसी साफ पुस्तक मैंने हिन्दी में नहीं देखी।''''आशा है इस पुस्तक से हिन्दी वालों को बहुत लाभ होगा। आपने उदाहरण भी अच्छे दिये हैं। †

दार्जिलिग, १५-९-६१

—(स्व०) राहुल सांकृत्यायन

---

† लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियां (ले० डॉ० कन्हैयालाल सहल) और प्रकाशक—रामप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा।

प्रसिद्ध आख्यानविद्

• डॉ० श्रीराम शर्मा

एक लेखनी जिसका प्रारम्भिक परिचय तो एम० ए० परीक्षा के लिए अध्ययन करते समय 'कामायनी-दर्शन' एवं 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' के रूप में ही हो गया था। किन्तु उसके बहुविध आयामों की सारस्वत यात्रा से आत्म-साक्षात्कार उस समय हुआ जब लोक-साहित्य विषय पर शोध-कार्य करने को अग्रसर हुआ। कहना न होगा कि इन पंक्तियों के लेखक को लोक-साहित्य का अध्ययन करने की सच्ची प्रेरणा सन्दर्भगत लेखनी के माध्यम से निःसृत विपुल साहित्य से ही मिली। शताधिक निबन्धों में प्रस्फुटित वैचारिक शृंखलाओं से आधार ग्रहण कर अनेक शोधार्थियों ने नवीन दिशाओं में शोध-कार्य किये हैं तथा अनेक शोधार्थी राजस्थान-भारती की गरिमा-वृद्धि करने वाले डॉ० सहल के शोध-प्रबन्ध को पथ-कृति के रूप में रखकर कार्य कर रहे हैं। राष्ट्र-गिरा की झोली को अनेक कहावत-रत्नों से भरने का श्रेय तो इस सच्चे पृथिवीपुत्र को है ही, साथ ही सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास प्रकाशित कर इस सरस्वती-पुत्र ने इतिहास की अनेक लुप्त परम्पराओं को जीवित रखकर हमारे गरिमामय अतीत की रक्षा की है। इसी सांस्कृतिक इतिहास की अक्षुण्णता की ओर डॉ० सहल ने अपने विचार भी एक मासिक पत्र में इस प्रकार व्यक्त किये हैं—

"सांस्कृतिक इतिहास की सामग्री तो लोक-साहित्य में ही सुरक्षित रहती है। संस्कृति के भग्नावशेषों के आधार पर, जो लोक-साहित्य में छिपे पड़े रहते हैं, सांस्कृतिक इतिहास का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है।"[1]

---

१. जनसाहित्य (लोकसाहित्य विशेषाङ्क, अक्टूबर-नवम्बर १९६५) में डॉ० सहल का 'लोकसाहित्य का महत्त्व' शीर्षक, निबन्ध पृ० १०४ प्रकाशक—भाषा विभाग हरियाणा सरकार, पटियाला १।

उन्होंने लोक-साहित्य के क्षेत्र में इस प्रकार की लोकसांस्कृतिक शृंखला की कड़ियों का उल्लेख मात्र ही नहीं किया है, अपितु सच्चे लेखनी के सिपाही की भांति इस दिशा में स्तुत्य प्रयत्न भी किया है। राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवादों को राजस्थान के लोक-जीवन से चुन-चुन कर प्रकाशित कराने का भी श्रेय इस मनीषी को प्राप्त है। संस्कृति शब्द की परिधि को इतिहास के साथ सम्बद्ध करके देखने वाले लेखक विरल ही हैं, जिन्होंने एक ओर तो विशद साहित्य का अध्ययन भी किया है और दूसरी ओर अपार संग्रह भी। लोक-संस्कृति तो लोक-साहित्य में अभिव्यक्त होती ही है किन्तु अनेक ऐतिहासिक तथ्य भी समसामयिकता की प्रवृत्ति के कारण लोक-साहित्य में अनुस्यूत रहते हैं। लोक-संस्कृति के इन्हीं तत्वों में ऐतिहासिक कड़ियां भी जुड़ी रहती हैं। जन-श्रुतियों को विशिष्ट वैज्ञानिक आधार पर सत्य भले ही न माना जाय तथापि उनमें कुछ न कुछ सत्य का अंश अवश्य रहता है। डॉ० सहल ने ऐसी जन-श्रुतियों को 'प्रवाद' कह कर पुकारा है तथा उनकी सत्यता के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला है—

"बढ़ी हुई तोंद से जैसे यह अनुमान लगा लिया जाता है कि तोंदधारी को आराम मिला है, नदियों से जिस प्रकार नालों की सत्ता प्रकट हो जाती है, वर्षा से ही जैसे प्रकट हो जाता है कि गर्मी पड़ चुकी है, उसी प्रकार गीतों से इस बात का आभास मिलता है कि उनमें वर्णित घटनाएँ घटित हो चुकी हैं।"[१]

वस्तुतः लोक-साहित्य में जो भी ऐतिहासिक तथ्य प्रवर्तमान रहते हैं, उनके सम्बन्ध में कुछ शंका करना उचित नहीं, क्योंकि उसमें अतिशयोक्ति व मिथ्यात्व का समावेश किये जाने का कोई ध्येय ही नहीं हो सकता है। वीरवर पाबूजी राठौड़ के जीवन को प्रकाशित करने वाले प्रवादों को प्रस्तुत करके इस तथ्य की पुष्टि की जा सकती है। डॉ० सहल के ही शब्दों में इस सांस्कृतिक इतिहास की परम्परा का उल्लेख किया गया है—

"राजस्थान का कौन ऐसा व्यक्ति है, जिसने वीरवर पाबू जी राठौड़ का नाम न सुना हो ? × × मां देवल चारणी के पास कालमी नामक एक प्रसिद्ध घोड़ी थी, जिसके गुणों से आकर्षित होकर यह राठौड़ वीर उनके पास घोड़ी की याचना करने को पहुँच गया। देवल जी ने कहा कि यह घोड़ी तो उसी को दी जा सकती है, जो मेरी गाएँ घिरने पर उनकी रक्षा के लिए अपने प्राण देने के लिए तैयार हो। यह सुनते ही पाबू जी ने भीष्म प्रतिज्ञा की। उसको कवि के मार्मिक शब्दों में सुनिए—

---

१. डॉ० सहल, राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद, भूमिका पृष्ठ ११, प्रथम संस्करण २००२ वि०।

पानी पवन प्रमाण, धर अंबर हिन्दू धरम।
अब मोइ धांधल आण, सिर देस्यां गायां सटे ॥[1]

इसी प्रतिज्ञा को वीरवर पाबू जी ने साकार कर दिया था, अपने विवाह के अवसर पर, जब वे देवल जी की गायों के घिरने का समाचार पाते हैं तो राजकन्या का हाथ छोड़ कर कालमी घोड़ी पर सवार होकर चल देते हैं। इस ऐतिहासिक घटना और उस वीर नरसिंह की गाथा को अमर बनाने का श्रेय नीचे लिखे प्रवाद को ही है—

नेह निज रीझ री बात चित ना धरी, प्रेम गावरी तणों नाहिं पायो।
राजकँवरी जिका चढ़ी चँवरी रही, आप भँवरी तणी पीठ आयो ॥[2]

इसी प्रकार के शताधिक प्रवादों में सन्निहित अनेक ऐतिहासिक घटनाओं को डॉ० सहल ने प्रकाशित किया और इसी प्रकार सांस्कृतिक इतिहास-लेखकों की एक पुष्ट परम्परा का शिलान्यास कर एक ऐसी अभिनव दिशा का निर्देश किया है कि लोक-साहित्य द्वारा एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह किये जाने की पृष्ठभूमि का साधार प्रणयन हो गया है। इसी प्रकार समस्त प्रदेशों के लोक-साहित्य में छिपे ऐतिहासिक तत्त्वों को एकत्र करके भारतवर्ष के समस्त जनपदों के सांस्कृतिक इतिहास लिखे जायँ तो डॉ० सहल द्वारा निर्दिष्ट मार्ग को अधिक पुष्ट करके लोक-साहित्य के अध्ययन में एक नया अध्याय जोड़ा जा सकता है।

इसी क्रम में डॉ० सहल द्वारा एक अन्य प्रवाद का उल्लेख किया गया है, जिसमें लल्ला नामक पठान के द्वारा 'टोडा' छीने जाने की घटना के उपरान्त महाराणा रायमल्ल जी के ज्येष्ठ पुत्र पृथ्वीराज के प्रताप की एक अत्यन्त स्वभावोक्ति का रहस्योद्घाटन हुआ है—

भाग लल्ला ! पृथ्वीराज आयो।
सिंह के साँथरे स्याल् ब्यायो ॥[3]

इस प्रवाद में पृथ्वीराज को सिंह कहते हुए 'टोडा' जैसे प्रदेश को उस शेर की मांद बताया गया है जहाँ पर लल्ला जैसे गीदड़ों का निर्वाह अत्यन्त असम्भव ही हो गया होगा। लोक-जीवन के शेर और गीदड़ जैसे प्रतीकों को ग्रहण करके लोक-कवि की प्राचीन ऐतिहासिक घटना की पवित्रता को जिस प्रकार प्रस्तुत प्रवाद में सँजोया गया है, उसको प्रकाशित कर डॉ० सहल ने लोक-साहित्य के अपरिमित महत्त्व का प्रति-

---

१. राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद, पृ० ८।
२. वही, पृ० ९।
३. राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद पृ० १३।

पादन कर दिया है। इसी प्रकार के प्रवादों में समाविष्ट ऐतिहासिक परम्पराओं के साथ विद्वान् लेखक ने राजस्थान के सांस्कृतिक इतिहास का जो गौरवमय चित्रांकन किया है, उसकी जितनी प्रशंसा की जाए, उतनी ही थोड़ी है। राजस्थान के विभिन्न राज्यों जैसे बीकानेर, जयपुर, जोधपुर, अमरकोट, उदयपुर, नागौर, जैतसी, मीठड़ी, मारवाड़, खण्डेले के मन्दिर, उज्जैन, फतिहाबाद, विदाद (मारवाड़ा) मनोहरपुर, शाहपुरा, उमादे, जैसलमेर, सिंध, धारा नगरी, गौंडवाड़, पाली, जूनागढ़ के विभिन्न रावराजाओं की विभिन्न घटनाओं को व्यक्त करने वाले विभिन्न प्रवादों को एकत्र करके डॉ० सहल ने राजस्थान के वीर राजाओं की दानशीलता, मातृभूमि-प्रेम, गौरक्षा, देशरक्षा करते-करते प्राणोत्सर्ग जैसे प्रधान गुणों को व्यक्त करने वाली विशिष्ट परम्पराओं का लोक-साहित्य में दर्शन किया है। यह कार्य लोक-साहित्य के महत्त्व का प्रतिपादन करता है। इसका श्रेय जाता है डॉ० सहल को।

वैज्ञानिक इतिहास-लेखक को भी अनेक बार मौखिक परम्परा से चली आने वाली अनुश्रुतियों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। लोक-साहित्य की सम्पत्ति अर्थात् अनुश्रुतियों में जो भी कल्पना-तत्व होता है, उसमें गहरे पैठ कर सत्य-भाग को खोज निकालना वैज्ञानिक इतिहासकार का दायित्व होता है। इस यत्किंचित प्रक्षिप्तावस्था के लिए लोक-साहित्यकार को दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि वह तो अपनी रचना में लालित्य एवं रोचकता की संयोजना-हेतु कल्पना का सम्मिश्रण कर देता है।

डॉ० सहल ने लोक-साहित्य के अन्तर्गत आने वाली इन अनुश्रुतियों में समाविष्ट इतिहास के सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

"अनुश्रुतियों में सत्य और कल्पना का बड़ा जटिल सम्मिश्रण मिलता है। तथ्यान्वेषण करने वाला इतिहासकार अनेक प्रकार के साधक और बाधक प्रमाणों से कपोल-कल्पना में से सत्य को पृथक् करने का प्रयत्न करता है। इससे यह स्पष्ट है कि अनुश्रुतियाँ इतिहास के लिए अमूल्य सामग्री तो अवश्य प्रस्तुत करती हैं किन्तु वे जिस रूप में हमें मिलती हैं, उसे सर्वांश में ऐतिहासिक तथ्य मानने की भूल न करनी चाहिए।

राजस्थान में ऐसे असंख्य ऐतिहासिक उपाख्यान प्रचलित हैं, जिनका सम्बन्ध अनुश्रुतियों से है। इन उपाख्यानों से यहाँ के सांस्कृतिक आदर्शों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।"[1]

---

१. डॉ० सहल, राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान पृ० ४ (भूमिका भाग) अक्टूबर १९४० प्रकाशक—स्वयं लेखक।

डॉ० सहल ने ऐसी १०१ अनुश्रुतियों को प्रकाशित करके उनमें अभिव्यक्त सांस्कृतिक-इतिहास को लिखकर इस दिशा में एक अनूठा प्रयास किया है। विद्वान् सांस्कृतिक इतिहासकार ने इन अनुश्रुतियों में राजस्थान के उन उच्चादर्शों का अन्वेषण किया है, जो कि सांस्कृतिक पृष्ठाधार का कार्य करते हैं। शौर्य, धर्मरक्षा, मानरक्षा, रणोत्सुकता, आतंक, साहस, दानशीलता, भगवद्भक्ति, उद्बोधन, स्वामि-भक्ति, कृतज्ञता, आदि ऐसे सांस्कृतिक उपादानों को आधार मानकर ही डॉ० सहल ने ऐसे ऐतिहासिक उपाख्यानों का उल्लेख किया है, जिनमें इन सभी उत्तम आदर्शों की प्रतिष्ठा हो गयी है। इसी प्रसंग में लोक-संस्कृति के विविध अंग-उपांगों की चर्चा भी कर दी गयी है। मेवाड़ के स्वर्गीय महाराणा सज्जनसिंहजी को ब्रिटिश सरकार द्वारा जी० सी० एस० आई० की उपाधि दिये जाने पर किये गये उत्सव पर एक कवि ने निम्न प्रकार का शिष्ट व्यंग्यपूर्ण दोहा सुनाया—

आगै आगै बाजता, हिन्द हद्द रा सूर।
अब देखौ मेवाड़पत, तारा हुया हजूर ।।[1]

इसी प्रकार अनेक काव्यांशों में वर्णित राजस्थानी इतिहास के अनेक उपाख्यानों को डॉ० सहल ने अपने सन्दर्भगत प्रयास में सँजोया और सांस्कृतिक इतिहास की परम्परा में एक दूसरा बहुमूल्य ग्रन्थ-रत्न प्रस्तुत किया है।

निष्कर्षतः डॉ० सहल द्वारा इस दिशा में किये गये प्रयत्न के विषय में यही कहा जा सकता है कि (हमारे देश का इतिहास तो अनेक इतिहासकारों द्वारा लिखा ही गया है) इस प्रकार के हजारों ऐतिहासिक तथ्यों को मौखिक परम्परायुक्त लोक-साहित्य में से अन्वेषण कर करके प्रस्तुत करना डॉ० सहल जैसे विद्वान् की अनूठी लेखनी का सुप्रयत्न हो सकता है। अनेक ऐतिहासिक तथ्यों को, जो राजस्थान के इतिहासकारों ने कहीं भी नहीं दिये, डॉ० सहल की तपःपूत लेखनी से निःसृत लोक-साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या से प्रकाशित किया गया है। इसी प्रयास का अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण योगदान है। विभिन्न ऐतिहासिक स्थानों एवं दुर्गों के नामकरण पर भी लोक-साहित्य में छिपे पड़े अनेक तथ्यों से प्रकाश पड़ जाता है। डॉ० सहल ने चित्तौड़गढ़ के नामकरण के सम्बन्ध में लोक-साहित्य में मौखिक परम्परा से प्राप्त निम्नाङ्कित दूहों से पुष्ट व्याख्या करने का अभिनव प्रयास किया है—

चित्रकोट चित्रांगदे, मोरी कुल महिपाल।
गढ़ मंड्या अवलोकि गिरि, देवनसीदा ढाल ॥
संगहि लिय सीसौदिए, दुर्गराह रिषि दान।
बापा रावल वीरवर, बसुमति जासु बखान ॥

१. राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान, पृ० ७८।

पाट अचल मेवाड़पति, रघुवंशी राजान ।
बापा-रावर-बड़ वहत, थिरि चीतौड़ सुथान ।।[१]

यहां मौर्य-वंशाधिपति चित्रांगद के द्वारा इस गढ़ के निर्माण कराये जाने की ऐतिहासिक सूचना को प्रस्तुत किया गया है । बापा रावल ने मौर्य वंश के अन्तिम नृपति मानमोरी से यह किला छीन लिया था । ऐसे तथ्य भी प्रस्तुत दूहों से प्राप्त हो जाते हैं ।

इसी प्रकार की अनेक सूचनाएँ ऐतिहासिक तथ्यों को पुष्ट करती हैं । उसकी विशेषता यह है कि लोक-जीवन में मौखिक परम्परा से प्राप्त लोक-साहित्य में से ऐसे तत्वों को छान-छान कर खोजा गया है, जिसमें लोक-संस्कृति का स्वरूप भी अनायास ही चित्रित हो गया है ।

डॉ० सहल की लोक-साहित्य के क्षेत्र में अनेक दिशाओं में अनूठी देन है । लोक-साहित्य, लोक-वार्ता, लोक-संस्कृति की अनेक गूढ़ समस्याओं का आपने समाधान किया है और लोक-साहित्य की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विधा, लोकोक्ति का जितना गूढ़, गम्भीर एवं विस्तृत अध्ययन आपने प्रस्तुत किया है, वह तो लोक-साहित्य-जगत की अमूल्य निधि ही है । डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल जनपदीय साहित्य के प्रेरक स्रोत थे । उन्होंने डॉ० सहल के इसी कार्य के सम्बन्ध में लिखा था—"कहावतों के क्षेत्र में..........मेरा विचार है कि इस आकर-ग्रन्थ से प्रेरणा पाकर अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के कार्यकर्त्ता भी अपनी प्रादेशिक सामग्री को इसी पद्धति से छापने का प्रयत्न करेंगे । लोक-साहित्य के वर्धमान वाङ्मय में यह ग्रंथ सर्वथा स्वागत के योग्य है ।[२] कहना न होगा कि स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालजी के ये वाक्य साकार हो गये क्योंकि अनेक बोलियों में डॉ० सहल के द्वारा खोले गये द्वार को आगे सुदीर्घ परम्परा में परिवर्तित कर दिया है ।

कविता की स्वच्छ एवं निर्मल पयस्विनी के साथ विपरीत दिशा में जाने वाले (वैचारिकता प्रधान) समीक्षक एवं निबंधकार की त्रिवेणी को अपने व्यक्तित्व में आत्मसात् करने वाले इस सारस्वत साधक ने अपने जीवन में राजस्थानी के लोक-साहित्य की बहुविध विशिष्ट शाखाओं का मर्मोद्घाटन करके लोक-साहित्य के अध्ययन के क्षेत्र में एक नये अध्ययन का सूत्रपात किया है ।

•••

१. डॉ० सहल, राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान पृ० ८६ ।
२. राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन (भूमिका भाग) डॉ० सहल द्वारा प्रणीत ।

निहालदे-सुलतान : एक मूल्यांकन

• डॉ० रामप्रसाद दाधीच

राजस्थानी प्रेमाख्यानों की परम्परा जहाँ अत्यन्त प्राचीन है, वहाँ वह साहित्यिक एवं कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध भी है। राजस्थानी साहित्य से तनिक भी परिचय रखने वाले महानुभाव इस तथ्य से परिचित होंगे कि राजस्थान के लोक एवं आभिजात्य लेखक की दृष्टि अत्यन्त व्यापक, पारदर्शी एवं परिष्कृत रही है। प्रकृति एवं मानव-जीवन की गहराइयों एवं जटिलताओं को इन दोनों सृजनधर्मी वर्गों ने सूक्ष्मता से देखा-परखा और अनुभव किया है। अस्तु, राजस्थानी भाषा के अकेले प्रेमाख्यान-साहित्य पर ही यदि हम दृष्टिपात करें तो भी इसकी दिव्य–प्रतिभा से व्यामोहित हो जाना पड़ता है। यह कहना तो उपयुक्त नहीं है कि राजस्थानी का प्रेमाख्यान-साहित्य विषय-वस्तु, शैली-शिल्प एवं उद्-भावनाओं में सर्वथा मौलिक है। भारतीय साहित्य की समूची प्रेमाख्यान-परम्परा का अवलोकन करने पर यह प्रकट हो जाता है कि कतिपय अपवादों को छोड़कर राजस्थानी के अधिकतर प्रेमाख्यान संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की परम्परा में ही हैं।

जैन कवियों, चारण-भाटों एवं लोक-कण्ठ पर विद्यमान अलिखित इन प्रेमाख्यानों की संख्या सैकड़ों तक जाती है। इनमें से कुछ प्रेमाख्यान साहित्य-संग्रहालयों में असूर्यस्पर्शी की भाँति पड़े हैं। ढोला मारू रा दूहा, वीसलदेव रास, माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध, मधुमालती, बेलि क्रिसन रुक्मणी री, सदयवत्स सावलिंगा री बात, वात सयंणी चारणी री, मूमल महेन्द्र, लाखा फूलाणी, वीजा सोरठरी बात, वात नागजी नागवंतरी, पना वीरमदे री बात, आभल खींवजी री वात-जेठवा ऊजली, रतना हमीर री वार्ता, जसमा ओडण और निहालदे-सुलतान रा पवाड़ा— इनमें अपना सर्वाधिक गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं।

लोक-धर्म, पुराण, दर्शन, इतिहास, पुरातत्व एवं लोक-जीवन के व्याप्त वृत्त में सन्निविष्ट नारी-पुरुष का समस्त यौन-प्रेम इन प्रेमाख्यानों में चित्रित हुआ है। शैली-शिल्प का वैविध्य इनमें द्रष्टव्य है। प्रायः ये गद्य, पद्य एवं गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू-काव्य में उपलब्ध होते हैं।

इस लेख में 'निहालदे-सुलतान' का संक्षिप्त मूल्यांकन करना ही मेरा अभिप्रेत है। यह राजस्थानी का अत्यन्त सरस लोक-महाकाव्य है। लोक ही इसका रचयिता है। लोक में यह 'निहालदे-सुलतान रा बावन पवाड़ा' के नाम से प्रसिद्ध है। यों तो समस्त राजस्थान में इस प्रेमाख्यान में आये स्फुट लोकगीत, विशेषतः प्रेम और विरह के, मिलते हैं और नारी-समाज द्वारा गाये जाते हैं किन्तु प्रबन्ध-रूप में यह शेखावाटी में ही अधिक प्रचलित है। हिन्दी एवं राजस्थानी के प्रकाण्ड विद्वान्, लेखक एवं चिन्तक-समीक्षक डॉ० कन्हैयालाल सहल ने इसे श्री जयदयालजी नाथ से सुनकर सर्वप्रथम लिपिबद्ध करवाया। यह अपने मूल पद्यात्मक रूप में बिड़ला सेण्ट्रल लाइब्रेरी, पिलानी में सुरक्षित है। डॉ० सहल ने ही इस लोक-महाकाव्य का संक्षिप्त हिन्दी गद्य-रूपान्तर प्रस्तुत किया है। पहले यह 'मरु भारती' में अविरल रूप से प्रकाशित हुआ था और अब पुस्तकाकार उपलब्ध है। डॉ० सहल राजस्थानी साहित्य की श्री-सम्पन्नता को पिछले कई दशकों से प्रकाश में ला रहे हैं। वे राजस्थानी के तपस्वी विद्वानों में से हैं। 'निहालदे-सुलतान' उनकी वैज्ञानिक दृष्टि एव सृजनधर्मा पूत प्रतिभा की एक अभिनव सृष्टि है। विलुप्तमान लोक-साहित्य-सम्पत्ति को संगृहीत कर उसे साहित्य की वर्तमान विधाओं में प्रस्तुत कर समाज के लिए उपयोगी बनाना एक श्रम-साध्य कार्य है। सृजन-बुद्धि के साथ ऐसे कार्य में अविचल धैर्य की भी अपेक्षा रहती है। मूल्य-विघटित आधुनिक समाज में इस प्रकार के धैर्यशील साहित्यसेवी विरल ही मिलते हैं।

ग्रंथ के संक्षिप्त प्राक्कथन 'दो शब्द' में सहलजी ने लिखा है कि 'निहालदे-सुलतान की कथा इतनी रोचक है कि इसके आधार पर उपन्यास, नाटक तथा लोक-कथाएँ लिखी जा सकती हैं। चित्रपट के लिए भी इस कथा को उपयुक्त रूप दिया जा सकता है।' इसी क्रम में यह भी कहा जा सकता है कि 'निहालदे-सुलतान' व्यापक लोक-संस्कृति को चित्रित करता है और शोध-विद्वानों के लिए ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय, नृवंश वैज्ञानिक, पुरातत्वीय, मनोवैज्ञानिक एवं साहित्यशास्त्रीय अध्ययन के नये क्षितिज प्रस्तुत करता है।

निहालदे-सुलतान की बीज कथा संक्षिप्त में इतनी ही है—सुलतान कीचलगढ़ के राजा मैनपाल का पुत्र है। बाल्यकाल में ही उसे बारह वर्ष के निष्कासन का दण्ड दिया जाता है। गुरु गोरखनाथ उसे ५२ साकों का वरदान देते हैं। ईडरकोट

के कमधजराव सुलतान को अपना धर्मपुत्र बना लेते हैं। केलागढ़ की राजकुमारी निहालदे से उसका प्रणय-विवाह होता है। अपनी धर्ममाता कमधजराव की रानी के कटुवचनों पर वह नरवलगढ़ चल जाता है। नरवलगढ़ के राजा ढोलसिंह भी उसका सम्मान करते हैं और उनकी पत्नी मारू उसे अपना धर्म-भाई बना लेती है। बारह वर्ष की निष्कासन-अवधि की समाप्ति पर अपनी रानी निहालदे-सहित कीचलगढ़ आकर सुलतान सिंहासनारूढ़ होता है। अपने वचन के अनुसार अपनी धर्म-बहिन मारू के यहाँ भात न्योतता है। प्रजावत्सल राजा के रूप में वह कीचलगढ़ में लम्बी अवधि तक राज्य करता है।' निहालदे-सुलतान की बीज-कथा इतनी ही है किन्तु इसमें अन्य सैकड़ों अन्तर-अवान्तर कथाएँ हैं जो अत्यन्त सुगठित हैं। वे इस महाकाव्य की रुचिरता, अर्थगरिमा और काव्योत्कर्ष को अभिवृद्ध करती हैं।

लोककाव्य का अपना एक शैली-शिल्प, अपनी एक भाव-भूमि, अपना एक सांस्कृतिक परिवेश होता है। लोक-साहित्य-रचना की सार्थकता इसमें नहीं है कि उसमें कलात्मक चमत्कार कितना है, रूप-वैचित्र्य कितना है। उसकी सार्थकता इसमें है कि वह लोक-जीवन की विराटता को कितनी सहजता और संवेदना के साथ वाणी दे सका है। 'निहालदे-सुलतान' पर जब हम इस दृष्टि से विचार करते हैं तो बड़ा सन्तोष होता है। यह काव्य अपने कलेवर में विराट लोक-जीवन और संस्कृति को संयोजित किए हुए है। लोक-साहित्य के प्रवृत्ति-क्रम में यद्यपि इस काव्य के नायक-नायिका तथा प्रासंगिक कथाओं के पात्र राज्य-परिवार और सामन्ती वर्ग के हैं-इसका सम्पूर्ण परिवेश सामन्ती और आभिजात्य है किन्तु तत्कालीन साधारण लोक की एक स्पष्ट तस्वीर भी इसमें उभरी है। सामान्य लोक के सामाजिक रीति-रिवाज, धर्म, विश्वास, वर्जनाएँ, अनुष्ठान, परिवार, आर्थिक स्थिति, राजा-प्रजा के सम्बन्ध, न्याय और व्यवस्था की स्थिति आदि का बेलाग रूपांकन इस काव्य में हुआ है। इसलिए जब यह कहा जाता है कि लोक-साहित्य की रचनाएँ किसी देश और जाति का सांस्कृतिक इतिहास होती हैं तो इसमें किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं होती। लोक-साहित्य में चित्रित पात्रों, घटनाओं और स्थलों के आगे ऐतिहासिक प्रामाणिकता के प्रश्न चिह्न लगे रहते हैं (निहालदे सुलतान के पात्र, स्थान, घटनाएँ भी अपवाद नहीं हैं) किन्तु यहाँ जीवन की रसधारा और दशा-दिशा को ही देखा जाता है। इन लोक-काव्यों में अनेक पात्र और घटनाएँ फैण्टेसीज के रूप में होती हैं। लोकमानस की प्रवृत्तियों के अनुसरण में ही इन कथावस्तुओं का समीक्षण किया जाना चाहिए।

कथानक-प्ररूढ़ियों की दृष्टि से यदि इस काव्य का अध्ययन किया जाय तो इसमें अनेक ऐसी प्ररूढ़ियाँ मिल सकती हैं जो, संभव है, स्टिथ थॉमसन के अभिप्राय कोश (Motif Index) में न हों।

दर्शन, प्रणय, विवाह, बोलते हुए पशु-पक्षी, अप्सरा, दानव की बावड़ी, वर्जित स्थान, जादूगरनी, दरयायी घोड़े, काठ की खड़ाऊं, काठ की पुतलियाँ, गुरु गोरखनाथ, ब्राह्मण, पुरोहित, देवी का इष्ट, सूर्य की उपासना, आराध्य का कोप, चोर, सत्य क्रिया, यात्रा की बाधाएँ, त्रिया चरित, मोहिनी विद्या, साँप, शकुन, सांप की मणि, इन्द्र-लोक-युद्ध, भाग्यवाद, पूर्वजन्म, प्रारब्ध, परलोक, तंत्र-मंत्र, लोक-देवी-देवता, यज्ञ-अनुष्ठान आदि अनेक कथातन्तु हैं जो इस काव्य में प्रयुक्त हुए हैं। ये कथातन्तु काव्य की वस्तु को सरस विस्तार तो देते ही हैं, उसकी अर्थवत्ता को भी बढ़ाते हैं। इन सम्पूर्ण कथा-तन्तुओं में लोकमानस क्रियाशील है। लोक की अभेद-दृष्टि, कल्पनाशीलता, टोनावाद और अनुष्ठानवृत्ति इन कथा-तन्तुओं के अर्थ को स्पष्ट कर देते हैं।

मैं ऊपर कह आया हूँ कि 'निहालदे-सुलतान' में अनेक अवान्तर कथाएँ हैं। उनका अध्ययन कर कथा के मानक-रूपों का निर्धारण भी किया जा सकता है। राजस्थानी के अन्य लौकिक प्रेमाख्यानों में भी इसी प्रकार की समभावी अवान्तर कथाएँ मिलती हैं। तुलनात्मक दृष्टि से इन कथाओं के बीज-स्वरूप को ढूँढा जाना चाहिए।

लोक-काव्य में प्रायः वर्णन-प्रधानता होती है। उत्सव, यात्रा, विवाह, युद्ध आदि का विस्तृत और पुनरावृत्तिपूर्ण वर्णन इसमें मिलता है। निहालदे सुलतान इस प्रवृत्ति से मुक्त नहीं है किन्तु इसके अनेक स्थल अत्यन्त सरस एवं काव्योत्कर्ष से अभिमण्डित हैं। इसका प्रकृति-चित्रण अत्यन्त सहज है और स्थानीय परिवेश से रंजित है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में गहरी आत्मीयता और पारिवारिकता दिखाई देती है। परिवार की प्रतिष्ठा-रक्षा, मान्यताएँ और कभी-कभी व्यक्तिगत सनक और आग्रह के वशीभूत होकर लोक के पात्र सामान्य-असामान्य आचरण करते हैं—हत्याएँ, युद्ध, अपहरण आदि जघन्य कृत्य इसी के परिणाम हैं। लोक-पात्रों के वार्तालाप सहज और निश्छल होते हैं। 'निहालदे-सुलतान' में लोक-संस्कृति और लोक-जीवन की इस सहजता को आद्यन्त देखा जा सकता है। दैत्य-दानव, अप्सराएँ, जादू-नगरी, जादूगरनियाँ, वर्जित कोष्ठ आदि की घटनाएँ कथा की सहजता को खंडित करती हुई-सी प्रतीत होती हैं, आधुनिक बोध वाले पाठक अथवा श्रोता को विचित्र-सी लगती हैं किन्तु लोक-जीवन का यही यथार्थ है। आधुनिक जीवन के संत्रास, नैराश्य, जटिलता और एकाकीपन की पीड़ा से अभिशप्त व्यक्ति को लोक-जीवन की यह आत्मीय सहजता, व्यापक पारिवारिकता एक विचित्र मनस्तोष प्रदान करती हैं। निहालदे-सुलतान में लोकमानव की गहरी संवेदना के दर्शन होते हैं।

उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्दजी के गोदान के सम्बन्ध में एक समीक्षक ने कहा है कि वह एक महाकाव्य है। सृजन-प्रतिभा के धनी डॉ० सहल ने 'निहालदे-सुलतान'

लोक-महाकाव्य को अपनी कथा-शैली की कुशलता द्वारा एक रोचक उपन्यास के रूप और माधुर्य से अभिमण्डित किया है। इस रूपान्तर में सहलजी की गद्यभाषा के शैली-सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। लोक-साहित्य की भाषा-सहजता, निश्छल अनलंकृत अभिव्यक्ति, प्रवाह के दर्शन इस रूपान्तर में सर्वत्र होते हैं। सहलजी राजस्थानी हैं, राजस्थानी भाषा, साहित्य, संस्कृति के वे मर्मज्ञ विद्वान् हैं, इसलिए 'निहालदे-सुलतान' के कथ्य एवं मार्मिक स्थलों को आत्मसात करने की सामर्थ्य उनमें है। यह रूपान्तर लोक-कथा-शैली में ही प्रस्तुत किया गया है। पढ़ते समय ऐसा लगता है कि कोई लोक-कथावाचक 'घर मंजलां, घर कूंचा' के मधुर स्वर में सामने बैठकर कहानी सुना रहा है। राजस्थानी भाषा के शब्दों, मुहावरों, राजस्थानी संस्कृति के संदर्भों से सम्पृक्त पारिभाषिक, उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रयोग इस रूपान्तर में स्थान-स्थान पर हुआ है। यह सहलजी ने जानबूझ कर ही किया प्रतीत होता है। यह भी सत्य है कि इन विशेष सदर्भों एवं अर्थों वाले शब्दों के सार्थक पर्याय हिन्दी में उपलब्ध नहीं हैं। इनसे रूपान्तर की भाषा में जहाँ अर्थवत्ता एवं अभिनवता आई है, वहाँ कथा में माधुर्य की सृष्टि भी हुई है। राष्ट्रभाषा हिन्दी को प्रान्तीय भाषाओं की शब्दावली से समृद्ध करने की दिशा में यह एक स्वस्थ और सफल प्रयोग है। फेट, भभूति रमवा, बावड़ो, हूंणी, सग-सग-सग-सग, ठरका, चोब, ठीम-सा, पलाव-सा, दड़क-दड़क, भंवरा, बोदो, गोड़ी-गाल, चक्करघान, फेफड़ो, डोरी-लोटा, मायरा, लाखीणी आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जो ठेठ लोक-भाषा राजस्थानी के हैं। राजस्थानी कहावतों, मुहावरों और काव्य-सूक्तियों के प्रयोग ने इस कृति को और भी सरस बना दिया है। इस लोककाव्य में आये नीति, धर्म अथवा दर्शन के प्रसंग को रूपान्तर-कार ने संस्कृत के नीति-श्लोकों से पुष्ट कर उसे और भी प्रामाणिक बना दिया है। डॉ० सहल मूल रूप से आभिजात्य साहित्यकार हैं, इसलिए वे इन आभिजात्य संस्कारों से बच नहीं पाये हैं। इन प्रयोगों से कृति की सौन्दर्य-वृद्धि ही हुई है।

प्रस्तुत रूपान्तर में 'निहालदे-सुलतान' काव्य के गीतात्मक पद्यों के अंश भी अनेक स्थलों पर उद्धृत किये गये हैं। इससे दो लाभ हुए हैं—एक तो मूलकाव्य के माधुर्य और सौन्दर्य की कुछ झलक पाठकों को उपलब्ध हो जाती है और दूसरा, कथावस्तु के तारतम्य की रक्षा में इससे सहायता पहुँची है।

अन्त में 'निहालदे-सुलतान' राजस्थानी का एक गौरव-लोकमहाकाव्य है। इसे हिन्दी में प्रस्तुत कर सहलजी ने दोनों भाषाओं की महती सेवा की है। सहलजी का यह एक और कीर्तिमान है जो साहित्यरसिकों को चिर काल के लिए स्मरण रहेगा।

लोकसाहित्य के संरक्षक

• गोविन्द अग्रवाल

विड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट के सेक्रेटरी श्रद्धेय डॉ० कन्हैयालालजी सहल राजस्थानी साहित्य गगन के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। हिन्दी, राजस्थानी और अंग्रेजी पर आपका पूर्ण वर्चस्व है। आप यशस्वी लेखक, सुयोग्य समालोचक और प्रतिष्ठावान् कवि हैं। हिन्दी और राजस्थानी के भंडार को आपने अमूल्य ग्रन्थ-रत्न भेंट किये हैं और करते ही जा रहे हैं। आपका शोध निबन्ध "राजस्थानी कहावतें: एक अध्ययन" तो राजस्थानी साहित्य की एक अमर कृति है जो प्रकाशस्तंभ की तरह सदैव मार्ग-दर्शन देती रहेगी।

डॉ० सहल साहब विड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट द्वारा संचालित, राजस्थान की प्रमुख शोध-पत्रिका "मरु-भारती" का संपादन वर्षों से बड़ी योग्यतापूर्वक कर रहे हैं। राजस्थानी साहित्य और इतिहास की शोध में इस पत्रिका की सेवाएं अमूल्य हैं। लेकिन यहाँ तो मैं केवल आपके द्वारा राजस्थानी लोक-साहित्य के संरक्षण-हेतु दिये जाने वाले योगदान का एक उदाहरण प्रस्तुत करना चाहूंगा जो स्वयं इन पंक्तियों के लेखक से सम्बन्ध रखता है।

राजस्थान लोक-कथाओं का रत्नाकर है; असंख्य, अमूल्य कथारत्न इसके विस्तृत भू-भाग में जगमगा रहे हैं। ये कथाएँ राजस्थानी साहित्य की बहुमूल्य निधि हैं, जिनमें राजस्थानी जीवन के विविध चित्र संजोये हुए हैं। लेकिन यह सारा कथा-साहित्य श्रुतसाहित्य है और सदियों से पीढ़ी दर पीढ़ी लोकमुख पर ही आगे बढ़ता आ रहा है। किन्तु अब कथा कहने और सुनने की परिपाटी तेजी से मिटती जा रही है, जिसके फलस्वरूप यह अमूल्य साहित्य भी विस्मृति के गर्त में समाता चला जा रहा है और यदि इसे शीघ्र ही आवश्यक संरक्षण नहीं मिला तो यह सदा सर्वदा के लिए विलुप्त हो जाएगा।

लोक-कथाओं की इस चिंतनीय स्थिति से मैं बड़ा खिन्न था, लेकिन इस दिशा में कार्य करने के लिए मेरे पास कोई उपयुक्त साधन नहीं था। उधर डॉ० सहल साहब ने भी राजस्थानी लोक-कथाओं के संकलन की आवश्यकता को गहराई से अनुभव किया और इस कार्य में मेरी रुचि देखकर लोक-कथाओं के संकलन का भार मुझे ही सौंप दिया। यद्यपि इस सम्बन्ध में मैं सर्वथा अज्ञ ही था पर मेरे मन में यह आकांक्षा बलवती थी कि इन लुप्त होती हुई लोक-कथाओं को संरक्षण मिले। इसलिए मैंने डॉ० साहब के आदेश को सहर्ष स्वीकार कर लिया और निष्ठापूर्वक कथाओं के संकलन में जुट गया। डॉ० साहब ने मरु-भारती में "राजस्थानी लोक-कथा-कोश" शीर्षक से एक स्थायी स्तंभ खोलकर कथाओं के प्रकाशन का मार्ग प्रशस्त कर दिया और कथाएँ धारा-प्रवाह निकलने लगीं। कथाएँ बड़ी संख्या में निकल सकें, इसके लिए मरु-भारती के लोक-कथा-विशेषांक भी निकाले गये। एक सहस्र से अधिक कथाएँ इस कथा-कोश के अन्तर्गत छप गईं और आगे भी छपती चली जा रही हैं। डॉ० साहब के प्रयत्न से पुस्तक-रूप में भी लोक-कथाओं के दो भाग, भारती भडार इलाहाबाद से प्रकाशित हुए और इस प्रकार इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य हो सका। यह सब डॉ० साहब की सूझबूझ और उनके कुशल संपादन का परिचायक है।

इन पंक्तियों के लेखक की हार्दिक आकांक्षा है कि लोक-कथाओं को बड़ी संख्या में लिपिबद्ध करके उनका वर्गीकरण किया जाए और फिर एक बृहत् राजस्थानी लोक-कथा-कोश तैयार किया जाए, जिसमें ५ हजार राजस्थानी लोक-कथाएँ रहें। यद्यपि यह कार्य बहुत बड़ा और कठिन है तथा इस दिशा में अब तक लगभग एक चौथाई कार्य ही हो पाया है, फिर भी मेरी मान्यता है कि इसे असंभव नहीं कहा जाना चाहिए। यदि पूरे साधनों से दत्तचित्त होकर इस कार्य में लगा जाए तो ऐसा कथा-कोश तैयार किया जा सकता है।

यदि यह कथा-कोश तैयार हो जाए तो राजस्थानी साहित्य के लिए यह एक बहुत बड़ा और बेजोड़ काम होगा, क्योंकि जहां तक मेरी जानकारी है, विश्व की किसी भी प्रादेशिक भाषा में इतना बड़ा कथा-कोश उपलब्ध नहीं है। न केवल राजस्थान के लिए बल्कि समूचे राष्ट्र के लिए, यह अत्यन्त गौरव का विषय होगा और इसका अधिकांश श्रेय डॉ० श्री कन्हैयालालजी सहल को ही जाएगा।

•••

आपका कविता-संग्रह सुन्दर लगा। 'प्रयोगवादी' संग्रहों में यह 'प्रयोग' सर्वश्रेष्ठ है।

डॉ० रामविलास शर्मा

डॉ० सहल—एक सफल सम्पादक

• भुवनेशचन्द्र गुप्त

प्रत्येक अच्छे स्तर की पत्रिका सम्पादक, लेखकों और प्रकाशक के सम्मिलित प्रयासों के फलस्वरूप उत्पन्न हुई—सृजनात्मक कलाकृति होती है। चुने हुए लेखों में पाठकों की संभावित रुचियों के अनुसार क्रमबद्धता, उन लेखों में लेखकों के विचारों, उनकी भाषा-शैलियों और उनके विशिष्ट विचार-बिंदुओं पर लेखों में प्रकट हो सकी, चिन्तन-धाराओं का सम्यक् दृष्टि से यथोचित मूल्यांकन, लेखकों का संक्षिप्त परिचय, उनके लेखों के बारे में अपने सारमूलक कथनों की योजना और एक सुन्दर सम्पादकीय, ये सब एक आदर्श सम्पादक के द्वारा किये जाने वाले वे महत्त्वपूर्ण कार्य हैं जिनके सफलतापूर्वक सम्पन्न होने में ही पत्रिका के आन्तरिक रूप के सौंदर्य का रहस्य छिपा रहता है। पत्रिका के इस वास्तविक सौंदर्य के सृजन में लेखकों की रचनाओं का महान् महत्त्व है। यदि हिन्दी-साहित्य को हम एक उद्यान मान लें तो पत्रिका को एक ऐसी छोटी-सी सुंदर क्यारी के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा, जिसमें लेखकों के लेख सम्पादक रूपी निपुण बागवान के द्वारा क्रम से लगाए गए सुन्दर पौधे होते हैं। वह ही पत्रिका की आत्मा है। इस दृष्टि से डॉ० सहल ने 'मरु-भारती' के सम्पादन द्वारा उसके आंतरिक रूप के सौंदर्य के सृजन में जो महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है, वह उनके जीवन का प्रकाश-स्तम्भ है।

उन्होंने 'मरु-भारती' के सम्पादन के द्वारा राजस्थान के साहित्य, संस्कृति, स्थापत्य, पुरातत्व, नृत्य-नाट्य, भक्ति, व्रत, त्योहार, प्रवाद, लोकगीत प्रभृति सभी प्रकार के लोक-साहित्य का उद्धार किया है। इस प्रकार अत्यंत उच्च स्तर की सामग्री प्रस्तुत करके उन्होंने हिन्दी पत्रिकाओं में 'मरु-भारती' को हिन्दी की प्रमुख साहित्यिक एवं इतिहास की शोध-पत्रिका के रूप में उच्च स्थान प्राप्त करा दिया।

डॉ० कन्हैयालाल सहल ने राजस्थानी-साहित्य के लिए वही कार्य किया है जो महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-साहित्य के लिए 'सरस्वती' और आचार्य गुलाब-राय एम. ए. ने 'साहित्य-संदेश' पत्रिका द्वारा किया था। अन्तर केवल इतना ही है कि 'द्विवेदी' जी ने जहाँ हिन्दी भाषा को सजाया, संवारा तथा उसमें एकरूपता लाने का प्रयत्न किया, वहाँ सहल जी ने 'मरु-भारती' के सम्पादक के रूप में राजस्थानी साहित्य का पूर्ण मनोयोग एवं परिश्रम से संकलन किया और उसे सजाया तथा सँवारा। वास्तव में यह कार्य महत्त्वपूर्ण था। यों तो यह कार्य इतना विशाल एवं महत्त्व का है कि इस पर बड़े पैमाने पर कार्य किया जाना चाहिए था किन्तु 'मरु-भारती' के सम्पादक के रूप में समय-समय पर लोक-साहित्य के प्रकाशन द्वारा जो कार्य इन्होंने किया है, उसके लिए वे वास्तव में गौरव के अधिकारी हैं। इस प्रकार लोकमानस को उद्वेलित तथा हर्षित करने वाली लोक-कथाओं को प्रचुर मात्रा में 'मरुभारती' के माध्यम से एकत्रित कर राजस्थान की लोक-कथाओं का विशाल कोष संकलित किया एवं उसे प्रकाशित कराया। ऐसा प्रयास अभी तक भारतवर्ष के किसी अन्य प्रदेश में व्यवस्थित रूप से नहीं हो सका है। ये लोक-कथाएं राजस्थान के जनजीवन की झांकी प्रस्तुत करती हैं तथा राजस्थानी साहित्य की अमूल्य निधि हैं जिससे उसका गौरव बढ़ा है। इन लोक-कथाओं में नीति और उपदेश-मूलक कथाओं की प्रधानता है। किन्तु अन्य प्रकार की लोक-कथाओं का भी अभाव नहीं है। इनमें मानव की मूल प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए, शाश्वत सत्य की अभिव्यक्ति हुई है। इन कथाओं में औत्सुक्य और वर्णन की स्वाभाविकता आदि गुण यत्र तत्र सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। प्रस्तुतकर्त्ता ने उन्हें छोटे-छोटे वाक्यों में प्रस्तुत करके उनके सौन्दर्य तथा प्रभाव का अत्यधिक विस्तार किया है। इन कथाओं में हास्यप्रधान लोक-कथाएं भी हैं। यह हास्य जीवन को स्फूर्ति एवं ताजगी प्रदान करता है। इसी प्रकार से अनेक संकलित कथाएं चम्पू शैली में भी हैं। 'मरुभारती' के सम्पादन-कार्य के साथ डॉ० सहल ने राजस्थानी साहित्य, संस्कृति तथा इतिहास पर भी लेख आदि लिखे हैं। डॉ० सहल राजस्थानी साहित्य के प्रामाणिक विद्वान् हैं। इस क्षेत्र में भी लोक-साहित्य उनका विशेष क्षेत्र है। इनके लेखों एवं संग्रहों में विशेषकर राजस्थानी साहित्य, इतिहास, एवं संस्कृति के दर्शन होते हैं।

लोक-साहित्य के क्षेत्र में डॉ० सहल ने 'निहालदे सुलतान' की अपूर्ण प्रेममयी गाथा को पद्यात्मक रूप में सुनकर लिपिबद्ध कराया। इस प्रेमरस-सिक्त गाथा को उन्होंने हिन्दी गद्य में प्रस्तुत किया और लोक-साहित्य के प्रेमियों को इस गाथा का रसास्वादन कराया। यह कार्य उन्होंने 'मरुभारती' पत्रिका के माध्यम से किया। इसे जब ग्रंथ के रूप में संकलनकर्त्ता ने प्रकाशित कराया तो यह ग्रंथ तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ, जिन्हें उक्त गाथा का आदि, मध्य तथा अंतिम भाग समझना

चाहिए। डॉ० सहल ने बड़ी ही सरल तथा सरस भाषा में निहालदे की इस प्रेम तथा रोमांस से भरी कथा को कहा है। इनकी शैली में प्रवाह तथा रोचकता है। इस कथा में बीच-बीच में उन्होंने मूलगाथा के उद्धरण दिए हैं, जिससे उसमें बड़ी रसात्मकता आ गई है। विद्वान् लेखक एवं संकलनकर्त्ता ने स्थान-स्थान पर संस्कृत तथा हिन्दी की सूक्तियों का प्रयोग कर विषय को अधिक रुचिकर बनाने का प्रयास किया है जिसमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। उनकी भाषा मुहावरेदार और शैली चुस्त है। वीर-भूमि राजस्थान के वीरों की आनवान, शान तथा धर्म की रक्षा के लिए हँसते-हँसते प्राण न्यौछावर कर देने की पराक्रम एवं शौर्य से पूर्ण गाथाएं चारणों तथा भाटों की विरुदावलियों में सुरक्षित चली आती है। राजस्थानी लोक-साहित्य में भी इसी की प्रतिध्वनि पाई जाती है। डॉ० सहल ने राजस्थानी पवाड़ों में पाबूजी, नानड़िया, मेणादे आदि लोकप्रिय गाथाओं को 'मरुभारती' पत्रिका में स्थान देकर प्रस्तुत किया है। पवाड़ों के अतिरिक्त मरु-भारती में कहावत, मूल अभिप्राय, शब्द- चर्चा, प्रवाद और आख्यान तथा लोकगीतों आदि से संबद्ध बहुविध सामग्री बिखरी पड़ी है।

'मरुभारती' राजस्थानी साहित्य, संस्कृति और इतिहास की एक त्रैमासिक शोध-पत्रिका है जो लगभग दो दशकों से नियमित समय पर प्रकाशित होती रही है। डॉ० सहल के प्रेरणास्पद सम्पादन, उदात्त व्यवहार एवं उन्नत स्तर की प्रचुर सामग्री होने के कारण इस पत्रिका का सर्वत्र स्वागत हुआ है। यह पत्रिका राजस्थान शिक्षा-विभाग द्वारा माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक शालाओं, महाविद्यालयों, वाचनालयों आदि के लिए स्वीकृत हो चुकी है। भारतवर्ष के अधिकांश विश्वविद्यालयों तथा वाचनालयों के अतिरिक्त लंदन, अमेरिका तथा लेनिनग्राड आदि के विदेशी वाचनालय तथा पुस्तकालय भी इसके ग्राहक हैं। यही इसकी लोकप्रियता एवं उच्च स्तर के लिए पर्याप्त प्रमाण है।

एक सूझबूझ वाले एवं जागरूक सम्पादक होने के कारण डॉ० सहल के सम्पादन-काल में सर्वप्रथम सन् १९५४ ई० में मरु-भारती के रूप-रंग तथा आवरण आदि में परिवर्तन-परिवर्द्धन तथा परिष्कार के लिए संशोधन एवं सुझाव रखे गए। 'मरुभारती' के मुख पृष्ठ को पल्लू से प्राप्त मूर्ति से संवारा गया। यह मूर्ति सरस्वती की मूर्ति थी। सरस्वती बुद्धि और विद्या की अधिष्ठात्री देवी के नाते सदा से प्रतिष्ठित रही है। मरुभारती के मुखपृष्ठ पर आदर्श सूत्र रूप से प्राकृत भाषा के 'सच्चं भगवं लोगम्मि सारभूयं' अर्थात् सत्य ही भगवान् है तथा लोक में सत्य ही सारभूत है' वाक्य को अंकित किया गया। यह आदर्श वाक्य शोध-पत्रिका की दृष्टि से अत्यंत ही उपयुक्त है क्योंकि इतिहास, संस्कृति तथा साहित्य आदि भी सत्य की शोध एवं प्रकाशन का प्रयत्न करते हैं। अतः इस शोधपत्रिका के लिए ऐसे वाक्य का चयन अत्यन्त ही

उपयुक्त एवं महत्त्वपूर्ण था। यह सम्पादक की सूझ, राजस्थान से प्रेम तथा प्राकृत-परिचय का द्योतक है। प्रारम्भ में मरुभारती चातुर्मासिक पत्रिका थी, जिसका उद्देश्य राजस्थान की बिसरी-भूली, अप्रकाशित और भूगर्भ में निहित सामग्री को प्रत्यक्ष करना था। फिर वह त्रैमासिक पत्रिका के रूप में निकलने लगी और उसे विविध स्तम्भों में विभाजित कर दिया गया, जिसमें कला, साहित्य, स्थापत्य, संस्कृति, पुरातत्व, त्योहार, धर्म, लोक-साहित्य, संत-साहित्य एवं वीरचरित्र तथा आलोचना, व्युत्पत्ति-चर्चा आदि स्तम्भों का समावेश हो गया। राजस्थानी साहित्य के शोध-कार्य में डॉ० सहल की बड़ी मूल्यवान् देन है। इस दृष्टि से उनका नाम राजस्थानी साहित्य के संकलनकर्त्ता, शोध-कर्ता एवं नए-नए लेखकों को तैयार करने आदि की दृष्टि से सदैव गौरव से लिया जाएगा। उनका यह कार्य राजस्थानी साहित्य का अनूठा कार्य है। इस प्रकार उन्होंने राजस्थानी ही नहीं, हिन्दी-साहित्य के लिए भी नया भंडार खोल दिया है। यदि हिन्दी-साहित्य से राजस्थानी साहित्य को निकाल दिया जाए तो हिन्दी-साहित्य में प्राचीन साहित्य अत्यधिक न्यून हो जाएगा। हिन्दी-साहित्य का आदि स्रोत राजस्थानी साहित्य में निहित है। इस प्रकार डॉ० सहल ने हिन्दी-साहित्य के विकास, विस्तार और निर्माण में पर्याप्त योगदान किया है। उन्होंने 'मरुभारती' के सम्पादन द्वारा राजस्थानी तथा हिन्दी-साहित्य रूपी बगिया का सिंचन अपने श्रम-शोणित से किया है। अतः हिन्दी-साहित्य के मूर्धन्य विद्वानों में वे सहज आ बैठते हैं। उनके कृतित्व में 'मरुभारती' के सम्पादक की सेवा ही रह जाए, तब भी वह उनको साहित्य-जगत् में कीर्ति प्राप्त कराने के लिए पर्याप्त होगी। इस सत्प्रयास से उन्होंने राजस्थान की प्राचीन साहित्यिक निधि और नवीन प्रतिभाओं को सामने लाने में योगदान किया है और इस प्रकार उसे एक दृढ़ सांस्कृतिक इकाई बनाने के कार्य में पूर्ण रचनात्मक प्रयास किया है। यह उनकी अनूठी सूझबूझ, दृष्टि, अध्यवसाय तथा परिश्रम का सूचक है।

सामान्यतः 'मरुभारती' के अंकों की सामग्री नवीन खोज और अनुशीलन-प्रधान है। इसके माध्यम से डॉ० सहल ने राजस्थान की पग-पग भूमि के प्राचीन इतिहास और साहित्य को, भारतीय उत्कर्ष के इतिहास के निर्माण में सहायक बनकर, देदीप्यमान कर दिया है, तथा करोड़ों राजस्थानी जनकण्ठों से मुखरित लोक-साहित्य को 'मरुभारती' का शृंगार बना दिया है। इस पावन एवं अनूठे कार्य के लिए जो परिश्रम एवं अथक प्रयत्न डॉ० सहल ने किया है, उसके लिए राजस्थान का कण-कण उनका ऋणी रहेगा। इस प्रकार 'मरुभारती' के सम्पादक को राजस्थान के अनमोल हीरों को प्रकाश में लाने का श्रेय प्राप्त है। पत्रिका के प्रकाशन एवं सम्पादन की दृष्टि से इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है कि कई वर्षों तक

आपने स्वयं ही प्रूफ-संशोधन किया तथा पत्रिका-सम्बन्धी सहस्रों पत्र वे स्वयं ही लिखते रहे। यह उदाहरण या आदर्श इस क्षेत्र में प्रवेश करने वाले युवकों के लिए प्रेरणास्पद एवं अनुकरणीय है। आपके परिश्रम के कारण पत्रिका की छपायी एवं सफाई भी अनूठी रही है।

'मरुभारती' के अतिरिक्त डॉ० कन्हैयालाल सहल 'परम्परा' एवं 'वरदा' आदि पत्रिकाओं के परामर्श-मण्डल में रहते हुए भी कार्य करते रहे हैं। इसी प्रकार उदयपुर से निकलने वाली 'शोध पत्रिका' के लिए भी वे अनेक वर्षों तक सम्पादकीय टिप्पणियां नियमित रूप से लिखते रहे हैं। इस प्रकार पत्र-सम्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करते हुए भी, उन्होंने 'मरुभारती' को अपने जीवन में विशेष स्थान प्रदान किया और उसे सम्भ्रान्त रूप प्रदान करने के लिए उत्तम शोध-सामग्री से उसे अलंकृत किया तथा उसे राजस्थानी साहित्य, इतिहास तथा संस्कृति की खोज एवं अन्वेषण का माध्यम बना दिया। उन्होंने मरुभारती के अंकों में अनेकानेक ऐसे मूल ग्रंथों का प्रकाशन किया कि उसका प्रत्येक अंक सँभाल-सँभाल कर रखने की चीज बन गया है। 'मरुभारती' को उन्होंने राजस्थान के अप्रकाशित साहित्य से भर दिया है। इससे बढ़कर हिन्दी-साहित्य की और क्या सेवा हो सकेगी ? क्योंकि ऐसा करके उन्होंने अज्ञात सामग्री को प्रकाशित करके प्रकाश में लाकर अमरता प्रदान करदी है। उस सामग्री को देशी-विदेशी विद्वानों एवं पुस्तकालयों में सुरक्षित कर दिया है। इस प्रकार उन्होंने देशी-विदेशी लोगों में राजस्थानी साहित्य एवं संस्कृति के प्रति रुचि उत्पन्न करने का प्रयास भी किया है। मरुभारती पत्रिका का महत्त्व केवल इसी बात से सिद्ध हो जाता है कि आज के अनेक पुस्तकालय इसमें प्रकाशित महत्त्वपूर्ण सामग्री को सुरक्षित रखने की दृष्टि से इसके अंक बहुत ही सँभाल-सँभाल कर रखते हैं।

संक्षेप में डॉ० सहल ने राजस्थानी साहित्य, संस्कृति, कला, पुरातत्व, इतिहास तथा लोकवार्ता की नष्ट होती हुई रसधारा को सूखने से पहिले ही जीवन-रस में आप्लावित कर दिया और नागरिक कर्त्तव्य के रूप में समस्त विश्व के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने की दृष्टि से 'मरुभारती' को श्रेष्ठ तीर्थ-संगम बना दिया है। राजस्थान एक मरु-देश है जिसके चारों ओर फैले विशाल सांस्कृतिक केन्द्रों ने ऐसे चित्रों तथा कृतियों को जन्म दिया है जिनकी प्रशंसा यूरोप, अमेरिका आदि देशों के पाश्चात्य सहृदय कलामर्मज्ञों ने भी की है। डॉ० सहल ने इस महान् दाय को प्रकाश में लाने का जो अहर्निश प्रयत्न किया, उसे अपने जीवन का कर्त्तव्य मानकर ही किया है। वे अपने आपको महान् कला तथा साहित्य के उत्तराधिकारी मानकर चलते रहे और एतत्सम्बन्धी विषयों का सर्जन, संकलन, एवं सम्पादन करते रहे और आज भी कर रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने 'मरुभारती' पत्रिका के माध्यम से राजस्थान की प्राचीन

एवं अर्वाचीन ज्ञानराशि का उद्‌घाटन किया। अनायास ही राजस्थान प्रान्त को एक बनाने वाली सांस्कृतिक, साहित्यिक और आर्थिक जीवनचर्या से सम्बन्धित विषय-सामग्री का प्रकाशन समय-समय पर 'मरुभारती' पत्रिका में होता रहा है।

प्राचीन साहित्य का अन्वेषण, अनुशीलन, अनुवाद, चयन, एवं टिप्पणियां आदि लिखना कोई सहज कार्य नहीं है। उसके लिए गहन अध्ययन, अध्यवसाय, परिश्रम एवं सांस्कृतिक चिंतन तथा गहरी पकड़ की आवश्यकता होती है। इस कार्य के द्वारा डॉ० सहल ने इस ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है और लुप्त होते हुए साहित्य को अमरत्व प्रदान कर बचा लिया है। साथ ही उसे अपने ढंग से संकलित करके एवं उसकी भूमिका, अनुवाद, टिप्पणियों आदि से अपने गहन अध्ययन, परिशीलन तथा सम्पादन-पटुता का परिचय देकर आपने एक कीर्तिमान स्थापित किया है। इस महत् कार्य के कारण समस्त राजस्थान उनके कार्य का सदैव ऋणी रहेगा और मां भारती के इस वरद पुत्र को समय-समय पर सदा स्मरण करता रहेगा।

●●●

'मरु-भारती' का प्रत्येक अंक सामग्री की दृष्टि से विशिष्ट है, संग्राह्य है। शोध के विद्यार्थी के लिए तो यह सारी सामग्री अमूल्य ही नहीं, अनिवार्य है। सांस्कृतिक सामग्री भी कम नहीं है, पर कहीं भरती नजर नहीं आती। मेरा विश्वास है कि पत्रिका अवश्य प्रगति करेगी। प्रान्तीय प्रशासन को, कठिनाइयों में किए हुए, इस स्तुत्य प्रयत्न को मान्य कर सहायता देने में अपना गौरव मानना चाहिए।

—डॉ० आत्माराम जाजोदिया

आपका नियमानुसार प्रति दिन कुछ पृष्ठ बिना लिखे विश्राम न करने का प्रण आपने सदा निभाया। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह नियम आप सदा निभायेंगे और देश के साहित्य को सर्वाङ्ग-परिपूर्ण करने में योगदान देते रहेंगे। आपके इस यज्ञ में पूरी सफलता की कामना मैं करता हूं।

—पद्म श्री शुकदेव पाण्डे

राजस्थानी साहित्य के सच्चे व्याख्याकार

सुरजनसिंह शेखावत

'अनुसंधान और आलोचना' आद्योपांत पढ़ी। मेरा रुचिकर विषय होने से राजस्थानी-खण्ड को अनेक बार पढ़ा, मन आनन्द-विभोर हो उठा।

पद्मनाभ के 'कान्हड़दे प्रबंध' और किसी 'भाण्डउ' व्यास द्वारा रचित 'हम्मीरायण' पर डॉ० सहल के प्रबंध और व्याख्या उच्च साहित्यिक स्तर की हैं किन्तु सतसई के दोहों के विविध रूपों की चर्चा करते हुए तो डॉ० कन्हैयालाल सहल ने अति ऊँची उड़ान भरी है और उसे सुमार्जित वाणी का रूप देकर साहित्यकारों के सामने रखा है। डॉ० सहल के सामयिक और समकक्ष राजस्थानी विद्वानों को निःसंदेह उनकी साहित्यिक-प्रतिभा का कायल होना पड़ेगा।

महाकवि सूर्यमल्लजी की सतसई के दोहों के विविध रूपों की भावना को अपने शब्दों में व्यक्त करते हुए उन्होंने जो लिखा है, वह हिन्दी-साहित्य के विद्वानों के लिए पठनीय है। सतसई के प्रत्येक दोहे की जो व्याख्या उन्होंने की है, मेरा ख्याल है कि शायद स्वयं सूर्यमल्ल के मस्तिष्क में भी न आई हो। डॉ० सहल ने प्रत्येक दोहे के भावों के अन्तर में प्रवेश करके उसके सही अर्थों और कवि की मनोभावना को रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। इससे प्रकट होता है कि राजस्थानी साहित्य में डॉ० सहल की पहुँच बहुत गहरी है। सतसई के दोहों में वर्णित वीर और वीरांगनाओं के मनोभावों को वाणी द्वारा अभिव्यक्ति देने में डॉ० सहल बेजोड़ हैं।

मानव में जन्मजात भूमि-प्रेम पर भी सतसई के दोहों के माध्यम से उन्होंने विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। सम्भव है, प्रत्येक मनुष्य में भूमि-प्रेम जन्मजात न हो। यह भी सम्भव है कि कुछ लोग भूमि को व्यापार की भांति लाभ की वस्तु समझते हों, परन्तु जहां तक राजस्थान के मध्ययुगीन राजपूतों का सवाल है, उनके लिए भूमि-

प्रेम सर्वोपरि था। धरती से उनका रागात्मक सम्बंध था। भूमि-रक्षार्थ वे सर्वस्व-बलिदान करने को उद्यत रहते और उसके लिए मर मिटने में गौरव का अनुभव करते थे। सिर की बाजी लगाना उनके लिए भूमि की कीमत थी। सिर कट जाने पर ही जन्म-भूमि दूसरों के अधिकार में जा सकती थी और सिर कटाकर ही भूमि पर अधिकार किया जा सकता था। राजस्थान का साहित्य और इतिहास इसका साक्षी है :

> सिर साटै धर लेत हैं, ठाकर रहो नचीत।
> फिर धर साटै सिर दिवै—रजपूतां आ रीत॥
> रजपूतां गुण बूझती, देख सखी साबूत।
> धड़ पड़ियो धर कारणैं, रज भेलो रजपूत॥

प्राचीन गीत की यह झड़—दिवै रजपूत जों मार मर दिवो छी।
लिवै रजपूत ज्यों भूम लीधो॥

भी इसी भूमि-प्रेम की यथार्थता प्रकट करती है। राजस्थान के अमर साहित्यकार चारणों ने साहित्य-सृजन किया और उन नरसिंहों को, जिन्होंने मातृभूमि की रक्षार्थ अपने प्राण न्यौछावर किए, धरती के धणी, पृथ्वीपति, जमीं के बींद आदि सम्बन्धों से पुकार कर धरती के साथ उनके अटूट सम्बंध को व्यक्त किया।

सूर्यमल्लजी की सतसई के दोहों में व्यक्त राष्ट्रीय भावना की व्याख्या भी डॉ० सहल ने उसके वास्तविक रूप में ही की है। राष्ट्रीयता की कोई एक ही शाश्वत और अपरिवर्तनीय परिभाषा नहीं है। संसार का और भारत का इतिहास साक्षी है कि समय-समय पर राष्ट्रीयता की परिभाशा बदलती रही है। आज भी राष्ट्रीयता की परिभाषा पर विभिन्न मत हैं। नेहरूजी ने Discovery of India में जिस राष्ट्रीयता का संकेत किया, वह आधुनिक ढंग की पाश्चात्य विचार-धारा पर निर्मित जनतांत्रिक राष्ट्रीयता के लिए है। वैदिक काल से लेकर महाभारत काल तक के लम्बे समय में भी राष्ट्रीयता का एक रूप देखने में नहीं आता। प्राचीन सम्राटों और गणतंत्रों के काल में भी राष्ट्रीयता की व्याख्या देश, काल, परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में की गयी है। इसलिए यह कहना कि पूर्व काल में पूर्ण राष्ट्रीयता का अभाव था, हमारी उस महान् संस्कृति का अपमान करना है जो कभी समस्त विश्व के लिए अनुकरणीय और प्रेरणा का स्रोत थी।

डॉ० सहल ने स्तालिन के मतानुसार रूस की राष्ट्रीयता के एक रूप का उल्लेख किया है। मेरी समझ में महाकवि सूर्यमल्ल भी इसी प्रकार की राष्ट्रीयता के हिमायती थे। वे चाहते थे, उनकी यह कामना थी कि देश के प्रहरी और धरती के धणी ये राजपूत महाकाल से टकराने वाले महायोद्धा रहें। इनकी वीरांगनाएँ, मृत्यु

को ललकारने वाले पुत्र और पुत्रियों को जन्म दें और स्वयं आग की लपटों में बैठकर हँसती-हँसती अग्निस्नान करें। इसी कामना को अपने हृदय में संजोये, महाकवि ने वीरसतसई की रचना की थी। उनके स्वप्नों का सच्चा राष्ट्र वह था जहां—

धड़ डोलें खाथा तेग धार—माथा मुख बोलें मार-मार ॥

जहां कटे हुए मस्तक भी गीतों और दोहों को सुनकर उछल पड़ते थे—

सांदू हूंपै सेवियो, साहब दुरजण सल्ल ।
बिड़दातां सिर बोलियो, गीतां, दूहां गल्ल ॥

●●●

साहित्य के क्षेत्र में तो मरुभूमि की उर्वरता को आप लोगों ने सिद्ध ही कर दिया है। मेरा अनुमान है कि आगामी युग में आप अन्य प्रान्तों से आगे निकल जाएँगे। जो उपयोगी कार्य 'मरु-भारती' कर रही है, उसका मैं हार्दिक अभिनन्दन करता हूं।

नई दिल्ली, ८–१०–५६

—बनारसीदास चतुर्वेदी

'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद' ने मेरे दिल पर काफी असर डाला और आपकी तरफ कुछ खिचाव-सा मालूम होने लगा। इस जमाने में, जबकि वीरता की बातों को यों ही बेकार कहा जाता है और कोई वीरों का नाम लेना पसन्द नहीं करता, आपने उनको याद करके बड़ा काम किया है।

—कैप्टिन राव खंगार

डॉ. कन्हैयालाल सहल :

व्यक्तित्व

और

कृतित्व

कृति-परिचय खण्ड

डॉ० कन्हैयालाल सहल-प्रणीत कृतियाँ
तथा
उनका समीक्षात्मक परिचय

● **समालोचना :**

★ साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव

★ विमर्श और व्युत्पत्ति

★ अनुसंधान और आलोचना

★ विवेचन

★ समीक्षायण

★ आलोचना के पथ पर

★ कामायनी-दर्शन (डॉ. विजयेन्द्र स्नातक की सहकारिता में)

★ समीक्षांजलि

★ वाद-समीक्षा

★ मूल्यांकन

● **ललित–निबंध :**

★ दृष्टिकोण

● **काव्य :**

★ प्रयोग

★ क्षणों के धागे

★ समय की सीढ़ियां

● **राजस्थानी साहित्य :**

★ राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन (उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत)

★ राजस्थानी कहावतें : (बंगाल हिन्दी मण्डल द्वारा पुरस्कृत)

- निहालदे-सुलतान (तीन खंडों में)
- लोक कथाओं के कुछ रूढ़-तन्तु
- लोक कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ
- राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय
- राजस्थानी लोक-कथाएं
- राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद
- राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान
- राजस्थानी वीर गाथाएं
- नटो तो कहो मत

सम्पादन :

- द्रौपदी विनय अथवा करुण बहत्तरी
- आधुनिक उद्योग और व्यवसाय की दुनिया
- मरुभारती (त्रैमासिक)
- चौबोली (प्रो. पतराम गौड़ की सहकारिता में)
- वीर सतसई (प्रो. पतराम गौड़ तथा ठ. ईश्वरदान आशिया की सहकारिता में)
- केशव-सुधा

•••

साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव

• डॉ० सत्येन्द्र

'साकेत' में 'नवम सर्ग' अपना विशेष स्थान रखता है। यह सर्ग 'साकेत' का सबसे बड़ा 'सर्ग' है, और इसी में 'उर्मिला' के विरह का वर्णन है। इसी सर्ग की कविता का सहलजी ने मर्म उद्घाटन इस पुस्तक में किया है। साधारणतः इसमें सभी महत्त्वपूर्ण स्थलों का अर्थ स्पष्ट किया गया है और स्थान-स्थान पर तुलना भी हो गयी है, साथ ही अलंकार और नायिका-भेद आदि का भी उल्लेख करके उसके काव्य-सौन्दर्य को प्रकाश में लाया गया है। जहां-तहां दोष की ओर भी ध्यान

आकर्षित कराया गया है। सहलजी का यह उद्योग सफल ही माना जायगा, विशेषतः इसलिए कि स्वयं महाकवि का ध्यान इसने अपनी ओर अकर्षित किया और महाकवि के प्रेस से ही इसे प्रकाशित होने का सौभाग्य मिला है। मैथिलीशरण गुप्त का पत्र पीछे परिशिष्ट में दिया हुआ है और वह पत्र-व्यवहार भी दिया है जो महात्मा गांधी और गुप्तजी में 'साकेत' के प्रकाशन के अवसर पर हुआ था। इससे पुस्तक की उपादेयता ऐतिहासिक भी हो गई है।

●

विमर्श और व्युत्पत्ति अर्थात् विचारों के अनेक सूत्र

• डॉ० रामाधार शर्मा

'विमर्श और व्युत्पत्ति' डॉ० कन्हैयालाल सहल का एक नवीन समीक्षाग्रंथ है। इसमें साहित्य और भाषा-विज्ञान पर कुछ निबन्धों का आकलन किया गया है।

इन निबन्धों में डॉ० कन्हैयालाल सहल ने नवीन चिन्तन का परिचय दिया है। उन्होंने साहित्य के सैद्धान्तिक प्रश्नों के सम्बन्ध में कुछ सुझाव दिए हैं, जिन पर नए संदर्भ में विचार-विमर्श की आवश्यकता है। इस दृष्टि से ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। विचार का एक भी नवीन विद्युत्-सूत्र सम्पूर्ण रचना को आलोकित करने की क्षमता रखता है जब कि इस ग्रंथ में तो ऐसी अनेक मौलिक और महत्त्वपूर्ण उद्भावनाएँ हैं, जिनकी ओर हिन्दी के विद्वानों का ध्यान जायेगा। रस-प्रक्रिया को समझाते हुए डॉ० सहल ने लिखा है—"यदि विचार कर देखा जाए तो रस-प्रक्रिया की तीन स्थितियां हमारे सामने स्पष्ट हैं। पहली स्थिति अभिधा अथवा वर्ण्य-विषय से संबन्धित है। किंतु निरी अभिधेय वस्तु काव्य का रूप धारण नहीं कर सकती। अभिधेय को आस्वाद्य बनाने के लिए कवि अथवा नाट्यकार को रस-प्रक्रिया की दूसरी स्थिति अर्थात् कल्पना का सहारा लेना पड़ता है, जिसके द्वारा रस अभिव्यक्त अथवा व्यंजित होता है। व्यंजना को तीसरी स्थिति समझिए। जिसे भट्टनायक ने भावकत्व का नाम दिया है, उसे कल्पनास्थानीय समझ लेने पर अभिधा, कल्पना और व्यंजना के त्रिकोण द्वारा रस-प्रक्रिया का रहस्य हृदयंगम किया जा सकता है। रस-प्रक्रिया के उक्त त्रिकोण को दृष्टि में रख कर भरत-सूत्र की निम्नलिखित व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है :—

विभावादि के संयोग अर्थात् कल्प्य—कल्पक भाव-रूप सम्बंध से रस की निष्पत्ति अर्थात् व्यंजना होती है'।' 'कला कला के लिए' निबन्ध में लेखक ने मध्य मार्ग का अनुसरण किया है, जिसमें वह कला के कलात्मक (शब्दार्थ तथा सुन्दर अभिव्यक्ति) और कलेतर (लोक-संग्रह तथा मानव-कल्याण) मूल्यों के समुच्चय में कला की अमरता देखता है।

इस संकलन का दूसरा महत्त्वपूर्ण निबन्ध 'ट्रेजडी में अहं का विगलन' है। इसकी व्याख्या करते हुए डॉ० सहल ने लिखा है—"अहं के विगलन से मनुष्य को आत्मस्वरूप और स्व-भाव अथवा आत्म-भाव की उपलब्धि होती है तथा अपने विस्मृत अथवा खोए हुए स्वरूप को पुनः प्राप्त कर किसे हर्ष न होगा ? यथार्थ जगत् में भी हम देखते हैं कि हमें जब अपनी खोई हुई चीज मिल जाती है तब कितना हर्ष होता है। अगर किसी को उसका खोया हुआ स्वरूप मिल जाए तो निश्चय ही उसे अनिवर्चनीय आनन्द की प्राप्ति होगी।"

ट्रेजेडी या काव्य के सम्बन्ध में डॉ० सहल का यह निर्देश भारतीय परम्परा के अनुरूप है। इस व्याख्या में भारतीय दर्शन और मनोविज्ञान का आश्रय लिया गया है। निश्चय ही ट्रेजडी की यह एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या होगी।

'ट्रेजडी के सम्बन्ध में नूतन मानवीय दृष्टिकोण' निबन्ध में डॉ० सहल ने बतलाया है—"त्रासदी में मानवोचित गुणों की भव्यता और नियति की क्रूरता के बीच संघर्ष होता है जिसमें पराजित होकर भी मनुष्य अपनी गुण-गरिमा के कारण अमरत्व प्राप्त कर लेता है। मनुष्य की महिमा हमें आनंदित करती है, क्योंकि परोक्ष रूप से प्रत्येक मनुष्य उसमें अपना ही जयजयकार देखता है।"

'दुःख से सुख की समस्या' निबन्ध में लेखक ने देश-विदेश के मतों का संकलन कर इस गूढ़ विषय की जानकारी एकत्र कर दी है।

विमर्श खण्ड में सिद्धांत-चर्चा के साथ ही कतिपय व्यावहारिक समीक्षाएं भी संकलित हैं। साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त कुछ सामयिक एवं कुछ दार्शनिक विषयों पर भी निबन्ध लिखे गए हैं, जिनमें लेखक की विद्वत्ता का प्रमाण निहित है।

हिन्दी और उर्दू की एकता के सम्बन्ध में डॉ० सहल ने भाषा-विज्ञान के आधार पर बड़ी दो टूक बात कही है कि दोनों की विभक्तियां (सुप्) और क्रियाएं (तिङ्) समान हैं, इसलिए हिन्दी और उर्दू को दो भाषाओं के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। ये एक ही भाषा की दो शैलियां हैं। 'भाषा के व्यावर्तक अथवा भेदक तत्त्व सुप् और तिङ् ही होते हैं।'

'अर्जुन का विषादयोग—एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण' निबन्ध में डॉ० सहल ने आधुनिक मनोविज्ञान और काव्य-शास्त्र आदि के आधार पर गीता के प्रथम

अध्याय की व्याख्या की है। यह एक अच्छा निबन्ध है, जिसमें नई दिशा का संकेत निहित है। इधर स्वामी चिन्मयानंद ने गीता की व्याख्या लिखी है जिसमें मनोविज्ञान के आधार पर प्रसंगों की अच्छी व्याख्याएं की गई हैं।

इस संग्रह के व्युत्पत्ति-खण्ड में डॉ० सहल ने अनेक राजस्थानी शब्दों की व्युत्पत्ति का संकेत किया है। इससे ग्रंथ की उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

विमर्श-खण्ड के निबन्धों में यदि कोई क्रम रखा जाता तो अधिक उपयुक्त होता। ट्रेजडी से सम्बन्ध रखने वाले सभी निबन्ध एक ही क्रम से रखे जा सकते थे। इसी प्रकार दूसरे निबन्ध भी क्रम की अपेक्षा रखते हैं।

आशा है, अनेक विचार-विद्युतों से युक्त 'विमर्श और व्युत्पत्ति' निबन्ध-संकलन हिन्दी के समीक्षकों और सुधी सामाजिकों का ध्यान आकर्षित करेगा।



अनुसंधान और आलोचना

• शम्भुसिंह मनोहर

'अनुसंधान और आलोचना' हिन्दी व राजस्थानी के सुप्रसिद्ध विद्वान् एवं समीक्षक डॉ० कन्हैयालाल सहल की अभिनव कृति है, जिसमें विविध विषयों पर लिखे गए उनके नवीनतम समीक्षात्मक एवं शोधपरक लेख संगृहीत हैं। ये लेख विषयानुसार दो खडों में विभाजित हैं। प्रथम राजस्थानी खंड के अन्तर्गत लोक-कथाएं, आख्यान, कहावतें एवं काव्यालोचन से सम्बद्ध लेख हैं, जिनमें विद्वान् लेखक ने राजस्थानी लोक-कथाओं में प्रयुक्त विविध कथाभिप्रायों, कथागत रूढ़ तन्तुओं आदि का मार्मिक विवेचन-विश्लेषण किया है। इस कोटि के प्रथम निवन्ध 'सांख्य दर्शन का आख्यायिकाध्याय' में विद्वान् लेखक ने सम्भवतः प्रथम बार सांख्य-दर्शन में प्रयुक्त विविध लोक-कथाओं के मूल स्रोतों पर प्रकाश डाला है, जिससे हमारे दर्शन-ग्रन्थों में लोक-कथाओं के मूल उत्स खोजने की दिशा में शोध को निश्चय ही एक नया आयाम मिलेगा। इस भाग के 'राजस्थान के आख्यान' शीर्षक लेख में राजस्थान के विविध ऐतिहासिक एवं प्रख्यात पुरुषों से सम्बद्ध ७२ रोचक आख्यान संगृहीत हैं, जिनमें इतिहास के अनेक स्मरणीय एवं अद्यावधि अज्ञात रोचक व प्रेरणाप्रद प्रसंगों को, उनसे सम्बद्ध दोहों व गीतों सहित लेखनीबद्ध कर विद्वद्वर डॉ० सहलजी ने राजस्थानी साहित्य

की अनूठी सेवा की है। कहीं हास्य और विनोद से गर्भित तो कहीं शौर्य और त्याग से प्रेरित, राजस्थान के ये रोमांचक आख्यान न केवल पाठकों को रसाविष्ट ही करते हैं, अपितु जीवन के उदात्ततम मूल्यों पर आधारित होने के कारण उनकी वृत्तियों को उदात्तीकृत भी। एक-एक आख्यान राजस्थानी संस्कृति एवं इतिहास की आत्मा का ही जीवन्त निदर्शन है।

कहावतों से सम्बद्ध लेखों में विद्वान् लेखक ने राजस्थानी कहावतों के संदर्भ में कहावतों की परिभाषा, व्युत्पत्ति तथा स्वरूप आदि का तलस्पर्शी विवेचन करते हुए कहावतों की प्राचीन परम्परा पर सोदाहरण विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। न केवल विवेच्य विषय की गहनता अपितु व्यापकता की दृष्टि से भी, ये लेख लोक-साहित्य के अनुसंधित्सुओं एवं शोध-कर्ता विद्वानों के लिए अतीव उपादेय सिद्ध होंगे, जिनमें कहावतों के विविध आनुषगिक पक्षों, कहावतों में हास्य के स्वरूप, कहावती ग्रंथों की जैन परम्परा, उनके सांस्कृतिक, सामाजिक महत्त्व तथा उनमें अभिव्यक्त जीवन-दर्शन आदि की भी सर्वाङ्गीण विवेचना की गई है।

काव्यालोचन में राजस्थानी व हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध कवियों तथा उनकी काव्य-कृतियों पर उच्चकोटि के सारगर्भित समीक्षात्मक लेख संगृहीत हैं, जिनमें विद्वान् लेखक ने विवेचन एवं मूल्यांकन की दृष्टि से अपनी कुछ मौलिक प्रस्थापनाएँ की हैं, जो सम्बद्ध कवियों एवं उनकी काव्य-कृतियां को परम्परा से हट कर नूतन धरातल पर देखने-परखने के लिए विवश करती हैं। इस भाग में समीक्षित कृतियों में कान्हड़दे-प्रबन्ध, हम्मीरायण, वीर सतसई आदि उल्लेख्य हैं। 'वीर सतसई' में प्रयुक्त शैलियों के विविध रूपों का विद्वान् लेखक द्वारा किया गया विवेचन व वर्गीकरण सर्वथा मौलिक है, जिसमें महाकवि सूर्यमल्ल-रचित डिंगल को प्रतिनिधि रचना 'वीर सतसई' का शैली की दृष्टि से प्रथम बार सुव्यवस्थित एवं साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है।

'हिन्दी खंड' के अन्तर्गत संगृहीत निबन्ध चतुर्विध हैं–समीक्षात्मक, दार्शनिक, शैक्षणिक एव प्रकीर्ण, जिनमें कला, रसानुभूति, रस-सिद्धांत, कामायनी, नियतिवाद आदि विविध विषयों पर विद्वान् लेखक ने चिन्तन-विवेचन को नई दिशाएं दी हैं। 'योग और वेदान्त' शीर्षक निबन्ध में विद्वद्वर डॉ० सहलजी ने आज के वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों के संदर्भ में वेदान्त में निरूपित सत्यों की सार्वभौम, सार्वकालिक एवं शाश्वत महत्ता का उद्‌घोष करते हुए यह सिद्ध किया है कि मात्र वेदांत ही एक ऐसा दर्शन है, जो आज के वैज्ञानिक युग की चुनौतियों का उत्तर देने तथा तज्जन्य समस्याओं का समाधान करने में समर्थ है। लेखक के शैक्षणिक निबन्धों में सैद्धान्तिक विवेचना के साथ उसके दीर्घ अध्यापनानुभव से परिपुष्ट विचारों का

मणिकांचन संयोग हुआ है। फलतः इन निवन्धों में एक शिक्षा-शास्त्री की तार्किक शुष्कता एवं नीरसता न होकर एक स्नेहशील अभिभावक की तरलता एवं एक अनुभवी आचार्य के व्यक्तित्व की महनीयता ही अधिक उभरी है।

डॉ० सहलजी की यह कृति न केवल विद्वानों एवं अनुसंधित्सु छात्रों के लिए ही, प्रत्युत हर साहित्य-प्रेमी पाठक के लिए, सर्वथा पठनीय एवं संग्रहणीय है।

•••

विवेचन

● डॉ० सुरेशचन्द्र सेठ

'विवेचन' हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ आलोचक डॉ० कन्हैयालाल सहल की एक महत्त्वपूर्ण समीक्षा-कृति है, जो न केवल उनकी आलोचना-प्रतिभा का परिचय देती है बल्कि उनकी विद्वत्ता के विविध सोपान भी प्रस्तुत करती है। कबीर, तुलसी से लेकर प्रसाद, पंत तथा नगेन्द्र तक एवं कीथ, लांजीनस से गीता तक, डॉ० सहल की प्रतिभा ने इस कृति में विचरण किया है। इस कृति के लेखों के विषयों की विविधता सिद्ध करती है कि डॉ० सहल के अध्ययन और ज्ञान का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। साथ ही नये विषयों पर उन्होंने अपनी भावनाओं के अनुरूप जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे इतने स्पष्ट हैं कि पाठक को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। इतने पर भी उनका यह दुराग्रह नहीं रहता कि पाठक उनकी बातों को स्वीकार करें ही। 'विवेचन' के 'निवेदन' में प्रसाद जी के नियतिवाद पर अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, "नियतिवाद पर मैंने नये दृष्टिकोण से विचार किया है। यह आवश्यक नहीं है कि मेरे निष्कर्षों से सभी सहमत हों और न मैं इसकी आशा ही रखता हूँ। किन्तु मुझे विश्वास है कि पाठकों को इससे विचार करने के लिए प्रेरणा अवश्य मिलेगी।" लेकिन इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि 'प्रसाद जी का नियतिवाद', 'नियतिवाद और अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ और नियतिवाद' जैसे लेखों ने शोधार्थियों को शोध के नवीन क्षेत्र प्रदान किए हैं। अनेक उपेक्षित प्रसंगों की विशिष्टता दर्शाने एवं उनके मर्म को स्पर्श करने में डॉ० सहल ने एक सहृदय समीक्षक का परिचय दिया है। 'उर्मिला का विरह वर्णन' लेख इस तथ्य का प्रमाण है।

'विवेचन' कृति के लेखों से में डॉ० सहल की जिस बात से अधिक प्रभावित हुआ हूँ—वह है उनकी जनहितकारी सम्यक् मीमांसा। विषय का सम्यक् प्रतिपादन करते समय उनका दृष्टिकोण सदा इस बात की ओर उन्मुख रहता है कि जिन तथ्यों को प्रकाश में लाया जा रहा है, उनसे कितना मानव-कल्याण हो सकता है। प्रसाद के नियतिवाद का स्पष्टीकरण करते समय भी उन्होंने यही सिद्ध किया है कि प्रसाद का नियतिवाद किसी भी रूप में व्यक्ति को निष्क्रियता और निश्चेष्टता की ओर उन्मुख नहीं करता। नियतिवाद की दार्शनिक व्याख्या करते हुए उन्होंने यही प्रतिपादित किया है कि प्रसाद जी की दृष्टि में यद्यपि नियति प्रकृति की नियामिका शक्ति है, नियति को कोई रोक नहीं सकता तथापि नियति के कार्य-व्यापार में विश्व भर के हित की भावना सन्निहित रहती है। डॉ० सहल ने नियति का अन्त दुखमय न मानकर, प्रसाद के समान, सुन्दर आशामय माना है—"नियति कर्तृत्व-मद से मत्त मनुष्यों की कर्म-शक्ति को अनुचरी बनाकर कार्य कराती है।········इसमें व्यक्तित्व की मर्यादा का ध्यान नहीं रहता; 'सर्वभूत-हित' की कामना पर ही लक्ष्य होता है।" 'मानसिक स्वास्थ्य और गीता' लेख में भी उनका यही दृष्टिकोण कार्य कर रहा है। 'नात्मानमवसादयेत्' (गीता) अर्थात् कोई भी अपने को अवसाद के वशीभूत न होने दे—गीता के इस संदेश को ही डॉ० सहल ने इस लेख में प्रतिपादित किया है। 'संस्कृति क्या है?' तथा 'सांस्कृतिक सन्त कवि तुलसीदास' लेखों में भी डॉ० सहल की जनहितकारी सम्यक् मीमांसा के ही दर्शन होते हैं।

डॉ० सहल एक समन्वयवादी आलोचक हैं। उन्होंने पाश्चात्य साहित्य एवं साहित्य-शास्त्र का अध्ययन किया है, संस्कृत साहित्य को आत्मसात् किया है तथा बंगला, गुजराती, मराठी आदि भारतीय भाषाओं के साहित्य को अच्छी तरह समझा है। 'रस सिद्धान्त और कीथ', 'लांजीनस और भावोत्कर्ष', 'संस्कृत के नाट्याचार्य और नाटक की तीन अन्वितियाँ', 'देवी चन्द्रगुप्तम्' का आनुमानिक कथानक' आदि लेख उनकी समन्वयकारी दृष्टि का परिचय देते हैं। लेकिन एक बात सर्वत्र देखने को मिली है कि डॉ० सहल अपने लेखों में एक निष्पक्ष समीक्षक के रूप में विषयों का विश्लेषण करते हैं। 'विवेचन' के लेखों में डॉ० सहल की शैली अत्यंत प्रभावोत्पादक है, प्रत्येक लेख में सम्यक् शब्द-संयोजना, विचारों की स्पष्टता तथा भावों की क्रम-बद्धता विषय-वस्तु के मन्तव्य को स्पष्ट करने में पूर्ण समर्थ हैं। उनमें मौलिक चिन्तन है तथा 'विवेचन' में संकलित लेख प्रमाणित करते हैं कि डॉ० सहल वास्तव में काल के बंधन से मुक्त उन व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने प्रत्येक युग के महत्वपूर्ण तथ्यों को जीवन की कसौटी पर खरा कर लेने के उपरान्त उनकी व्यावहारिकता को स्वीकार किया है। अन्धानुकरण की परिधि से अपने आपको मुक्त रखकर आगे बढ़ना ही उन्हें स्वीकार्य है।

●●●

समीक्षायण

• ओमप्रकाश शर्मा

डॉ० कन्हैयालाल सहल एक प्रसिद्ध समन्वयवादी व्याख्याता आलोचक हैं। उनकी प्रसिद्ध समीक्षाकृति 'समीक्षायण' उनके ३० समीक्षात्मक निबंधों का संकलन है। इसमें 'वह क्षण भी धन्य है' निबंध एक ललित निबंध है पर इसमें भी डॉ० सहल ने कलाभिव्यक्ति के क्षण के महत्त्व को स्पष्ट किया है। तभी तो उन्होंने कहा है, "कला के उस क्षण को नमस्कार है जिसमें अभिव्यक्त हुई सौन्दर्यानुभूति कलाकार की होते हुए भी कलाकार की नहीं रह जाती और न उस अनुभूति पर उस विशेष क्षण का ही कोई अधिकार रह पाता है।" (पृष्ठ १२८) 'काव्य की आठ माताएँ' लेख में भी उन्होंने राजशेखर द्वारा उल्लिखित काव्य की आठ माताओं का विवेचन बहुत मौलिक सूझ से किया है। इस मौलिक सूझ में डॉ० सहल ने काव्य-रचना-प्रक्रिया के मूल को पकड़ने की चेष्टा की है, जैसे,........"भावयोग ही कवि का स्वास्थ्य कहा जा सकता है" (पृष्ठ ११६) अथवा "काव्य का वातावरण उल्लास का वातावरण है। कवि दुःख को भी जब अपने काव्य का विषय बनाता है, तब दुःख भी उसके लिए सुखद रूप धारण कर लेता है; बहुत से कवि तो अपने दुःख को हलका करने के लिए कभी-कभी दूसरों के दुःख का वर्णन करते देखे गए हैं।" (पृष्ठ १२१) ये पंक्तियां डॉ० सहल की व्यापक एवं पैनी समीक्षा-दृष्टि की ओर भी संकेत करती हैं। 'समीक्षायण' के निबंधों के विषयों की विविधता से पता चलता है कि उनका अध्ययन-क्षेत्र बहुत विशाल है—मार्क्स से रिचर्ड्स तक तो रवीन्द्र से गांधी तक; तुलसी से छायावाद तक तो रामचन्द्रिका से साकेत तक; कृष्ण-समस्या से शैली और काव्य-दोष तक तो सूर से सरदार पूर्णसिंह तक। इसका तात्पर्य यह है कि समीक्षक डॉ० सहल अपने आपको किसी विषय-विशेष से बांधे रखना नहीं चाहते तथा अपनी समन्वय-बुद्धि से साहित्य के विभिन्न पक्षों पर मौलिक दृष्टि से विवेचन करते हैं। उनका हर लेख उनकी मौलिक सूझ-बूझ का परिचायक है। लेकिन विषय-प्रतिपादन में उन्होंने अपनी भाषा अथवा शैली को पांडित्य-बोझिल या जटिल नहीं होने दिया है। उन्होंने हर विषय को सहजग्राह्य शैली में प्रस्तुत किया है क्योंकि उनके समीक्षा-मानस में विषय-सम्बंधी सभी प्रत्यय बिल्कुल स्पष्ट हैं। इसी स्पष्टता ने डॉ० सहल के विवेचन को सहज किन्तु गम्भीर एवं गरिमावान बना दिया है।

•••

आलोचना के पथ पर

• प्रो० सत्येन्द्र चतुर्वेदी

श्री कन्हैयालाल सहल का हिन्दी के आलोचकों में विशिष्ट स्थान है। आपने शास्त्रीय और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से साहित्य की परख की है। किन्तु आपका मूल्यांकन दोनों निकषों पर मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, किसी अग्रजन्मा का कोई ऋण आपकी विवेचन-पद्धति अथवा शैली पर लक्षित नहीं होता। इस सन्दर्भ में 'आलोचना के पथ' पर नामक निबन्ध संग्रह के 'रहस्यवाद का स्वरूप' लेख का प्रस्तुत अंश अवलोकनीय है—"रहस्यवादी दार्शनिक मनोवैज्ञानिकों के दृष्टिकोण से सहमत नहीं हो पाते। उनका कहना है कि रहस्यवादी दो लोकों का नागरिक होता है—इस लोक का तथा दिव्य लोक का। रहस्यवादियों के दिव्यलोक का मनोवैज्ञानिकों को पता नहीं, इसलिए अज्ञात वस्तु की चर्चा करना उनकी अनधिकार चेष्टा है, एक प्रकार का उपहासास्पद व्यापार है, जिसे सुनकर रहस्यवादियों को सचमुच हंसी आती है। जिस प्रकार मनोविज्ञान रहस्यवाद की अपने ढंग से व्याख्या करता है, उसी प्रकार मार्क्सवाद भी। मार्क्सवाद के अनुरूप रहस्यवाद पलायन-वृत्ति का परिणाम है। जब कवि भौतिक संघर्षों से बचना चाहता है, तब वह रहस्यवाद में शरण ढूंढ़ता है। मनोवैज्ञानिक और मार्क्सवादी रहस्यवाद के सम्बन्ध में चाहे जो कहें, इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी देशों में इस प्रकार के असाधारण संस्कार-सम्पन्न व्यक्ति हुए हैं, जिनमें रहस्यवादी तन्मयता के कारण आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए, जो प्रबल आशा और अदम्य श्रद्धा का दीप जलाकर प्रियतम का पथ आलोकित करते रहे। बृहदारण्यक-उपनिषद् में शहद के माधुर्य की अनेक वस्तुओं से तुलना की गई है; किन्तु आत्म-दर्शन के आनन्द को सब प्रकार के शहद अथवा दुनिया की किसी भी अन्य वस्तु से मधुरतर कहा गया है।" यहाँ कैसी, सहज प्रवाहमयी शैली और सुष्ठु भाषा के दर्शन होते हैं। जैसा कि ऊपर कहा—'समीक्षा-क्षेत्र में सहल जी ने साहित्य के केवल शास्त्रीय-रस, अलंकार अथवा ध्वनि, औचित्य आदि प्राचीन सिद्धान्तों की ही मीमांसा नहीं की वरन् आधुनिक परिवेश में उसके व्यावहारिक पक्ष पर भी सम्यक् विचार किया है। इस दृष्टि से 'आलोचना के पथ पर' में 'अलंकार और मनोविज्ञान' निबन्ध विशेष रूप से द्रष्टव्य है। इसमें मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से काव्य में अलंकारों की सार्थकता पर विचार किया गया है। 'स्वभावोक्ति का अलंकारत्व' भी आपका इसी प्रकार का दूसरा निबन्ध है जहाँ पृष्ठ २६ पर—"स्वभावोक्ति के सम्बन्ध में 'शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यम्' (शास्त्रों में तो इसका साम्राज्य

है ही) कहकर आचार्य दण्डी ने अपरिपक्व पाठकों को भ्रम में डाल दिया है। स्वयं दण्डी के ही शब्दों में 'स्वभावोक्ति पदार्थों के नानावस्था वाले रूपों को साक्षात् खोलकर रख देती है। दण्डी ने स्वभावोक्ति की जो परिभाषा दी है अथवा अन्य आचार्यों ने स्वभावोक्ति का जो लक्षण स्थिर किया है, उसका साम्राज्य निश्चय ही शास्त्रों में नहीं है। शास्त्र केवल अर्थ-ग्रहण करवाकर अपने व्यापार से छुट्टी पा लेता है किन्तु काव्य में केवल अर्थ-ग्रहण से काम नहीं चलता, वहाँ बिम्बग्रहण अपेक्षित है। दण्डी ने वार्ता और स्वभावोक्ति को एक ही अर्थ में प्रयुक्त करके विचार-विभ्रम उपस्थित कर दिया है। आचार्यों के विवेचन में भी जहाँ वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव हो, उसकी ओर निर्देश करना भी आवश्यक है, यद्यपि व्युत्पन्न पाठक के लिए आपाततः असंगत प्रतीत होती हुई उक्तियों में भी संगति बिठला लेना कोई मुश्किल कार्य नहीं।" लिखकर अपना मौलिक मतवैभिन्य प्रकट किया है। साहित्य के विभिन्न शास्त्रीय पहलुओं पर मत-मतान्तर तो पुराने काल से चले आ रहे हैं किन्तु उन पर बड़े सुलझे ढंग से लेखनी चलाकर पाठक के परमार्थ विषय को बोधगम्य बना देना सहल जी की निराली विशेषता है। कभी-कभी आपकी शैली शुक्ल जी की याद दिला देती है—'सुख वास्तव में समन्वय अथवा सामंजस्य में है। यह त्रिगुणात्मक सृष्टि ही, सच पूछा जाय, तो द्वन्द्वात्मक है। यहाँ सुख-दुःख, पाप-पुण्य, राग-द्वेष के द्वन्द्व चलते ही रहते हैं। किसी भी अतिवाद के अवलम्बन में सुख नहीं; सुख है विरोधी भावों के समन्वय में। हर एक वस्तु के दो पहलू होते हैं—एक ही पहलू को कट्टरपन से अपना लेने पर संकीर्णता और एकांगिता आ जायगी जो किसी भी प्रकार वांछनीय नहीं।' (करुण रस की सुखात्मकता) सहल जी की समीक्षाओं से लगता है कि देशी-विदेशी सभी विद्वानों के विचारों का आपने खूब अध्ययन किया है और अच्छी तरह उनका मन्थन कर अपना सार प्रस्तुत किया है। आलोचना के पथ पर पुस्तक में 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और प्रगतिवाद' तथा 'संकलनत्रय' बड़े महत्त्वपूर्ण और सारगर्भित निबन्ध हैं।

सहल जी ने साकेत, कामायनी आदि हिन्दी की प्रमुख काव्यकृतियों पर भी कई समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं। 'साकेत के नवमसर्ग का काव्य-वैभव' तो समीक्षात्मक व्याख्या के क्षेत्र में आपकी एक स्थायी उपलब्धि है। इसी प्रकार कामायनी तथा उसके विभिन्न सर्गों की आलोचनाएं मनीषी कलाकार प्रसाद के मर्म और मन्तव्य का उद्घाटन करने वाली स्मरणीय रचनाएँ हैं।

निस्संदेह हिन्दी में सरल प्रभावशाली भाषा-शैली में अपने विषय का पुष्ट प्रतिपादन करने वाले लेखकों में सहल जी का अप्रतिम स्थान है।

●●●

कामायनी-दर्शन

• प्रो० नीरव

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक की सहकारिता में लिखी गयी 'कामायनी-दर्शन' डॉ० सहल की एक प्रसिद्ध समीक्षा-कृति है। इस कृति में डॉ० सहल ने 'कामायनी' के आशा, श्रद्धा, काम तथा लज्जा सर्गों की व्याख्यात्मक समीक्षा प्रस्तुत की है तथा 'कामायनी का सामान्य परिचय', 'कामायनी का महाकाव्यत्व' तथा 'नियतिवाद और कामायनी' शीर्षकों से उनके समीक्षात्मक निबंध संकलित हैं। व्याख्यात्मक समीक्षा के क्षेत्र में डॉ० कन्हैयालाल सहल का अन्यतम स्थान है। उनकी 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' कृति को व्याख्यात्मक समीक्षा के क्षेत्र में जितनी लोकप्रियता मिली है, उतनी हिन्दी की अन्य किसी कृति को (व्याख्यात्मक समीक्षा के क्षेत्र में) नहीं मिली। 'कामायनी' की व्याख्या अपने आप में एक कठिन कार्य है लेकिन डॉ० सहल ने उपर्युक्त सर्गों का भाष्य इतने सरल और स्पष्ट ढंग से किया है कि पाठक को सारे संदर्भ स्पष्ट हो जाते हैं लेकिन यह भाष्य कोरा शब्दार्थ या भावार्थ नहीं है। इस भाष्य में एक विद्वान् समीक्षक की दृष्टि ने अंग्रेजी, संस्कृत, बंगला आदि भाषाओं के संदर्भों और स्रोतों को साथ-साथ ही समाहित किया है। आशा सर्ग में नियति शब्द की व्याख्या करते समय शैवागम दर्शन, काव्य-प्रकाश, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी आदि के मतों को प्रस्तुत कर लेखक ने अपने निष्कर्ष दिए हैं। इसी प्रकार 'हे विराट ! हे विश्व देव·····' पंक्तियों की रहस्य-भावना को स्पष्ट करने के लिए वे कभी गीता का प्रमाण देते हैं, कभी उसकी तुलना पाइथागोरस के नक्षत्र-संगीत (The Music of the Spheres) से करते हैं तो कभी उपनिषदों की उक्तियों से अपने मत की पुष्टि करते हैं।

व्याख्या करते समय डॉ० सहल 'कामायनी' के सभी संदर्भों के मूल स्रोतों तक गहरे पहुँचते हैं। श्रद्धा सर्ग में श्रद्धा के विषय में ऋग्वेद के सूक्तों का भी उल्लेख किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि उनकी यह व्याख्या तुलनात्मक समीक्षा की है। इन सभी सर्गों के भाष्य को पढ़कर हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि डॉ० सहल ने 'कामायनी' को अच्छी तरह समझा है तथा उसको पूरी तरह आत्मसात् किया है। डॉ० सहल और उनकी सरल शैली ने 'कामायनी' को समझाने में पाठकों का उपकार किया है।

पुस्तक के दूसरे खण्ड में डॉ० सहल के तीन समीक्षात्मक निबंध हैं जिनमें उनके मौलिक दृष्टिकोण और वैज्ञानिक चिन्तन की झलक मिलती है। 'कामायनी

का महाकाव्यत्व' निबंध में डॉ० सहल ने महाकाव्य के तत्त्वों के आधार पर 'कामायनी' की नीरस समीक्षा नहीं की है प्रत्युत एक व्यापक दृष्टिकोण से 'कामायनी' के महाकाव्यत्व पर विचार किया है। 'राष्ट्रीय-चेतना, उत्कर्ष, स्वभाव तथा चारित्र्य की जितनी झलक महाकाव्य में मिलती है, उतनी और किसी काव्य में नहीं।····राष्ट्रीय चेतना के गहरे अंशों को ही महाकाव्य स्पर्श करते हैं' जैसे कथन उनकी सूक्ष्म दृष्टि के परिचायक हैं। प्रसाद के नियतिवाद पर प्रथम बार विचार करने का श्रेय डॉ० सहल को है लेकिन इसमें भी उन्होंने मानव कल्याणकारी भावना को ही खोजा है। 'नियतिवाद और कामायनी' लेख की ये पंक्तियाँ उनकी धारणा को स्पष्ट करती हैं 'इस प्रकार का नियतिवाद न भाग्यवाद अथवा दैववाद है और न किसी प्रकार के पलायन का प्रकार ही।' संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'कामायनी-दर्शन' डॉ० सहल की एक महत्त्वपूर्ण समीक्षा-कृति है।

•••

समीक्षांजलि

१. • सुमित्रानंदन पंत

प्रस्तुत पुस्तक आद्योपांत मैं पढ़ गया। लेखक ने मेरे काव्य के बारे में ललित शब्दों में जो लिखा है, उसके लिए आभारी हूँ। समीक्षा की दृष्टि से लेखक का दृष्टिकोण सुन्दर तथा यथेष्ट सन्तुलित लगा। 'गुंजन' पर नवीन पुस्तक की प्रतीक्षा सोत्कण्ठ होकर करूँगा।

हिन्दी की आलोचना का स्तर सहलजी जैसे साहित्य-प्रेमी विद्वज्जनों को अधिक व्यापक, गंभीर तथा युग के अनुरूप बनाना है। लेखक की शैली संयत तथा स्पष्ट है। पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई।

(मरुभारती, जनवरी १९६४ से साभार)

२. • डॉ० रामविलास शर्मा

सहलजी ने उक्त पुस्तक में जिन मतों और विचारों की विवेचना की है, उनसे असहमत होते हुए भी उनकी विवेचना के मूल्य से इनकार नहीं किया जा

सकता। इसलिए नहीं कि कला-कला के लिए की तरह विवेचना-विवेचना के नाते अच्छी है, वरन् इसलिए कि इस पुस्तक से हिन्दी पाठक बहुत-सी नई बातों से परिचित होंगे। सहमत-असहमत होने का सवाल बाद का है, सबसे पहले तो जानकारी की जरूरत है।

(साहित्य संदेश, जून १९४५ से साभार)

•••

दृष्टिकोण

• गजराज जैन

प्रस्तुत पुस्तक में प्रो० कन्हैयालालजी सहल के ३३ लघुकाय निबंधों का संग्रह है। पुस्तक के आरम्भ में कविवर्य श्री सियारामशरण गुप्त के दो शब्द हैं। हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार के छोटे निबंध बहुत ही कम देखने को मिलते हैं। सहलजी की लेखनी ने इन लघुकाय निबंधों को बड़ा प्रभावोत्पादक बना दिया है। कतिपय निबंध, जैसे 'मृत्यु-तत्त्व', 'भाषा का चमत्कार' और 'प्रतिभा' आदि तो बहुत ही सुन्दर हैं और रोचक बन पड़े हैं। मुद्रण साफ-सुथरा और कागज बढ़िया है। निबंध-प्रेमियों के लिए 'दृष्टिकोण' वस्तुतः उपादेय है।

(साहित्य सन्देश, अप्रैल १९५२ से साभार)

•••

प्रयोग

प्रस्तुत पुस्तक डॉ० सहलजी की कविताओं का संकलन है। इसमें कुल २४ कविताएँ हैं। प्रारंभ में 'एक भारतीय आत्मा' श्री माखनलालजी चतुर्वेदी की आकांक्षा है। पुनः लेखक की स्वलिखित भूमिका अर्थात् 'आमुख' (पानी बिच मीन पियासी) है। चतुर्वेदीजी ने कवि 'सहल' के इन 'प्रयोगों' को 'बोल' कहा है और इन 'बोलों' में एक 'अटपटापन' बतलाया है। साथ ही यह भी कहा है कि 'प्रगति' और 'प्रयोग' से परे मैं भाव-द्रव्यों के नवीन मिश्रण का प्रशंसक हूँ। निष्कर्ष यह

कि प्रगति, प्रयोग, अटपटे बोल तथा भाव-द्रव्य के मिश्रण आगे-पीछे एक ही श्रेणी के नवीन वाद हैं। पुनः आमुख के संबंध में मैं कहूँगा कि पद्य-प्रयोगों की भाँति यह गद्य-प्रयोग है। जैसे चिंतन के क्षण से निकले पद्य-प्रयोग हैं, वैसे ही चिंतन-क्षण से प्रकट हुआ यह गद्य-प्रयोग भी।

'जन-संसद् से अपने चित्त को, अपनी चेतना के नीचे-ऊँचे स्तरों को कुछ क्षणों के लिए समेटकर, हम चिंतन करना सीखेंगे, तभी हमारे देश का भला होगा।' आदि लेखक के कथन सब प्रकार सबके लिए उपादेय सिद्ध हो सकते हैं। कविताओं के संबंध में मैं कहूँगा कि निश्चय ही अपने ढंग के ये कुछ नये चिंतन हैं। इसमें कुछ तो दूसरों के प्रभाव लिए भी अपनी अभिव्यक्ति में स्पष्ट हैं तथा कुछ मौलिक चिंतन के परिणाम भी हैं। प्रयोग के कुछ उदाहरण स्वयं बोलते हैं :—

(१) "ओ रे मयूर ! सुन्दर मयूर !
व्यंसक मयूर !
एक बात पूछूँ उत्तर दोगे ?
शहरों में तुम रहे नहीं
फिर क्यों कर तुमने
बाहर से कमनीय कलेवर
अन्दर से छलिया बन कर के
सीख लिया
विषधर का खाना !"

(२) "जो आग की जलन गयी
तो आग फिर कहाँ रही ?
कि रूप ही बदल गया
जो ढेर खाक का वही।
परन्तु यह मनुष्य है,
मनुष्यता निकल गई।
तथापि रूप है वही
कि बात यह खटक गई !"

डॉ० सहलजी हिन्दी के ख्याति-लब्ध आलोचक हैं। आलोचना के क्षेत्र में इन्होंने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। कविता के नये प्रयोग में इन्होंने एक सफल प्रयास किया है। इन्होंने इस क्षेत्र में जो नया डग

प्रयोगों द्वारा आप हिन्दी के भण्डार को अधिकाधिक मूल्यवान बनाने में निश्चय ही समर्थ होंगे। अवश्य, लगन के पक्के कुछ कर दिखाते हैं। आलोचक सहलजी हिन्दी क्षेत्र में कवि-रूप में अधिक प्रकाश विकीर्ण करेंगे, यह किंचित् भी संदिग्ध बात नहीं। इस लेखक की एक दर्जन आलोचनात्मक पुस्तकें, आधा दर्जन सम्पादित पुस्तकें निकलीं, कई पुस्तकें प्रेस में हैं। लेखक से हिन्दी को बड़ी आशाएँ हैं। विश्वास है, सहलजी पूर्ण करेंगे।

(सिद्धांजना से साभार–अगस्त स्वाधीनता विशेषांक–१९५७)

•••

क्षणों के धागे

१. • मणि मधुकर

'क्षणों के धागे' डॉ० कन्हैयालाल सहल का दूसरा कविता-संग्रह है। 'प्रयोग' के द्वारा उनके कवि ने सर्वप्रथम हिन्दी-जगत् में प्रवेश किया था और अब उन्होंने अपना एक अलग ही स्थान बना लिया है। उनके प्रयोगों को राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने मुक्त कंठ से सराहा, माखनलाल चतुर्वेदी को कवि सहल के बोलों का अटपटापन बहुत भाया और डॉ० हरिवंशराय बच्चन उनके मौलिक आग्रहों पर दंग रह गए। 'प्रयोग' के बाद 'क्षणों के धागे' हमारे सामने प्रस्तुत है। संग्रह की 'ताना बाना' शीर्षक अपनी बात में डॉ० सहल ने लिखा है—"जीवन की संकुलता और व्यस्तता से जब कभी मैं अपने आपको मुक्त कर पाता हूँ, तब कुछ क्षणों के धागों से मैं ऐसा पट बुनने लगता हूँ जिसे देखकर मुझे अपने ऊपर हंस लेने का अयाचित सुअवसर प्राप्त हो जाता है। ये धागे रंगीन हैं या श्वेत-शुभ्र, ये परम्परागत हैं या प्रगतिशील, ये टिकाऊ हैं या अल्पजीवी, ये बहुमूल्य हैं अथवा निर्मूल्य, यह मैं नहीं जानता, मैं तो केवल इतना जानता हूँ कि एक सुन्दर विचारपट जब मैं बुन लेता हूँ तो मैं उसी प्रकार उल्लसित हो उठता हूँ जिस प्रकार कोई सहज कवि किसी सुन्दर कल्पना के द्वारा आत्मोपलब्धि प्राप्त कर हर्ष-विभोर हो उठता होगा।"

सहज कवि ? शायद यह लिखते समय सहलजी का आलोचक व्यक्तित्व अधिक सचेष्ट रहा है अन्यथा वे तो सहज कवि हैं ही। फिर उनके मन में अपने कवित्व के प्रति यह शंका क्यों ? तथाकथित प्रयोगवादियों की रचनाओं के समकक्ष उनके प्रयोगों को नहीं रखा जा सकता—उनका स्थान भिन्न है। संभव है, इसीलिए

सहलजी अपने कवि रूप को न स्वीकारते हों, किन्तु उनकी यह शंका सर्वथा निर्मूल है।

नयी कविता के दिग्गज कवियों की कृतियों का अध्ययन करने पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि वे असामाजिक एवं वैयक्तिक कुंठाओं से पीड़ित हैं। किसी क्षण-विशेष के संचारी भावों को वे अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। वे उस क्षण को जीते हैं, उसका पूर्ण भोग करते हैं। अतः स्थायी भावों के अभाव में उनकी रचनाएँ मनोमुग्धकारी नहीं हो पातीं। छन्द-मुक्त होने के साथ-साथ वे लय-मुक्त भी होती हैं। संगीत की उपेक्षा उन्हें नीरसता से भर देती है। इसके अतिरिक्त तथाकथित प्रयोग-वादी कवियों ने विज्ञान का समर्थन कर बुद्धि का आश्रय ग्रहण किया है, भाव-पक्ष का उन्होंने लगभग बहिष्कार ही किया है। इन सब मान्यताओं की कसौटी पर 'क्षणों के धागे' खरा नहीं उतरता और यही कवि सहल की विशेषता है, यद्यपि उनके प्रयोग गंभीर चिन्तन-प्रधान हैं किन्तु हम उन्हें अज्ञेय की बगल में खड़ा नहीं कर सकते। हां, दिनकर और बच्चन की नई धारा के साथ वे दृढ़तापूर्वक कदम-से-कदम मिलाकर चलने को तैयार हैं।

नया कवि उदासी, पलायन, संदेह, विघटन, दुर्दमनीय अहन्ता और अतृप्ति के कटघरे में बन्द है। वह प्राचीन आस्थाओं को समाप्त कर भौतिकता का समर्थन, रागात्मक प्रवृत्तियों का विरोध और बौद्धिकता में पूर्ण विश्वास करने के लिए कटिबद्ध है किन्तु आस्थामूलक नये संस्करणों, नूतन परिपाटियों को उदित करने में वह एकदम असमर्थ रहा है। आलोच्य कृति में हमें कहीं भी रुग्ण मनोवृत्तियों के दर्शन नहीं होते। कवि ने उन सब भावनाओं से ऊपर उठकर काव्य-सृजन किया है। उसने अपनी प्रौढ़ लेखनी से आशा एवं आस्था के नवीन आयामों का उद्घाटन करते हुए बीच में किसी प्रकार भी उलझाव नहीं आने दिया है। वर्तमान के प्रति जागरूक और भविष्य के प्रति वह आशावान है। किन्तु अतीत को वह 'इतिहास की आँखों से' देखता है। समय की प्रत्येक स्थिति को वह स्वीकार करता है, पर कुछ प्रश्न चिह्न उसके होठों पर खिचे हुए हैं :—

समय दुरन्त महासागर है
कितना विस्तृत कितना दुर्गम
कौन जानता ?
कब से है आरम्भ समय का ?
प्रादुर्भूत हुई थी रजनी
अथवा पहले दिन का ही

अवतरण हुआ था
कौन बताये ?

× × ×

महाकाल यह बिखर पड़ा है
जगती–तल में
बूँद–बूँद बन
रिसता ही, रिसता रहता है ।
किस अतीत में संचित होते
बीत–बीत कर वर्तमान क्षण ?
(समय का बांध)

संग्रह की गई कविताओं में पाठक को चौंकाने की प्रवृत्ति पाई जाती है । जैसा कि डॉ० सहल ने लिखा है, ऐसा रचना-पट बुनते-बुनते वे स्वयं भी चौंक उठे हैं । उसी मनोदशा में वे कोई असाधारण-सी बात कह जाते हैं । जैसे आज शहरों में बिजली के प्रकाश ने अन्धकार से प्राप्त होने वाली मानसिक शान्ति को भंग कर दिया है तो कवि की कल्पना है :—

यहाँ बिजलियाँ
अन्धकार को
निगल गयी हैं—
निगल गयीं क्या,
उल्काएँ ये
इन सबने मिल
अन्धकार को आग लगादी !
अन्धकार की वह गरिमा
वह सन्नाटा सब
स्वप्न–जगत् की वस्तु बन गया !

'जिज्ञासा' और 'मैं हूँ पाँच हजार वर्ष का' में भी चौंकने और चौंकाने की भावना सबल है । कवि मोहेंजोदड़ो के बैल, टाउन प्लैनिंग, बाथरूम आदि अपनी स्मृतियों में संजोकर वैदिक सभ्यता से गुजरता है । वह जनक और ऋषि याज्ञवल्क्य के प्रश्नोत्तर, नागार्जुन के शून्यवाद, शंकराचार्य के भाष्य, गोरख-दादू-कबीर और तुलसी-सूर के काल से परिचित है । अपने भूतकाल के ज्ञान-नेत्रों से देखता हुआ, वह उसे वर्तमान से जोड़ता है और खुली घोषणा करता है :—

मैं न मात्र चालीस वर्ष का
मुखरित मेरा अहं हो रहा
मैं हूँ पांच हजार वर्ष का !

विज्ञान का प्रकोष्ठ बुद्धि की नींव पर आधारित है तो कविता में रागात्म
प्रधान है। और मेरा कहना यह है कि डॉ० सहल के कवि का मूलाधार है, इन दोन
समन्वय। वैचारिकता और भावात्मकता, वे दोनों के पोषक हैं। भौतिक (साइकिल
जीवन-दर्शन), धार्मिक (बहुजनहिताय) राष्ट्रीय (देश, मेरे देश) आदि जीवन के
पक्षों में उन्होंने सन्तुलन बनाए रखा है। दर्शन और अध्यात्म के प्रति कवि का भ
है किन्तु रचनाओं में दार्शनिक दुरूहता, अभिव्यक्ति की अस्पष्टता और छाया
प्रतीक-शैली की अनावश्यक अधिकता बिलकुल नहीं आ पाई है। उन्होंने
योरप के 'इमेजिस्ट' कवियों की भाँति चिन्तन-मनन का बहिष्कार किया है औ
ही भौतिक जगत् की वकालत की है। कोमल कल्पनाओं और उद्‌भावनाओं के
उन्होंने वैचारिक शक्ति को अनिवार्य रूप से ग्रहण किया है अथवा यों कहना चा
कि उसे सहज ग्राह्य बनाया है। डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय तथाकथित प्रयोग
को 'डीइमोशनाइलेजशन' कहते हैं। किन्तु 'क्षणों के धागे' पढ़कर उन्हें सन
मिलेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

जीवन असंगतियों का विशाल क्षेत्र है। किसी भी दौर पर चले जाइए,
वातावरण से पूरे संतुष्ट नहीं हो पायेंगे। जब आप किसी कार्य को अपने प्रति
पाते हैं और सोचते हैं कि यह उचित नहीं है किन्तु आप स्थिति को सामर्थ
बाहर पाकर कुछ कर नहीं पाते तो व्यंग्य का सहारा लेते हैं। प्राचीन संस्कृत
अंग्रेजी साहित्य में व्यंग्य वृत्ति की प्रचुरता पाई जाती है। युग के साथ व्यंग्य के उपा
बदलते रहते हैं। राजाओं की मूढ़ता, पंडितों का पेट्रपन तथा सेठों की कंजूसी
के पुराने उपादान हैं। नये उपादानों की दृष्टि से डॉ० सहल की 'क्या यह पलके
कृत्रिम हैं ?' कविता बड़ी तीखी-चुभती है। 'आओ, हम रोड़ा अटकादें' 'फिर भी
तो मात्र द्विपद है' 'अंधकार को आग लगादी', 'विडम्बना' आदि में करारे
किए गए हैं। दुर्जन—समाज, शहरी सभ्यता, आधुनिक व्यस्त जीवन और बौ
आवरण में अपने पशुत्व छिपाने वाले मनुष्य पर कस-कसकर व्यंग्य बाण च
गए हैं।

काव्य में संगीत और लय का विशेष महत्त्व है। आलोच्य पुस्तक छन्द-
तो है किन्तु लय-मुक्त नहीं है और यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि सहल
मुक्त-छन्दों से भी मानवीय चेतना को आनन्द-मग्न करने की प्रतिभा रखते
उनके अनुसार "काव्य में भी एक वजन, एक संयम अथवा ध्वनि-लहरियों

व्यवस्थित संयोजन होना चाहिए"। चित्रोपम व्वन्यात्मकता सर्वत्र विद्यमान है। नयी कविता के नाम पर गद्य लिखने वालों को इनसे प्रेरणा लेनी चाहिए। जहाँ तक बिम्ब-विधान का सवाल है, 'क्षणों के धागे' में अनेक स्थल मिल जाएँगे। उन्हें पढ़ते हुए मुझे बार-बार लगा है, जैसे वे अनुभवों के सागर में ढूंढ़ कर लाए हुए मुक्ताकण हैं, कल्पना के निस्सीम व्योम में खिचने वाले अनगणित सतरंगे इन्द्र धनुषी टुकड़े हैं और कविता के चमकीले पर्दे पर उनके स्थायी चित्र बना लिए गए हैं। 'अनुभव की दुहिताएँ' कैसी हैं, देखिए—

लोकोक्तियाँ हैं ये,
कहावतें हैं ये,
भय नहीं खाती हैं किसी से ये
जैसा देखती, वैसा ही
कहती हैं ये

× × ×

देवियाँ हैं ये
सत्य की सरस्वतियाँ हैं ये,
घटित की प्रतिध्वनियाँ हैं ये,
काल की दीमक से
अछूता
फर्नीचर हैं ये।
नावक के-से तीर हैं ये,
मर्माघातों की मरहम हैं ये,
विश्व भर में संचरणशीला ये,
पर्वतों की-सी प्राचीना ये
ईसा से भी आदृता ये
नमस्या हैं ये!
अनुभव की दुहिताएँ
हैं ये।
संख्या में असंख्या हैं ये!

डॉ० सहल राजस्थानी लोक-जीवन के जाने-माने व्याख्याता हैं। लोक-साहित्य का प्रभाव उनकी कविताओं पर भी पड़ा है। राजस्थानी भाषा के कुछ शब्दों-मुहावरों को उन्होंने बड़ी सतर्कता से अपनाया है जैसे 'चिना' गया, अरे

मोरिये ! अरे भानजे ! रात 'काली' करना, चोखी-चोखी इत्यादि। अन्त में, मैं डॉ० सहल के कवि द्वारा निर्मित इन 'क्षणों के धागों' को, काव्य के गमले में लगाए गए सुन्दर, आकर्षक एवं सुरभित फूलों के इन गुच्छों को, आलोचकों को अपने घर के उद्यान में सजाने के लिए आमन्त्रित करता हूँ।

('प्रेरणा' से साभार)

२. • सुश्री शकुन्तला

डॉ० कन्हैयालाल सहल प्रकृति से एक गम्भीर, चिंतनशील एवं मननशील व्यक्ति हैं। उनकी प्रवृत्ति हास्य और विनोद की ओर कभी-कभी ही झाँकती है। अगर काव्य को कवि के जीवन का चित्र कहा जाए तो डॉ० सहल की रचनाओं में गम्भीरता, चिंतनशीलता एवं मननशीलता का ही प्राचुर्य मिलना सम्भव है। उनकी कुछ ही कविताएँ इस प्रकार की कही जा सकती हैं जिनमें हास्य और विनोद के दर्शन होते हैं।

हास्य व विनोद का प्रधान उद्देश्य तो पाठक का केवल मनोरंजन करना ही रहता है। डॉ० सहल की कृति 'क्षणों के धागे' में कुछ कविताएँ ही ऐसी हैं जो इस श्रेणी में रखी जा सकती हैं और इनको पढ़ने पर थोड़ी देर तक खुलकर हँसने का अवसर मिलता है। उदाहरणार्थ—'जिज्ञासा' व 'छेड़छाड़'। इनके अलावा इस काव्य-संकलन में इस प्रकार की कविताएँ नहीं हैं। कई कविताएँ जब तक आधी पढ़ी जाती हैं, पूर्ण नहीं की जाती, तब तक ही उनमें इस तरह की हँसी को मौका मिलता है, लेकिन जब वे समाप्त करदी जाती हैं तो पाठक एकदम से गम्भीरता के साथ सोचने के लिए बाध्य होता है।

मेरे खयाल से उपर्युक्त प्रभाव का कारण केवल व्यंग्य की प्रधानता को ही कहना समीचीन होगा। व्यंग्य की प्रधानता से आशय यह है कि इन कविताओं में हास्य की अपेक्षा व्यंग्य की ओर ही कवि अधिक प्रवृत्त हुआ है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि कवि का हास्य व्यंग्योन्मुख अधिक है। हास्य का प्रधान उद्देश्य मनोरंजन होने के कारण हास्य-स्थलों पर पाठक का हँसना स्वाभाविक ही है; लेकिन व्यंग्य का प्रधान उद्देश्य मनोरंजन नहीं, बल्कि पाठक से अपने कथन का बरबस समर्थन करवाना और कवि के लक्ष्य की ओर अग्रसर करवाना ही होता है। इसका तात्पर्य यह है कि कवि जिस बात को कहना चाहता है, उसका प्रभाव केवल उपदेशात्मक ढंग से उत्पन्न नहीं किया जा सकता, अपने प्रभाव की तीक्ष्णता व गहराई

के लिए उसे काव्य में व्यंग्य को प्रचुर मात्रा में प्रश्रय देना पड़ता है। हम कह सकते हैं कि व्यंग्य का उद्देश्य प्रभाव की गहराई व प्रखरता ही है।

उपर्युक्त विवेचन से व्यंग्य का प्रधान उद्देश्य हमारे सामने आ जाता है। इस उद्देश्य में कवि तभी सफल हो सकता है जब वह पाठक की हँसी को ठेस पहुँचाकर विषय की ओर उसकी बुद्धि व हृदय को प्रवृत्त कर दे। ऐसा करने में डॉ० सहल को अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई है।

डॉ० सहल की कविताएँ अधिकतर व्यंग्य-प्रधान हैं। इस प्रकार की प्रायः सभी कविताओं का पूर्वांश पढ़ते समय पाठक का हृदय हँसने के लिए मचल उठता है लेकिन उत्तरांश पढ़ने पर जैसे पाठक की हंसी को एक कसमसाता हुआ "ब्रेक" लग जाता है और वह हंसी एकाएक विलीन हो जाती है। कविता का उत्तरांश पढ़ने पर पाठक का हृदय व्यंग्य के तीक्ष्ण प्रहार से बिंध जाता है और ऐसा लगता है कि कवि ने हम लोगों को लक्ष्य करके ही इन कविताओं को रचा है। मन में इस प्रकार के विचार के उत्पन्न होते ही, पाठक के ओष्ठों पर एक हल्की-सी मुस्कान बिखर जाती है। परंतु इस मुस्कान के पीछे जो वेदना, कसक छिपी रहती है, उसका सहज ही अनुमान लगाना कोई बच्चों का खेल नहीं। जिस प्रकार वर्षाकाल में मेघाच्छन्न आकाश में से सूर्य का निकलना इस बात का परिचायक होता है कि अब वर्षा की गति तीव्रतर होने वाली है, उसी प्रकार से यह मुस्कान इस बात को सूचित करती है कि पाठक अब इस व्यंग्य की गहनता में उलझकर कुछ देर विचारों में खो-सा जायेगा तथा इस व्यंग्य का प्रभाव अत्यधिक तीव्र होगा। ऐसा होते ही पाठक कवि की लक्ष्य-पूर्ति का साधन बन जायगा। यही तो काव्य का सच्चा उद्देश्य है जिसमें कवि डॉ० सहल को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

वास्तव में देखा जाए तो इन व्यंग्य-प्रधान कविताओं में कुछ का पूर्वांश तो पृष्ठ-भूमि के रूप में उभर पड़ा है, उत्तरांश ही कवि की मूल-भावना या उद्देश्य है। कवि ने इसकी अभिव्यक्ति के लिए अच्छी तरह पृष्ठ-भूमि को चित्रित किया है, इस प्रकार को सफल पृष्ठ-भूमि के बीच कवि का व्यंग्य पाठक को मर्माहत किए बिना नहीं रह सकता। इस सम्बन्ध में उदाहरण स्वरूप उनकी कतिपय रचनाएँ उल्लेखनीय हैं :—"विडम्बना", "आओ, हम रोड़ा अटकादें", "क्या ये पलकें भी कृत्रिम हैं ?", "तनिक सरक जा, अरी धरित्री" और "देश ! मेरे देश !" आदि।

डॉ० सहल के 'क्षणों के धागे' में हास्य का सबसे अधिक सुन्दर रूप 'छेड़-छाड़' में दिखाई पड़ता है। अगर वास्तव मे देखा जाए तो इस कविता का उद्देश्य, मेरी समझ में, पाठकों का मनोरंजन करना ही है। उक्त शीर्षक वाली कविता इस प्रकार है :—

'कहा उमा ने
हे गणेश ! यह बात आज क्या ?'
अश्रु पोंछते हुए
कहा गणपति ने
'क्यों, माँ ?'
'क्यों रोते हो ?
हे गणेश !
बतलाओ तो तुम।'
'स्कन्द खेंचता कान
अभी उससे
पूछो तुम !'
'छेड़-छाड़ रे स्कन्द !
कहो, तुम
करते हो क्यों ?'
'अम्ब ! इसी ने
आँख एक, दो....
गिनती की यों।'
'नहीं गजानन !
काम तुम्हारा
भी यह अच्छा।'
'अम्ब ! नासिका
नापी मेरी
मैं हूँ
सच्चा।'
लोटपोट यों हुई
हँसी से
जग की माता।
रक्षा सबकी
करें शिवा वह
सब की त्राता।

इस कविता की रचना कवि ने एक संस्कृत श्लोक के आधार पर की है, परन्तु अपनी मौलिकता के बल पर इसको कवि ने और भी अधिक चमका दिया है। किसी अंग्रेज विद्वान् ने कहा है—"When a great writer borrows, he

improves.'' इस दृष्टि से यह कविता सर्वश्रेष्ठ है। एक ही कथा को लेकर अनेक कृतियों का निर्माण होता है; जैसे विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस', डी० एल० राय तथा प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त'। एक ही कथा के होते हुए भी, इन तीनों कृतियों में भिन्न-भिन्न विशेपताएँ पायी जाती हैं। कुछ भी हो, कवि ने इस कविता में हास्य की सृष्टि सफलतापूर्वक की है।

'जिज्ञासा' नामक कविता में इसी प्रकार की वालकोचित भावना के कारण हास्य की उत्पत्ति होती है। उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्‌धृत की जा सकती हैं :—

'माँ ! तुम मुझको यह वतलादो।
सोमवार, मंगल, बुध, गुरु-दिन
शुक्र, शनिश्चर, ये सव वार
क्यों आ जाते जल्दी-जल्दी ?
कहाँ ठहर जाता रविवार ?
क्या इनके मोटर गाड़ी है ?
क्या रविवार ऊँट पर चलता ?
माँ ! उसको भी 'कार' मंगादो
या साईकिल ही दिलवादो।
वह भी जिससे जल्दी आए
कभी न इतनी देर लगाए !
माँ, तुम मुझको यह वतलादो।'

इस कविता में वाल-मनोविज्ञान का इतना सुन्दर एवं सजीव चित्रण किया गया है कि उसे देखकर हृदय न केवल आनन्द से पुलकित हो उठता है वल्कि पाठक को दिल खोलकर मुक्त हास्य का अवसर मिलता है।

हास्य की दृष्टि से 'छेड़-छाड़' एवं 'जिज्ञासा' दो ही कविताएँ 'क्षणों के धागे' में देखने को मिलती हैं। लेकिन हमें इस वात पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि शिष्ट व साहित्यिक हास्य ही हमें डॉ० सहल की कविताओं में मिलता है, न कि 'तामस कोटि का फूहड़ हास्य'। प्रसादजी ने जिस हास्य की ओर साहित्यकारों का ध्यान आकृष्ट किया है, वही डॉ० सहल की कविताओं में पाठक को सुलभ होता है।

जिन व्यंग्योन्मुख कविताओं का पूर्वांश व उत्तरांश क्रमशः पृष्ठ-भूमि व लक्ष्य के रूप में चित्रित हुआ है, उनके उद्धरण अधोलिखित हैं :—

'प्रातःकाल उठकर चाय पीना
दैनिक पत्र के 'हेडिंग'
उलट-पलट कर देखना
रेडियो सुनना-सुनाना
सिगरेट के कश खींचते जाना
दफ्तर में जाना
और लौटना
टेनिस खेलना
क्लब में पहुँच
यार-दोस्तों से
गप-शप लड़ाना
फिल्म देखना
और रात
काली करना
यही आज का जीवन
है !
कहते हैं
विचारशील युग में
आज हम रहते हैं
किन्तु
किसी को जीवन की संकुलता में
विचार करने का,
चिंतन का
अवकाश ही नहीं !'

इस कविता में आधुनिक युवक-समाज का इतना यथार्थ चित्रण हुआ है कि वैसा अन्यत्र प्रयोगवादी रचनाओं में मिलना दुर्लभ है। इसी यथार्थ चित्रण से हास्य की उत्पत्ति होती है तथा इसी के द्वारा कवि ने आधुनिक युवक-समाज पर करारा व्यंग्य किया है। इस कविता के प्रारम्भ से लेकर 'यही आज का जीवन है' तक को पूर्वांश कहा जा सकता है, जो पृष्ठ-भूमि के रूप में चित्रित किया गया जान पड़ता है। इसके बाद कविता का उत्तरांश है जिसमें कवि का लक्ष्य सामने आया है जहाँ व्यंग्य का तीक्ष्ण प्रहार किया गया है। इस कविता के पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कविता के पूर्वांश तक ही पाठक को हास्य के आनन्द की उपलब्धि होती है,

उत्तरांश में तो उसकी हंसी लुप्त हो जाती है तथा कविता पाठकों को मर्माहत कर उन पर अपना प्रभाव छोड़ जाती है।

अन्य व्यंग्य-प्रधान कविता का भी यहाँ विवेचन कर देना अनुचित न होगा। डॉ० सहल के 'क्षणों के धागे' में 'अंधकार को आग लगादी' नामक कविता में आज की शहरी सभ्यता पर व्यंग्य है। इस कविता में रात का मानवीकरण किया गया है तथा उसी को संबोधित करके कविता की सृष्टि की गई है। व्यंग्य-प्रधान होते हुए भी, इस कविता में कवि की कल्पना की उड़ान का अन्दाज लगाया जा सकता है कि वह कितनी भव्यता लिए हुए है।

"फिर भी वह तो मात्र द्विपद है" नामक कविता में आधुनिक युग के मानव पर व्यंग्य किया गया है। मानव के घात-प्रतिघात चतुष्पद व षट्पदों से भी भयंकर होते हैं, फिर भी वह द्विपद ही कहलाता है। इसीलिए तो मानव-बुद्धि की सचमुच ही बलिहारी है जिसे यथार्थ पर आवरण डालना खूब आता है। इस कविता में, ऐसा महसूस होता है कि कवि की वैयक्तिक अनुभूति समष्टिगत बनकर सामने आई है।

"तनिक सरक जा, अरी धरित्री!" में आधुनिक 'फैशनेबुल' युवकों पर व्यंग्य किया गया है।

"आओ, हम रोड़ा अटकादें" शीर्षक देखने पर तो हंसी आना स्वाभाविक ही है, लेकिन कविता वस्तुतः व्यंग्य-प्रधान है, न कि हास्य-प्रधान। इस कविता को पढ़ने पर ऐसा लगता है कि कवि मनोविज्ञान का भी अच्छा अध्येता है, अन्यथा इस प्रकार की मानवीय अन्तर्वृत्तियों के प्रकाशन में सफलता पाना अत्यंत ही दुष्कर है। आधुनिक युग के स्वार्थियों की जिस प्रकार की मनोवृत्ति का हम दर्शन करते हैं, उसका प्राणमय चित्रण इस कविता में अत्यधिक कुशलतापूर्वक किया गया है। इसमें जो लोग दूसरों के रास्ते में रोड़ा अटकाने में ही अपना बड़प्पन समझते हैं, उनकी मनोवृत्ति पर व्यंग्य कसा गया है।

इस कविता में ध्वनि की प्रधानता है। वास्तव में वही काव्य उत्तम कोटि का माना जाता है जो ध्वनि-काव्य होता है। इस दृष्टि से डॉ० सहल का काव्य उत्तम कोटि के अन्तर्गत आता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'क्षणों के धागे' में संकलित कविताओं में हास्य और व्यंग्य का बहुत ही सुन्दर ढंग से निरूपण हुआ है। हास्य व विनोद में तो 'जिज्ञासा' व 'छेड़-छाड़' नामक सिर्फ दो ही कविताएँ आती है। व्यंग्य-प्रधान कविताओं के दो रूप देखने को मिलते हैं। वे इस प्रकार हैं:—

(१) पहला रूप तो उन कविताओं में मिलता है जो शुरू से लेकर अन्त तक व्यंग्य-प्रधान ही बनी रहती हैं, जैसे, "फिर भी वह तो मात्र द्विपद है !" "तनिक सरक जा, अरी धरित्री !" "आओ, हम रोड़ा अटकादें", "देश, मेरे देश !" आदि

(२) दूसरे रूप के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती हैं जिनको पूर्वांश और उत्तरांश में विभक्त किया जा सकता है क्रमशः पृष्ठ-भूमि व लक्ष्य के अनुसार।

इसको भी दो भागों में विभक्त कर सकते हैं :—एक भाग में तो वे कविताएँ आएँगी जिनका पूर्वांश यानी पृष्ठ-भूमि हास्य व विनोद की सृष्टि करता है, जैसे :—"विडम्बना", "आओ, हम रोड़ा अटकादें !" आदि। दूसरे भाग में वे कविताएँ आएँगी जिनका पूर्वांश (यानी पृष्ठ-भूमि) हास्य व विनोद की सृष्टि नहीं करता, बल्कि गंभीरता, चिंतनशीलता एवं मननशीलता से आपूरित हैं, जैसे—"अंधकार को आग लगादी", "बहुजन हिताय", "देश, मेरे देश !" आदि।

हिन्दी-साहित्य के एक प्रख्यात कवि से मुझे कुछ दिनों पहले मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन्होंने कहा कि अगर मैंने जिन अनुभूतियों को मेरी कविताओं में व्यक्त किया है, वे ही आप लोग समझ जाएँ या उनका अनुभव करने लग जाएँ तो मैं एक असफल कवि ही रहूँगा। मुझे इस कथन से एक प्रकार का झटका-सा लगा तथा इस विषय पर उनसे कुछ चर्चा भी करनी चाही, परन्तु उनका 'मूड' ही न था। मैं समझती हूँ कि यदि कोई कवि अपनी अनुभूतियों को दूसरों के अनुभव करने पर अपनी असफलता मानता है तो उसे काव्य-सृजन ही नहीं करना चाहिए। अगर इस मत को स्वीकार कर लिया जाए तो शायद "रस-सिद्धान्त व साधारणीकरण" को भी तिलांजलि देनी पड़े। इस बात की चर्चा का उद्देश्य इतना ही है कि मैं उक्त मत से एकदम विपरीत मत को मानती हूँ। इस दृष्टि से मैं इतना ही कहना चाहूँगी कि कवि डॉ० कन्हैयालाल सहल की ये हास्य व विनोद तथा व्यंग्य-प्रधान कविताएँ कवि की जिन अनुभूतियों को लिए हुए हैं, उनका वैसा ही अनुभव पाठक भी कविताओं के पढ़ने पर करने लगता है। इसी विशेषता के कारण डॉ० सहल को कवि के रूप में सफलता प्राप्त हुई है।

अमर-ज्योति से साभार (स्वतंत्रता दिवस अंक १९६१)

समय की सीढ़ियाँ

· डॉ० पवनकुमार मिश्र

डॉ० कन्हैयालाल सहल हिन्दी के सुधी समीक्षक तथा निबंध-लेखक हैं। उनके कवि-रूप पर भी इसी कारण चिन्तक का रूप अधिक हावी है। आधुनिक युग में काव्य को बौद्धिकता से असम्पृक्त किया भी नहीं जा सकता। इस युग में समकालिकता के दंशन और सभ्यता के विजड़ीकरण ने काव्य को चिन्तन का अनिवार्य आधार प्रदान किया है तथा भावुकता को तिरोहित कर दिया है। डॉ० सहल का सद्यः प्रकाशित काव्य-संग्रह एक चिन्तक की लाचारी है जो सुलझे हुए हृदय एवं परिपक्व मस्तिष्क का तटस्थ आकलन है। चिन्तक जब कवि के धरातल पर बोलता है तो वह समय की तरंगायित फुहारों को परिलक्षित कर उनकी सीमाओं और संभावनाओं का अंकन करने के लिए विकल हो उठता है पर समय की विराटता और परिवर्तनशीलता उसे अनिवर्च बना जाती हैं किन्तु साथ ही समय के अबाध, अनवरत साहचर्य की कुरेदन उसकी जिज्ञासा को निरन्तर उत्तेजित भी करती रहती है। इन्हीं जिज्ञासातुर क्षणों को बाँधते हुए सहलजी लिखते हैं कि, "प्रतिपल साथ रहने वाला यह मूक साथी एक शब्द भी नहीं बोलता, चुपचाप अपना काम किये जाता है। समय बीतने के साथ-साथ हम जीर्ण होते चले जाते हैं किन्तु समय पर जरा का कोई वश नहीं चलता। इस महामोहमय कटाह में सूर्य की अग्नि द्वारा, दिन रात के इन्धन की सहायता से, मास और ऋतुओं की दर्वी चला-कर यह प्राणियों को पकाता-रहता है—कितना अद्भुत और भव्य है यह !"

डॉ० सहल का चिन्तन प्राचीन और नवीन का समन्वय है, वे समय के लघुमाप क्षण की स्वतंत्र इयत्ता प्रायः न मानकर उसे शाश्वतता और अखंडता में देखते हैं, जो अतीत, आगत और अनागत का समष्टि-रूप है। उनका कथन है—"समय एक साथ ही क्षण भी है और शाश्वतता का ऐसा अथाह समुद्र भी है, जिसमें कोई द्वीप नहीं। यह एक विलक्षण विरोधाभास है।"

समय की सीढ़ियों में सीढ़ियाँ ही क्षण हैं, जिनकी सार्थकता हर कड़ी के जुड़ने में है, टूटने में नहीं।

इस काल को कवि 'रहस्यमय', 'अनिवर्चनीय' तथा 'सतत गतिमान' मानता है। इस 'रहस्य' और 'गति' की जो मुद्राएँ कवि के मन और मस्तिष्क में अंकित हुई हैं, 'समय की सीढ़ियाँ' उन्हीं का अभिव्यंजन है। समय की इन मुद्राओं ने कवि

को विवश किया है कि वह अक्षरावतार ग्रहण करे। इसी विवशता के आयाम में कभी वह पूर्ण समर्पित होकर भक्ति के स्वरों को साधता है, कभी आधुनिक (आगत) बोध से संचेतित होकर अतीत युग के रूढ़ चिन्तन पर प्रहार करता है और कभी अपनी सम्पूर्ण आस्था को बटोर कर अनागत के प्रति शुभाशंसा व्यक्त करता है तथा कभी आगत एवं अनागत को समवेत रूप में अनुभूत कर समय को 'एक पूर्ण छंद' के रूप में अंकित करता है और कभी नवीन सन्दर्भों से सम्बद्ध होकर उसके शब्दों को 'नई जीभ' अनायास ही मिल जाती है। कवि की यह समय-यात्रा अतीत-आगत और अनागत को स्पर्श करती हुई, चिन्तन और अभिव्यक्ति के क्षणों में भी जटिल तथा संघर्षशीला है। इस कारण उसकी वीणा पर समय छंद का आलाप इन्द्रधनुषी स्वरों में गुंजित होकर रूप से अरूप और अरूप से रूप की ओर आवर्तित होता रहता है। इसी कारण 'समय की सीढ़ियों पर' कहीं सरस्वती-वंदना के, कहीं राष्ट्रीय चेतना के, कहीं अस्तित्व-बोध के और कहीं आगत यथार्थ के स्वर उद्वेलित हो उठे हैं। इसी कारण समय की सीढ़ियों पर कहीं छायावादी आलाप है और कहीं रहस्यवादी। इसीलिए ये आलाप कहीं प्रयोगवादी भी है और कहीं आधुनिकता-वादी भी।

श्री सहलजी की आस्था का स्वरूप दृढ़ चेतना का है। इस चेतना का मूलाधार मानवतावादी है। कहीं-कहीं यह चेतना रहस्योन्मुखी भी है। मानवतावादी चेतना अतिशय व्यापक है और कवि सम्पूर्ण विश्व को आयत्त कर लेना चाहता है। इसी कारण वह प्रभु से उस चिति की याचना करता है जो :—

> प्रभु निमित्त बन सकूँ शान्ति का
> जहाँ घृणा हो, प्रेम कर सकूँ
> श्रद्धा दो तुम वहाँ
> जहाँ संशय का स्थल हो.......

यह प्रेम, श्रद्धा और आस्था कवि के लिए साध्य भी है और साधन भी। वैयक्तिक क्षेत्र में यह साध्य है और सामाजिक क्षेत्र के लिए साधन। यही आस्था शब्दों को जीभ प्रदान करती है और यह जीभ अन्धे युग को आँखें प्रदान करती है, गूँगे को मुखर करती है और बधिरता होने पर नवीन श्रवणेन्द्रियाँ प्रदान करती है। यथा—

> "जब-जब युग बहरा होता है
> कोलाहल में नहीं
> सुनाई पड़ती वाणी

पता नहीं वह क्या है जिससे
खंडित होती सभी वधिरता
लगता है जैसे सकर्ण हो
सारा ही युग
सुनने लगता कवि की वाणी।"

मूल रूप से इस आदर्श की धारा की इति नेति-नेति में ही होती है। निर्विशेष चिन्तन ही इसका गन्तव्य है, इसलिए कवि रहस्यात्मकता में ही प्रश्न का उत्तर पाता है। कवि के सामने प्रश्न सत्य के आकलन का है। पर इस जिज्ञासा का शमन तो गूँगे का गुड़ ही है। यथा—

रूप क्या है चरम सत्य का
ऋषिवर !
ब्रह्म का कुछ कीजिये निरूपण

× × × ×

यह प्रश्न कई बार पूछने पर उसका उत्तर इस प्रकार है—

ब्रह्म तो निर्विशेष
कहाँ है विशेषण यहाँ
प्रश्न का उत्तर तो केवल एक मौन है।

यह प्रश्न और यह उत्तर, भारतीय चिन्तन का खोजा हुआ तथ्य है। डॉ० सहल का कवि परम्परा के रूढ़-रूप के निषेध का हिमायती है। 'परम्परा और प्रगति' इसी की परिचायिका है। सत्य के शोध में कवि की उक्ति फिर एक ही रूप में अभिव्यक्त होती है—

चिर प्रकाश ही सत्य
वस्तुतः
तम तो है निषेध ही केवल

सहलजी सत्य को बार-बार विभिन्न कोणों से देखकर उसे आकलित करना चाहते हैं। इस प्रयास में कभी वे सत्य को सूर्य के रूप में, कभी प्रकाश के रूप में, कभी किरण के रूप में और कभी स्वर-लहरी के रूप में देखते हैं।

डॉ० सहल का दूसरा महत्त्वपूर्ण चिन्तन समय को नापने का, उससे परिचय प्राप्त करने का और उसे पूर्ण रूप से जानने की ओर धावित हुआ है। समयांकन के

नापने के इस प्रयास में कवि सहज ही आधुनिक बोध से सम्पृक्त हो जाता है। तब उसका परिचय नवीन सन्दर्भ और नये परिवेश से होता है। इस परिवेश और सन्दर्भ का चिन्तन नई और पुरानी मान्यताओं के सम्बन्ध में कितने ही प्रश्न एकाएक खड़े कर देता है। इन प्रश्नों में क्षण का महत्त्व, नई और पुरानी पीढ़ी का सम्बन्ध, वर्तमान का परिवर्तन-बोधी रूप आदि समय की सीढ़ियों पर दस्तकें देते हुए प्रतीत होते हैं। ये दस्तकें सारवती भी हैं और सार्थक भी। सहल का कवि इन दस्तकों को बड़ी गम्भीरता से सुनता है, सुनता ही नहीं, गुनता भी है और फिर गुनगुना उठता है—

समय छंद है एक विलक्षण
जिसके चरण असंख्य
कौन गिन सकता उनको ?

समय के लघुतम अंश क्षण को कवि अमरता में बाँधने के लिए प्रश्नाकुल हो उठता है—

एक क्षण जो बीतता ही
जा रहा है
और जो पल-पल पुराना
पड़ रहा है
क्या न बन सकता वही
अमरत्व का क्षण ?

पर क्षण अमर नहीं होता। अतीत और वर्तमान का द्वन्द्व फिर उभरने लगता है। अतीत वर्तमान के अनुरूप नए अर्थप्रदान करे तो वह समय-छंद में फिट बैठ जाए पर अतीत का आगत में अस्तित्व ही चिन्ताजनक हो गया है; इसीलिए कवि यथार्थबोध को अंकित करता हुआ, अतीत का स्थितिबोध रूपायित करता हुआ लिखता है—

नवयुग की बस्ती में
बनाकर झोंपड़ी
रहता है पुरातन युग !

× × ×

पर युग पुरातन
न झोंपड़ी को
सुधारता है
और न ध्यान देता है
लोगों की हँसी पर।

समय के विश्लेषण में कवि वर्तमान को अतीत और अनागत से सम्पृक्त कर देखने का अभ्यस्त है पर वह वर्तमान के महत्त्व से पूरी तरह परिचित भी है—

यह वर्तमान
जिसमें अतीत
और अनागत भी
करते हैं क्रीड़ा साथ-साथ

× × ×

यह भविष्य की नींव
शक्ति का स्रोत

× × ×

पर इसका आयाम
बड़ा विस्तृत है
और गहन है।

समय का भँवर-जाल कवि को उलझाता अधिक है, सुलझाता कम है। इसका निराकरण चिन्तन के धरातल पर मात्र इतना है—

अद्भुत पहेली
यह
उत्तरहीन प्रश्न यह
प्रश्नहीन
उत्तर भी !

कवि समय की सीढ़ियों की अरूपता को अभिव्यक्त करता है—

ये हैं अदृश्य
अस्पृश्य
अश्रव्य भी
ये हैं नहीं कभी;
दुर्गम ये सोपान समय के
अद्भुत ये सीढ़ियाँ समय की।

श्री सहल का कवि अनुभूति का कवि है, प्रयोगों का कवि है, और समय की धार से उठते हुए इन्द्रधनुषी रंगों को पहचानकर उसे रूपायित करने वाला कवि है। उसमें चिन्तक की लाचारी, कलाकार की तूलिका और कवि के उच्छलभावातिरेकी हृदय का संगम है। इसी कारण उसकी रचनाओं में कहीं कलाकार का आल्हादमय सौंदर्यांकन है और कहीं समय की मरु-मरीचिका में भटकते हुए चिन्तक का दर्शन-बोध और कहीं सरस्वती के अनुगायन में भावसिक्त हृदय का इयत्ताहीन आत्म-समर्पण। इस संकलन में कवि की सरस्वती-वंदन से सम्बन्वित कई रचनाएँ हैं। यदि इतनी एक साथ देने का लोभ कवि संवरण कर पाता तो बहुत सी आवृत्तियों से बच जाता।

सहलजी का कवि समय की सीढ़ियों पर प्रयोगोन्मुख है और सही अभि-व्यक्ति की तथा सत्य की तलाश में है। इस तलाश में उसने हिन्दी को नई मुहावरे-दानी, नए प्रतीक और नवीन प्रयोगों की एक शृंखला प्रदान की है। समय की यात्रा में अनुभूत कटु, तिक्त और मधुर सभी को कवि ने अंकन के घेरे में लिया है। कवि की रचनाओं में विषय-वैविध्य है और समय की चेतना है। यह चेतना अभिनव, मौलिक और गंभीर है।

●●●

Rajasthani Kahavaten-ek Adhyayan

1. • Dr. Suniti Kumar Chatterji

The present work by Sri Sahal gives a very convincing literary study of the proverbs of Rajasthan as indicative of the culture and mentality of the people. Prof. Sahal gives evidence of a wide reading in the subject and he has discussed in the first 3 chapters the importance and characters of proverbial literature in general, commenting also on their origin and development. Incidentally in this part of his thesis, he has given what may be called a general historical survey of proverbial expressions in India through the ages from the ancient classical period in Sanskrit down through the mediaeval period in the various forms of Middle

Indo-Aryan, Prakrits and the Apabhramsas. Sri Sahal then has proceeded to discuss the classification of the proverbs of Rajasthan. Of course, he has not given these proverbs in a collective form—as that would become quite a big book. The classification of proverbs of any people is capable of being done in various ways, but Prof. Sahal's classification appears to be quite reasonable, and all-inclusive, and it is quite a pleasure to read his discussion of some of the proverbs in each of the various classes or categories in which he has divided the subject. On the whole, this part of the thesis, which forms a real piece de resistance in his presentation of the problem is very carefully done, and we get from this section a good study of the proverbs as an expression of the life and culture and history of Rajasthan. This cultural investigation through a study of proverbial literature is something which has been attempted for other Indian languages, and here I think we have something done on an extensive scale for Rajasthani. He has also discussed in the final chapter the future of proverbial literature among any people, and has given some instances of other proverbial literature in Rajasthani including what is known as Laukika Nyaya.

The thesis as it has been prepared is primarily an excurses into the study of the literature and culture of the people of Rajasthan. The approach is refreshingly objective, and the author shows evidence of a full understanding and appreciation of the problems he has before him. It is a contribution of great value to our study of the proverbial literature in an important modern Indian Language dealing with the people of one of the more advanced states of India. It is scientifically conceived, and its execution is quite impeccable stylistically. The work forms good literature also.

•••

2. • Dr. Dashrath Sharma

'Rajasthan Kahavaten : Ek Adhyayan' is one of the best Hindi theses that I have read so far. Instead of confining himself to the study of Rajasthani proverbs, as a second-rate writer would have done, the candidate has dealt also in a masterly fashion, with allied subjects like the genesis of the proverb—proverbs in ancient Indian and foreign literatures, the currency, development and disappearance of proverbs, and parallel proverbs from various languages, Indian as well as non-Indian. The treatment of the main theme, the Rajasthani proverbs, is fairly exhaustive, and I regard the chapters on 'Rajasthani historical proverbs', 'Society as depicted in Rajasthani proverbs', and 'Other Rajasthani Proverbs relating to Society' as a solid contribution to the social, cultural and, in some measure, also to the political history of Rajasthan. On accout of its originality, vigorous style and excellent presentation of facts, the thesis is highly commendable.

•••

राजस्थानी कहावतें

• सुधीन्द्र रस्तोगी

डॉ० कन्हैयालाल सहल राजस्थानी भाषा तथा साहित्य के प्रकांड विद्वान् तथा अन्वेषक हैं। उन्होंने अनेक दुर्लभ राजस्थानी ग्रंथों का संपादन करके हिन्दी की बड़ी सेवा की है। प्रस्तुत ग्रंथ डॉ० सहल की एक अन्य महत्त्वपूर्ण भेंट है। राजस्थानी कहावतों का यह विवेचन तथा संकलन हिन्दी की अन्य बोलियों के लोक-साहित्य में रुचि रखने वाले अन्वेषकों के लिए प्रेरणा तथा पथ-प्रदर्शन का काम करेगा।

इस ग्रंथ के अनौपचारिक रूप से दो खण्ड हैं—पहला है विवेचन-खण्ड और दूसरा है, संकलन-खण्ड। विवेचन-खण्ड कई उपशीर्षकों में विभक्त है। सबसे पहले विद्वान् लेखक ने संस्कृत वाङ्मय में प्राप्त कहावतों का सम्यक् परिचय तथा विवेचन

किया है। संस्कृत-साहित्य में कहावतों का प्रचलन वेदों के युग से पाया जाता है। डॉ० सहल ने वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, इतिहासग्रन्थों तथा पुराणों—रामायण, महाभारत, योग वासिष्ठ, स्मृतियों, लोकोक्ति तथा नीति वाङ्मय—चाणक्यसूत्र, कौटिल्यीय अर्थशास्त्र, संस्कृत सुभाषितों आदि के साथ पालि तथा प्राकृत-ग्रंथों से भी कहावतों के नमूने प्रस्तुत करके उनका विवेचन किया है। अपभ्रंश भाषा की कहावतों का विवेचन एक अलग शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है और इसमें पुष्पदंत, धनपाल, मुनि रामसिंह, हेमचन्द्र, अब्दुल रहमान आदि महाकवियों की रचनाओं से चुन कर कहावतें दी गयी हैं। इसके बाद विदेशी कहावतों का संक्षिप्त इतिहास और फिर विभिन्न देशों का विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस अध्ययन से हम न केवल विभिन्न देशों की कहावतों की विशेषताओं से परिचित हो जाते हैं बल्कि उन देशों की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों तथा वहां के निवासियों की चरित्रगत विशेषताओं की भी एक झलक पा जाते हैं। राजस्थानी कहावतों का विवेचन करते हुए डॉ० सहल ने ठीक ही कहा है कि "कहावतें मानव-स्वभाव और व्यवहार-कौशल के सिक्के के रूप में प्रचलित होती हैं और वर्तमान पीढ़ी को उत्तराधिकार के रूप में पूर्वजों से प्राप्त होती हैं।" मानव-जीवन में कहावतों का महत्त्व स्पष्ट करते हुए, सहल जी ने विभिन्न प्रकार की राजस्थानी कहावतों के नमूने दिये हैं। राजस्थानी कहावतों को उनकी सम्पूर्णता में देखने के लिए डॉ० सहल ने न केवल राजस्थान और भारतवर्ष के कहावती साहित्य का विहंगावलोकन किया है, बल्कि विदेशी कहावतों पर भी सम्यक् दृष्टि डाली है, क्योंकि राजस्थानी कहावतों में बहुत-सी कहावतें तो स्थानीय हैं और कुछ सम्पूर्ण भारतीय परिवार की सदस्य हैं और कुछ सार्वभौम हैं।

संकलन-खण्ड में चुनी हुई २१०६ राजस्थानी कहावतें संग्रहीत की गयी हैं। प्रत्येक कहावत के साथ उसका हिन्दी अर्थ और आवश्यकता होने पर अर्थ स्पष्ट करने के लिए टिप्पणी दी गयी है। जहां कहीं सम्भव हुआ है, राजस्थानी कहावतों के हिन्दी या अन्य भाषाओं में प्राप्त पर्याय भी दिये गये हैं। ग्रंथ के अन्त में परिशिष्ट है। एक में २२५ सिरोही की कहावतें संकलित हैं, और दूसरे में १०१ 'अधूरा पूरा' तथा कहावती पद्य संग्रहीत हैं।

कुल मिला कर यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शोध-ग्रंथ है और इसके लिए डॉ० सहल हिन्दी जगत के बधाई के पात्र हैं।

(साप्ताहिक भारत से साभार)

•••

निहालदे सुलतान

• विचक्षण

हिन्दी और राजस्थानी साहित्य के क्षेत्र में डॉ० कन्हैयालाल सहल की सेवाएँ उल्लेखनीय कही जायेंगी। आलोच्य पुस्तक निहालदे सुलतान उनकी ४८वीं पुस्तक है। निहालदे सुलतान एक जनकाव्य है। प्रायः जोगियों के कण्ठों से इसके गीत राजस्थान में सर्वत्र सुने जा सकते हैं। राजस्थानी भाषा का यह लोककाव्य जितना लोकप्रिय है, उतना ही महत्त्वपूर्ण भी। डॉ० सहल ने प्रयास करके इस लोक-काव्य को लिपिबद्ध करवाया है। उसके तीन खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। यह हिन्दी रूपांतर कथावस्तु, भाषा और शैली के लिहाज से पाठकों के लिए रोचक और मनोरंजक है।

प्रथम खण्ड में सुलतान के जन्म, उसके विवाह, देश निकाला, दानवों से झगड़ा, कीचलगढ़ के बाग में सुलतान आदि घटनाओं का वर्णन है। दूसरे खण्ड में सुलतान मारू का वार्तालाप, निहालदे का बूंदीगढ़ में अवरोध, उसका नाजर के वेष में रहना, सुलतान का कोटड़ी में बन्द होना, देवलगढ़ में निहालदे, सुलतान और जगतसिंह का युद्ध, बुधसिंह से युद्ध का विचार, शिव द्वारा रहस्योद्घाटन, सुलतान का साहूकारों से मिलना, रानियों का जुलूस, रतना सेठ की दावत आदि घटनाओं का समावेश है। सम्पूर्ण कथा तीसरे खण्ड में समाप्त होती है। पुस्तक की भाषा सरल, स्वाभाविकता लिए हुए और भावानुकूल है। देशज शब्दों के प्रयोग और स्वाभाविकता के कारण कथोपकथन रुचिकर बन पड़े हैं और अनेक स्थलों पर मूल काव्य के उद्धरणों ने उन्हें और सजा-संवार दिया है। पुस्तक के आवरण पृष्ठ भी सुन्दर कलात्मक ढंग से चित्रित किए गए हैं।

पुस्तक पठनीय है और राजस्थानी लोक-साहित्य में रुचि रखने वालों के लिए विशेषतया आकर्षक है। यदि सम्पूर्ण-पुस्तक का एक साथ एक जिल्द में प्रकाशन हो सकता तो यह और अधिक उपयोगी और पाठकों के लिए सुविधाजनक रहता।

निहालदे सुलतान की यह कथा एक बड़े उपन्यास की सामग्री प्रस्तुत करती है। यदि कोई राजस्थानी सफल उपन्यास लेखक इस पर कलम उठाए तो यह कार्य महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा। चित्रपट के निर्माण में भी इसकी कथावस्तु का उपयोग हो सकता है।

इस सम्बन्ध में लिखते समय ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि राजस्थानी लोक-साहित्य के संरक्षण और प्रकाशन के दृष्टिकोण से 'निहालदे सुलतान' के मूल

'पवाड़ों' का उचित और उपयोगी रूप में प्रकाशन अत्यन्त आवश्यक है और यह आशा की जानी अनुचित नहीं होगी कि डॉ० सहल इस ओर ध्यान देंगे।

डॉ० कन्हैयालाल सहल राजस्थान में हिन्दी के और राजस्थानी के श्रेष्ठ समालोचक, निबंधकार और अन्वेषक एवं प्रयोगवादी कवि के रूप में प्रमुख स्थान रखते हैं। उनकी रचनाओं में मौलिक चिंतन की छाप मिलती है। राजस्थान की साहित्यिक समृद्धि और यहां के नये साहित्यकारों के पथ-प्रदर्शन में डॉ० सहल का जो भाग है, वह साहित्य के इतिहास में अपने आप में उल्लेखनीय रहेगा।

'अमर ज्योति से साभार'
(रवीन्द्र शताब्दी अंक, १९६१)

•••

लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तन्तु

• श्री रामनारायण उपाध्याय

लोक-कथाओं में मानव मन का सुकोमल इतिहास अंकित रहता है। आदमी ने जो कुछ किया, उसका लेखा-जोखा तो इतिहास में आ जाता है लेकिन अपने मनोजगत में उसने जो कुछ भी सोचा, विचारा, रंगीन कल्पनाएँ बुनी, सुन्दर सपने सँजोये, उन सब का विवरण इन कथाओं में सुरक्षित है।

सदियों से ये कथाएँ मनुष्य का मनोरंजन करती आई हैं। इनमें कुछ भी असम्भव नहीं होता। इनमें सिंह सर्प की दोस्ती निबाहते, पक्षी सन्देश पहुँचाते और जरूरत पड़ने पर भित्ति चित्र भी बोलने लगते हैं।

इनमें व्यक्ति, स्थान या काल का कोई महत्त्व नहीं होता। वे सदा से अपराजेय और शाश्वत रही हैं। इनकी अंगुलि पकड़ कर आदमी ने सदियों की दूरी को लांघा, देशों की यात्राएँ की और सुदूर रेगिस्तान से लगा कर अपने खेत-खलिहान और घर के आंगन के अलाव के सहारे सारी रात जागकर बिता दी है। मनस्ताप के क्षणों में भी इन्होंने हमें बहलाया और घोर निराशा के क्षणों में मनुष्य में अमिट आशा का संचार किया है।

संसार के सब देशों में इनके प्रति अद्भुत रुचि रही है। भारतवर्ष में भी लोक-कथाओं पर पर्याप्त कार्य हुआ है। जिस तरह लोक-गीतों की खोज में श्री

रामनरेश त्रिपाठी और देवेन्द्र सत्यार्थी का नाम आदर से लिया जाता है, उसी तरह लोक-कथाओं की खोज-शोध में श्री शिवसहायजी चतुर्वेदी और डॉ० कन्हैयालाल सहल का नाम अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। हमारे यहां लोक-गीतों के संकलन, सम्पादन और अध्ययन की दिशा में जितनी गम्भीरता एवं व्यापकता से कार्य हुआ है, उतने व्यापक ढंग से लोक-कथाओं का कार्य नहीं हो पाया है। हल्के-फुल्के मनोरंजन से दूर, जिन लोगों ने लोक-कथाओं का गहरी आत्मीयता से डूब कर खोज-पूर्ण एवं अध्ययनपूर्ण कार्य किया है, उनमें डॉ० सहल का नाम सदा आदर से लिया जाएगा। "लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तन्तु" उनकी ऐसी ही एक अध्ययनपूर्ण कृति है। श्री सहलजी ने न सिर्फ लोक-कथाओं का संग्रह करके वरन् उनका वर्गीकरण एवं शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत कर लोक-साहित्य की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यह कार्य इस दिशा में काम करने वालों के लिए सदैव दिशा-दर्शन देता रहेगा। इस दृष्टि से यह मूल्यवान पुस्तक स्वागत के योग्य है।

'कर्मवीर' से साभार
(५-२-१९६६)

•••

लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियां

• अभ्युदय

प्रसिद्ध आलोचक एवं राजस्थानी साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् डॉ० कन्हैयालाल सहल का यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इस विषय की डॉ० सहल की यह तीसरी पुस्तक कही जा सकती है। इससे पूर्व 'नटो तो कहो मत' और 'राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय' नामक उनकी दो पुस्तकें इसी विषय पर प्रकाशित हो चुकी हैं। इस विषय पर लेखनी उठाना लोक-साहित्य की एक बड़ी सेवा और सामयिक प्रयास माना जायगा।

रूढ़ि और अभिप्राय का प्रयोग एक दूसरे के पर्याय के रूप में किया जाता है। अभिप्राय—जिसे अंग्रेजी में मोटिफ कहते हैं, उस शब्द अथवा एक सांचे में ढले हुए उस विचार को कहते हैं जो समान परिस्थितियों में अथवा समान मनःस्थिति और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियों में बार-बार आता है। विभिन्न कला-रूपों का अर्थ होता है कोई चल या

अचल, सजीव या निर्जीव, प्राकृतिक अथवा काल्पनिक वस्तु, जिनकी अलंकृत एवं अतिरंजित आकृति मुख्यतः सजावट के लिए किसी कलाकृति में बनायी जाय। साहित्य मे अत्यधिक प्रयोग अथवा अनुकरण के प्रयोग से कुछ रूढ़ियां बन जाती हैं जिनका साहित्य में प्रयोग होता रहता है। इन्हीं सब रूढ़ियों को विद्वान् लेखक ने साहित्यिक अभिप्राय कहा है।

'नटो तो कहो मत', 'पशु पक्षियों की बातचीत', 'मौन-धारण और मौन-भंग', 'रूप-परिवर्तन', 'पन्द्रहवीं विद्या' आदि इसी प्रकार के अनेक मूल अभिप्राय हैं। लोक-कथाओं में बार-बार आने वाले अत्यन्त सरल प्रत्यय भी रूढ़ियों का रूप धारण कर लेते हैं। लेखक ने बताया है कि वैसे तो परम्परागत कथा का कोई भी अंश मूल अभिप्राय का रूप धारण कर सकता है, परन्तु परम्परा का वास्तविक अंग बनने की क्षमता तभी उत्पन्न होती है जब कोई कथा का अंश ऐसा हो जिसे लोग स्मरणीय समझें और जिसकी बार-बार आवृत्ति करना चाहें। शुष्क सर्व सामान्यता की अपेक्षा इसमें कुछ अपना वैशिष्ट्य होना चाहिए। केवल माता मूल अभिप्राय का रूप धारण नहीं कर सकती, हां एक निष्ठुर माता अपने असाधारणत्व के कारण अवश्य मूल अभिप्राय के रूप में प्रयुक्त हो सकती है। जीवन की सर्वसामान्य प्रक्रियाएँ मूल अभिप्राय के रूप में परिणत नहीं हो पातीं।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने 'सत्य क्रिया', 'जादू की डोरी', 'हंस कुमारी', 'स्वर्गीय बाला', 'शरीफ चोर' 'कृतघ्न जीव' आदि चौदह मूल अभिप्रायों का वैज्ञानिक विश्लेषण-विवेचन किया है। राजस्थानी लोक-कथाओं के साथ-साथ अन्य भाषाओं की कथाओं का समावेश कर उनके मूल अभिप्रायों का भी यथास्थान विवेचन किया गया है।

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने (भूमिका में) लिखा है कि "उनका (डॉ० सहल) यह विश्लेषण मौलिक और मूल्यवान है। श्री कन्हैयालालजी सहल लोक-साहित्य और वार्ता शास्त्र के मनीषी विद्वान् हैं।" निःसंदेह पुस्तक का विषय नवीन है, इस विषय को लेकर अभी हिन्दी जगत में कार्य नहीं हुआ है। पुस्तक की प्रस्तावना से पता लगता है कि प्रो० सहल ने इस विषय को अपने डी. लिट के शोध-प्रबन्ध के लिए अनुसंधान का विषय भी बनाया है। राजस्थानी कहावतों का डॉ० सहल ने जो वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण, विवेचन एवं वर्गीकरण किया है, उससे अन्य भाषाओं की कहावतों पर काम करने की प्रेरणा मिली एवं स्पष्ट मार्ग-दर्शन भी प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार आशा है, डॉ० सहल का यह शोध-कार्य भी अपने विषय में अन्यों के लिए मार्ग-दर्शन करेगा। प्रस्तुत पुस्तक के विषय में श्री राहुल जी ने लिखा है—लोक

कथाओं के बारे में वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाली ऐसी साफ पुस्तक मैंने हिन्दी में नहीं देखी।

पुस्तक सभी दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। अच्छा होता यदि विद्वान् लेखक ने अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में मूल अभिप्रायों से सम्बन्धित यत्र-तत्र हुए कार्यों का उल्लेख कर दिया होता, साथ ही विषय के मूल को समझा भी दिया होता। प्रस्तावना में विषय का जो स्पष्टीकरण हुआ है, वह संक्षिप्त है और विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है।

विषय मौलिक है पर नवीन भी है। यह विश्वास है कि डॉ० सहल जैसे राजस्थानी साहित्य मर्मज्ञ की लेखनी द्वारा इस विषय का भी कहावतों की तरह पूर्ण वर्गीकरण, विश्लेषण एवं विवेचन हो सकेगा।

—अमर ज्योति से साभार
(७-१-१९६२)

●●●

राजस्थानी लोक-कथाओं के कुछ मूल अभिप्राय

राजस्थान के प्राचीन साहित्य के शोधकर्ताओं में डॉ० कन्हैयालाल सहल का नाम सदा अग्रणीय रहा है। राजस्थानी कहावतों पर वे एक महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबंध प्रस्तुत कर चुके हैं, जिसका भाषाध्ययन के क्षेत्र में ऐतिहासिक महत्त्व है। आज भी वे राजस्थानी कहावतों के संचय और अध्ययन में संलग्न हैं।

यह पुस्तक उनके अध्ययन और शोध-कार्य की एक और नई दिशा को प्रकट करती है। लोक-कथाओं के मूल अभिप्रायों से सम्बन्धित उनके अनेक लेख 'राष्ट्र भारती' आदि प्रसिद्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। इससे लगता है कि वे किसी महान् अनुष्ठान में लगे हुए हैं और प्रस्तुत पुस्तक उसके सम्भावित परिणाम की भूमिका मात्र है।

मूल अभिप्राय उन प्रसंगों को कहते हैं, जिनके आधार पर कथा अभीप्सित मोड़ लेती है। इन अभिप्रायों का प्रयोग काव्य और लोक दोनों प्रकार के कथानकों में होता है। वस्तुतः लोक-कथाओं से ही वे साहित्य में आते हैं। प्रत्येक देश में काव्य-विशिष्ट अभिप्रायों का साहित्य में और जन-कथाओं में प्रयोग होता है। उनमें पर्याप्त भिन्नता है, पर मानव की अन्तर्हित एकता के कारण बहुत से अभिप्राय

बहुत बार सार्वदेशिक पाए जाते हैं। डॉ० सहल ने इस छोटी-सी पुस्तक में मूल अभिप्रायों का शास्त्रीय और सैद्धांतिक विवेचन नहीं किया है। पुस्तक के सीमित आकार के कारण व्यावहारिक पक्ष पर ही उन्होंने स्वयं को केन्द्रित रखा है। उन्होंने जिन अभिप्रायों को चुना है, वे सभी सार्वभौम हैं। अपने अध्ययन में डॉ० सहल ने वेद, पुराण, इतिहास, काव्य, लोक-कथा सभी का उपयोग किया है। विदेशी साहित्य और कथाओं से भी उन्होंने उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। प्रत्येक अभिप्राय से सम्बन्धित राजस्थानी लोक-कथा आवश्यक रूप से दी गई है, जिससे पुस्तक का नाम सार्थक होता है।

पांच अभिप्रायों पर इस कृति में विचार किया गया है—प्राण-प्रतीक, निषिद्ध-कक्ष, मौन-धारण और मौन-भंग, मृत्यु-पत्र और वाक्-छल।

'प्राण-प्रतीक' अभिप्राय से सम्बंधित चित्र आवरण पृष्ठ पर भी अंकित है। एक मायावी दानव किसी अनिंद्य सुन्दरी राजकुमारी को अपनी कैद में यातना देता है, नायक राजकुमारी की सहायता को पहुँचता है, दोनों में प्रणय होता है, नायक की प्रेरणा से राजकुमारी दानव से उसकी मृत्यु का रहस्य पूछ लेती है, नायक उस तोते को मार देता है, जिसमें उस दानव के प्राण बसते हैं। फलतः दानव भी नष्ट हो जाता है और नायक-नायिका सुखपूर्वक जीवन बिताते हैं। यह प्राण-प्रतीक थोड़े बहुत अन्तर के साथ संसार की सभी लोक-कथाओं में पाया जाता है। डॉ० सहल ने वेद में इन्द्र और वृत्र के संघर्ष, पुराणों में रक्तबीज की कथा आदि से इस अभिप्राय का सम्बंध-सूत्र जोड़ा है। निषिद्ध कक्ष का अभिप्राय मान्धाता की कहानी में चरितार्थ हुआ है। एक प्रकार से उसी का एक रूप आदम और हौवा की कहानी में भी है।

कुल मिलाकर सारी पुस्तक अत्यन्त ज्ञानवर्धक है। उसमें कथारस का वेग इतना तीव्र है कि वह प्रबुद्ध और सामान्य दोनों प्रकार के पाठकों के लिए बहुत उपयोगी बन गई है।

राजस्थानी लोक-कथाएँ

इस पुस्तक में राजस्थान की कुछ लोक-कथाएँ हैं। प्रथम अध्याय में लोक-कथाओं में सांस्कृतिक चित्रण पर प्रकाश डाला गया है। नारियों के शौर्य के संबंधित कथाएं, पुत्र-पति और भाई के प्रति उनकी ममता और उत्सर्ग से भरी व्रत-कथाएं, सब नारी के गौरव को उजागर करती हैं। ऊजली की काव्यमय कथा अत्यन्त करुण और हृदयद्रावक है। अपने शरीर को एक बार किसी पुरुष को सौंपने पर भारतीय नारी उसे अपना मन भी जीवन भर को सौंप देती है। पुरुष उसे सदा छलता आया

है। मेह के प्रति शाप में ऊजली ने नारी-विद्रोह को व्यक्त किया, पर उसकी दुर्दशा सुनकर उसका नारीत्व द्रवित हो उठा और अन्त में जन्म भर विरह में जलने वाली नारी चिता पर जली, पति के शव के साथ। उसकी विरह-व्यथा अत्यन्त मार्मिक है—

दुनिया जोड़ी दोय,
सारस नै चकवा तणी
मिली न तीजी मोय,
जो-जो हारी जेठवा।

डॉ० सहल ने इस पुस्तक में अत्यन्त सरस-करुण कथाओं को निबद्ध कर स्तुत्य कार्य किया है।

('अमर ज्योति' से साभार)

•••

राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद :

१. • डॉ० प्रभाकर माचवे

श्री कन्हैयालाल सहल ने एक सुन्दर भूमिका लिखी है। पुस्तक को पढ़कर गुजराती के झवेरचन्द मेघाणी के कार्य की याद हो आती है। उसी जीवट और परिश्रम से सहलजी ने ये 'प्रवाद' (बंगला शब्द-अर्थः किंवदन्ती, जनश्रुति अथवा लोकोक्ति) एकत्रित किए हैं। राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन के विकास और वीरता-पूर्ण इतिहास की ये झलकें लोक-साहित्य के सभी अध्येताओं के लिए अत्यन्त उपादेय हैं। स्थान-स्थान पर तौलनिक अंग्रेजी-संस्कृत कविताओं के उद्धरण दे देने से लेखक की रसज्ञता का भी परिचय मिलता है।

संस्कृति (अंक १, जुलाई १९४७) से साभार

२. • डॉ० दशरथ शर्मा

सांस्कृतिक जीवन पर प्रकाश डालने वाली पुस्तकों की आजकल हिन्दी एवं राजस्थानी साहित्य में बहुत कमी है। पुराने ऐतिहासिक काव्यों में एक विशेषता थी,

वे राजनैतिक स्थिति का चित्रण तो करते ही थे किन्तु इसके साथ-साथ समाज, सभ्यता एवं संस्कृति का उन्होंने इतना अच्छा वर्णन किया है कि हम उन्हीं पुस्तकों को सांगोपांग इतिहास कहने के अधिकारी हैं। वाण के 'हर्ष चरित' और कल्हण की 'राजतरंगिणी' की दुरालोचनाएँ हम अनेक वार सुन चुके हैं। यह दुरालोचना उसी अपूर्ण शिक्षा का प्रभाव है कि जिसके आधार पर किसी देश के राजनैतिक इतिहास को ही हम उसका समस्त इतिहास मान बैठे हैं।

राजस्थान के अनेक इतिहास प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें राजनैतिक इतिहास का अच्छा विवरण है, किन्तु सांस्कृतिक इतिहास से वे प्रायः शून्य हैं। अतः प्रायः सौ प्रवाद एकत्रित कर राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन पर प्रकाश डालने का जो स्तुत्य प्रयास सहलजी ने किया है, वह अभिनन्दनीय है। शौर्य और पराक्रम की अद्भुत कथाओं एवं दयावीरों और दानवीरों की गौरवगाथाओं का प्रस्तुत पुस्तक में अच्छा संकलन है, और इन पर सहलजी की मार्मिक टिप्पणियां भी पठनीय हैं। बीकानेर, जोधपुर, जयपुर, कच्छ आदि राज्यों के इतिहास-लेखक इनसे समुचित लाभ उठा सकते हैं।

३. ० पं० झाबरमल्ल शर्मा

"राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद–प्रथम शतक" पढ़ कर मैं विशेष आनन्दित हुआ हूँ। इसके द्वारा आप राजस्थान के समुज्ज्वल आदर्शों से परिचित कराने के अपने ध्येय में पूर्णतया सफल हुए हैं। एतदर्थ मेरा आंतरिक साधुवाद लीजिए। राजस्थानी में स्मृतिनिष्ठ, हृदयस्पर्शी, प्रभावोत्पादक प्रवाद इतने अधिक प्रचलित हैं कि उनका संग्रह और सम्पादन गहरी खोज एवं अनुशीलन की अपेक्षा रखता है। मैं अनुभव करता हूँ कि जनता की जवान पर बने हुए विशृंखल किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रवादों के प्रचलन का इतिहास प्रायः लुप्त होता जा रहा है। इस कार्य को आप जैसे साहित्य-मर्मज्ञ ही पूरा कर सकते हैं। मैं चाहता हूँ कि कालान्तर में आप 'शतक' की जगह 'साहस्री' प्रकाशित कराने का क्रम रखाएँ। मुझे यह विश्वास है कि आपकी यह 'पुस्तकमाला' विशेष अनुराग के साथ पढ़ी जायगी।

●●●

द्रौपदी-विनय अथवा करुण बहत्तरी

१. • रामप्रताप त्रिपाठी

प्रस्तुत पुस्तक राजस्थानी अथवा डिंगल भाषा में है। द्रौपदी के चीर-हरण के करुणापूर्ण प्रसंग को लेकर कवि ने अपनी सूक्ष्म प्रतिभा से उसे और भी प्रभावपूर्ण रूप दिया है। [illegible] की यह छोटी-सी पुस्तिका [illegible] मनोहर [illegible] है। बिहारी के दोहों की भांति, इसका एक-एक सोरठा उत्कृष्ट काव्य-गुण से [illegible] है।

[illegible] सम्पादन में पुस्तिका को सब प्रकार से उपादेय तथा आकर्षक बनाया है। इसकी सुन्दर भूमिका में कवि की जीवनी और रचनागत विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है तथा इसकी कविता का साहित्यिक मूल्यांकन भी किया गया है। साथ ही [illegible] टिप्पणियाँ, भावार्थ और [illegible] टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं। [illegible] दो परिशिष्टों में [illegible] (द्रौपदी [illegible]) दे दी गई है। इस [illegible] पुस्तिका का महत्त्व बढ़ गया है।

[illegible] साहित्य में इस पुस्तिका का अपना विशिष्ट स्थान है और सम्पादक ने इसे हिन्दी पाठकों के लिए सब प्रकार से सुलभ कर दिया है। आशा है, [illegible] इस पुस्तक को भी उचित स्थान मिलेगा।

[illegible] ([illegible]) से साभार—[illegible], [illegible]

२. • [illegible]

[illegible]

अत्याचारने मूकभावे सहन करनार पांडवो, भीष्म, द्रोण आदि प्रत्ये असंतोषपूर्ण व्यंग्यवचन कह्यां छे ते हृदय ने चोट पहोंचाडे छे—

सासू मत्रज साज, पूत जण्या जे पारका;
ज्यांरी पारख आज, सांची ह्वैगी सांवरा.
गंगा मछवांधार, कुण जाई ब्याही कठै;
घरकुलरा अे घाट, सरम कठा सूं सांवरा.

काव्यनुं संपादन अत्यंत कुशलतापूर्वक करवामां आव्युं छे. भूमिकामां कविचरित्र तथा कृतिनो संक्षिप्त परिचय छे. प्रत्येक छंदनी साथे संपादके शब्दार्थ, भावार्थ तथा टिप्पणी आपी छे.

अमे प्रत्येक कविताप्रेमी जातिबंधुने आ अपूर्वरचना मंगाववा आग्रहभरी भलामण करीअे छीअे.

('चारण बंधु' से साभार, वर्ष ५, अंक ६, सं० २००१)

•••

आधुनिक उद्योग और व्यवसाय की दुनिया

• ब्रजभूषणलाल शर्मा

इस पुस्तक में संसार के सत्रह बड़े उद्योगपतियों और अर्थशास्त्रियों का सामान्य परिचय देते हुए उनके जीवन के महान् कार्यों, सेवाओं तथा व्यक्तित्व पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। ये लेख गवेषणापूर्ण तथा विचारात्मक हैं, जिन पर प्रगाढ़ अध्ययन की छाप पड़ी हुई है। मानव अपनी अभूतपूर्व प्रतिभा एवं साहसिक वृत्ति से, अपनी महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण करते हुए देश को कहाँ तक समृद्ध और सुखी बना सकता है, इस तथ्य को लेखक ने उदाहरणों सहित मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। टाटा, बिड़ला एवं फोर्ड परिवार महान् उद्योगपति होते हुए कितने चरित्रवान्, स्वदेशाभिमानी, अनुशासन-प्रिय तथा उद्योगी हैं और अपने अर्जित धन को साध्य नहीं, साधन मान कर सदैव बहुत से उपयोगी कार्यों में लगाते रहते हैं। लेखक का मूल उद्देश्य प्रस्तुत पुस्तक में वर्णित जीवनियों द्वारा इस भ्रान्त

धारणा का उन्मूलन करना है कि धनिकवर्ग अपने सुख-भोग के लिए ही अतुल धनराशि का उपार्जन करता है। लेखक ने नाना साहब थोपटे और केले वाला करोड़पति के उदाहरणों से यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार एक निर्धन व्यक्ति दुर्दम्य महत्त्वाकांक्षा, नवीन दृष्टि तथा अवसर आते ही उससे लाभ उठाने की तत्परता से अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच सकता है। राष्ट्र की वास्तविक सम्पत्ति उसकी तरुण पीढ़ी होती है। इस प्रकार के उदाहरण देश के नवयुवकों को नैतिक और चारित्रिक पतन के गर्त में गिरने से बचा कर अध्यवसाय और सच्चरित्रता का पाठ पढ़ाते हैं। डॉ० सहल ने अपनी पुस्तक के आदर्श व्यक्तियों का चयन बहुत सोच समझकर किया है। इस प्रकार की पुस्तकें प्रत्येक नवयुवक के हाथों में पहुँचनी चाहिए तथा ऐसी प्रेरणात्मक कृतियों को स्कूल और कॉलेजों के पाठ्यक्रम में उचित स्थान मिलना चाहिए।

पुस्तक की भाषा सरल, सुबोध और विषय के अनुरूप है। संस्कृत के तत्सम शब्द अधिक मात्रा में पाये जाते हैं, परन्तु लेखक ने आवश्यकतानुसार अंग्रेजी और उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग करने में भी संकोच नहीं किया है। वर्णन-शैली ठोस, संक्षिप्त और प्रभावशाली है। इनके लेखों में विषय-प्रतिपादन और भावों को प्रकट करने की अपूर्व क्षमता दृष्टिगोचर होती है। डॉ० सहल की साहित्य-सेवा वास्तव में सराहनीय है।

(मरु-भारती से साभार, अप्रेल १९५६)

•••

वाद-समीक्षा

• अमिताभ

'वाद-समीक्षा' में छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद तथा क्रोचे के अभिव्यंजना वाद पर लिखे हुए डॉ० सहल के चार निबन्ध हैं। आज तो उक्त विषयों पर विपुल सामग्री उपलब्ध है किन्तु जिस जमाने में ये निबन्ध लिखे गए थे, उस युग में अच्छे-अच्छे समीक्षक भी छायावाद और रहस्यवाद में कभी-कभी भेद न करके पाठकों में विचार-विभ्रम उत्पन्न कर देते थे। उस युग की समीक्षा-धारा को देखते हुए, डॉ० सहल के इन निबन्धों का विशेष महत्त्व है। विचारों की सुस्पष्टता और शैली की जैसी स्वच्छता इन निबन्धों में देखने को मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। क्रोचे का

अभिव्यंजनावाद तो एक दुर्गम और दुरूह विषय है किन्तु लेखक को उस विषय के स्पष्टीकरण में भी पर्याप्त सफलता मिली है ।

•••

मूल्यांकन

• डॉ० कुमारप्रिय

प्रस्तुत पुस्तक दो खण्डों में विभक्त है—१. हिन्दी खण्ड और २. राजस्थानी खण्ड। हिन्दी खण्ड में २२ निबन्ध हैं तथा राजस्थानी खण्ड में २७ विषयों का आकलन है।

हिन्दी खण्ड में नियतिवाद से संबद्ध कई निबन्ध हैं जिनका विशेष महत्त्व है। अधिकांश हिन्दी के समीक्षक और पाठक प्रसाद के नियतिवाद को भाग्यवाद का प्रकारान्तर मान कर चलते थे किन्तु मूल्यांकन में संगृहीत नियतिविषयक निबन्धों को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद का नियतिवाद भाग्यवाद नहीं है! नियतिवाद का यथार्थ स्वरूप क्या है, इसके सम्बंध में विचार-प्रेरक सामग्री डॉ० सहल के निबन्धों में उपलब्ध है।

राजस्थानी खण्ड जैसे मूल्यांकन का एक खण्ड है, उसी प्रकार राजस्थानी साहित्य का अनुशीलन डॉ० सहल के व्यक्तित्व का भी एक अभिन्न अंग बन गया है। इस खण्ड में दोहे, लोक-गीत, कहावतें, पवाड़े, पर्व, आख्यान-परम्परा आदि अनेक विषयों पर महत्त्वपूर्ण निबन्ध हैं। आख्यानों के सम्बंध में डॉ० सहल का निम्नलिखित निष्कर्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

"मेरा विश्वास है कि वैदिक युग की आख्यान-परम्परा भारत के सभी राज्यों की अपेक्षा राजस्थान मे सर्वाधिक सुरक्षित रही है और वह आज भी अक्षुण्ण है।"

डॉ० सहल पहले विद्वान् हैं जिन्होंने राजस्थानी आख्यानों की परम्परा का स्रोत वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों में ढूँढ़ा।

•••

"वास्तव में आपकी 'अनुसन्धान और आलोचना' पुस्तक शोधार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। लोक-साहित्य और राजस्थानी-साहित्य के अनुसंधित्सु के लिए तो आपकी पुस्तक नितान्त अनिवार्य है। इस पुस्तक में आपकी वैज्ञानिक शोध-दृष्टि अभिव्यक्त हुई है और वह प्रौढ़ शैली में लिखी गई है। उसके सभी लेख विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने में समर्थ होंगे। आपको हार्दिक बधाई।"

—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

डॉ. कन्हैयालाल सहल

व्यक्तित्व

और

कृतित्व



परिशिष्ट

क ख ग

परिशिष्ट (क)

पत्रावली

Phone : 40084–85

BIRLA HOUSE
NEW DELHI
26-10-50

प्रिय सहल,

तुम्हारा पत्र मिला था। उसके बाद पुस्तक भी मिल गई। तुम्हारी कोई भी कृति सामने आती है तो मैं इधर-उधर से पढ़ लेता हूँ। पर "समीक्षायण" को तो काफी पढ़ गया। तुम बहुपाठी हो, बहुश्रुत हो और तुमने विद्या का संग्रह काफी कर लिया है। इसलिए सोचने और लिखने के लिए तुम्हारे पास काफी मसाला हो गया है। यह संतोषप्रद बात है। इसलिए यदि समीक्षा करता हूँ तो सहायता देने के लिए।

मुझे लगता है कि तुम्हारी पुस्तक में समीक्षा कम है और अनुमोदन अधिक। हमारे देश के पण्डितों की शैली ही ऐसी बन गई है कि पुरानी बातों का हम श्रद्धा से अनुमोदन ही करते हैं और समीक्षा करने से डरते हैं।

मेरा खयाल है कि हमारी सारी फिलॉस्फी "नेति नेति" की भित्ति पर रची हुई है। जब हम कहते हैं "यह भी नहीं, यह भी नहीं" तो सत्य की खोज में हम आगे बढ़ते ही जाते हैं। यदि हम कहें "सेति सेति" तो उसके बाद ढूंढ़ने की आवश्यकता कहाँ रही ? भावुकता ज्यादा आ गई है और असलियत से हम दूर भागते हैं। तो फिर Dogmatic होकर श्रद्धा से "बस यही है" कह कर परिश्रम से मुँह मोड़ लेते हैं। यह प्रगति का घातक है और चिन्ता की चीज़ है।

तुमने विद्या का इतना परिग्रह किया तो कुछ स्वतन्त्र निर्णय पर आना चाहिए। अगर सरदार पूर्णसिंह जमीन पर लोट रहे थे, कोट के बटन तोड़ दिये थे, साफा दूर पड़ा था, तो यह लक्षण मृगी के भी हो सकते हैं, यों तो वह शख्स Neurotic भी हो सकता है। हम बुद्धिवाद को छोड़कर हर चीज़ का अनुमोदन ही करें, इसके क्या माने। बुद्धि छोड़ो तो विद्या का दरवाजा भी बंद करो। मैं कविता का भक्त हूं पर तुलसीदास और कालिदास का पठन करने के बाद तथ्यहीन कविता को कविता भी कैसे कहें ?

Dogmatic होना यह भी 'नेति नेति' कहना ही है। इसलिए अन्वेषक के लिए सुकरात का मार्ग अच्छा है। प्रश्न पूछते-पूछते उसी में से सत्य निकल आता है और निचोड़ प्रश्नकर्ता को नहीं, पर उत्तरदाता को निकालना पड़ता है।

तुमने कहा है कि शिक्षित और अशिक्षित के बीच में पिछले २०० साल में एक दीवार बन गई है। यह आजकल का नया नारा है। यह दीवार तो पहले भी थी और भविष्य में भी रहेगी। शिक्षित और अशिक्षित में फर्क हमेशा रहेगा और होना भी चाहिए। क्या वसिष्ठ और निषाद में फर्क नहीं था ? आज भी स्टालिन गाँव-गली का साधारण मनुष्य थोड़ा ही है ?

हम जब रोटी खाने जाते हैं, तब रहस्यवाद की बात नहीं करते। करें तो डूब जायें। "आह है, उन्माद है, उत्पात है" इसमें मैं कोई आकर्षण नहीं देखता। कुछ तथ्य तो मिले। तुलसीदास और कालिदास क्या इस तरह लिखते थे ?

लिखने का तात्पर्य यह नहीं है कि मैं तुम्हारे उत्साह को मंद करूं। तुम्हारे पास सामग्री और दिमाग है तो फिर क्यों नहीं समीक्षा करके स्वतन्त्र और मौलिक विचारों को सामने रखो। इस देश में पिष्टपेषण बहुत हुआ है। भावुकता ने असलियत को ढांक लिया। नतीजा यह हुआ कि हमने "हृद् वीणा" के तार तोड़े। और उसमें झूठी मस्ती का स्वांग बनाया।

तुमने जो लिखा है, वह अच्छा है। लिखते जाओ। मेरी समालोचना से घबराना नहीं, क्योंकि उसके पीछे उद्देश्य अच्छा है।

तुम्हारा
घनश्यामदास

श्री कन्हैयालाल सहल
पिलानी

कलकत्ता
२६-३-४६

चि० प्रिय कन्हैयालाल,

तुम्हारी भेजी हुई 'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद' नाम की पुस्तक मिली। तुम्हारे प्रति मेरे मन में जो आकर्षण है तथा तुम्हारी लिखी हुई चीजें पढ़ने के बाद तुम्हारे ज्ञान के प्रति जो आदर तथा स्नेह मन में पैदा हो गया है, उसके कारण पुस्तक मिलते ही एक श्वास में यानी बिलकुल एक मन से भूमिका पढ़ गया। बाद में बीच-बीच से देखी भी, पूरी पढ़ने का विचार है। तुमने संस्कृति के विषय में बहुत सुन्दर लिखा है। संस्कृति और सभ्यता के बीच का भेद बहुत अच्छी तरह बताया गया है। राजस्थान के इतिहास की, राजस्थान के साहित्य की अपनी महिमा है और उस साहित्य में वीर तथा विरह, दो ही मुख्य हैं। राजस्थान के स्त्री-पुरुषों को इन दोनों की ही ज्यादा अनुभूतियां होती थीं और उन्होंने उन अनुभूतियों की बहुत खूबसूरत अभिव्यंजना की है। इस साहित्य को पढ़ कर पाठक साहित्य का रस ले सकता है और मैं उस पर मुग्ध भी हूं तो भी न मालूम, क्या बात है कि रामचरितमानस का अयोध्या काण्ड जितना अच्छा लगता है, उतना लंका काण्ड नहीं लगता। मैं यह भी कहूं तो कह सकता हूं कि मुझे लंका काण्ड अच्छा नहीं लगता। मुझे वीरता अच्छी लगती है—वीरता मानव के ऊंचेपन की द्योतक है पर युद्ध पशुता का—उसे वीरता नहीं कहा जाना चाहिए.....................।

तुमको पत्र लिखने बैठा तो चि० लिखा गया, उसे काट कर 'प्रिय' किया। भाई रामकुमारजी चले गये। आज से ३२ वर्ष पहले मेरा उनका सम्बन्ध जुड़ा था। संयोग से इन वर्षों में हम लोग प्रायः नहीं मिले या कम मिले पर मैं उनको भूल नहीं सकता। मैं लोगों के सामने उनका उदाहरण दिया करता हूं कि उन्होंने पिता का कर्तव्य किस तरह पालन किया। नवलगढ़ में ही नहीं, शेखावाटी में और मुझे तो मालूम नहीं, पर ऐसा लगता है कि मारवाड़ी समाज में अपने लड़कों को इतनी ज्यादा और ऊंची शिक्षा दिलाने वाले वे ही हों। नौरंगरायजी खेतान ने अपने लड़कों को ऊंची शिक्षा दिलाई थी और मारवाड़ी समाज का खेतान-घराना पहला शिक्षित घराना है पर वे भी अपने सब लड़कों को तुम लोगों की जैसी, जितनी शिक्षा नहीं दिला सके। पहले-पहल मोहन ने मैट्रिक पास किया, तब वे कितने खुश हुए थे। अपने नवलगढ़ में शायद मोहन और रामनिरंजन मिश्र ने ही सबसे पहले इन्ट्रेंस की परीक्षा दी। जो हो, वे एक विशेष आदमी थे। हम लोग रात में दो-दो बजे तक बातें किया करते थे। वे मुझ से बड़े थे पर दो-चार व ं ही बड़े रहे। फिर हम लोग दोस्ती में बराबर के जैसे हो गये--यों तो मैं उन्हें बड़ा मानता ही था।

तुम उनके बारे में लिख सको तो लिखना चाहिए। उनके विचारों, कार्यों और भावों को तुम साहित्यिक रूप देकर वर्णन कर सकते हो। और तो क्या, तुम अच्छा लिखते हो। मुझे तुम्हारा लिखना अच्छा लगता है। मेरी निगाह में संत और कवि या लेखक ही समाज को ऐसी चीजें दे सकता है जो स्थायी होती हैं तथा समाज के धरातल को ऊँचा उठाती हैं—समाज के मानस का परिष्कार करती हैं। स्वर्गीय गुरुदेव की मुझ पर बहुत कृपा रही। मैंने उनकी कविता, उनकी अमृतमयी वाणी में सुनी, उनके गान सुने। उनके कितने अच्छे संस्मरण आज याद आने पर पुलकित कर देते हैं। शुद्ध साहित्य का सृजन समाज को बड़ी देन है।

तुम्हारा
(ह०) **सीताराम**

सब भाई—मोहन, मक्खन, नागर, बैजू, फूलचन्द सब अच्छे होंगे। सबके हालचाल लिखो तो अच्छा है। पत्र दो तो मेरी याद दिला देना।

सीताराम

१६, लार्ड सिन्हा रोड,
कलकत्ता-१६
५-६-६१

प्रिय श्री कन्हैयालाल,

तुम्हारा ता० २६-८-६१ का पत्र यथासमय मिला। 'राजस्थानी कहावतें' पुस्तक तो कई दिनों पहिले मिल चुकी थी। पुस्तक की पहुँच न लिखने का कारण यह हुआ कि और भी कुछ लिखना चाहता था पर वह यों ही टलता रहा। यह पुस्तक छपने के पहिले इसकी पांडुलिपि और योजना भाई भागीरथजी के पास मैंने देखी थी और हम दोनों ने बीसों बार इस बारे में बात की होगी। भागीरथजी ने कहावतों में थोड़ा बहुत रद्दोबदल तथा अनेक नई कहावतें तुम्हें लिख कर भेजी थीं। मैं समझता हूँ कि वह कुछ सहायक हुई होगी।

राजस्थानी साहित्य और खासकर कथा-साहित्य में तुम्हारा कार्य तथा ज्ञान मेरी निगाह में बहुत ही सराहनीय है और उससे मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती है।

इस पुस्तक में तुमने 'संस्कृत वाङ्मय और कहावतें—एक विहंगम दृष्टि' लिखा है; वह तो बहुत ही विद्वत्तापूर्ण लिखा है। इससे पुस्तक की उपयोगिता, कहावतों की महत्ता अपने आप प्रकट होती है। साथ ही राजस्थानी साहित्य से अपरिचित लोगों के लिए भी उसकी महत्ता बढ़ जाती है। तुम्हारे द्वारा हिन्दी-जगत् में राजस्थानी साहित्य का प्रचार और आदर बढ़ रहा है। राजस्थानी साहित्य की विशेषता सामने आ रही है। यह एक साहित्य की बड़ी सेवा है। हिन्दी जगत् में तुम्हारा स्थान अच्छा बनता जा रहा है और वह स्थायित्व प्राप्त कर रहा है। ये सब बातें मेरे लिए बहुत ही सुखद हैं।

"राजस्थानी कहावतें" पुस्तक में जिन कहावतों का संग्रह है, उनका सम्बन्ध खास कर शेखावाटी की बोली और शेखावाटी की कहावतों से ज्यादा है, इसलिए ये कहावतें अपनी और भी प्रिय लगती हैं। साथ ही बहुत परिचित भी। इन कहावतों को सुनने, समझने और बरतने का काम कम-अधिक रूप में पड़ता रहा है। इसलिए यह अधिक परिचित और अपनी लगती है। पुस्तक की छपाई, गेटअप और कवर पर चुनड़ी, ये सब बहुत ही अच्छे और लुभावने हैं।

आशा है, तुम और घर के सब लोग प्रसन्न हो। तुम्हारे साथ पत्र-व्यवहार कम होता है। पर जब भी पत्र-व्यवहार होता है तो मन में नाना तरह के विचार भाव और स्मृतियां जागती हैं। साथ रहने और बैठने का भी मौका नहीं ही मिलता। बच्चों को बहुत-बहुत प्यार। उन लोगों से जान-पहिचान तो कुछ भी नहीं है पर मन की पहचान तो है ही और वह मेरे तक तो एक तरह से कौटुम्बिक-सा ही है। आदरणीय श्री पांडेजी को नमस्कार कहना।

'मरु भारती' बहुत सुन्दर निकलती है। उसके द्वारा राजस्थानी साहित्य की ही नहीं, हिन्दी की ही नहीं, भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि हो रही है। और कुछ अच्छी और अलभ्य चीजों का संग्रह और प्रकाशन भी।

"सुलतान निहालदे" हम लोगों ने बचपन में जोगियों से सुनी है। वर्षा ऋतु के सावन-भादों मास में जब राजस्थान के जोहड़े भर जाते थे और चारों ओर हरीतिमा का नया दृश्य बिछ जाता था, यह राजस्थानियों के लिए बहुत ही लुभावना होता था। उस समय जोहड़ों के किनारों पर गोठ-घुघरियां होती थीं तो इन जोगियों को बुलाकर निहालदे रात के ११-१२ बजे तक उन निस्तब्ध रातों में बहुत दूर-दूर तक सुनायी देती थी, तब एक अजीब समां बंध जाता था और मानसिक आह्लाद और एक ऐसा भाव उत्पन्न होता था जिसको सहज ही व्यक्त नहीं किया जा सकता।

अपने गांव नवलगढ़ में सुरजा नाम का एक जोगी था जिसका गला बहुत मीठा था। उसकी आवाज बहुत बारीक और दूर तक सुनायी देती थी। इन बरसात के दो-तीन महीनों में उसकी पूछ बहुत बढ़ जाती थी। सेठों-रइसों के अलावा शेखावाटी के ठाकुरों और राजाओं के बुलावे उसके लिए आते। और वह बेचारा किस-किस को राजी रखे; यह सवाल उसके सामने होता। हम लोगों ने उससे 'निहालदे' सुनी है। और उस बचपन की स्मृति में भी सुलतान के चरित्र की महत्ता, सत्यवादिता, परदुःख कातरता की जो छाप पड़ी, वह अमिट है। मरु भारती की 'सुलतान निहालदे' पढ़कर वे विस्मृत स्मृतियां ताजा हो जाती हैं।

पत्र बहुत लम्बा हो गया, होता जा रहा है। इसलिए समाप्त कर रहा हूँ। तुम्हारे साथ बैठने की या तुम्हें साथ बैठाने की इच्छा रहते हुए भी, ऐसा लगता है कि शायद यह होने वाली बात नहीं है। बस।

शुभेच्छु

सीताराम सेकसरिया

Phones : { Office : 22–6543
Resi. : 334094

21, Baranashi Ghose Street
CALCUTTA–7
10–5–56

प्रिय डॉ० सहल,

कुछ दिनों से आपका कोई शुभ समाचार प्राप्त नहीं हुआ। मेरे पास हाल में 'मरु भारती' की वी० पी० पी० आई थी, उसे मैंने ले लिया था और उसे पढ़कर संतोष हुआ। आप लोगों का यह प्रयत्न स्तुत्य है।

आज एक विशेष आवश्यक विषय पर आपको यह पत्र लिखने की प्रेरणा हुई। मुझे यह जानकर बड़ा कष्ट होता है कि राजस्थानी भाषा को हमारी केन्द्रीय सरकार ने अब तक इसे अपना योग्य स्थान नहीं दिया जबकि इसका साहित्य किसी भी प्रान्तीय भाषा से कम तो है ही नहीं अपितु कुछ अंशों में बढ़कर ही है। हाल में मैंने 'सुन्दर-ग्रन्थावली' में मेरी प्रार्थना पर लिखी हुई विश्वकवि रवीन्द्रनाथ की भूमिका को देखा। उन्होंने इसे बड़ा ही गौरवशाली स्थान दिया है। डॉ० ग्रियर्सन और सर आशुतोष मुखर्जी ने भी इसका बड़ा आदर किया है।

वर्तमान उपेक्षा का कारण मेरी समझ में तो यही हो सकता है कि इस

भाषा का कोई (Standard) अभी तक नहीं बना और न इसके लिए कोई जोरदार मांग ही पेश की गयी।

आप राजस्थान के साहित्यकारों में एक मुख्य स्थान रखते हैं, अतः क्या आपका कभी इस ओर ध्यान गया कि इस भाषा को इसका उचित स्थान दिलाया जाए ? साथ-साथ आप पूरे राजस्थान के लिए किस भाषा को (Standard) भाषा मानते हैं, यह भी मुझे लिखें।

आशा है, इस सम्बन्ध में आप प्रमुख साहित्यकारों और साहित्य-प्रेमियों से परामर्श कर कोई मार्ग निर्धारित करेंगे।

आशा है, सानन्द होंगे।

आपका

रामदेव चोखानी

Phones : { Office : 22-6543
Resi. : 334094

ता० १६-१०-५७
२१, बारानासी घोष स्ट्रीट,
कलकत्ता-७

श्रद्धेय डॉ० सहल,

"मरु भारती" की अक्टूबर संख्या हाल ही में प्राप्त हुई और उसे देखकर आपको बहुत दिनों के पश्चात् यह बधाई-सूचक पत्र लिखने की इच्छा हुई। इधर कुछ समय से मेरी एक आंख में आपरेशन हुआ था। डॉक्टरों ने लिखना-पढ़ना निषेध कर रखा है। पर उक्त संख्या के कुछ लेखों को पढ़कर पत्र लिखे बिना नहीं रह सका। आपका राजस्थानी लोक-कथाओं में सांस्कृतिक चित्रण लेख मुझे बहुत ही अच्छा और स्फूर्तिदायक प्रतीत हुआ। आपने वास्तव में उपस्थित विषय में जो कुछ लिखा है, वह अक्षरशः सत्य है।

अब आवश्यकता इस बात की है कि हम राजस्थान-निवासी और प्रवासी अपनी संस्कृति को भली प्रकार समझें और उसके अनुकूल आचरण करें। केवल (academic) तौर पर इनकी चर्चा होने से काम नहीं चलेगा। अब तो वास्तविकता का जमाना है, अतः पिलानी जैसे स्थान से ही इसका श्रीगणेश होना चाहिए। हमारे प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने भी हाल में जापान में जो इस विषय में जापानियों को कहा है, उसको हमें अपने यहाँ कार्य में परिणत करना होगा। खेद

है कि हम लोग अपनी भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए कार्य रूप में विशेष प्रगति नहीं कर रहे हैं। भारतवर्ष से अंग्रेज विदा हो गये पर आज भी अंग्रेजी सभ्यता का बोलबाला है। हमारी शिक्षा-प्रणाली ही ऐसी बन गयी है कि हमें अपनी संस्कृति के स्थान में दूसरों की नकल करने में ही अधिक आनन्द मिलता है। जिन बातों का आपके लेख में उल्लेख है—उनको कार्य में परिणत करने के लिए कितने छात्र तैयार हैं, यह समझने की आवश्यकता है। आज हमारी वीर-गाथा और सती-महिमा के उदाहरण विरल होते जाते हैं।

इस विषय में मुझे एक बात विशेष रूप से खटक रही है जो यहाँ लिख देना आवश्यक समझता हूं। आप जानते हैं कि भारतीय संस्कृति के अनुसार कन्याओं का विवाह-संस्कार पिता-माता के लिए एक धार्मिक कर्त्तव्य समझा गया है पर हमारी दूषित दहेज-प्रथा इसे हमें निभाने नहीं देती। कृपया बता सकेंगे कि इस विषय में विद्या विहार, पिलानी के छात्र-छात्राओं को क्या प्रेरणा दी जाती है? इसी प्रकार और भी बहुत-सी बातें हैं जिन पर विचार करना नितान्त आवश्यक है।

यों तो राजस्थान भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए भारत के अन्यान्य प्रान्तों में सदा अग्रणी रहा पर आज उसे लोग पिछड़ा हुआ प्रान्त मानते हैं क्योंकि राजस्थान के लोगों में जितनी कुरीतियां व रूढ़ियां पाई जाती हैं, शायद ही दूसरे प्रान्तों में दिखायी पड़ती हों।

अस्तु। पत्र लम्बा हो चुका है, इसलिए अधिक नहीं लिखूंगा जबकि आप जैसे विद्वान और सहृदय लोगों के लिए इशारा ही काफी है। त्रुटि के लिए क्षमा करें तथा अपने बहुमूल्य विचारों से अवगत कराने की कृपा करें। श्रद्धेय पांडेजी और गौड़जी को मेरे प्रणाम जनावें।

आशा है, आप मजे में हैं। कृपा तो आपकी है ही।

आपका प्रेमी

रामदेव चोखानी

डॉ० कन्हैयालाल सहल

पिलानी

B. P. Kedia
PRESIDENT
Jay Shree Tea & Industries Ltd.,

Phone [Off. 44-8951
Res. 44-7755

INDUSTRY HOUSE
15th. FLOOR
10. CAMAC STREET
CALCUTTA-17

23/5/69

आदरणीय सहलजी,

'मरु-भारती' के विषय में मेरा पत्र मिला होगा। राजस्थानी भाषा, ख्याल, गीत, दूहे, साखियां, वाणी और कहावतों में मुझे बचपन से ही बहुत रुचि रही है। मेरे स्व० पिताजी को भी इस विषय में विशेष रुचि थी तथा वे इन बातों के बहुत अच्छे ज्ञाता थे।

यह तो विदित नहीं होता कि इनको किसने, कब तथा किन परिस्थितियों में बनाया था लेकिन यह स्पष्ट है कि जिन लोगों ने इन्हें बनाया था, वे कोई खास विद्वान या भाषाविज्ञ नहीं थे। फिर भी, ऐसा लगता है कि उन्होंने जो कुछ कहा, वह उनकी अन्तरात्मा की आवाज थी, हृदय के उद्गार थे जो इतने पुराने होने पर भी उतने ही नवीन तथा प्रभावपूर्ण हैं तथा कालान्तर में भी समय की गर्द से उनके अस्तित्व के धूमिल होने की आशंका नहीं है। न जाने, कवि राजिया को दुनिया की किस घोर स्वार्थपरता से पाला पड़ा था कि वह कह उठा—'मतलब की मनवार जगत जिमावै चूरमो, बिन मतलब मनवार, कोइ न पूछै राजिया' कितना कटु सत्य है! स्वार्थ मानव की मूलभूत स्वाभाविक प्रवृत्ति है जो हर मनुष्य में विद्यमान रहती है, स्वरूप उसका चाहे कैसा भी रहे। यहां तक कि वैरागी को भी मोक्ष की चाह रहती है, लालसा रहती है, इसलिए मैं समझता हूँ, वह भी स्वार्थ से दूर नहीं है बशर्ते, उसे परिमार्जित स्वार्थ कहिए। कहने का तात्पर्य है कि उन्होंने जो कुछ कहा, वह सदा-सर्वदा रहने वाला विश्वव्यापी सत्य (Universal Truth) है जो सृष्टि के कायम रहने तक जीवित रहेगा।

साखियाँ, वाणी व ख्याल तो हिन्दुस्तान में प्रायः समाप्त हो ही चुके हैं और मैं समझता हूँ, यदि गति रही तो दो चार पीढ़ी बाद राजस्थानी भाषा, गीत और कहावतें आदि भी संग्रहालयों में ही उपलब्ध हो सकेंगी। क्योंकि राजस्थानियों में भी प्रायः अंग्रेजी मिश्रित खिचड़ी हिन्दी बोलना फैशन बन गया है। नवजात शिशु को मां की जगह मम्मी कहना सिखाया जाता है जबकि वे यह भूल जाते हैं कि मां शब्द में कितना ममत्व भरा है! गीत अभी भी थोड़े बहुत बचे हैं जो अब भी मुंडन, मंगनी

व विवाहादि अवसरों पर स्त्रियों द्वारा सामूहिक रूप से गाये जाते हैं लेकिन आजकल नववधुओं में इनके प्रति तनिक भी रुचि, चाव व उत्साह नहीं देखा जाता है, इसलिए ये भी लुप्त हो जायेंगे। अतः इन पर कुछ काम होना चाहिए।

राजस्थानी के कथन, कहावतें व लोकोक्तियाँ आदि ज्ञान की मोटी पोथियों में लिखकर सजाने की चीज नहीं हैं, इनका व्यवहार-पक्ष भी इतना ही सबल है। मैंने अपने दैनिक जीवन में इनका खुलकर प्रयोग किया है तथा इनकी पूरी उपयोगिता उठाई है। मेरा अनुभव है कि अपने कथन में किसी कहावत या लोकोक्ति का पुट देने से बात की अच्छी पुष्टि व स्पष्टीकरण होता है, कथन में वजन हो जाता है जो निश्चित रूप से श्रोता को प्रभावित करता है। तर्क अकाट्य बन जाता है, विपक्षी को निरुत्तर करने में ये व्यवहारकुशल वाक्पटु का रामबाण सिद्ध होती हैं।

इन छोटी बातों में जो शिक्षा भरी है, वह शायद ही किसी स्कूल, कालेज में दी जाती होगी। आपकी दोनों पुस्तकें पढ़ने से कई कहावतों का स्पष्टीकरण हुआ है तथा कई नई चीजें सीखी हैं।

शुभ कामनाओं के साथ,

आपका

बी० पी० केडिया

डॉ० के० एल० सहल

सेक्रेटरी, बी० ई० टी०, पिलानी।

॥ श्री दधिमती जयति ॥

Pt. Govind Narayan Sharma
ASOPA B. A. M.R.A.S
Vidya-bhushan, Vidya nidhi, Sahitya-bhooshan,
Dadhimati-diwan, Retd. Asstt. Supdt. of customs &
Honorary Magistrate
Ex-Editor, Dadhimati."

Govind Bhawan
Jodhpur 20-9-1944

श्रीमान् मान्यवर महोदय–शुभाशीर्वाद—

आपकी भेजी हुई "चौबोली" की पुस्तिका गत ता० ९–२–४४ को मिली थी जिसके आलोचनात्मक दो शब्द लिख कर पीछे भेजने का मैंने आपकी सेवा में

निवेदन किया था। कार्यवश में उस वचन को आज तक पूर्ण नहीं कर सका जिसके लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ। नीचे मेरे उद्‌गार रूप दो शब्द लिखकर भेजता हूं।

आजकल कतिपय लोग राजस्थानी भाषा का सर्वमान्य स्वरूप निश्चित करना और फिर उस निश्चित स्वरूप के अनुसार नये साहित्य की रचना करना, कहा करते हैं। मैं इसे नितान्त अनुपयुक्त व अनावश्यक समझता हूँ। इस असमञ्जस में पड़ जाने से कार्यारम्भ करना ही कठिन हो जाएगा, अतः इस झञ्झट में न पड़कर मारवाड़ी व राजस्थानी भाषा की उन्नति का प्रयत्न प्रारम्भ किया जावे। राजस्थानी भाषा को, क्या किसी भी भाषा को भी, निश्चित स्वरूप नहीं दिया जा सकता। भाषा सदा परिवर्तनशील व प्रगतिशील है। वह अपने आप अपना निश्चित स्वरूप बना लेगी। मारवाड़ी व राजस्थानी भाषा सब राजपूताना व मालवा के निवासियों के समझ में आती है। वक्ता का भाव समझने में श्रोता को अथवा लेखक का भाव समझने में पाठक को कोई बाधा, अड़चन नहीं आती। मारवाड़ी वा राजस्थानी का ऐसा नमूना "चोबोली" नाम की पुस्तिका है जिसमें चार चुनी हुई कहानियाँ प्रकाशित की गयी हैं। प्रत्येक कहानी का ध्येय एक निश्चित तत्त्व या (moral) रखा गया है जिसको सिद्ध करने पर बराबर व निरन्तर लक्ष्य रखा गया है। भाषा प्राचीन, परन्तु प्राञ्जल है और सरलता से व सहज में समझ में आने वाली है। यद्यपि इन कहानियाँ में ऐसी बातों का कहीं-कहीं उल्लेख आ गया है जो वास्तविक अनुभव में नहीं आती, तथापि उनको छोड़ दिया जावे तो भी कहानी का सार निकालने में कोई हानि की सम्भावना नहीं होती। सम्पादक-युगल ने कहानियों के नीचे लकीर देकर उनका भावानुवाद हिन्दीज्ञों की सहायता के लिए देने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है, तथापि मारवाड़ियों वा राजस्थानियों को उसकी आवश्यकता नहीं है, ऐसी मेरी सम्मति है।

भवदीय—गोविन्द

क. क्या मेरी रचनात्मक योजना पर आपकी समिति ने अब तक कुछ विचार कर राजस्थानी साहित्य की खोज का कुछ कार्यारम्भ किया? कृपा कर सूचित कीजियेगा। यहाँ योग्य कार्य व सेवा लिखें। डिङ्गलकोष को छपाने के विषय में भी बिड़लाजी से बातचीत हुई?

चिरगाँव (झाँसी)
१४-११-१९५०

प्रियवर सहलजी,

वन्दे! पूज्य भैया के नाम लिखे गये कृपा-पत्र के साथ मुझे अपने नाम लिखा हुआ आपका कृपा-कार्ड भी मिल गया। धन्यवाद।

पूज्य भैया बनारस गये हैं। आपके पत्र की सूचना उन्हें दे रहा हूँ। 'नवम सर्ग के काव्य वैभव' की रेडियो वाली आलोचना उस दिन संयोग से अचानक ही हम लोगों ने सुनली थी।

आप अपने निबन्ध-संग्रह में दो शब्द मुझ से लिखवाना चाहते हैं। इसे मैं अपने लिए सम्मान की बात समझता हूँ। मैं तो आपकी रचनाओं का नम्र पाठक हूँ। उन्हें इसलिए पढ़ता हूँ कि पढ़ने की उम्र थी, तब पढ़ नहीं सका तो अब इसी तरह पढ़ लूँ। आपका ज्ञान हृदय रस के निर्झर में उतर कर अपने को हीन अनुभव नहीं करता। वह यह असर नहीं छोड़ना चाहता कि अपने से बहुत बड़े से किसी ने बात की है। इसीलिए मैं उससे निभ जाता हूँ। पर आपके संग्रह पर दो शब्द लिखूँ तो क्या आपके प्रति न्याय कर सकूँगा ? इधर मेरा स्वास्थ्य बहुत गिर गया है। रात में श्वास के कारण जो कष्ट प्रतिदिन उठाना पड़ता है, उसकी स्मृति भी कष्टकर होती है। फिर भी मुझे प्रसन्नता होगी, यदि आपकी आज्ञा का पालन करने योग्य मेरी स्थिति रही। आपके संग्रह के छपे फार्मों की प्रतीक्षा करता रहूँगा और कुछ लिख सका तो लिखने से जी न चुराऊँगा। असमर्थ होने पर तो आप क्षमा कर ही देंगे। यह भरोसा मुझे है।

आशा है, आप सानन्द हैं।

सादर—

आपका

सियारामशरण

चिरगाँव (झाँसी)

२६–५–१९५६

प्रिय सहलजी,

'मरु भारती' देख कर जो विचार आये, उन्हें अलग से लिख कर इस पत्र के साथ भेज रहा हूँ।

कई दिनों से एक बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता था। अभी चार छः दिन पहले 'वीणा' में आपका एक लेख 'हिन्दी साहित्य के नये माध्यम' पढ़ा था। आपने अपने छोटे से लेख में हिन्दी के इतने कवि, उपन्यासकार (मनोवैज्ञानिक, मार्क्सवादी और ऐतिहासिक सब प्रकार के), कहानी-लेखक, आत्मकथाकार नाटककार, रेखाचित्रकार, नाट्यरूपककार, एकांकी रचयिता आदिकों को स्मरण किया है कि आश्चर्य होता है। जिन लेखकों की चर्चा आपने की है, वे विशिष्ट और

सुप्रशंसित हैं। पर उपर्युक्तों में से अधिकांश की प्रशंसा उनकी उस शैली और भावना के कारण की गई जान पड़ती है जिसे हमारे लेखकों ने बाहर के मनीषियों से लिया है। अच्छी वस्तु कहीं की हो, अच्छी लगती है। पर क्या ऐसी कोई अच्छी विचार-धारा इस देश में इधर तीस-चालीस बरस में प्रवाहित नहीं हुई जिसे हमारे समर्थ साहित्यकारों ने अपनी प्रतिभा से गतिमान किया हो? रवीन्द्रनाथ मेरे विचार में भारतीय भावधारा के कारण ही विदेशों में अपनाये गये थे। इधर गांधीजी की विचार-धारा भी कम महत्त्व की नहीं रही। जवाहरलाल उसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित कर भी रहे हैं। विनोबा का कार्य तो और भी आगे का है। ये विचार-धाराएं क्या हमारे साहित्यिकों को कहीं भी स्पर्श नहीं कर सकीं? मैं जितने आलोचनात्मक निबन्ध देखता हूँ, उनसे इस संबंध में नकारात्मक ही उत्तर मिलता है। मेरा विचार है, इन आलोचनाओं के कारण नया लेखक इसी बने-बनाये सुप्रशंसित पथ पर बढ़ने की प्रेरणा पा रहा है।

मैं सोचता हूँ, यह मेरा ऐसा प्रश्न है जिसका अर्थ कुछ दूसरा लगाया जा सकता है। मैंने अपने साहित्य में गाँधीजी को समझने का प्रयत्न किया है और इन आलोचनाओं में मेरी किसी कृति का उल्लेख नहीं होता तो मेरे लिखने का उद्देश्य यह मान लिया जा सकता है कि मैं अपनी चर्चा चाहता हूँ। मैं अपनी चर्चा चाहूँ तो इसे स्वीकार करने में मुझे लज्जा नहीं होनी चाहिए। पर यहां मेरा वह उद्देश्य नहीं है। अभी हाल में मैंने प्रभाकर परीक्षा के लिए स्वीकृत एक हिन्दी साहित्य के इतिहास में पढ़ा है कि गाँधीवादी होकर भी मैं अपने उपन्यासों में अहिंसा, सत्य और अस्तेय को भुला देता हूँ। एक अन्य सुप्रतिष्ठित कवि ने 'हिन्दी में गांधीवादी साहित्य' के नाम से एक रेडियो वार्ता प्रसारित की थी, उसमें बीसियों नाम थे, पर मेरा नाम नहीं था। इसलिए मैं माने लेता हूँ कि या तो मेरे साहित्य में कोई बहुत बड़ी कसर है या अभी इसके उपयुक्त समय ही नहीं है। और आपका स्नेह तो मैं जानता हूँ। आप जान बूझ कर मुझे नहीं भुला सकते। मैं तो आपसे इतना चाहता हूँ कि आप जैसे विद्वान् यह भी विवेचित करें कि भारतवर्ष में गांधीजी की जो ध्वनि आज के प्रशासन-सूत्र से भी दूर-दूर तक पहुँच रही है, क्यों वह हमारे आज के हिन्दी साहित्य में किसी समर्थ साहित्यकार के हृदय को नहीं छू सकी।

आशा है, मेरी धृष्टता के लिए आप मुझे क्षमा करेंगे।

आपका

सियारामशरण गुप्त

२१ कचहरी रोड,
दार्जिलिंग (भारत)
१२-८-६०

प्रिय श्री सहलजी,

'राजस्थानी कहावतें' द्वारा लोक साहित्य में अपूर्व राजस्थानी की कहावतों का वैज्ञानिक विश्लेषण कर इस विषय में आपने मार्ग-दर्शन किया है। राजस्थानी लोक-कथाएँ और उसमें अन्य भाषा की कथाओं की तुलना बड़ी ज्ञानवर्द्धक है। यह तो वस्तुतः स्वयं एक जीवन-साध्य विषय है। 'नटो तो कहो मत' छोटी पुस्तिका अपने विषय का सुन्दर परिचय देती है।

'निहालदे' का भाग मुझे सिंहलद्वीप में मिल गया था। १९५० में जब उसकी कुछ पंक्तियाँ मुझे सुनने को मिलीं, तभी से कुछ मैं इसकी तरफ आकृष्ट हुआ। इसके अनेक टेपरिकार्डर होने चाहिए। यही क्यों, राजस्थान के अन्य पवाड़ों को भी प्रकाशित करने की आवश्यकता है। आपका ध्यान उधर गया है, यह शुभ शकुन है। मैं २८ अक्टूबर को सिंहलद्वीप लौटूँगा।

आपका
राहुल सांकृत्यायन

डॉ० कन्हैयालाल सहल,
बिड़ला आर्ट्स कॉलेज
पिलानी

भारत कला भवन
बनारस

८ जून, १९५१

प्रियवर सहलजी,

भाई मैथिलीशरणजी ने लिखा है कि आप प्रसादजी के नियतिवाद पर मेरे विचार जानना चाहते हैं, अतः उसके सम्बन्ध में जो कुछ मैं समझता हूँ, वह तो समयाभाव के कारण लिख नहीं सकूंगा, किन्तु एक विशेषज्ञ मित्र की व्याख्या भेज रहा हूँ जिससे मैं बहुत कुछ सहमत हूँ।

प्रसादजी का नियतिवाद न प्रारब्धवाद है और न शैवागमों का शास्त्रीय वाद-विशेष; वह प्रसाद-साहित्य की एक अनूठी देन है। उसे समझने के लिए पश्चिमी नाटककारों की 'डेस्टिनी' और शैवागमों की नियति, दोनों का स्वरूप ध्यान में रखना पड़ता है। प्रसाद का लीलामय आनन्द और आधुनिक युग का विजयवाद 'आप्टीमिजम' भी व्याख्या करने में सहायता देते हैं। अध्ययन की दृष्टि से प्रसादजी का नियतिवाद आधुनिक युग की साहित्यिक आवश्यकता है। उस पर विश्व-साहित्य और भारतीय परम्परा दोनों का प्रभाव है। उसमें अध्यात्म और इहलोकवाद, दोनों का समन्वय है। वह शास्त्र से ली हुई चिन्ताधारा नहीं है। उसमें कवि की शुद्ध अनुभूति है। वह प्रसादजी की अपनी विलक्षण वस्तु है जिसने आनंदवाद और कर्म-योग को पुष्ट किया है।

तुलनात्मक अध्ययन से ही नियति की व्याख्या स्पष्ट हो सकती है। पश्चिम में प्रायः नियति क्रूर देख पड़ती है। प्रसादजी की नियति पूर्ण लीलामयी है। वह करुणा और दया की मूर्ति है।

प्रसादजी के दो अमर वाक्य हैं : मनुष्य नियति का दास है, मनुष्य प्रकृति का अनुचर है।

आशा है, इन थोड़े-से शब्दों से आप का अभीष्ट सिद्ध हो जायेगा।

भवदीय,

राय कृष्णदास

प्रो० कन्हैयालाल सहल,

बिड़ला कॉलेज,

पिलानी, राजस्थान।

परिशिष्ट (ख)

डॉ० सहल की विभिन्न कृतियों की भूमिकाएँ

दृष्टिकोण

• सियारामशरण गुप्त

हिन्दी-साहित्य में छोटे निबंध कम लिखे गये हैं। यह उसका उत्थान-काल है। ऐसी अवस्था में गद्य के भाग्य में प्रायः मास्टरी पड़ती है। मित्र बनकर बात करने का अवसर उसे कम मिलता है। गद्य-लेखक कहता है, तथाकथित कवि को काम नहीं है। वह स्वच्छन्द घूमता है तो घूमे। मुझे घर-गिरस्ती संभालनी है। जमकर न बैठूँगा तो कैसे चलेगा। उसकी बात समझ में आती है। जान-बूझकर ही वह भारी काम अपनाता है। काव्य के माधुर्य और मर्म का जितना ज्ञान उसे है, कवि को भी कदाचित् उतना न हो। फिर भी उसे जो मार्ग ग्रहण करना पडता है, वह लंबा है और वहाँ के ऊँचे फल तोड़ लाने में फिसल कर गिरने का संकट हर घड़ी उसके सामने रहता है।

बहुत पहले एक बार स्वर्गीय श्री गणेशशंकर विद्यार्थी से चर्चा चली थी। मैंने पूछा था—इतने लंबे-लंबे सम्पादकीय न लिखे जाएँ तो क्या ठीक न होगा? बात उनके साथ चल रही थी तो वह उनके द्वारा सम्पादित प्रताप को लेकर होनी ही चाहिए। समझ लीजिए, जब गणेशशंकर जैसे रचनाकार को उलाहना सुनना पड़ता है, तो दूसरों के विषय में क्या कहा जाए? श्री विद्यार्थीजी ने उत्तर दिया था—जब एक-एक कालम के सम्पादकीय लिखे जाने लगेंगे तब समझा जायगा, पाठकों का स्तर उठ गया है। अभी तो उन्हें शिक्षित करने का भार भी हमारे ऊपर है। और हम जानते हैं, विद्यार्थीजी के उन बड़े-बड़े सम्पादकीयों ने कितना अधिक काम किया है।

इसलिए जब श्री सहल के ये छोटे निबंध देखे, तब प्रसन्नता इस कारण और भी हुई कि अब स्थिति सुधार पर है। दो चार पृष्ठ के छोटे निबंध देखकर मुझ जैसे भीरु पाठक को स्वाभाविक सुख मिलता है। संतोष होता है, लेखक हमारे समय का भी मूल्य जानता है। 'दृष्टिकोण' ऐसी ही रचना है। पढ़ने के लिए बैठकर यह नहीं लगा कि कक्षा में बैठे हैं। लेखक की ओर से छुट्टी रही है, जितनी देर रहना हो, रहो। बीच में भी उठकर जा सकते हो और मन हो तो फिर लौटकर आ जाओ। अपनी कहूँ तो मैंने प्रायः सब निबंध प्रसन्नता से पढ़े हैं। पढ़कर ज्ञान में वृद्धि हुई है और जैसे इसका शुल्क हमसे नहीं चाहा गया। प्राध्यापक सहल को इन निबंधों में मित्र-गोष्ठी में बैठे बात करते हुए पाते हैं। मेरे लिए तो उनका प्राध्यापन भी स्पृहणीय है। उनकी आलोचनाएँ, विवेचन और टीकाएँ जहाँ मिलती हैं, पढ़कर लाभ उठाने का लोभ नहीं छोड़ पाता। मैं उनके नये 'दृष्टिकोण' का स्वागत आनन्द के साथ करता हूँ।

चिरगांव

शिवरात्रि, २००७

•••

प्रयोग

• माखनलाल चतुर्वेदी

डॉ० कन्हैयालाल सहल के बोलों के प्रति मेरे मन में सहज स्नेह-भावना उत्पन्न हुई है। उन बोलों के अटपटेपन से मैंने मन-ही-मन कहा था—हाँ, यह मार्ग अछूता है, बेदाग है, बढ़े चलो। किन्तु यह 'मन-ही-मन की आवाज', जाने कैसे, इन रचनाओं के रचनाकार डॉ० सहल ने सुनली। प्रगति और प्रयोग से परे मैं भाव-द्रव्यों के नवीन मिश्रण का प्रशंसक हूँ। अतः युगों-युगों, अटपटे बोलों के विजय की आकांक्षा करता हूँ। विशेषतः 'ओ नवो माणस कोण छे' जैसी डॉ सहल की रचनाएँ मुझे बहुत भाती हैं।

•••

समीक्षायण

• डॉ० नगेन्द्र

श्री कन्हैयालाल सहल हिन्दी के सुपरिचित आलोचक हैं। 'समीक्षांजलि' के बाद उनकी दूसरी आलोचना-कृति 'आलोचना के पथ पर' हिन्दी में पर्याप्त स्वीकृति पा चुकी है। प्रस्तुत ग्रंथ उन्हीं के स्फुट आलोचनात्मक निबंधों का संकलन है। इनको पढ़ने के उपरांत सहलजी की समीक्षा-शैली की कुछ विशेषताएँ सर्वथा स्पष्ट हो जाती हैं। सबसे पहले तो हमारा ध्यान सहलजी की समन्वय-बुद्धि पर जाता है। इन निबंधों की परिधि अत्यंत विस्तृत है : लेखक को प्राचीन और नवीन, पाश्चात्य और पौरस्त्य सभी के प्रति श्रद्धा है। उसके मन में रवीन्द्र और गांधी के प्रति सम्भ्रम है तो मार्क्स और रिचर्ड्स भी उसके आदर के पात्र हैं। उसने सभी जगह से सार ग्रहण करने का सत्प्रयत्न किया है। भारतीय सिद्धांतों में निष्ठा रखते हुए भी, सहलजी नवीन-से-नवीन सिद्धांत के प्रति जागरूक हैं और सारग्राही विचारक की दृष्टि से उसे ग्रहण करने को प्रस्तुत रहते हैं। इसके लिए स्वभावतः व्यापक अध्ययन अपेक्षित है, और सहलजी में यह गुण भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। वे बहु-अधीत पंडित हैं। संस्कृत-साहित्य, काव्य-शास्त्र, हिन्दी-साहित्य, हिन्दी-साहित्य-शास्त्र और अंग्रेजी-साहित्य का उन्होंने सम्यक् अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य भाषाओं के साहित्य से भी परिचय है और कुशल अध्यापक होने के नाते, उन्होंने अपने इस विस्तृत ज्ञान का यथोचित उपयोग किया है। अध्यापकीय वृत्ति सारग्राहिता के अतिरिक्त एक और विशेषता की अपेक्षा करती है : स्वच्छ व्याख्यान-शक्ति। ग्रहीत सामग्री को स्वच्छता के साथ प्रस्तुत करना अध्यापक के लिए अनिवार्य है; अतएव अध्यापक-आलोचक की समीक्षा में व्याख्यानगुण स्वभावतः आ जाता है। सहलजी ने काव्य की सिद्धांत-गत अथवा व्यवहार-गत विशेषताओं को स्वच्छ और सहजग्राह्य शैली में उपस्थित किया है। उनकी भाषा स्फीत और मँजी हुई है, वह विचार के भार से दबी हुई अथवा चिन्तन की जटिलता से उलझी हुई नहीं जान पड़ती। अपने उपर्युक्त गुणों के कारण सहलजी डॉ० श्यामसुन्दरदास और बाबू गुलाबराय प्रभृति समन्वयवादी व्याख्याता-आलोचकों के साहित्यिक वंशजों की परम्परा में आते हैं।

आयु में शायद सहलजी मुझसे बड़े ही होंगे, अतएव अपने इस प्राक्कथन को मैं आशीःवचन के बिना ही समाप्त करना शोभन समझता हूँ।

नई दिल्ली

•••

लोक-कथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ

• डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

श्री कन्हैयालाल सहल लोक-साहित्य और वार्ता-शास्त्र के मनीषी विद्वान् हैं। लोकोक्तियों के सम्बन्ध में उन्होंने जो दीर्घकालीन अनुसंधान किया है, उससे हम सब प्रभावित हुए हैं। लोक-वार्ता-शास्त्र के अन्तर्गत लोक-कथाओं का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनुमान किया जाता है कि सारे देश में लोक-कथाओं की संख्या लगभग ३ सहस्र के होगी। इन कथाओं में रूपभेद होते हुए भी, इनके मूल में जो कथानक-रूढ़ियाँ हैं जिनसे कथाओं का ठाट निर्मित होता है, नृतत्व की दृष्टि से उनका महत्त्व सर्वोपरि है। सहलजी ने प्रस्तुत पुस्तक में राजस्थानीय लोक-कथाओं में अन्तर्निहित इसी प्रकार के कुछ मूल अभिप्रायों पर विचार किया है। उनका यह विश्लेषण मौलिक एवं मूल्यवान है।

पुस्तक का परिचय देते हुए उन्होंने यह भी आश्वासन दिया है कि इस रोचक विषय को उन्होंने अनुसंधान का क्षेत्र बनाया है। अतएव यह आशा होती है कि लोकोक्तिओं के समान ही, वे लोक-कथाओं के मूल-अभिप्रायों या रूढ़तंतुओं के विश्लेषण, वर्गीकरण, विवेचन को भी किसी दिन सर्वाङ्गपूर्ण रूप में हिन्दी जगत् के लिए सुलभ बना सकेंगे।

वर्तमान युग में हम अध्ययन के एक ऐसे मोड़ पर जा पहुँचे हैं, जहाँ विश्व के अनेक देशों में उपलब्ध लोक-कथाओं का इसी प्रकार का तात्विक विवेचन करने की ओर विद्वानों का ध्यान गया है। ऊपर से देखने पर जो कहानियाँ केवल बालकों के मनोविनोद के लिए जान पड़ती हैं, उन्हें ही हम अभिप्रायों की दृष्टि से परखने लगते हैं तो उनमें सृष्टि-रचना के जाने-पहिचाने रहस्यों का दर्शन मिलने लगता है, और लोक-कहानियों के निर्माण में जो एक मौलिक एकता छिपी हुई है, वह हमें आश्चर्य में डाल देती है।

उदाहरण के लिए स्वर्गीय बाला शीर्षक के अन्तर्गंग पुरूखा और उर्वशी की कहानी का प्राचीन साहित्य के अनुसार विस्तृत वर्णन किया गया है। इसी अभिप्राय को हम "हंसकुमारी" शीर्षक के अन्तर्गत उपबृंहित पाते हैं। वस्तुतः कहानी के रमणीय पर्त के नीचे मूल प्रश्न यह है कि उर्वशी कौन है? पुरूखा कौन है? क्यों पुरूखा उर्वशी को चाहता है? क्यों उर्वशी उसे नंगा न देखने की शर्त रखती है? उर्वशी के दोनों मेढ़े कौन हैं? क्यों उर्वशी पुरूखा को वचनबद्ध कराती है कि वह

नित्य प्रति घी की एक बूँद खाकर जीवित रहेगी ? अवश्य ही जिस बुद्धिमान व्यक्ति ने इस कथा की रचना की, उसके मन में ये प्रश्न टकराए होंगे और कहानी का मनन करते ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं प्रश्नों के समाधान के लिए उसने इस सुन्दर कहानी का ठाट तैयार किया, जिसे एक बार सुन लेने पर भुलाया नहीं जा सकता। विश्व की जो समष्टिगत महती शक्ति है, वही उर्वशी है। एक केन्द्र में अभिव्यक्त जो प्राण-शक्ति है, उसका रूप पुरूरवा है। उर्वशी के बिना पुरूरवा का जीवन असंभव है, दोनों के सहवास या सम्मिलन से ही आयु नामक पुत्र का जन्म सम्भव है। आयु ही महाकाल या महती-प्राण-शक्ति का वह अंश है जो व्यष्टिगत केन्द्र को प्राप्त होता है। मनुष्य-शरीर या मनुष्य-जन्म एक यज्ञ है। यज्ञ को वैदिक भाषा में वस्त्र भी कहते हैं। यह ऐसा वस्त्र है जिसे स्वयं प्रकृति प्रत्येक के लिए मन, प्राण और पंचभूत, इन सात धागों से बुनती है। इसलिए यज्ञ को ऋग्वेद में सप्त तंतु कहा है। जब तक सुनहले रंग का यह वस्त्र सकुशल है, तभी तक जीवन है। इन सात तन्तुओं में से एक भी खंडित हो जाए तो वस्त्र क्षीण हो जाता है। यही पुरूरवा संज्ञक व्यष्टिगत प्राण की नग्नता है। यज्ञ से विरहित होना ही वास्तविक नग्नता है, जिसे उर्वशी सहन नहीं कर सकती। उर्वशी या समष्टिगत प्राण-शक्ति का इस शरीर के साथ तभी तक गठ-बंधन है जब तक मन, प्राण और पंचभूतों का यज्ञ सकुशल हो रहा है। एक के भी कुपित हो जाने से यज्ञ विध्वंस हो जाता है और पुरूरवा (प्राण) को नंगा देखकर उर्वशी (शक्ति) न जाने कहाँ विलीन हो जाती है। आज तक विश्व में इतने प्राणी जन्मे हैं पर उर्वशी किसी के साथ सर्वदा नहीं रही। वह जिस घृत की एक बूँद प्रतिदिन रखने को प्रतिज्ञा करती है, वही मानवीय आयुष्य का अहोरात्र है। अहोरात्र सच्चे अर्थों में सूर्य रूपी संवत्सर की गणना में एक इकाई है। पृथ्वी पर अग्नि और द्युलोक में सूर्य, ये दोनों एक ही मूल तत्त्व के रूप हैं। जिस प्रकार संवत्सर सूर्य की संज्ञा है, उसी प्रकार अहोरात्र भी अग्नि का रूप है। एक दिन रात में हम शक्ति के जिस अंश का उपभोग करते हैं, उसी का उपलक्षण या प्रतीक घी की एक बूँद है। यजुर्वेद में कहा है कि घी साक्षात् अग्नि का रूप है। अग्नि में जल डालने से बुझ जाती है पर घृत की आहुति देने से वह प्रज्ज्वलित हो उठती है। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट कहा है।

"एतद्वै अग्नेः प्रियं धाम यद् घृतम्"

अथवा

"आग्नेयं वै घृतम्"

समस्त सृष्टि में इस प्रकार से प्राणात्मक मौलिक घृत तत्त्व की निरन्तर वृष्टि हो रही है। जैसे चिकनाई की शक्ति से यंत्र चलता है, उसी प्रकार मानव अग्नि रूप घृत की शक्ति से यह शरीर-यंत्र संचालित हो रहा है। समस्त रसों का

क्षरण करके प्रकृति स्वयं जिस रेत तत्त्व का उत्पादन करती है, वह भी "रेतो वै आज्यं" परिभाषा के अनुसार घृत का ही रूप है। इस प्रकार प्रतिदिन अहोरात्र के चक्र में घृत की एक बूँद का आहार लेती हुई देवलोक की उर्वशी मर्त्यलोक के पुरूरवा के साथ निवास करती है। सचमुच अग्नि अमृत देव है जिसका मर्त्य में आधान हुआ है।

ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य, स्थिति और गति, अदिति और दिति, अक्षिति और क्षिति, अमृत और मृत्यु, प्राण और अपान से उर्वशी के दो भेष हैं जिनका पालन और संरक्षण करना प्रत्येक पुरूरवा का आवश्यक कर्त्तव्य है, यदि वह उर्वशी को अपने पास सकुशल रखना चाहता है।

इस प्रकार ऋग्वेद के युग में जो उर्वशी और पुरूरवा की लोक-कथा जन-जन में प्रचलित हुई और आज भी जो लोक में कई रूपान्तरों के साथ जीवित है, उसके मूल अभिप्रायों का विवेचन हमें उस देहली द्वार तक ले जाता है जिसके भीतर झांक-कर देखने से सृष्टि-विद्या और मानव में चरितार्थ होने वाले उसके रूपों के मर्म को ही हम प्राप्त करते हैं।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि यद्यपि लोक-कथाओं का बहुव्यापी विस्तार देश-देश में फैला हुआ है किन्तु उसके मूल अभिप्रायों की व्याख्या करने और मर्म तक पहुँचने की जैसी कुंजी वैदिक साहित्य में सौभाग्य से सुरक्षित है, वैसी अन्यत्र प्राप्त नहीं होती। इस दृष्टि से हम अपनी संस्कृति के उन दो कूलों के निकट पहुँच जाते हैं जिनमें से एक लोक और दूसरा वेद है।

काशी विश्वविद्यालय
१३-९-६१

•••

समीक्षांजलि

• गुलाबराय

नाम करण के पूर्व ही मुझे इस नवजात-शिशु के दर्शन कराये गये हैं। इसका जन्म उस पुण्य-भूमि में हुआ है जहाँ कि साहित्य और दर्शन का मंगलमय संगम होता है। प्रस्तुत संग्रह के निबन्धों में कुछ तो सीधे साहित्य-शास्त्र के सिद्धांतों से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ में विशिष्ट पुस्तकों की आलोचना है। इनमें प्रमुख हैं पंतजी का 'गुंजन' और सियारामशरणजी का 'बापू'। यह आलोचनाएँ काल की

अपेक्षा: जीवन की मीमांसा से अधिक सम्बन्ध रखती हैं। लेखक के मत से गुंजन में छायावाद की प्रतीक-प्रधान कला अवश्य है; क्योंकि स्वयं गुंजन शब्द ही प्राणों की उन्मन गुंजन का प्रतीक है किन्तु इसमें पलायमवादी मनोवृत्ति नहीं है। इसमें जग-जीवन के प्रति अनुराग का सूत्रपात तो अवश्य ही हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि यह अनुराग बौद्धिक है अथवा हार्दिक, इस सम्बन्ध में यही कहना पड़ेगा कि यद्यपि हृदय के पारस स्पर्श बिना सिद्धान्त का लोहा कविता के स्वर्ण में परिणत नहीं होता तथापि इनकी मूल प्रेरणा बौद्धिक ही है। गुंजन की जीवन-मीमांसा में दो बातें मुख्य हैं—बन्धन में मुक्ति और सुख-दुख का सम-विभाजन। बन्धन में मुक्ति मानना पलायनवाद की विपरीत मनोवृत्ति, जीवन-संघर्ष में प्रवेश का मूल मंत्र है। यद्यपि बन्धन में मुक्ति का आधार रवि बाबू की 'वैराग्य साधने ये मुक्ति से आमार नय' वाली कविता में है किन्तु सहलजी ने यह बतलाया है कि यह प्रवृत्ति बिल्कुल नई नहीं है। प्राचीन साहित्य में 'नाहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवं, कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्', यह कामना इस भावना का अच्छा उदाहरण है। वास्तव में यह भावना युग की वाणी है। इसी में देश के कल्याण की आशा है। सुख-दुःख के सम-विभाजन में ही सहलजी ने पंतजी के साम्यवाद का पूर्वरूप देखा है। लेख यद्यपि विविधविषयक हैं तथापि उनमें विचार की एक अन्विति है।

प्रस्तुत संग्रह के निबन्धों में यद्यपि पूर्व और पश्चिम के सिद्धान्तों का समावेश किया गया है तथापि उसमें प्रमुखता भारतीय सिद्धान्तों को ही दी गई है। फिर भी लेखक का दृष्टिकोण उदार और व्यापक है और उसी के अनुकूल शैली भी प्रसादमयी है। मुझे पूर्ण आशा है कि यह पुस्तक हमारे विद्यार्थियों को मननशील बनाने में सहायक होकर हिन्दी के निबन्ध-साहित्य में अपना उचित स्थान पाएगी।

गोमती-निवास
दिल्ली दरवाजा, आगरा।

●●

आलोचना के पथ पर

• आचार्य नंददुलारे वाजपेयी

'आलोचना के पथ पर' हिन्दी के सुयोग्य समीक्षक श्री कन्हैयालाल सहल का नवीन निबन्ध-संग्रह है। समीक्षा-कार्य करते हुए साहित्य के जिन तात्विक प्रश्नों

और समस्याओं पर सहलजी की दृष्टि गई है, उनकी अत्यन्त सरल और सुस्पष्ट व्याख्या इन निबन्धों में की गई है। इस दृष्टि से पुस्तक का नाम सर्वथा सार्थक है। कहीं किसी साहित्यिक समस्या के उपस्थित होने पर यदि तद्विषयक कोई प्राचीन उल्लेख, निर्णय या सिद्धान्त सहलजी के सम्मुख आ गया है तो उसे भी उन्होंने 'आलोचना के पथ पर' अपने उपयोग में ले लिया है। भारतीय और विदेशी दोनों ही शास्त्रीय मतों को उन्होंने अपनाया है और हम देखते हैं कि आधुनिक हिन्दी-काव्य की समीक्षा-भूमि पर उक्त दोनों मतों का अनायास समन्वय किया है। ऐसा करते हुए, उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी साहित्यिक विचारधाराओं पर अपने अधिकार-पूर्ण अध्ययन का ही परिचय नहीं दिया, 'आलोचना के पथ पर' दोनों के समन्वय की भी सम्भावना प्रकट करदी है। इस प्रकार सहलजी ने साहित्यिक धरातल पर पूर्व और पश्चिम के आधार-समन्वय के उस प्रयत्न में अपना योग दिया है जो आज की एक प्रधान साहित्यिक आवश्यकता है।

सहलजी के निबन्धों से उनके स्वतंत्र चिंतन का पूरा परिचय मिलता है। हमारे लिए यह आवश्यक नहीं कि हम उनके सभी निर्णयों से सहमत हों। यदि हम उनके साथ अपना सम्पूर्ण मतैक्य स्थापित कर लेते, तब कदाचित् उनकी यथार्थ विशेषता न देख पाते। समीक्षा का कार्य विचारोत्तेजन और वैयक्तिक तथ्य-दर्शन का कार्य है और ये दोनों ही तत्त्व सहलजी के निबन्धों में प्रचुरता से प्राप्त हैं। सहलजी ने अपने निबन्धों में जिन साहित्यिक मतों का उल्लेख किया है, वे किसी सम्पूर्ण विचार-पद्धति के अंग बन कर नहीं आये हैं। वे प्रायः प्रकीर्णक हैं, अतएव लेखक को अपने विषय-निरूपण में स्वतंत्र विचार-पथ ग्रहण करने का अधिक अवकाश रहा है।

कुछ निबन्धों में आधुनिक साहित्यिक पुस्तकों और रचनाओं—कामायनी, लहर, साकेत, गबन आदि के पक्ष-विशेष की विवेचनात्मक चर्चा की गई है। इन्हें पढ़कर विवेच्य विषय की यथेष्ट जानकारी होती है और हम नये प्रकाश में उन कृतियों को देखते हैं। सहलजी की तथ्यग्राहिता और उद्भावना-शक्ति इन निबन्धों में सर्वत्र प्रदर्शित हुई है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी संसार सहलजी के इस नवीन प्रकाशन का स्वागत करेगा और उनको इस विद्वत्तापूर्ण भेंट के लिए उनका अनुगृहीत होगा।

सागर विश्वविद्यालय
सागर।

(परिशिष्ट ग)

डॉ० सहल के कतिपय निबंध और बाबू गुलाबराय†

१. काव्य में विराट्-भावना

अंग्रेजी साहित्य में विराट् और सौन्दर्य की भावनाओं (The Sublime and the Beautiful) का एक अच्छा साहित्य है। संस्कृत और हिन्दी में विराट्-भावना-सम्बंधी साहित्य तो अवश्य है किन्तु इसका विश्लेषण कम हुआ है। 'नवरस' में नवरसेतर रस के अधिकरण में इसका थोड़ा-सा उल्लेख किया गया है। इसमें सौन्दर्य, भयानक और अद्भुत का मिश्रण बतलाया है। प्रस्तुत लेख के लेखक महोदय ने हिन्दी-साहित्य में विराट् भावना की ओर हिन्दी-साहित्यिकों का ध्यान आकर्षित कर एक नयी दिशा की ओर वर्तमान कवियों को अप्रस्तुत संकेत दिया है। आशा है, संस्कृत कवियों की भांति हमारे हिन्दी कवि भी इस भावना को अधिक रूप में अपनाकर अपनी रचनाओं में व्यवहृत करेंगे।

●●●

---

† डॉ० कन्हैयालाल सहल के समीक्षात्मक निबन्ध 'साहित्य-सन्देश' में प्रकाशित हुआ करते थे। जब बाबू गुलाबराय इस पत्र के सम्पादक थे तो वे पत्र में प्रकाशित लेखों के साथ विषय तथा लेख के सम्बंध में अपनी टिप्पणी दिया करते थे। यहाँ डॉ० सहल के कतिपय निबंधों पर बाबू गुलाबराय की दी गयी टिप्पणियाँ विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

—*सम्पादक*

२. आलोचना और मनोविश्लेषण

विकासवाद की भांति आजकल फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र की सभ्य समाज में दुहाई दी जाती है। फ्रायड के कार्य की महत्ता स्वीकार करते हुए, विद्वान् लेखक ने उसकी सीमाएँ निर्धारित की हैं जिसके बाहर उसकी गति नहीं है। इसी के साथ उन्होंने आजकल के उपन्यास साहित्य के रचयिताओं को एक गहरी चेतावनी दी है, वह यह कि जीवन से मनोविज्ञान के सिद्धान्त निकलने चाहिए, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से जीवन नहीं। वास्तव में हो भी यही रहा है कि उपन्यासकार पाश्चात्य समाज में प्रचलित ग्रन्थियों (Complexes) के ढांचों में अतिरिक्त जीवन ढाला जा रहा है। आजकल के उपन्यासों में भारत में जबरदस्ती इडीपस कंप्लेक्स (Oedipus complex) अर्थात् माता के प्रति दमित काम-वासना के उदाहरण भी उपस्थित किये जाते हैं, कुछ-कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार रीतिकाल में नायिकाओं के उदाहरण। लेखक ने प्रायः फ्रायड के ही सिद्धान्त को लिया है। जिन बातों की व्याख्या फ्रायड से नहीं होती, उनकी व्याख्या एडलर के मनोविज्ञान (हीनता-ग्रन्थि) से हो जाती है। शेक्सपियर में हीनता-ग्रन्थि तो अवश्य थी ही और सम्भव है, कालिदास में भी हो। (यदि विद्योत्तमा वाली किंवदन्ती सत्य है) फिर उपनिषदों की लोक-एषणा भी बड़ी प्रबल है। कामवासना को भी हमें व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। भरत मुनि ने कहा है, जो कुछ पवित्र है, शृंगार से उपमा देने योग्य है।

•••

३. अलकार और मनोविज्ञान

अलंकार और मनोविज्ञान एक बड़ा रोचक और महत्त्वपूर्ण विषय है। यद्यपि अब यह धारणा दूर होती जाती है कि अलंकार कोई ऐसी वस्तु नहीं जो पीछे से नगीने की भांति रचना में जड़े जा सकें तथापि आजकल भी अलंकारों के समर्थकों में ऐसे लोग मिल जाते हैं जो अलंकारों को ऊपर की चीज समझते हैं। उनके लिए डॉ० सहल का यह लेख नेत्रोन्मीलन का काम करेगा। विद्वान् लेखक ने यद्यपि अपनी अत्यधिक ईमानदारी के कारण यह माना है कि हमारे यहाँ अलंकारों का मनोवैज्ञानिक निरूपण नहीं हुआ किन्तु विद्वान् लेखक ने जो प्राचीन अलंकार-शास्त्रों के उद्धरण दिये हैं, उनसे स्पष्ट हो जाता है कि हमारे आचार्यों की पहुँच मनोवैज्ञानिक थी। वे उद्धरण बहुत मूल्यवान हैं। लेखक ने मनोभाव और अलंकारों का सम्बंध बतलाते हुए कहा है कि अलंकारों के मूल में कवि के हृदय का उत्साह पाया जाता है।

उसका साधारण बात से जी न भरना उसे आलंकारिकता की ओर ले जाता है। सहलजी ने अपने विवेचन में तीन मनोवैज्ञानिक आधार-स्तम्भों पर विशेष बल दिया है–(१) साम्य (२) विरोध (३) भावसाहचर्य। एक चौथा स्तम्भ और मान लें तो पूर्णता आ जाय। वह है बौद्धिक-शृंखला अथवा उसका आभास। इसमें सार, काव्यलिंग, प्रमाण आदि अलंकार आ सकते हैं। वैसे ये भावसाहचर्य के व्यापक अर्थ में आ सकते हैं किन्तु पूर्णता के लिए एक पृथक् स्तम्भ आवश्यक है।

•••

४. स्वभावोक्ति का अलंकारत्व

अलंकार-निर्णय की सीमा में 'स्वभावोक्ति' क्या है? सहल जी ने प्रस्तुत लेख में इस पर अपना दृष्टिकोण पेश किया है। कुन्तक, महिम भट्ट आदि प्राचीन आचार्यों के मत-वैभिन्य को सामने रखते हुए, लेखक इस पक्ष में है कि स्वभावोक्ति अलंकार है। जहाँ तक अलंकार की सार्थकता है, वह स्वाभाविक वस्तु को अपने उपकरणों से अलंकृत कर सकता है, स्वभाव को अलंकार नहीं बना सकता। ऐसा होने पर स्वभाव का महत्त्व ही नहीं रह जाता। हम सहलजी का दृष्टिकोण साहित्य-संसार के समक्ष रखते हुए प्रसन्नता का अनुभव करते हैं—प्रसन्नता का अनुभव इसलिए कि उनके दृष्टिकोण पर और भी 'दृष्टिकोण' सम्मुख आ सकते हैं। स्वभाव शब्द से जिस ध्वनि का भास होता है, वह अलंकार की कृत्रिमता की ध्वनि से सर्वथा भिन्नता रखती है। कुन्तक ने तथा वर्तमान काल में आचार्य शुक्ल ने ऐसी विचारधारा के आधार पर वक्रोक्ति का खण्डन किया। वक्रोक्तिकार स्वभावोक्ति को अलंकार मान भी कैसे सकते थे? यद्यपि हम भी अलंकार्य वस्तुओं को अलंकार बनाने के पक्ष में नहीं हैं तथापि जिस प्रकार सरलता और सादगी भी एक प्रकार अलंकार हो जाता है, उसी प्रकार स्वभावोक्ति भी एक अलंकार हो सकता है। प्रत्येक स्वभाव की उक्ति अलंकार न होगी वरन् स्वभाव ही जहाँ चमत्कारपूर्ण हो जाय, वहां उसको अलंकार कहना सार्थक हो जाता है, यह दूसरा मत है।

•••

५. रसास्वाद और विघ्न

रसानुभूति कब और किस स्थिति में हो सकती है, यह केवल सैद्धांतिक प्रश्न ही नहीं है वरन् व्यावहारिक भी है। रसानुभूति के लिए एक विशेष मानसिक अवस्था चाहिए। उस अवस्था में कौन-कौन सी स्थितियां बाधक होती हैं, इस प्रश्न

पर विद्वान् लेखक ने नाट्यसूत्रों के व्याख्याता अभिनव गुप्त के आधार पर प्रकाश डाला है। इससे कई सैद्धांतिक प्रश्नों का भी सम्बंध है।

●●●

६. औचित्य-सिद्धांत

रस काव्य की आत्मा अवश्य है किन्तु जिस प्रकार प्राणों या जीवन के विना शरीर में आत्मा नहीं रह सकती, उसी प्रकार औचित्य के विना रस नहीं रह सकता। औचित्य के अभाव में ही रस का रसाभास हो जाता है। औचित्य और अनौचित्य, गुण, दोषों से सूक्ष्म और ऊपर की चीज है। गुण भी इसका शासन मानते हैं। 'स्थानभ्रष्टाः न शोभन्ते केशाः दन्ताः नखाः नराः' की भांति गुण भी अनुचित स्थान में शोभा नहीं देते और उचित स्थान में दोष भी गुण हो जाते हैं। कुन्तक ने औचित्य के अतिरिक्त सौभाग्य (Aesthetic quality) को भी गुण माना है। औचित्य और अनौचित्य के विचार ने काव्य-शास्त्र के नियमों की अगतिशीलता और बद्धता को दूर कर दिया है। विदग्धता के लिए इसका ज्ञान आवश्यक है। हमारे यहाँ के आचार्यों ने इस ज्ञान को भी सदसद्विवेक बुद्धि (Conscience) मात्र का व्यापार नहीं रखा है वरन् इसका भी शास्त्रीय विवेचन किया है। वही विवेचन इस लेख में है।

●●●

७. 'साधारणीकरण' का शास्त्रीय विवेचन

साधारणीकरण के सिद्धांत का संस्कृत समीक्षा में विशेष महत्त्व है क्योंकि उसका, काव्य की आत्मा रस की निष्पत्ति से सम्बंध है। साधारणीकरण के प्रश्न को उसके प्रकरण में रख कर रस-निष्पत्ति की पूरी समस्या पर प्रकाश डाला गया है जो रस के विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगी है। साधारणीकरण किसका होता है? इस सम्बंध में लेखक विभावादि एवं स्थायीभाव सभी का साधारणीकरण मानने के पक्ष में है।

●●●

मैं देखता हूँ कि 'मरु भारती' को आपने नये साँचे में ढाल दिया है। उसका रूप संभ्रांत बन रहा है। शोध सामग्री भी बहुत अच्छी है। इसी प्रकार इसे राजस्थानी साहित्य, इतिहास और संस्कृति की खोज का माध्यम बनाइए।

काशी, ११-३-५३

—(स्व०) डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

'मरु-भारती' के प्रत्येक अंक में मैंने अवश्य कुछ न कुछ सामग्री पाई जो मेरे अध्ययन में उपयुक्त बने। 'मरु भारती' प्राचीन राजस्थानी साहित्य, भाषा और संस्कृतिविषयक बहुत-सी मूल्यवान् सामग्री एवं अध्ययन प्रस्तुत करती है।

बम्बई, १-६-५५

—डॉ० हरिवल्लभ भायाणी

'राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद' के कुछ अंश मैंने देखे, यह अपने ढंग की अनोखी पुस्तक है। ऐतिहासिक तथा साहित्यिक महत्त्व से पूर्ण ऐसी पुस्तक ने हिन्दी तथा भारतीय साहित्य के गौरव बढ़ाने में अंश ग्रहण किया है।

कलकत्ता, १५-४-१६४७

—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

इन प्रवादों में जो विशेष बात मिलती हैं वह है मध्यकालीन भावना का रंग। इन्हीं प्रवादों की सहायता से हमारे भावी उपन्यासकार मध्यकालीन राजस्थान के ऐतिहासिक उपन्यास लिख सकेंगे।

सीतामऊ (मालवा), २५-१०-४८